जयवल्लभकृत

धर्म, अर्थ और काम के जीवन-मूल्यों का अनुपम प्राकृत सुभाषित-कोश

वज्जालग्गं

(हिन्दी अनुवाद एवं कतिपय गाथाओं पर पुनर्विचार सहित)

अनुवादक
विश्वनाथ पाठक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ३४ सम्पादक : डा० सागरमल जैन

जयवल्लभकृत

धर्म, अर्थ और काम के जीवन-मूल्यों का अनुपम प्राकृत सूक्ति-कोश

वज्जालग्गं

(हिन्दी अनुवाद एवं कतिपय गाथाओं पर पुनर्विचार सहित)

अनुवादक

विश्वनाथ पाठक

एम० ए०, साहित्याचार्य, प्राकृताचार्य

प्रवक्ता

हो० त्रि० इण्टर कालेज, टाँडा

फैजाबाद (उ० प्र०)

सव्वं लोगम्मि सारभूयं

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

आई० टी० आई० रोड, वाराणसी—५

१९८४

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी - २२१ ००५

प्राप्तिस्थान :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी - २२१ ००५
फोन : ६६७६२

प्रकाशन-वर्ष :
सन् १९८४
वीर निर्वाण सं० २५१०

मूल्य :
पुस्तकालय संस्करण रु० ८०.००
छात्र संस्करण रु० ६०.००

संस्करण :
प्रथम

मुद्रक :
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

Parshvanath Vidyashram Series : 34 *Editor* : **Dr. Sagar Mal Jain**

JAYAVALLABHA'S

VAJJĀLAGGAM

with

Hindi Translation and Explanation

by

VISHVANATH PATHAK
M. A., Sahityacarya, Prakritacarya
Lecturer
H. T. Inter College, Tanda
Faizabad (U. P.)

P. V. RESEARCH INSTITUTE
VARANASI - 221005
1984

Published by :
Parshvanath Vidyashram Research Institute
I. T. I. Road, B. H. U.
Varanasi - 221005

Available from :
Parshvanath Vidyashram Research Institute
I. T. I. Road, B. H. U.
Varanasi - 221005
Phone · 66762

Price :
Rs. 80.00 (Library Edition)
Rs. 60.00 (Student Edition)

First Edition :
1984

Printed by :
Ratna Printing Works
Kamachha, Varanasi

समप्पणं

एण्हि जस्स दुल्लहा वाणी जस्स पावणं किच्छं ।
जस्स सुवयणं सिविणीहूअं, डंबर-सुमण-सरिच्छं ।।

जस्स णेत्तए णच्चइ रूवं, झाणे गुणो वलग्गइ ।
जस्स चेट्ठिए चिन्तिज्जंते, अग्गी उररम्मि लग्गइ ।।

जेण जए हं कओ अपुत्तो, अंबा कआ अवित्ता ।
कआ य भइणी भाइविहूणा, सुहा सुयोमल-चित्ता ।।

दीवावली जेण मह णीआ, जणणीए तिलछट्ठी ।
रक्खा-पव्वं हिअं ससाए, पियामहस्स विलट्ठी ।।

घणं जेण तारिसं मेल्लिअं, तिमिरं मज्झ समीवे ।
दिणे ण णस्सइ उइए सुरिए, णिसि ण पलित्ते दीवे ।।

अज्ज तस्स णिट्ठुरस्स हा हा, दूरं गयस्स सग्गं ।
हरिप्पसायस्सिणमप्पिज्जइ, सस्सं वज्जालग्गं ।।

समर्पण

अब जिसकी वाणी दुर्लभ है, जिसका मिलना कठिन है,
जिसका सुन्दर मुँह गूलर के फूल के समान सपना हो गया,
जिसका रूप आँखों मे नाचता है,
जिसका गुण ध्यान पर चढ़ा है,
जिसकी चेष्टायें सोचने पर हृदय में आग लग जाती है,
जो जगत् में मुझे अपुत्र, माँ को निर्धन और सुकोमल
हृदया बहन सुधा को भ्रातृहीन करके चला गया,
जिसने मेरी दीवाली, माँ की तिलषष्ठी बहन का
रक्षाबन्धन और पितामह की लाठी छीन ली, जिसने
मेरे निकट वह घना अन्धकार छोड़ दिया है जो
न तो दिन में सूर्य के निकलने पर नष्ट होता है और
न रात मे दीपक जलाने पर,
हाय ! आज सुदूर स्वर्ग को गये हुए उसी निष्ठुर हरिप्रसाद
को यह वज्जालग्ग आँसुओं के साथ समर्पित है ।

प्रकाशकीय एवं सम्पादकीय

साहित्य के क्षेत्र में सुभाषितों एवं सूक्तियों का अपना स्थान है। सुभाषित काव्यों में धर्म, नीति, वैराग्य, शृङ्गार आदि सभी विधाओं को स्थान मिला है। सुभाषित और सूक्तियाँ कभी तो किसी मूल ग्रन्थ का एक अङ्ग होती हैं और कभी उन्हें उन कथाग्रन्थों से अथवा उपदेशपरक ग्रन्थों से अलग करके संकलित कर लिया जाता है। जैन आचार्यों ने भी प्राकृत और संस्कृत भाषा में ऐसे अनेक सूक्तिग्रन्थों का संकलन किया है। वज्जालग्ग भी एक सूक्तिग्रन्थ है। इसके सन्दर्भ में हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इसकी अधिकांश गाथाएँ संकलनकर्ता की अपनी मौलिक रचना न होकर विविध ग्रन्थों से संकलित की गयी है। यद्यपि यह सम्भव है कि इसमें कुछ सूक्तियों का प्रणयन स्वयं संकलनकर्ता ने भी किया हो। संकलनकर्ता ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है—

> विविह कइविरइयाणं गाहाणं वरकुलाणि घेत्तूण ।
> रइय वज्जालग्गं विहिणा जयवल्लह नाम ॥

अर्थात् विविध कवियों द्वारा रचित श्रेष्ठ गाथाओं को लेकर जयवल्लभ ने वज्जालग्ग की रचना की। अत यह स्पष्ट है कि यह एक संकलन ग्रन्थ है।

प्राकृत साहित्य में सूक्ति-कोशों की यह परम्परा राजा हाल से प्रारम्भ होती है। उनकी गाथा सप्तशती (गाहासत्तसई) सुप्रसिद्ध है। गाहासत्तसई के बाद प्राकृत के सूक्ति-कोशों में वज्जालग्ग का स्थान माना जा सकता है। यद्यपि हाल के गाहासत्तसई और वज्जालग्ग के बीच उवएसमाला जैसे अन्य सूक्तिसंग्रह निर्मित हुए हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से तो हमें उसके बाद वज्जालग्ग को ही स्थान देना होगा। ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी-जगत् को अलभ्य रहे, यह कमी सदैव खटकती रही। आज वज्जालग्ग नामक यह सुभाषित ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित पाठकों के हाथों मे प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता एवं संकोच का अनुभव कर रहे है। हमें प्रसन्नता तो इस अर्थ में है कि प्राकृत का एक ग्रन्थरत्न— जो हिन्दी-पाठकों के लिए दुर्लभ था—सुलभ हो गया। वस्तुतः यह

ग्रन्थ सर्वप्रथम जर्मन विद्वान् लेबर द्वारा बिब्लोथिका इण्डिका के क्रमांक २२७ पर कलकत्ता से सन् १९४४ मे प्रकाशित हुआ था। लेबर के परिचयात्मक निबन्ध में इस ग्रन्थ पर प्रकाश डाला गया और अंग्रेजी में भी अनूदित होकर प्रकाशित हुआ। प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी की ओर से सन् १९६९ में प्रो० एम० वी० पटवर्धन के द्वारा यह प्रथम बार अंग्रेजी अनुवाद के साथ छपा। किन्तु आज तक इस सरस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध नहीं था। वस्तुतः हमने जो इसके प्रकाशन के लिए संकोचमिश्रित प्रसन्नता का प्रयोग किया, उसका कारण यह है कि इसका हिन्दी अथवा अन्य किसी भारतीय भाषा में प्रकाशन करना बड़े साहस का कार्य था। वस्तुतः जब श्रीविश्वनाथ पाठक ने इसका हिन्दी अनुवाद हमारे समक्ष प्रस्तुत किया तो उसके प्रकाशन के सन्दर्भ मे निर्णय लेते समय हमें असमंजस की स्थिति से गुजरना पड़ा। यद्यपि इसके पूर्व उनके वज्जालग्ग की कुछ गाथाओं के हिन्दी विवेचन "श्रमण" में प्रकाशित हो चुके थे। वस्तुतः भारतीय भाषाओं मे अनुवाद के सहित इसके प्रकाशन के लिए कोई भी साहस नहीं जुटा रहा था। पं० बेचरदासजी ने इसका गुजराती में अनुवाद भी किया, किन्तु वह भी अभी तक प्रकाशित नही हो पाया है। प्राकृत भारती से भी इसकी कुछ चुनी हुई गाथाओं का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। किन्तु समग्र वज्जालग्ग को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित करना एक बहुत बड़े साहस का काम है। हमने यह साहस किया है। हम इस बात का भी पूर्व-अनुमान कर चुके हैं कि इसकी उभय प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हो सकती है। कुछ लोग इस सन्दर्भ में विद्याश्रम की प्रकाशन-नीति की आलोचना भी कर सकते हैं, किन्तु हमने इस सन्दर्भ मे विशुद्ध रूप से एक अकादमीय दृष्टिकोण से सोचा है। प्रथम तो हम यह आवश्यक समझते हैं कि यदि प्राकृत भाषा और उसकी कृतियों की रक्षा करनी है तो हमें ऐसा साहस करना ही होगा। अन्यथा साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अनेक सरस प्राकृत-कृतियों के परिचय से ही विद्वत्समाज वंचित रह जायेगा। वस्तुतः ग्रन्थकार और टीकाकार की अव्यक्त प्रेरणा से ही हम यह साहस जुटा पाये हैं, जब एक जैन मुनि इन गाथाओं का संग्रह कर सकता है और दूसरा उस पर वृत्ति भी लिख सकता है तो हम नहीं समझते कि इसका प्रकाशन कर हमने कोई अपराध किया है। पुनः वज्जालग्ग में ऐसा बहुत कुछ है, जो मनुष्य को सम्यक् जीवन जीने की एक कला सिखा सकता है। वस्तुतः वज्जा-

लग्ग की गाथाएँ मनुष्य को एक जीवनदृष्टि प्रदान करती हैं। यह ठीक है कि उसमें काम-सम्बन्धी गाथाओं का भी संकलन है, किन्तु काम भी मानव-जीवन का एक अंग है। वस्तुतः वह हमारे जीवन के अन्तरंग में बैठा है और उसे जीवन से नकारा नहीं जा सकता है। यह ठीक है कि उसका परिशोधन और परिष्कार सम्भव है और हम यह भी देखते हैं कि वज्जालग्ग के रचयिता ने अनेक प्रसंगों में मनुष्य की काम-वृत्ति के परिष्कार का निर्देश दिया है। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद और गाथाओं के स्पष्टीकरण में श्री विश्वनाथ पाठक ने जो परिश्रम किया था, उसे विद्वज्जन के सामने लाना हमें अनिवार्य लग रहा था और इसीलिए हमने भावी आलोचनाओं की चिन्ता न कर इसे प्रकाशित करने का साहस किया। श्री पाठक जी का प्रयत्न इसलिए भी सराहनीय है कि उन्होंने ऐसी अनेक गाथाओं को—जिन्हें संस्कृत टीकाकार रत्नदेव और अंग्रेजी अनुवादक प्रो० एम०वी० पटवर्धन ने अस्पष्ट कहकर छोड़ दिया था—विवेचित करने का प्रयास किया है। उनका श्रम सार्थक होगा, यदि विद्वज्जन उनके इस विवेचन से लाभान्वित होंगे। हम इस प्रकाशन के सन्दर्भ में विद्वज्जनो की प्रतिक्रियाओ से लाभान्वित हों, यही एकमात्र अपेक्षा रखते है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का प्रकाशन उन लोगों को—जो साहित्यिक अभिरुचि रखते हुए भी यह मानकर चलते हैं कि लालित्य और सौदर्य-बोध केवल संस्कृत भाषा में ही सम्भव है, उन्हे—अपनी दृष्टि को परिवर्तित करने के लिए विवश करेगा। स्वयं ग्रन्थकार की यह सूक्ति कि जिसने अमृतमय प्राकृत काव्य को न पढा है और न सुना है फिर भी रागात्मकता की बात करते हैं, वे लज्जित क्यों नही होते—हमे सार्थक लगती है। अब यह प्रकाशन सुधीजनों के हाथों में है और वे ही इसकी उपयोगिता, महत्ता और आवश्यकता के निर्णायक हैं। हमने तो मात्र लेखक, अनुवादक और पाठक के बीच एक माध्यम बनने का कार्य किया है, वह भी कितना उचित या अनुचित है, यह भी निर्णय पाठकों को ही देना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद के लिए श्री पाठकजी ने जो परिश्रम किया है, वह कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। पं० विश्वनाथ पाठक अपने संकोची स्वभाव के कारण यद्यपि अधिक लोगों के परिचय में नहीं आ सके हैं, परन्तु ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद एवं अर्थ-विश्लेषण से वह छिपी हुयी प्रतिभा प्रकाश में आयेगी—ऐसा हमारा निश्चित विश्वास

है। आज जब प्राकृत भाषा के विद्वान् अल्प से अल्पतम होते जा रहे हैं, तब पं० विश्वनाथ पाठक जैसे प्राकृत भाषा में गहरी पैठ रखने वाले विद्वान् को पाकर निश्चय ही हम एक सन्तोष का अनुभव कर रहे है। प्राकृत में उनकी गति क्या है, इसका प्रभाव तो स्वयं उनका अनुवाद ही है। उन्होंने पूर्व के टीकाकारों और अनुवादकों द्वारा अस्पष्ट और अव्याख्यात गाथाओं का संगतिपूर्ण अर्थ देकर अपने प्राकृत ज्ञान-गाम्भीर्य को प्रकट कर दिया है। प्रकाशन की इस वेला मे हम उनका हार्दिक अभिनन्दन करते है। यदि उनका यह श्रम हमारे साथ न होता तो आज यह ग्रन्थ आप सब के हाथों में नहीं पहुँच पाता।

हम प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी के मन्त्री पं० दलसुख भाई मालवणिया के अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने मूल गाथाओं और उनकी संस्कृत छाया को अंग्रेजी संस्करण से यथावत् लेने की अनुमति प्रदान की। पं विश्वनाथ पाठक को जहाँ पूर्व संस्करण की संस्कृत छाया में त्रुटियाँ परिलक्षित हुईं, उन्हें हमने परिशिष्ट (ख) में स्थान दिया है। मूल भाग मे प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी के संस्करण के अनुसार ही गाथा और उसकी छाया को रखा गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन एवं मुद्रण के कार्यों में डा० रविशंकर मिश्र एवं डा० अरुणप्रताप सिंह आदि का जो सहयोग मिला है, उसके लिए भी हम आभारी हैं।

अन्त में हम रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स के संचालकों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के सुन्दर एवं कलापूर्ण मुद्रण में हमें सहयोग दिया है।

भूपेन्द्रनाथ जैन	**डा० सागरमल जैन**
मन्त्री	निदेशक
सोहनलाल जन विद्या प्रसारक समिति,	पा० वि० शोधसंस्थान
फरीदाबाद	वाराणसी

वज्जालग्ग के हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन-हेतु एवं वैशिष्ट्य

(१) वज्जालग्ग अपने हिन्दी अनुवाद सहित प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। इसके पूर्व इस ग्रन्थ के जो भी सम्पादित और अनूदित संस्करण थे, वे अंग्रेजी अथवा अन्य विदेशी भाषाओं में ही थे। स्व० पं० बेचरदासजी ने गुजराती में इसका अनुवाद किया था। परन्तु वह भी अभी तक अप्रकाशित ही है। अतः यह सगर्व कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ किसी भारतीय भाषा मे प्रथम बार प्रकाशित होकर पाठकों के सम्मुख आ रहा है।

(२) वज्जालग्ग के अंग्रेजी संस्करण मे प्रो० पटवर्धन ने यह स्वीकार किया है कि पर्याप्त प्रयास करने पर भी अनेक गाथाओं के सन्तोषजनक अर्थ नही लग पाये है, साथ ही अनेक गाथाओं को अस्पष्ट कहकर अननूदित ही छोड़ दिया गया है। प्रस्तुत संस्करण में उन सभी गाथाओं का अर्थ एवं संगतिपूर्ण व्याख्या की गयी है।

(३) अंग्रेजी अनुवाद में जिन अनेक गाथाओं की संगतिपूर्ण व्याख्या नहीं हो पायी थी, उनकी संगतिपूर्ण एवं प्रामाणिक व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है, साथ ही संस्कृत टीकाकार रत्नदेव ने भी जिन गाथाओं अथवा शब्दों को अव्याख्यात छोड़ दिया था अथवा जिनकी भ्रामक व्याख्या की थी, उन सभी के वास्तविक अर्थ को सविस्तार स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

(४) संस्कृत टीका के वाक्यों का अन्यथा अर्थ समझकर अंग्रेजी अनुवाद में जो भ्रान्तियाँ हो गयी थीं, उनका प्रस्तुत संस्करण में निराकरण किया गया है। इसके साथ ही पूर्ववर्ती टीकाकारों की अशुद्ध संस्कृत छाया को परिशिष्ट 'ख' में परिमार्जित एवं संशोधित करके प्रस्तुत किया गया है।

(५) प्रो० पटवर्धन ने अपने अंग्रेजी अनुवाद में अनेक गाथाओं की संस्कृत टीका पर जो अनुचित आक्षेप किये थे, प्रस्तुत संस्करण में उनका समुचित परिमार्जन किया गया है।

(६) वज्जालग्ग की हस्तप्रतियों में जो अतिरिक्त गाथाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनका भी हिन्दी में अनुवाद किया गया है।

(७) धम्मियवज्जा के अर्थ को नवीन दृष्टिकोण से व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है।

(८) वज्जालग्ग का अन्य नाम 'जयवल्लभ' था—इस प्रवाद का निरसन किया गया है।

(९) विस्तृत भूमिका में ग्रन्थकार का काल, वज्जालग्ग शब्द का अर्थ, वज्जालग्ग का वैशिष्ट्य प्रभृति विषयों पर विशद विवेचन किया गया है।

—विश्वनाथ पाठक

विषय-सूची

(५२०) ३९७, गाथा क्रमांक (५२१) ३९८, गाथा क्रमांक (५२४) ४००, गाथा क्रमांक (५३८) ४०१, गाथा क्रमांक (५३९) ४०२, गाथा क्रमांक (५४८) ४०३, गाथा क्रमांक (५५५) ४०५, गाथा क्रमांक (५६१) ४०६, गाथा क्रमांक (५६२) ४०७, गाथा क्रमांक (५६३) ४०८, गाथा क्रमांक (५६४) ४११, गाथा क्रमांक (५६६) ४१२, गाथा क्रमांक (५७०) ४१३, गाथा क्रमांक (५७६) ४१५, गाथा क्रमांक (५७९) ४१६, गाथा क्रमांक (५८५) ४१८, गाथा क्रमांक (५८७) ४१८, गाथा क्रमांक (५९८) ४१९, गाथा क्रमांक (६००) ४२१, गाथा क्रमांक (६०४) ४२३, गाथा क्रमांक (६०९) ४२४, गाथा क्रमांक (६१०) ४२६ गाथा क्रमांक (६२८) ४२७, गाथा क्रमांक (६३४) ४२९, गाथा क्रमांक (६३६) ४३०, गाथा क्रमांक (६४०) ४३१, गाथा क्रमांक (६४१) ४३२, गाथा क्रमांक (६४५) ४३४, गाथा क्रमांक (६५५) ४३४, गाथा क्रमांक (६५६) ४३५, गाथा क्रमाक (६५७) ४३७, गाथा क्रमांक (६६२) ४३९, गाथा क्रमांक (६६३) ४४१, गाथा क्रमांक (६७३) ४४३, गाथा क्रमांक (६८१) ४४३, गाथा क्रमाक (६८३) ४४४, गाथा क्रमांक (६९३) ४४७, गाथा क्रमांक (६९५) ४४८, गाथा क्रमांक (६९९) ४४९, गाथा क्रमांक (७०१) ४५०, गाथा क्रमांक (७०२) ४५१, गाथा क्रमांक (७१२) ४५२, गाथा क्रमांक (७१३) ४५५, गाथा क्रमांक (७१७) ४५६, गाथा क्रमांक (७३०) ४५७, गाथा क्रमांक (७३५) ४५८, गाथा क्रमांक (७३९) ४६०, गाथा क्रमांक (७४१) ४६२, गाथा क्रमांक (७६२) ४६३, गाथा क्रमांक (७८७) ४६५, गाथा क्रमांक (७८९) ४६५ ।

अतिरिक्त गाथाएँ :

गाथा क्रमांक (३१ × ७) ४६५, गाथा क्रमांक (७२ × २) ४६६, गाथा क्रमांक (९० × ६) २६७, गाथा क्रमांक (९० × १२) ४६८, गाथा क्रमांक (१६१ × १) ४६९, गाथा क्रमांक (१९९ × २) ४७१, गाथा क्रमाक (१९९ × ४) ४७२, गाथा क्रमांक (१९९ × ५) ४७४, गाथा क्रमांक (२१४ × १) ४७४, गाथा क्रमांक (२१४ × ५) ४७६, गाथा क्रमांक (२८४ × ६) ४७८, गाथा क्रमांक (३०० × ६) ४७९, गाथा क्रमांक (३१२ × २) ४८०, गाथा क्रमांक (३१२ × ११) ४८१, गाथा क्रमांक (३१८ × ६) ४८२, गाथा क्रमांक (३४९ × ६) ४८३, गाथा क्रमांक

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	९	गवार	गामार
६	१८	रस	रसं
९	५	जिस	जिस में
१२	४	पठितुं	पठित्वा
२४	२	सुरो	सूरो
,,	२१	सीस	सीस
२६	४	अधिकतर	अधिकतरं
४८	१३	सानुरागमसि	सानुरागोऽसि
८२	१५	निर्भरोत्कण्ठनम्	निर्भरोत्कण्ठम्
८४	२०	निःश्वसितमिन्दिरेण	निःश्वसितमिन्दिरेण
९८	६	हयपचमस्स	हमपंचमस्स
९९	२१	पक्ष्ययुक्त	पक्ष्मयुक्त
१०१	६	पक्ष्यों	पक्ष्मों
१०७	१३	उस की	उस के
१०८	४	अङ्गेष्वमादितः	अङ्गेष्वमायितः
१११	१७	उन	उस
१२०	१	पसिओसं	परिओसं
१३०	१४	डहुई	डहइ
१३८	१४	गाढालिंगिए	गाढालिंगिए
१५३	८	कायाग्नि	कामाग्नि
१५४	२२	तदा	तहा
१५६	८	वरादयो	वराक्यो
१६३	५	वह	हम
,,	,,	करता रहे	करते रहें
,,	८	को इस	इस
१६५	१०	? ॥१६॥	॥१६॥

१६६	१६	मार्गय:	मार्गय
१६७	२५	सुनओ	सुनाओ
१६८	४	पथिक:	पथिक
,,	८	गणयति	यदि गणयति
१६९	२७	जिस से न पड़े मुझे समझाना।	पड़े जिस से न मुझे समझाना।
१८१	५	धूर्तारत प्रेम	धूर्तारत से प्रेम
१८६	१०	मंदह् णेहओ	मंदसणेहओ
१८८	८	इत	इव
१९०	१८	पत्त	पत्ते
१९४	१७	असोलसवासो	असोलसंवासो
२०९	२४	समान	समाप्त
२२४	८	शुकानां	पुंशुकानां
२३७	२०	(अच्छाईयाँ	अच्छाइयाँ
२४४	१५	वर्धितकोर्श	वर्धितकोशो
२४७	१२	(उतर)	(इतर)
२५६	७	प्रशंसत:	प्रशंसत
२५७	६	नमक का लक्षण से	नमक, लक्षणा से
२६२	३	त्वदमुधे	त्वमुदधे
२६३	१३	उठता	उठाता
,,	२५	क्लिश्यमनो	क्लिश्यमानो
२७०	८	मग	मम
२९५	३	प्रिया कोमल	प्रिया के कोमल
३२२	२५	प्रवसघृष्	प्रवस घृष्ट
३२३	१४	जिस का	जिस की
३२६	७	मा रोदिहि	मा रुदिहि
३३४	२६	मालाइदल	मालइदल
३४३	२	को	के
३५०	१२	(अवश्चित)	(अवाञ्चित)
३५३	१९	पुजीभूत	पुंजीभूत
३५८	५	(आवइपाले)	(आवइयाले)
३६०	२	चक्खिडं	चक्खिउं

३६०	२१	मरण । पूर्ववर्तिचेष्टासाम्य	मरण पूर्ववर्ति चेष्टा साम्य
३६१	८	अभीष्ट	अनिष्ट
३६२	३१	हो ही जाती ?	हो ही जाती है ?
३७३	१६	तरुणीचल्लोचन	तरुणोचलल्लोचन
३७५	१०	तादृश	तादृशं
३७७	१७	संश्लेषोऽत्त संलग्नाता	संश्लेषोऽत्र संलग्नता
३८०	२२	कदम	देवता
३८७	६	दिशा	दशा
३८८	१७	निराकांक्ष	साकाक्ष
४०२	१	रयणेणा	रयणेण
४०४	९	उसिऊण	डसिऊण
४०५	१०	हे मूर्खे:	हे मूर्खे
४०६	२१	द्वारा विहीन	द्वारा
,,	२६,२७	रोटी के अर्थ	रोटी के पक्ष मे अर्थ
४०८	१४	मुट्ठइ संवहइ	मुट्ठीइ संवहइ
४०९	२१	(विध्यायाति)	(विध्यायति)
४१३	१६	टिप्पणी मे पता नहीं कि	टिप्पणी में लिखा है कि
,,	२५	(भंगुरता)	(भंगुरता) द्वारा
,,	२६	में	×
४१४	६	सुलभ	मानें तो वह सुलभ
,,	२१	वादी	वाटी
४१५	२३	नपुसकम्	नपुंमकम्
,,	२५	वेश्याहृदय	वेश्याहृदयम्
४१६	३	कामविकाराच्छेदकम्	कामविकारोच्छेदकम्
४२१	२६	तृप्त्याभाव	तृप्त्यभाव
४२२	२४	पाणय	पणय
४२३	२१	अत्थो अणं	अत्थो धणं
४२५	१९	स्तमात्	स्तस्मात्
४४४	१०	याद	यदि
४५०	४	चतुर्थ = चरण निविष्ट	चतुर्थ चरण निविष्ट

४५०	२७	गुरुत्वलाघवं वशात्	गुरुत्वलाघवंच्छन्दो-वशात्
४५२	२०	जनीषे	जानीषे
४५३	२८	आप्याश्च	आप्यश्च
४५९	१५	(फलनामनर्द्धिः)	(फलानामनर्द्धिः)
४६१	१५	मुकुलयश्च	मुकुलयतश्च
४६४	१	यानी पात्रिणः	यानपात्रिणः
,,	२२	उपाधि = वेतथ्य	उपाधि वैतथ्य
,,	२८	सायंत्तिक	सायंत्रिक
४६६	५	जब	जब प्रेमी
४६८	४	यदृच्छ	यदृच्छा
४७३	८	पूर्णस्वर	पूर्वस्वर
४७५	७	विरल से विरल	विरल से विलर
४७६	१३	या जस्स	य जस्स
,,	१०	पश्चत्ताप	पश्चात्ताप
४७८	१८	अन्य को	अन्यकोई
४८२	२१	वृद्धा	वृद्ध
४८४	६	निषेध	(निषेध)
४८७	२	अलीकसंगमाशायो	अलीकसंगमाशाया
४८८	२७	रमिता युक्ता	रमिता भुक्ता
४९६	११	(क्षुधया वा)	(क्षुधायां वा)
,,	२१	साधा	सोधा

हो गया था[1]। व्रज् धातु से दो समूहार्थक शब्द निष्पन्न होते हैं—व्रज और व्रज्या। प्रथम अति प्रचलित है और द्वितीय प्रायः अप्रचलित। प्राचीन काल में अपनी या अन्य की स्फुट रचनाओं को संगृहीत करने की परंपरा थी। जिन ग्रन्थों में ऐसी रचनाओं का संग्रह किया जाता था, वे कोष कहलाते थे। आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में लिखा गया है कि कोष में स्वरचित और पररचित सूक्तियाँ संगृहीत रहती हैं।[2] साहित्य दर्पण के अनुसार अन्योन्यानपेक्षक (स्फुट) पद्यों का संग्रह कोष है। व्रज्या क्रम से रचित कोष-काव्य अति मनोरम होता है।[3] सजातीय पद्यों के एकत्र सन्निवेश (संग्रह) का नाम व्रज्या[4] है। इन उल्लेखों से सूचित होता है कि प्राचीन काल में कोष-रचना की दो प्रमुख परिपाटियाँ थीं। एक में अपने या अन्य के सुन्दर पद्य इतस्ततः संगृहीत कर दिये जाते थे, उन्हें विषयों के अनुसार एक स्थान पर नहीं रखा जाता था। दूसरी मे पद्यों का विषयानुसार वर्गीकरण किया जाता था। एक वर्ग के पद्य एक साथ, एक ही क्रम में रखे जाते थे। एक वर्ग मे संगृहीत सभी पद्य एक ही विषय का वर्णन करते थे अतएव वे सभी सजातीय कहलाते थे। प्रथम परिपाटी प्राचीन है और द्वितीय अर्वाचीन। प्राकृत में प्रथम का प्रतिनिधि ग्रन्थ गाहा सत्तसई है और द्वितीय का वज्जालग्ग। वर्तमान वज्जालग्ग ९५ व्रज्याओं (वज्जाओं) या वर्गों में विभक्त है। द्वितीय ढंग के संग्रहों या कोष-काव्यों में वर्ग का आधार विषय ही होता था। अतः आगे चलकर वर्ग वाचक व्रज्या शब्द अधिकार या प्रकरण के अर्थ में प्रचलित हो गया। इतना ही नहीं व्रज्या के समानार्थक पद्धति का भी उसी अर्थ में प्रयोग होने लगा। इस सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र की निम्नलिखित सूचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार वज्जा (व्रज्या) का अर्थ है अधिकार या प्रकरण—

वज्जा अहियारे (व्रज्या अधिकारे)। —देशीनाममाला, ७।३२

लग्ग शब्द का मूल यद्यपि संस्कृत लग्न है तथापि प्राकृत में वह भी एक नये अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। देशीनाममाला में उसका अर्थ चिह्न लिखा है—

लग्गं चिन्धे (लग्नं चिह्ने) —७।१७

---

१. व्रज्या प्रस्थाने वर्गे पर्य्यटनेऽपि च।—मेदिनी

२. स्व पर कृत सूक्तिसमुच्चयः कोषः।—काव्यानुशास, ६।१३

३. कोषः श्लोक समूहः स्यादन्योन्यानपेक्षकः।
व्रज्याक्रमेणरचितः स एवाति मनोरमः॥—साहित्य दर्पण, ६।३२९

४. सजातीयानामेकत्रसन्निवेशो व्रज्या।

भूमिका

प्राकृत सुभाषित ग्रन्थों में वज्जालग्ग का अप्रतिम स्थान है। यद्यपि उसे गाहा सत्तसई के समान प्रसिद्धि नहीं प्राप्त हो सकी तथापि उसकी गाथायें किसी भी साहित्य को गौरवान्वित करने में समर्थ हैं। ईसा की प्रथम शताब्दी में हाल ने सामयिक एवं प्राचीन कवियों की उत्कृष्ट मुक्तक रचनाओं को सत्तसई में संकलित कर उन्हें जीवित रखने का जैसा स्तुत्य प्रयास किया था वैसा ही प्रयास आगे चल कर जैन मुनि जयवल्लभ ने भी किया है। यदि ये दोनों संग्रह ग्रन्थ न होते तो आज हम कितने महार्ह काव्य रत्नों से वंचित रहते और भारती के कंठहार की कई लड़ियाँ अधूरी होतीं। गाहा सत्तसई का महत्त्व सर्वविदित है। वह मुक्तक काव्यों का प्राचीनतम संग्रह है। वज्जालग्ग भी मुक्तक काव्यों का संग्रह है और सत्तसई की अपेक्षा पर्याप्त अर्वाचीन है, फिर भी उसका ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व कम नही है। इसमे सत्तसई के अनन्तर रचित मुक्तको के वे सुन्दर परन्तु उदास मुखड़े दिखाई देते हैं, जिनके अभागे कवियों के नाम भी हम नही जानते। काव्य की कितनी ही भंगिमायें और प्रौढोक्तियाँ वज्जालग्ग में जीवित हैं। उनमें कुछ सत्तसई काल में प्रचलित रही होंगी, परन्तु हाल ने जिन्हें अपने संकलन मे स्थान नहीं दिया था और कुछ पश्चात् विकसित हुई होगी, जिनका प्रभाव उत्तरवर्ती हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा है। यह ग्रन्थ भाषा के कितने नूतन प्रयोगो, अप्रस्तुत योजना की कितनी नई प्रवृत्तियों और विभिन्न रसों की अक्षय निधि सँजोये दीर्घ काल तक उपेक्षित पड़ा रहा, इसका कोई व्यवस्थित एवं सर्वांग पूर्ण संस्करण कहीं भी उपलब्ध नही था। प्राकृत ग्रन्थ परिषद् ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ इस अमूल्य ग्रन्थ का प्रकाशन कर साहित्य-जगत् का बहुत बड़ा उपकार किया है। यदि उक्त संस्करण उपलब्ध नही होता तो कदाचित् मुझे वज्जालग्ग पर कुछ लिखने का अवसर ही न मिलता।

वज्जालग्ग का अर्थ

ग्रन्थकार के शब्दों में वज्जालग्ग विभिन्न पद्यों के समूहों का ऐसा संग्रह है जिसके प्रत्येक समूह का एक-एक पृथक् विषय (शीर्षक) होता है, वज्जा का अर्थ पद्धति है—

> एकत्थे पत्थावे जत्थ पढिज्जंति पउर गाहाओ।
> तं खलु वज्जालग्गं वज्ज त्ति पद्धई भणिया॥

वज्जा शब्द संस्कृत व्रज्या का प्राकृत रूप है। प्राचीन संस्कृत में उसका अर्थ भले ही गमन या मार्ग रहा हो कालान्तर में वह वर्ग (समूह) के अर्थ में प्रचलित

प्रो० पटवर्धन ने वज्जालग्ग का अर्थ वज्जाओं (प्रकरणों) का समूह किया है जो ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि वे लग्ग को समूह वाचकता का संतोषजनक प्रमाण नहीं दे सके हैं। पिशेल ने उस काव्य को वज्जालग्ग बताया है जिसका प्रधान लक्षण (चिह्न) वज्जा (प्रकरण) है। मुझे यह अर्थ अधिक सटीक एवं प्रामाणिक लगता है। इस दृष्टि से हम किरातार्जुनीय और शिशुपालवध को भी श्र्यंक काव्य कह सकते हैं क्योंकि उनके प्रत्येक सर्ग के अन्त में श्री या लक्ष्मी शब्द का प्रयोग है[1]। प्राकृत में भी कृष्णलीला शुक ने सिरिचिंध (श्री चिह्न) नामक काव्य की रचना की है जिसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में सिरी (श्री) का प्रयोग है। रचना-शैली के आधार पर ग्रन्थ का नामकरण कोई नई बात नहीं है और न अस्वाभाविक ही है। गाहासत्तसई का नाम भी संग्रह शैली की दिशा में स्पष्ट संकेत करता है। उसमें पद्यों को शतक क्रम में रख कर प्रत्येक शतक के समाप्त होने की सूचना दी गई है। प्रस्तुत संग्रह ग्रन्थ में शतक क्रम की प्रमुखता नहीं है। गाथायें प्रकरण के अनुसार रखी गई हैं। दूसरे शब्दों में यह शतकबद्ध नहीं, प्रकरणबद्ध रचना है। अतः सत्तसई से अपना शैलीगत वैशिष्ट्य प्रकट करने के लिए संग्रहकार ने इसे प्रकरणबद्ध (वज्जालग्ग) ग्रन्थ संज्ञा दी है। यदि हम लग्ग को देशी शब्द मान कर चिह्न के अर्थ में न ग्रहण करें, उसे संस्कृत लग्न के अर्थ में ही रहने दें, तो वज्जालग्ग से उस काव्य का अर्थ-बोध होगा जो वज्जाओं (प्रकरणों) से संलग्न हो (व्रज्याभिः लग्नं निबद्ध काव्यं व्रज्यालग्नम् अर्थात् प्रकरणबद्ध रचना) या व्रज्याबद्ध शैली में रचा गया हो[2]। विद्वानों के अनुसार इस काव्य का दूसरा नाम जयवल्लभ है। इस बहुचर्चित मत का निराकरण तृतीय गाथा के अर्थ-निरूपण में किया गया है।

संग्रहकार और उनका समय

संग्रहकार ने सर्वज्ञ वदन पंकज निवासिनी श्रुत देवी को प्रारंभ में प्रणाम किया है, इस से उनका जैन होना निश्चित है। टीकाकार रत्नदेव के अनुसार

---

१. श्री शब्दरम्यकृतसर्गसमाप्तिलक्ष्म लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु।
तस्यात्मजः सुकविकीर्तिदुराशयोऽदः काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानम्॥

—माघ

२. संस्कृत में प्रकरण या अधिकार के अर्थ में व्रज्या शब्द का प्राचीनतम प्रयोग विद्याकर प्रणीत सुभाषितरत्नकोष में दिखाई देता है। इस सुभाषित संग्रह का रचनाकाल ११०० ई० के लगभग है।

उन का नाम जयवल्लभ है। वे श्वेताम्बर जैन थे। स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होने पर भी उन्होंने लोगों को संस्कृतज्ञान शून्य एवं शृंगारप्रिय देख कर प्राकृत गाथाओं का यह संग्रह प्रस्तुत किया था[1]। संग्रहकार ने स्वयं भी मुद्रालंकार शैली में अपना नाम दिया है[2]। वे दुराग्रहहीन एवं साम्प्रदायिक संकीर्णता से निर्मुक्त व्यक्ति प्रतीत होते हैं। जैन होने पर भी अपने संग्रह में जैनेतर साहित्य को प्रमुख स्थान देना उन के हृदय की उदारता का सजीव प्रमाण है। इस से अधिक संग्रहकार के सम्बन्ध में कोई विशेष बात ज्ञात नहीं है। वज्जालग्ग की अनेक सरस गाथायें ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यानुशासन, सरस्वतीकण्ठाभरण प्रभृति ग्रन्थों में उदाहृत हैं परन्तु एक भी स्थान पर उसके नाम का उल्लेख नहीं है। संभव है, काव्य शास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने उक्त गाथायें किसी अन्य स्रोत से प्राप्त की हों। संस्कृत या प्राकृत की किसी अन्य कृति में भी वज्जालग्ग या उस के रचयिता की कोई चर्चा नहीं है। ग्रन्थकार ने स्वयं अपना समय नहीं दिया है, अतः उनके काल का निर्धारण करना एक दुःसाध्य कार्य है। वज्जालग्ग के टीकाकार रत्नदेव ने अपनी टीका का समय संवत् १३९३ (ई० १३३६) दिया है जिससे केवल इतना पता चलता है कि मूल ग्रन्थ की रचना इस के पूर्व ही कभी हुई होगी। वाक्पतिराज (७५०ई०) की एक गाथा वज्जालग्ग में संगृहीत है। इस आधार पर प्रो० पटवर्धन का मत है कि यह ७५० ई० और १३३६ ई० के मध्य कभी रचा गया होगा। मुझे चउपन्नमहापुरिसचरिय[4] और लीलावई[5] की एक-एक गाथा वज्जालग्ग में मिली

---

१ देखिये टीका

२. एइयं वज्जालग्गं विहिणा जयवल्लहं नाम।—तृतीय गाथा

३. वच्चति अहो उड्ढं अईंति मूलंकुरव्व पुहईए।
बीयाहि व एक्कत्तो कुलाहि पुरिसा समुप्पण्णा॥—गउडवहो ७२२
वज्जालग्ग में इस का विकृत पाठ इस प्रकार है—
उड्ढं वच्चंति अहो वर्'ति मूलंकुरव्व भुवणंमि।
विज्जाहियए वत्ती कुलाहि पुरिसा समुप्पन्ना॥—७०२

४. ता तुंगो मेरुगिरी मयरहरो ताव होइ दुत्तारो।
ता विसमा कज्जगई जाव ण धीरा पवज्जंति॥
—चउपन्नमहापुरिसचरियं–२९।३
यह धीर वज्जा की तेरहवीं गाथा है।

५. गहिऊण चूयमंजरि कीरो भमई पत्तलाहत्थो।

है। परन्तु उक्त दोनों ग्रन्थों का रचनाकाल पूर्णतया निर्णीत न होने के कारण इस सन्दर्भ में कुछ कहा नहीं जा सकता है। प्रो० पटवर्धन को कई अन्य ग्रन्थों की गाथाओं के साथ उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला की भी दो [1]गाथायें वज्जालग्ग में मिली हैं। मैंने मेरुतुंगाचार्य प्रणीत प्रबन्धचिन्तामणि और राजशेखर सूरि सन्दृब्ध प्रबन्धकोश में भी वज्जालग्ग की अनेक गाथायें देखी हैं जो कहीं अन्यत्र से उद्धृत जान पड़ती हैं, परन्तु उनका किसी अन्य स्थान से संगृहीत होना भी संभव है। प्रो० पटवर्धन ने कुवलयमाला को उक्त दोनों गाथाओं का विश्वसनीय आधार स्थान नहीं माना है। मैं उनके उद्योतन सूरि विरचित होने में सन्देह का कोई विशेष कारण नहीं देखता हूं क्योंकि कुवलयमाला कोई संग्रह-ग्रन्थ नहीं है, चम्पू-शैली में निबद्ध एक उत्कृष्ट-कृति है। कुवलयमाला का रचनाकाल ७७९ ई० है। अतः वज्जालग्ग इसके पश्चात् ही रचा गया होगा। वज्जालग्ग में भवभावना की एक गाथा मुझे उपलब्ध हुई है[2]। भव भावना का रचनाकाल संवत् ११७० (११२३ ई०) है। यदि उक्त गाथा मलधारी हेमचन्द्र की ही

ओसरमु सिसिर-णरवइ पुहई लद्धा वसंतेण ॥—लीलावई ७४ × १
यह लीलावई की सभी प्रतियों में नहीं पाई जाती है। वसन्त वज्जा में इस को संगृहित किया गया है।

१. मा दोसे च्चिय गेण्हह विरले वि गुणे पयासह जणस्स।
अक्ख पउरो वि उयही भण्णइ रयणायरो लोए॥

—कुवलयमाला पृ० ३

यह रयणायर वज्जा की तीसरी गाथा है। पयासह के स्थान पर पसंसह और उयही के स्थान पर उवही पाठ है।

अत्थो विज्जा पुरिसत्तणाइं अण्णाइं गुणसहस्साइं।
देव्वायत्ते कज्जे सव्वाइं जणस्स विहडंति॥—कुवलयमाला पृ० १२

यह गाथा दिव्व वज्जा में है। वहाँ जणस्स के स्थान पर नरस्स पाठ है।

२. जाई रूवं विज्जा तिन्नि वि निवडंतु कंदरे विवरे।
अत्थो च्चिय परिवड्ढउ जेण गुणा पायडा हुंति॥

—पृ० ५३४ कोशाम्बी विप्रकथा

यह दरिद्दवज्जा में पाई जाती है। होंति के स्थान पर हुंति पाठ है। भव भावना के छन्दोबद्ध 'कोशाम्बी विप्रकथा' प्रकरण नितान्त सहज भाव से आने वाली यह गाथा कहीं से उद्धृत नहीं है, मलधारी हेमचन्द्र की ही रचना है।

रचना हो तो वज्जालग्ग का रचनाकाल ११२३ ई० और १३३६ ई० के मध्य माना जा सकता है। ग्रन्थ की अपभ्रंशबहुला भाषा भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है।

वज्जालग्ग का परिमाण

वज्जालग्ग विभिन्न कवियों की मनोरम रचनाओं का संग्रह है, जिसमें अधिकांश गाथायें मूलतः मुक्तक हैं और कुछ प्रबन्धों, आख्यायिकाओं और चरित-काव्यों से संगृहीत की गई प्रतीत होती हैं। हाल की सत्तसई में प्रत्येक गाथा के साथ कवि का नाम भी दिया गया था परन्तु इसमें कवियों के नाम नहीं हैं। रत्नदेव-कृत संस्कृत टीका में स्थित 'गाहादार' (गाथा-द्वार) की अन्तिम गाथा में वज्जालग्ग को 'सत्तसइय' बताया गया है। इससे पता चलता है कि प्रारम्भ में इस ग्रन्थ में केवल सात सौ गाथायें रही होंगी। कालान्तर में इसकी कलेवर वृद्धि होती गई। परिणामतः गाथाओं की संख्या पर्याप्त बढ़ गई और वज्जाओं की संख्या भी लगभग दूनी हो गई। इस समय इस में ७९५ गाथायें और ९५ वज्जायें पाई जाती हैं। गाहादार में मूल वज्जाओं (प्रकरणों) का उल्लेख इस प्रकार है—

गाहाण कव्वाण सज्जण पिसुणाण नीइ-धीराणं।
सइ-असइ-घरणि-नेहाण छेय-जंतीण मुसलाणं॥
धम्मिय-वेज्ज-निमित्तिय-वेसाण सेवयाण सुहडाणं।
हरि-मयण-सुरय हिययालियाण वाहाण नयणाणं॥
सिहिणाणं ओलग्गावियाण दूईण धन्नससयाणं।
पंचम-वियोग-पिम्माण माण-माण-संवरणयाणं॥
मालइ-भमर-गयाणं करहय लायण्ण-बालकित्तोण।
दइयाणुरायबालसंठवण-बाल-सिक्खाणं ॥
पंथिय-हंसघणाणं वसंतयाण य सत्तसइयंमि।
एवं अट्ठालीसा हवंति वज्जाउ नायव्वा॥

—आठवीं गाथा की टीका

इसके अनुसार मूल ग्रन्थ में ४८ वज्जायें और सात सौ गाथायें ही थीं। वर्तमान संस्करण की उपर्युक्त ७९५ गाथाओं में विभिन्न प्रतियों की अतिरिक्त गाथाओं को भी मिला देने पर यह संख्या बढ़ कर ९९६ हो जाती है। गाहादार में वर्णित ४८ वज्जाओं में ४१ वज्जायें वर्तमान संस्करण में स्पष्टतया उपलब्ध

होती हैं।[1] बाल-किसी और थण वज्जाओं का पता नहीं है। मानसबरण, बालसंवरण और बालसिक्खा को सन्दिग्धरूप से हिययसंवरण बालासंवरण और कुट्टिणीसिक्खा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। शेष वज्जायें, जो गाहादार में उल्लिखित नहीं हैं, वे या तो नई जोड़ी गई हैं या विभिन्न वज्जाओं के विभाजन से बनी हैं।[2] जैन विद्वान् के द्वारा संगृहीत होने पर भी वज्जालग्ग में जैनधर्म के संकेत नगण्य हैं। अधिकतर गाथाओं में हिन्दू पुराणों के ही सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। शिव, ब्रह्मा, विष्णु, लक्ष्मी, पार्वती, गरुड़, क्षीरसागर कृष्ण, राधा प्रभृति नाम और सागरमंथन, रासलीला, बलिबन्धन अरिष्टासुरमर्दन आदि घटनाओं की चर्चा है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ग्रन्थ की सम्पूर्ण सामग्री का चयन केवल जैनेतर साहित्य से किया गया है। संग्रहकार ने सुभाषित शब्द का प्रयोग जिस व्यापक अर्थ में किया है, उसकी परिधि में रसपेशल काव्य भी आ जाते हैं। मैं समझता हूँ, सच्चे अर्थों में जिन्हें सुभाषित कहा जा सकता है वे उपदेश और नीति से सम्बन्धित पद्य तो अधिकतर जैन साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों से लिए होंगे और रस, अलंकार एवं ध्वनि से युक्त शृंगारिक गाथायें जैनेतर ग्रन्थों से चुनी गई होंगी। साहित्य की जिन कृतियों का आलोडन कर इस मनोरम गाथाकोष का प्रणयन किया गया है उनमें प्रबन्ध काव्य भी हो सकते हैं और मुक्तक भी। साथ ही साथ बहुत से सामयिक कवियों की सुन्दर रचनाओं को भी संकलित किया गया होगा। उन आधारभूत ग्रन्थों में कुछ आज उपलब्ध भी हो सकते हैं और कुछ संभवतः काल कवलित भी हो चुके होंगे। अतः कौन सी गाथा किस कवि की है, इस का पूर्णतया पता लगाना असंभव है। हाल-संगृहीत गाथा-सप्तसई की ८३ गाथायें वज्जालग्ग में पाई जाती हैं। उनका विस्तृत विवरण प्रो० पटवर्धन की अंग्रेजी भूमिका में दिया गया है परन्तु यह निश्चित नहीं है कि उक्त गाथाएं गाहासत्तसई से ही संगृहीत हुई हैं।

संग्रह का प्रयोजन

मंगलाचरण की गाथा से पता चलता है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य इस ग्रन्थ के माध्यम से धर्म, अर्थ और काम की शिक्षा देना[3] था। विद्वानों ने विभिन्न

१. संभवतः अतिरिक्त गाथाओं में विद्यमान बाला सिलोय वज्जा ही बाल-किसी है जो किसी कारण अपने स्थान से च्युत हो गई है। बाल-किसी और बाला सिलोय—दोनों शब्द समानार्थक हैं।

२. देखिये, प्राकृत ग्रन्थ परिषद् से प्रकाशित वज्जालग्ग में प्रो० पटवर्धन की अंग्रेजी भूमिका।

३. धम्मादतिवग्गजुयं सुयणाण सुहासियं बोच्छं।

वज्जाओं को उक्त तीनों वर्गों में पृथक्-पृथक् बाँटने का प्रयास किया है। मेरे विचार से यह वर्गीकरण न आवश्यक है और न उपयुक्त। धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों पुरुषार्थ एक दूसरे के आश्रित एव पूरक हैं, अतः प्रत्येक से सम्बन्धित गाथाओं को बिल्कुल पृथक् कर लेना सरल कार्य नहीं है। धर्म की चर्चा होने पर अर्थ अछूता नहीं रह सकता है, अर्थ का प्रसंग उठने पर धर्म स्वयं चर्चित हो जाता है और काम का प्रश्न उपस्थित होने पर धर्म और अर्थ सहज भाव से सामने आ जाते हैं। तीनों का प्राधान्य और गुणीभाव संभव है, पार्थक्य नहीं। विद्वानों ने धर्म को अर्थ और काम का हेतु बताया है—धर्मादर्थश्च कामश्च।

प्रो॰ पटवर्धन के वर्गीकरण से सात वज्जायें धर्म से, सैंतालीस वज्जायें अर्थ से और पैंतीस वज्जायें काम से सम्बन्धित है। वज्जालग्ग की विभिन्न वज्जाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर उक्त वर्गीकरण की त्रुटियाँ स्पष्टरूप से झलकने लगती हैं। जोइसिय और विज्ज वज्जाओ मे ज्योतिष और वैद्यक के पक्ष में जो अर्थ निकलते हैं क्या उनका सम्बन्ध अर्थ से नहीं है? सुहड वज्जा में जो नैतिकता, कर्तव्यपरायणता और आत्मोत्सर्ग का वर्णन करने वाली गाथायें हैं, क्या वे धर्म से अछूती हैं? दीण वज्जा में जहाँ प्रार्थनाभंगकारी पुत्र को गर्भ में भी न धारण करने के लिए माता से निवेदन किया गया है वहाँ क्या प्रकारान्तर से दानशीलता की सुव्यक्त प्रेरणा नहीं मिलती है? नीइ-वज्जा की अधिकतर गाथायें क्या धर्म का निरूपण नहीं करती? जहाँ दुष्टों के निकट न जाने का उपदेश है वह दुज्जणवज्जा क्या केवल अर्थ की सीमित परिधि में बाँधी जा सकती है? क्या दारिद्द वज्जा की वे मार्मिक गाथायें जो दरिद्रों के प्रति बरबस करुणा एवं सहानुभूति के भाव जगा देती हैं, हमे अपना कर्तव्य सोचने के लिए बाध्य नहीं कर देतीं? सेवय-वज्जा की दसवीं गाथा क्या हमें सन्तोष की शिक्षा नहीं देती? यदि धम्मिय वज्जा का शृंगारिक अर्थ काम से सम्बद्ध है तो क्या दूसरा अर्थ उपासना से नहीं? जहाँ पंडितजन को वेश्यालय में न जाने का उपदेश दिया गया है और जहाँ अर्थ पिशाचिनी वेश्याओं की प्रवंचनाओं की खुले शब्दों में भर्त्सना की गई है, वह वेस्सा-वज्जा क्या कोरे काम तत्त्व का ही प्रतिपादन करती है, अर्थ और धर्म का नहीं? कृपण की निंदा क्या हमें दान की प्रेरणा नहीं देती? हियाली वज्जा की सभी गाथायें क्या काम का ही निरूपण करती हैं? कुछ गाथायें (पाँचवीं और चौदहवी) क्या व्यंग्यपूर्ण शैली में चरित्र की शिक्षा नहीं देती। कर्मफल की अपरिहार्यता का प्रतिपादन करने वाली पुव्व-

कयकम्म वज्जा क्या अर्थ तक ही सीमित है, हमें सत्कर्म करने की प्रेरणा नही देती ? चन्दन, वट, ताल और पलाश से सम्बद्ध वज्जाओं के वाच्यार्थ की पहुँच अर्थ तक है, तो क्या उनका व्यंग्यार्थ किसी धार्मिक तत्त्व की ओर इंगित नही करता है ? समुद्दणिंदा की गाथायें क्या अर्थ का ही पाठ पढ़ा कर चुप हो जाती हैं ? कार्पण्य की निन्दा क्या उदारता, परोपकार और दान की शिक्षा नहीं देती ? हम उन्हें केवल अर्थ की सकुचित सीमा में बन्द कर क्या साहित्यिक अन्याय नही करते हैं ? इसी प्रकार अन्य वज्जाओं में भी विभिन्न पुरुषार्थों का प्रतिपादन परस्पर अनुस्यूत है, प्रत्येक को पृथक् करना असंभव है[1]।

वज्जालग्ग का वैशिष्ट्य :

सम्पूर्ण ग्रंथ ९५ वज्जाओं में (प्रकरणों में) विभक्त है, जिनमें केवल प्राकृत केप्रथित एवं लोकप्रिय छन्द गाहा[2] (गाथा) का प्रयोग किया गया है। इस छन्द के प्रथम चरण में बारह, द्वितीय में अठ्ठारह, तृतीय में बारह और चतुर्थ में पन्द्रह मात्रायें होती हैं। प्रारम्भ में श्रुतदेवी को प्रणाम कर सुभाषित संग्रह के प्रयोजन के साथ प्राकृत काव्य का माधुर्य और श्रृंगारपेशलत्व प्रतिपादित करते हुए यह बताया गया है कि ग्रंथ का नाम वज्जालग्ग है। इसके अनन्तर वज्जालग्ग का अर्थ और उसके पारायण से मिलने वाले फल का संक्षिप्त वर्णन है। प्रारंभ की दो वज्जाओं (गाहावज्जा और कव्ववज्जा) में काव्य से सम्बन्धित कुछ मान्यताओं के संकेत है, जिन्हें संभवतः ध्यान में रखकर ही गाथाओं का संग्रह किया गया होगा।

काव्य रचना कष्टसाध्य होती है, उसका पाठ करना भी सरल कार्य नहीं है परन्तु उसके मर्मज्ञ श्रोता सबसे दुर्लभ हैं। जब सहृदय श्रोता उपलब्ध हो जाते हैं तब किसी भी भाषा का काव्य अपूर्व रस देने लगता है (६, ७)। क्लिष्टत्व काव्य का प्रमुख दोष है, उसके रहने पर अलंकार, लक्षण और

---

१. प्रो० पटवर्धन ने ओइसिय, विज्ज, धम्मिय, वेस्सा और हिमाली वज्जाओं को काम के वर्ग में रखा है और सुहड, दीण, नीइ, दुज्जण, दारिद्द, सेवय, किविण, पुव्वकयकम्म, चदण, वडठाल, पलास और समुद्दणिंदा वज्जाओं को अर्थ के वर्ग में। (वज्जालग्ग की भूमिका)।

२. पढमे बारह मत्ता बीए अट्ठारहेहिं संजुत्ता।
जह पढमं तह तीयं दहपंच विहूसिआ गाहा ॥—प्राकृत पैंगल

गेयत्व—सभी गुणों से मंडित गाथा भी चित्त में खेद उत्पन्न करती है (९,१०)। गाथाओं का मर्म (ध्वनितत्त्व) सहृदय संवेद्य है (११)। वही रचना कामिनी के समान आनन्द प्रदान करती है जो सुन्दर छन्दों एवं सुललित शब्द योजना के साथ-साथ अलंकार और रस से युक्त हो (१२)। सत्काव्य दोषहीन, ललितपद विन्यासयुक्त, स्फुट (प्रसाद गुणयुक्त) और मधुर होता है। (२४)[1]

काव्य का पाठ भले ही सब लोग कर लें परन्तु उसका परमार्थ (ध्वनि) केवल विदग्ध जन जान पाते हैं[2] (१४)। काव्य का सौन्दर्य उस समय बिल्कुल चौपट हो जाता है जब उसे गवाँर लोग सीखने लगते हैं। काव्य का उद्गम हृदय में होता है परन्तु उसका उत्प्रेरक चिन्तन है[3] (७, ८, १९)। जो सबकी प्रशंसा पाने में समर्थ हो वही सत्काव्य है। जिसे सुनकर रोमाच न हो जाय और लोग सिर न हिला दें वह काव्य व्यर्थ है। काव्य की आलोचना वस्तुतः वही कर सकता है जो स्वयं अनुपयुक्त पदों को हटाकर उनके स्थान पर उपयुक्त पद रखने में समर्थ हो। काव्य-पाठक के निम्नलिखित दोष गिनाये गये हैं—

विराम के स्थान पर न रुकना, रसहीन होना, देशकाल की उपेक्षा करना, अनुनासिक उच्चारण, त्वरित पाठ, मुँह ऐंठना या बिगाड़ना और राग तोड़ देना (२७)।

प्राकृत काव्यों के सम्बन्ध में बताया गया है कि वे मधुर वर्णों और छन्दों से विभूषित, शृंगार बहुल तथा देशी शब्दों से युक्त होते हैं। स्फुटता (प्रसादत्व)

---

१. ये विचार काव्य के निम्नलिखित लक्षणों के अधिक निकट हैं—
निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुण भूषणा।
सालंकारसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ॥—चन्द्रालोक
साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणलङ्कार भूषितम्
स्फुटरीतिरसोपेत काव्यं कुर्वीत प्रीतये ॥—वाग्भटालङ्कार
निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥—सरस्वती काण्ठाभरण

२. वेद्यते स तु काव्यार्थ तत्त्वज्ञैरेव केवलम्।—ध्वन्यालोक

३. यहाँ चिन्तन में बुद्धि और कल्पना—दोनों का समावेश समझना चाहिए। हृदय रागात्मक तत्त्व का बोधक है। इस प्रकार काव्य के तीन तत्त्व यहाँ प्रतिपादित है—बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और रागात्मक तत्त्व।

विकटता गाम्भीर्य और प्रावृतार्थता (ध्वनिगर्भितता) उनके प्रमुख गुण हैं (१०) ऐसे शृंगार रस से लबालब भरे, युवतीजन-वल्लभ और मधुराक्षर प्राकृत काव्यों के रहते भला कोई संस्कृत कैसे पढ़ सकता है ? अन्त में अपार भक्ति एवं निष्ठा के उद्गार प्रकट करते हुए प्राकृत काव्य, प्राकृत-कवि और प्राकृत-काव्य-मर्मज्ञ को प्रणाम किया गया है ।

वज्जालग्ग के प्रारम्भ की पाँच और अन्त की दो गाथायें संग्रहकर्ता की रचनायें हैं, शेष अन्य कवियों की । सम्पूर्ण ग्रन्थ में विभिन्न रसों का अभाव न रहने पर भी शृंगार की प्रमुखता है । अनेक वज्जाओं में करुण, बीभत्स, वीर, अद्भुत और शान्त रसों के उदाहरण बिखरे पड़े हैं । नायकनिष्ठ प्रणय के दो रूप हैं—स्वकीया के प्रति और परकीया के प्रति । इसी प्रकार नायिकानिष्ठ प्रणय भी द्विविध है—जार या उपपति के प्रति और पति के प्रति । यद्यपि प्राचीन प्रबन्ध काव्यों में स्वकीया का पवित्र प्रणय ही समादृत होता रहा है, तथापि मुक्तक काव्यों की परम्परा में दोनों को स्पृहणीय प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी । वज्जालग्ग में परकीया नायिका के उद्दाम प्रणय का चित्र उपस्थित करने-वाली प्रभूत गाथायें विद्यमान हैं । सम्पूर्ण ग्रन्थ रस, ध्वनि, वक्रोक्ति और अलंकृति से परिपूर्ण है । इन्हीं विशेषताओं के कारण इसकी कितनी गाथायें काव्यशास्त्र के शीर्षस्थ ग्रन्थों के विभिन्न प्रकरणों में उद्धृत हैं । यद्यपि रूपक, उत्प्रेक्षा, परिकर, काव्यलिंग, समासोक्ति, अपह्नुति, दीपक, तुल्ययोगिता, अति-शयोक्ति, विरोधाभास, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार स्थान-स्थान पर अनायास मिल जाते हैं तथापि अप्रस्तुत प्रशंसा (काव्यप्रकाशोक्त पंचम भेद, अन्योक्ति) उपमा और श्लेष विशेष उल्लेखनीय हैं । अप्रस्तुत प्रशंसा अन्योक्ति या प्रतीक के रूप में भूरिशः उपलब्ध होती है । कितनी वज्जाओं मे तो उसी का अखंड साम्राज्य है । करभ, मालती, इन्दिन्दिर, हंस, सुरतरुविशेष, कमल, कमल-निन्दा, हंसमानस, चन्दन, वट, ताल, पलाश, सुवर्ण, समुद्रनिन्दा, गज, धवल, लेखक, यान्त्रिक, मुसल और कूपखनक वज्जायें उसी के शृंखलाबद्ध उदाहरण हैं । इनमें अप्रस्तुत वर्णन कहीं अलंकार के रूप में है तो कहीं ध्वनि व्यंजक प्रतीक के रूप में[1] । अन्य वज्जाओं में भी अप्रस्तुत प्रशंसा के प्रचुर उदाहरण बिखरे मिलते हैं । प्राय. किसी मार्मिक तथ्य की ओर संकेत या व्यंग्य करना कवि का लक्ष्य होने पर वज्जालग्ग में अप्रस्तुत प्रशंसा या समासोक्ति

---

१. जैसे यान्त्रिक, लेखक, मुसल और कूपखनक वज्जायें ।

अनायास आ जाती है। उपमाओं में सादृश्य और साधर्म्य की अपेक्षा शब्द साम्य का ही प्राधान्य दिखाई देता है। साम्य की इस अभूतार्थता के कारण वर्णनों में कृत्रिमता आ गई है। ऐसे ही स्थलों को लक्ष्य करते हुए आचार्य रुद्रट ने उपमा को केवल अर्थालंकार न मानकर उभयालंकार को कोटि मे रख दिया था[1]। ऐसे उदाहरणों में शब्द के अतिरिक्त साम्य का अन्य सुदृढ़ आधार न होने के कारण हिन्दी अनुवाद पढ़ते समय कभी-कभी मूल शब्द के अभाव में पूरी उपमा अनर्गल प्रलाप सी प्रतिभासित होने लगती है। शब्द साम्यमूलक पूर्णोपमा की वर्णन शैली के दो रूप हैं—एक में उपमान और उपमेय एवं उनके विशेषणों में सामानाधिकरण्य रहता है और द्वितीय में नहीं। द्वितीय शैली को यदि व्याकरण के झरोखे से देखें तो वह अनेक स्थानों पर दोष-पूर्ण लगेगी।

धड्ढो वंकग्गीवो अवंचिओ विसमदिट्ठिदुप्पेच्छो।
अहिणवरिद्धिव्व खलो सूलादिन्नुव्व पडिहाइ॥

इस गाथा में खल की उपमा शब्द साम्य के आधार पर नये धनी और शूल-प्रोत चोर से दी गई है। उपमान, उपमेय और उनके विशेषणों में एक ही विभक्ति, एक ही वचन और एक ही लिंग है। यह उपमा कवि की अप्रतिहत-प्रज्ञा और अगाध पांडित्य का परिचय देती है। कोरे शब्दसाम्य की वायवी भित्ति पर एक उपमेय का दो-दो उपमानों के साथ सफल साम्य निर्वाह करना कोई खेल नहीं है।

ठड्ढा खलो व्व सुयणो व्व संगया नरवइ व्व व्व मंडलिया।
थणया तह दुग्गयचिंतिय व्व हियए न मायंति॥

इस मालोपमा में उपमान खल, सुयण, नरवइ और दुग्गयचिंतिय एकवचन है, जबकि उपमेय थणया बहुवचन है।

सम उत्तंगविसाला उम्मंथियकणयकलससंकासा।
कामणिहाणो व्व थणा पुण्णविहीणाण दुप्पेच्छा॥

इस उपमा में उपमान कामणिहाण एकवचन है और उपमेय थणा बहुवचन। अर्थ करते समय बहुवचन विशेषण बहुवचन उपमेय के साथ तो सरलतापूर्वक अन्वित हो जाते हैं, परन्तु उपमान से अन्वित करने के लिये उन्हें एकवचन में परिवर्तित करना पड़ता है।

---

१. स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः॥

तुच्छं तर्वणि पि घरे घरिणी तह कह वि नेइ वित्थारं।
जह ते वि बन्धवा जलणिहि जव्व थाहं ण याणंति ॥

इस गाथा में उपमेय तर्वाण में द्वितीया है और उपमान जलणिहि में प्रथमा। यदि घरे को उपमेय मानें तो उसमें सप्तमी है और उपमान में प्रथमा। और यदि वित्थार को उपमेय मान लें तो उस में द्वितीया है और उपमान में प्रथमा।

पेम्मं अणाइ परमत्थ पयडणं महुमहो व्व बहुभेयं।
मोहाणुराअजणयं अव्वो किं वंदिमो निच्चं ॥

इसमे उपमेय पेम्म नपुसक लिंग है और उपमान महुमह पुलिंग। सभी विशेषण उपमेय के अनुसार नपुंसकलिंग ही है। उपमान से सम्बन्धित करने के लिये उन्हें पुलिंग बनाना पडता है। विशेषण ही क्यों कभी-कभी विशेष्य के लिंग की भी बहुत अधिक चिन्ता नही की गई है। ४१५ वीं गाथा में जहाँ प्रिय के घर की तुलना राज-प्रागण से करते हुए उसे दूतियों से परिपूर्ण बताया गया है, वहाँ राजपक्ष में अर्थ करते समय दूती को दूत बना लेने का दायित्व समर्थ पाठको को सौंप दिया गया है। उपमा अलंकार और ध्वनि, दोनों रूपों मे उपलब्ध होती है।

वज्जालग्ग में श्लेष को जो प्राधान्य प्राप्त है वह अन्य शब्दालंकारो को नही। श्लेष के स्वतन्त्र उदाहरण तो कम ही मिलेंगे, परन्तु अन्य अलंकारों के सहायक के रूप में वह बार-बार आता है। प्रायः विरोध, समासोक्ति, विभावना, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और दीपक के साथ वह बिल्कुल घुल-मिल गया है। ऐसे स्थलों पर श्लेषाभास हो समझना चाहिये, क्योंकि उसका पूर्ण विकास तो तब होता है जब दोनो अर्थ समकक्ष हों। लगता है, संग्रहकार का झुकाव श्लेष की ओर अधिक था। हाल की सतसई में शब्द साम्य और श्लेष का अभाव तो नही है पर वे नितान्त विरल हैं। शाब्दिक क्रीड़ा की इस पृथक्-कता के कारण बहुत सी गाथाओं में रस का वह तारल्य सुरक्षित नहीं रह सका है जो किसी उत्कृष्ट काव्य को सहृदय संवेद्य बनाता है। जब एक या दो शब्द ही बार-बार भिन्न-भिन्न गाथाओं में प्रयुक्त होकर श्लेष का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं और समान भावों की श्रृंखलाबद्ध पुनरुक्ति होने लगती है तब पूरी वज्जा पिष्टपेषण सी लगती है[1]। यह बात श्लेष के सम्बन्ध में ही नही है,

---

१. देखिये, विज्ज, ओइसिय और धम्मिय वज्जायें।

विभिन्न वज्जाओं में बिल्कुल समान भाव और समान पदावली प्रायः देखने में आती है। उन स्थलों के पक्ष मे केवल इतना कहा जा सकता है कि संग्रहकार ने समान भावो, समान रचना पद्धति और समान-पदयोजना से युक्त पद्यों को एक साथ सकलित कर तुलनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। जहाँ किसी अश्लील या गोप्य अर्थ की प्रतीति कराना लक्ष्य रहता है वहाँ गाथाओं में या श्लेष का अवलम्ब लिया गया है या प्रतीक का। गुह्य-प्रकाशन की यह पद्धति बहुत प्राचीन है। इससे अश्लीलत्व या ग्राम्यत्व किंचित् आच्छादित हो जाता है। वैद्य, ज्योतिषिक, लेखक, यान्त्रिक, कूपखनक, मुसल, धार्मिक और दौषिक (वस्त्र विक्रेता)—ये आठ वज्जायें उपर्युक्त शैली में उत्कट एवं उच्छृंखल शृंगार का वर्णन करती है। इतना अश्लील काव्य अन्यत्र मिलना कठिन है। लेखक, यान्त्रिक, मुसल और कूपखनक में प्रतीक है और शेष मे श्लेष। ज्योतिषिक प्रकरण मे प्रतीक और श्लेष—दोनो का यथासंभव उपयोग किया गया है। इस प्रकरण में श्लेष का केन्द्र शुक्र शब्द है। ग्यारह गाथाओ के प्रकरण म यह नौ गाथाओं मे प्रयुक्त हुआ है। वैद्य प्रकरण मे विडग और पुक्कारय शब्द कई बार आते हैं, परन्तु उनमेंभाव वैविध्य भी है। धार्मिक वज्जा मे एक ही शैली में रची विभिन्न गाथायें संकलित है। उनमें ऐसे पुष्पो या वनस्पतियो के नामो में अभिप्राय विशेष को ध्यान में रखते हुए स्वार्थिक प्रत्यय (प्राकृत मे य) जोड़ कर मुद्रा शैली मे बार-बार रय (रत) शब्द की उपस्थिति कराई गई है, जिनके अन्त मे प्रायः र अक्षर पड़ता है। प्राकृत में अनाद्य क की परिणति अ अथवा य में होती है। अतः प्रत्येक वृक्ष या पुष्प के अन्त में अनिवार्यतः बार-बार रय (रत रमण या मैथुन) की उपस्थिति, विशेषतः वैसे ही पुष्पों एवं वृक्षों के अन्वेषक पुजारी (धार्मिक) की शृंगार प्रियता की ओर मनाक् संकेत करती है। इस उद्देश्य से कुरवक और धत्तूर को भी बलात् कुरय और धुत्तीरय बना दिया गया है। गाथाओं मे जहाँ लिंग या अन्य किसी ऐसे शब्द का निवेश नही है वहाँ शृंगार का सूचन मात्र होता है, वाचन नही। करण्ड[1] शब्द से अण्डकोश की सूचना कुछ उसी प्रकार लगती है जैसे काव्य प्रकाश में 'रुचि कुरु' से अश्लील चिकु शब्द की।

---

१. रत्नदेव ने करण्ड शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—
गृहीत कराभ्यामण्डकं मुष्को येन अर्थात् जिसने दोनो हाथों से अण्डकोश को पकड़ लिया है

कंचीरएहि कणवीरएहि धुत्तीरएहि बहुएहिं।
जइ इच्छसि देहरयं धम्मिय ता मह घरे एज्ज ॥

इस गाथा मे टीकाकार ने द्वितीयार्थ का प्रतिपादन निम्नलिखित शब्दो के द्वारा किया है—

'पक्षान्तरे काञ्चीरतैः कन्यारतैर्धूर्तारतैर्बहुभिर्देहरतं कर्तुं यदीच्छसि तदा मम गृहमागच्छेरिति' अर्थात् बहुत से कांचीरतों, कन्यारतों और धूर्तारतों से यदि देहरत करना चाहते हो तो मेरे घर आओ। यह अर्थ असगत है, क्योंकि पूर्वार्ध में उल्लिखित विभिन्नरत उत्तरार्ध निविष्ट देहरत के साधन नहीं हो सकते। रत स्वयं रत का साधन नहीं हो सकता है। साधन-साध्य या करण-कर्म का ऐक्य सभव नही है। यदि पूर्वार्ध की तृतीया को सह के अर्थ में मान लें तो अर्थ का स्वरूप इस प्रकार हो जायगा—

यदि बहुत मे कांचीरतो, कन्यारतों और धूर्तारतों के साथ देहरत करना चाहते हो तो मेरे घर आ जाओ। यह अर्थ भी विसंगति से मुक्त नहीं है, क्योंकि सभी रतों में देह-सम्बन्ध अनिवार्य है और विभिन्न रतों के साथ देह-रत करने की इच्छा तभी हो सकती है, जब अन्य रत देह-रत से भिन्न हो। साथ ही विभिन्न रतों का स्वरूपतः देहरत से अभेद होने के कारण पुनः देहरत की इच्छा में कृतकरण दोष की आपत्ति है। यदि यह मानें कि तृतीया विभक्ति रत के अधिकरण को लक्ष्य करती है तो भी उचित नही है, क्योंकि कन्या, कांची और धूर्ता के साथ ही देहरत संभव है, उनकी रति-क्रीडाओं के साथ नही। रतिक्रिया के साथ रतिक्रिया लोक व्यवहार विरुद्ध है। अतः सर्वत्र श्लेष की प्रकल्पना निरर्थक है।

इस गाथा में रय (रत) पर समाप्त होने वाले कंचीरय, कणवीरय, धुत्तीरय और देहरय से यह मुद्रार्थ सूचित होता है कि पुजारी की रय (रत) में विशेष अभिरुचि है। अतः अन्तिम शब्द देहरय[1] में लब्धप्रसर श्लेष के द्वारा इत्वरी का यह तात्पर्य है कि जब तुम्हारी प्रत्येक प्रयोजनीय वस्तु के साथ रय शब्द जुड़ा है तब एक कदम और आगे बढ़ जाओ और मेरे घर आकर देहरत भी कर लो। टीकाकारों ने धम्मियवज्जा-निविष्ट पुष्पो के सभी नामों में श्लेष का अस्तित्व स्वीकार कर प्रत्येक के दो-दो अर्थ दिये हैं और मैंने भी हिन्दी

देहरय = १. मन्दिर, २. देहरत।

अनुवाद में यथासंभव उनका अनुवर्तन किया है परन्तु यह वास्तव में एक सांकेतिक काव्यशैली है। श्लेष से जो द्वितीयार्थ निकलता है उसमें केवल क्लिष्ट कल्पना है, चमत्कार नहीं। कई स्थलों पर विसंगतियाँ उभर आई हैं—

वियसियमुहाइ वण्णुज्जलाइ मयरंदपायडिल्लाइं।
धुत्तरियाइ धम्मिय पुण्णेहिं विणा न लब्भंति॥

इस गाथा में विकसित मुखत्व, वर्णोज्ज्वलत्व और मकरकन्दप्रकटितत्व धर्मों का सम्बन्ध केवल धतूरे के पुष्प से है, साध्य रूप व्यापार धुत्तीरय (धूर्ता स्त्री से होने वाली मैथुन क्रिया) से नही। उक्त धर्मों का साक्षात्सम्बन्ध धूर्ता से अवश्य है परन्तु वह शब्द तो समास में गुणीभूत हो चुका है। इसी प्रकार—

सिसिर मयरंदपज्झरणपउरपसरंत परिमलुल्लाइं।
कणवीरयाइ गेण्हसु धम्मिय सब्भावरत्ताइं॥

यहाँ पूर्वार्ध निविष्ट विशेषण और उत्तरार्ध स्थित सद्भाव रक्तत्व-दोनों का अन्वय कनेर-पुष्प (कणवीर) से ही संभव है, कन्यारत से नही, क्योंकि धर्मों का सम्बन्ध प्रधान से होता है, गौण से नही। यदि चाहें तो इस वज्जा की पाँचवी और छठवी गाथाओं में दत्ताक्षरा नामक प्रहेलिका मानकर निम्नलिखित ढंग से शृंगारिक अर्थ ले सकते हैं।

घेत्तूण करंडं भमइ वावडो परपरोहडे नूणं।
धुत्तीरएसु रत्तो एक्कं पि न मेल्लए धम्मी॥

प्रहेलिका की प्रकृति के अनुसार करंड शब्द में क और धुत्तीरय में धु अक्षर अधिक जोड़ दिये गये हैं। इन्हें पृथक् कर देने पर रंडं (रण्डाम्) और तीरएसु (स्त्रीरतेषु) शब्द शेष रह जायेंगे। अब गाथा का यह अर्थ हो जायगा—

दूसरे के पिछवाड़े व्यापारशील धार्मिक राँड़ को लेकर भटक रहा है। वह स्त्रीरतों में (स्त्री के साथ संभोग में) इतना अनुरक्त है कि एक को भी नहीं छोड़ सकता है।

सुलहाई परोहडसंठियाइ धुत्तीरयाणि मोत्तूण।
कुरयाण कए रण्णं पेच्छह कह धम्मिओ भमइ॥

यहाँ धुत्तीरयाणि में धु और कुरयाण में कु अक्षर अधिक है। इन्हें निकाल देने पर क्रमशः तीरयाणि (स्त्रीरतानि) और रयाण (रतानाम्) शब्द शेष रह जायेंगे। अब अर्थ यह होगा—

देखो, पिछवाड़े स्थित सुलभ स्त्रीरत्न को छोड़कर वह धार्मिक कैसे रत्नों (संभोगों) के लिए वन में भटक रहा है।

रचना का उद्देश्य

संग्रहकार के संग्रह का उद्देश्य भले ही त्रिवर्ग रहा हो, मुझे इस रचना का उद्देश्य कुछ अन्य ही प्रतीत होता है, जो किसी भी दशा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। तीसरी वज्जा में प्राकृत काव्यों, प्राकृत कवियों और प्राकृत काव्यों के विदग्ध पाठकों को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया गया है। देशी शब्दों से रचित, मधुर शब्दों और अक्षरों में निबद्ध स्फुट-गम्भीर गूढार्थ प्राकृत काव्यों को पढ़ने का उपदेश दिया गया है। इतना ही नहीं, यह भी कहा गया है कि ललित, मधु-राक्षरयुक्त, युवतीजनवल्लभ, शृंगारपूर्ण प्राकृत काव्यों के रहते कौन संस्कृत पढ़ सकता है? इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ग्रन्थकार वज्जालग्ग के माध्यम से प्राकृत भाषा और साहित्य का प्रचार और प्रसार चाहते थे। वस्तुतः इसी उद्देश्य को समक्ष रखकर उन्होंने इतस्ततः बिखरी प्राकृत की अमूल्य गाथाओं को संगृहीत कर एक ऐसा मनोरम काव्य-ग्रन्थ बनाया, जिसकी सरसता से आकृष्ट होकर संस्कृत काव्य-प्रेमी भी संस्कृत छोड़ प्राकृत काव्य का ही रसा-स्वादन करें। वज्जालग्ग की सरसता को देखते हुये हम निःसंकोच कह सकते हैं कि संग्रहकार अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल हैं। इसके अतिरिक्त वज्जालग्ग के संग्रह का अन्य भी हेतु है। उस युग मे धीरे-धीरे अपभ्रंश और प्राकृत को छोड़कर सामान्य जन लोकभाषा काव्य की ओर आकृष्ट हो रहे थे। ऐसी दशा में प्राकृत की श्रेष्ठ एवं अप्रसिद्ध रचनाओं की सुरक्षा का भी प्रश्न था। संग्रह-कार की सूक्ष्म दृष्टि इस भावी संकट पर पड़ी और उन्होंने श्रेष्ठ रचनाओं को एकत्र कर उन्हें नष्ट होने से बचा लिया, साथ ही पाठकों को एक ही ग्रन्थ में निर्दिष्ट विषयो पर विभिन्न कवियों की इन्द्रधनुषी कल्पनाओं से मंडित मनोहर सूक्तियों के रसास्वादन का अमूल्य अवसर भी प्रदान किया।

साहित्यिक मूल्य

वज्जालग्ग विभिन्न कवियों की उत्कृष्ट गाथाओं की अनुपम मंजूषा है। इस में लगभग एक सहस्र गाथायें विद्यमान हैं। यह संख्या गाहासत्तसई की अपेक्षा लगभग डेढ़ गुनी है, परन्तु विषयों का जो विलक्षण वैविध्य सत्तसई मे मिलता है, वह वज्जालग्ग में नहीं है। इसका कारण गाथाओं का वज्जा-बद्ध होना है। वज्जाओं में निर्दिष्ट विषय ही गाथाओं के प्रतिपाद्य हैं। यदि वज्जाओं को देखें,

भी उनमें भी सर्वत्र विषय-भेद नहीं है। बहुत सी वज्जायें बिल्कुल समान भाव-भूमि का ही स्पर्श करती हैं। विरह, प्रोषित, प्रियानुराग, हृदयसंवरण, बाला-संवरण और ओलग्गाविया की भावभूमि एक है। उनमें प्रायः विरह का वर्णन है। हंस और चन्दन में केवल प्रतीक-भेद है, विषय-भेद नहीं। अप्रस्तुतप्रशंसा के स्थलों पर प्रायः भिन्न-भिन्न वज्जाओं मे एक ही व्यंग्य की पृथक् प्रतीकों के माध्यम से प्रतीति कराई गई है। ऐसे स्थलों पर बाह्य-भेद होने पर भी आन्तरिक भेद नगण्य है। विभिन्न वज्जाओं में वैसे भी बिल्कुल समान भाव और समान पदावली प्राय. दृष्टिगत होती है। इस दोष के मार्जन के लिये यही कहा जा सकता है कि संग्रहकार ने समान भाव, समान रचना-पद्धति और समान शब्द-योजना से सम्बन्धित गाथाओं को तुलनात्मक दृष्टि से एक साथ सगृहीत कर दिया होगा। परन्तु यह सब होने पर भी वज्जालग्ग सरसता और मौलिकता की दृष्टि से एक अनुपम काव्य है। उसमे भाव, कल्पना और शिल्प—तीनों का अद्‌भुत साहचर्य है। रसो का तारल्य जहाँ उसे भाव पक्ष के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करता है, वहीं शैलीगत वैदग्ध्य और भणिति भंगिमा के कारण उसका कलापक्ष भी कमनीय बन गया है। इसी कारण वज्जालग्ग को गाथाओं में जहाँ प्राचीन काव्य-रूढ़ियों का अनुवर्तन है, वहाँ भी एक नवत्व दिखाई देता है। करुणा, मैत्री, परोपकार, दान, प्रणय, नीति, सदाचार, उदारता, उत्साह आदि श्रेष्ठ मानवीय गुणो की सत्प्रेरणा देने वाला यह काव्य अपने ढंग का अनूठा है। यदि इसमें उच्छृङ्खल कुलटाओं के कुटिल स्वैराचार का जुगुप्सित वर्णन है, तो महिमामयी सतियों के पवित्र आदर्श भी विद्यमान हैं। यदि अरुन्तुदभाषी दुष्टों की वक्रगति का निरूपण है, तो समाज-सेवी स्वार्थ-हीन सज्जनों के सरल, श्लाघ्य चरित के भी हृदयावर्जक चित्र हैं। यदि एक ओर अपने लिये भी, अर्जित द्रव्य का व्यय न करने वाले मक्खीचूस कृपणो की निन्दा है, तो दूसरी ओर उदार-चरित महापुरुषो की प्रशंसा भी है। एक ओर उद्दाम यौवन के वासनापूर्ण बीभत्स चित्र हैं, तो दूसरी ओर जरा की अपरिहार्य विभीषिका भी है। एक ओर परिवार के लिए तिल-तिल जोड़ने वाली तप·पूत कुलांगनाओं के कमनीय एवं कर्मठ व्यक्तित्व की मनोरम झाँकी है, तो दूसरी ओर विषय-लोलुप लोलेन्द्रिय धनियों का रक्त चूसने वाली प्रपंचबहुला वारविलासिनियों की काली करतूतों का भंडाफोड़ भी किया गया है। इस प्रकार यह काव्य समाज का यथार्थ एवं उभयपक्षी चित्र प्रस्तुत करने के कारण कोरे आदर्शवादी काव्यों के समान एकांगी नहीं है। समाज के शिव और अशिव, पीयूष और कालकूट, राम और रावण—

सब पर उसकी सूक्ष्म दृष्टि है। इसमें यदि स्पृहणीय आदर्श का समुज्ज्वल आकर्षण है, तो यथार्थ की उपेक्षणीय व्यावहारिक कुरूपता भी कम नहीं है। अतः यह काव्य सच्चे अर्थों में एक साहित्यिक कृति है।

वज्जालग्ग एक उत्कृष्ट काव्य होने के साथ-साथ कवियों और समीक्षकों का उचित मार्गदर्शक भी है। प्रारंभिक दो वज्जाओं मे काव्य, काव्य-श्रोता और काव्य-समीक्षकों के सम्बन्ध में अनेक मान्यतायें दी गई हैं।

ध्वनि, अलंकार, गेयत्व और ललितपद-विन्यास की सुषमा से मंडित इसकी प्रसन्न-गम्भीर शैली प्रत्येक हृदय को मुग्ध कर देती है। इसमें यत्र-तत्र विभिन्न रसों के सुन्दर उदाहरण बिखरे पड़े हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

रणभूमि में घायल पड़े वीर की आँतें गृध्र खींच रहे हैं, परन्तु वह उस पीड़ा को असह्य होने पर भी इसलिये सह रहा है कि पास में पड़े हुये स्वामी की मूर्च्छा पखो की हवा से टूट जाय—

पक्खणिलेण पहुणो विरमउ मुच्छ त्ति पास पडिएण।
गिद्धंत कड्ढणं दूसहं पि साहिज्जइ भडेण॥

—यहाँ बीभत्स रस वीररस का अंग होने के कारण गुणीभूत है।

किसी प्रोषितपतिका बहू का प्रवासी पति दूर प्रवास में ही मर चुका है। वह बेचारी यह समाचार नहीं जानती है। अतः प्रत्येक दिन जब वेणी बाँधकर गृह-शिखर मे (प्रिय को बुला लाने के लिये) कौआ उड़ाने लगती है, तब सारा गाँव रो पड़ता है—

अमुणिय पिय मरणाए वायसमुड्डाविरीइ घरिणीए।
रोवाविज्जइ गामो अणुदियहं बद्धवेणीए॥

—करुण रस

कृपण जन यह जानकर पृथ्वी में अपना धन गाड़ देते हैं कि हमें एक दिन रसातल मे जाना ही है, तो पहले से ही प्रस्थान क्यों न रख दें—

निहणंति धणं धरणीयलंमि इय जाणिऊण किविणजणा।
पायाले गंतव्वं ता गच्छउ अग्गठाणं पि॥

—हास्य रस

मनुष्य की आयु सौ वर्ष है। उसमें भी आधी रातें निकल जाती हैं। उस शेष आधे भाग का भी आधा जरा और शैशव छीन लेते हैं।—जीवन जल-बिन्दु

के समान हैं, यौवन जरा के साथ उत्पन्न होता है, सब दिन समान नहीं होते, तब भी लोग क्यों निष्ठुर बन जाते हैं—

वरिससयं णरआऊ तस्स वि अद्धेण हुंति राईओ ।
अद्धस्स वि अद्धयरं हरइ जरा बालभावो य ॥
जीयं जलबिंदुसमं उप्पज्जइ जोव्वण सह जराए ।
दियहा दियहेहिं समा ण हुंति किं निट्ठुरो लोओ ॥

—शान्त रस

दरिद्र सेवक भूमि पर शयन करता है, जीर्ण चीर बांधता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता है और भिक्षा मांगता है, यद्यपि वह इस प्रकार मुनियों का आचरण करता है, परन्तु (मुनियों के समान) उसे धर्म नहीं प्राप्त होता है। कितना आश्चर्य है—

भूमीसयणं जरचीरबंधण बंभचेरयं भिक्खा ।
मुणिचरियं दुग्गयसेवयाण धम्मो परं नत्थि ॥

—अद्‌भुत रस

कोई वीर अश्व पर इतनी दृढ़ता से बैठा हुआ था कि पेट पर कृपाण का प्रहार होने से आधा शरीर कट कर पृथ्वी पर गिर गया और आधा अश्व की पीठ पर ही रह गया—

गाढासणस्स कस्स वि उयरे निहयस्स मंडलग्गेण ।
अद्धं महीइ पडियं तुरंगपिट्ठिट्ठियं अद्धं ॥

यहाँ वीर रस अद्‌भुत का अनुग्राहक है।

वीर ने एक पद तो गजराज के दांत पर रख दिया और दूसरा कुंभस्थल पर ! तीसरे पद के लिए स्थान न पाने पर उसकी वही शोभा हुई, जो बलि को बाँधते समय विष्णु की हुई थी—

एक्कं दंतंमि पयं बीयं कुंभंमि तइमलहंतो ।
बलिबंधविलसियं महुमस्स आलंबए सुहडो ॥

यहाँ उपमा से उपकृत वीर रस का अप्रतिम वर्णन है।

घायल भट रणांगण में पड़ा है। उसके अंग शोणित से लिप्त हो गये हैं। एक शृगाली उसकी छाती पर बैठकर मुँह सूँघ रही है। लगता है जैसे कोई कामिनी अपने प्रेमी का मुख चूम रही हो—

वच्छत्थलं च सुहडस्स रुहिरकुंकुमविलित्तयंगस्स ।
वर कामिणि व्व चुंबइ उरे निसन्ना सिवा वयणं ॥

—बीभत्स रस

रौद्र और भयानक रसों के स्वतन्त्र एवं असंकीर्ण उदाहरण नहीं मिलते हैं। इस प्रकार वज्जालग्ग में विभिन्न रसों का अभाव नहीं है, परन्तु उसका प्रधान रस शृंगार ही है। सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रणय के मनोरम चित्रों से परिपूर्ण है। संयोग और वियोग के विविध पटलों का जैसा सुरम्य उद्‌घाटन वज्जालग्ग में है, वैसा बहुत कम ग्रन्थों में दिखाई देता है। यहाँ प्रणय केवल मानवीय-हृदय की ही निधि है, पशुओं और मूक वनस्पतियों के भी निश्छल हृदय से उसका तरल उत्स फूटने लगता है। प्रेमी की शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक अर्न्तदशाओं का बड़ी ही सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया गया है। पेम्मवज्जा में बताया गया है कि प्रेम विष्णु के समान अनादि और परमार्थ का प्रकाशक है। आलाप, वक्रोक्ति, ससर्ग और औत्सुक्य—ये उसके चार सोपान हैं। जहाँ जागरण नही है, ईर्ष्या, खेद एव मान नही है और जहाँ सच्चो चाटुकारिता नहीं है, वहाँ प्रेम भी नही है। उभयपक्षी प्रेम ही आनन्ददायक होता है। उसकी गति शुकचंचुवत् वक्र है, क्योंकि प्रिय को न देखने पर उत्सुकता, देखने पर ईर्ष्या, सुख मे स्थित होने पर मान और दूर चले जाने पर दुःख होता है। प्रेमी अपने को सैकड़ों दुःखों में डाल देता है। सच्चा प्रेम वही समझना चाहिये, जहाँ दूर चले जाने पर भी, अन्य से सम्बन्ध जोड लेने पर भी मन नही फिरता है। मनसा वाचा कर्मणा जिसका कोई प्रेमी नही है, वही सुख की नींद सोता है। इस लोक में कोई भी ऐसा नही दिखाई देता, जिसके दिन किसी को हृदय अर्पित कर देने पर सुख से बीतते हों। प्रेम व्यक्ति को उपहास्य बनाकर छोडता है। मान के चले जाने, स्नेह के नष्ट हो जाने और सद्‌भाव के न रह जाने पर, केवल अभ्यर्थना के बल पर प्रेम नहीं टिक सकता। प्रेम के क्षीण हो जाने के पाँच कारण हैं—न देखना, अधिक देखना, देखने पर भी न बोलना, मान और प्रवास। दो प्रेमियों में जब विरोध हो जाने पर पुनः सन्धि होती है, तब उष्ण करके शीतल किये हुये जल के समान प्रेम का स्वाद विकृत हो जाता है। सारी चतुराई तभी तक है, जब तक किसी से प्रेम नहीं हो जाता। कामदेव के पाँच बाण हैं—दृष्टि, दृष्टि का प्रसार, दृष्टि के प्रसार से रति, रति से सद्‌भाव और सद्‌भाव से प्रेम। मदिरा चन्द्र-किरण, मधुमास, कामिनियो का संभाषण और पंचम स्वर का गीत—ये उसके परिकर हैं। वज्जालग्ग की निम्नलिखित वज्जायें उस महामहिमाशाली प्रणय का निरूपण करती हैं—

१. व्याध	३. हरिण (मानवेतर प्रणय)
२. पंचम	४. नयन

५. स्तन	२३. वैद्य	
६. लावण्य	२४. धार्मिक	
७. सुरत	२५. यान्त्रिक	
८. प्रेम	२६. बालासंवरण	
९. मान	२७. कुट्टिनी शिक्षा	
१०. प्रोषित	२८. रुद्र	
११. विरह	२९. कृष्ण	
१२. अनंग	३०. हृदयवती	
१३. पुरुषालाप	३१. वसन्त	
१४. प्रियानुराग	३२. हेमन्त	
१५. दूती	३३ पावस	
१६. पथिक	३४. दीपिक	
१७. मुसल	३५. चक्रवाक	(मानवेतर रति)
१८. धन्य	३६. करभ	(,,)
१९. हृदयसंवरण	३७. गज	(,,)
२०. असती	३८. अवकृष्णा	
२१. ज्यौतिषिक	३९. बालावलोक	
२२. लेखक		

उपर्युक्त वज्जाओं के अवलोकन से प्रस्तुत ग्रन्थ मे शृगार रस की व्यापकता का सहज अनुमान लग सकता है। वज्जालग्ग में शृंगार रस के दोनों पक्षो का चारु चित्रण है। यद्यपि संभोग और विप्रलम्भ दोनों के उदात्त वर्णनो से वज्जायें भरी पड़ी हैं, परन्तु प्राधान्य विप्रलम्भ का ही है। बाहु और सुरय वज्जाओं को छोड़कर अन्य वज्जाओं में उसी का साम्राज्य है। जीवन मे वियोग की व्याप्ति अधिक है। संयोग के अवसर नितान्त सीमित हैं। इसीलिये विप्रलभ मे जो तीव्रता रहती है, वह संभोग मे नही। संभवतः इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को समझ कर संग्रहकार ने विप्रलंभ से सम्बन्धित गाथाओ को भारी सख्या मे सगृहीत किया होगा। विप्रलंभ के अन्तर्गत अभिलाष (पूर्वराग) मान और प्रवास—इन तीनो की नाना अन्तर्दशाओं के कल्पनामय शब्दचित्र देखते ही बनते हैं। अनेक वज्जाओ में नारी के पार्थिव रूप के प्रति अभिलाष की अभिव्यक्ति की गई है। अगों में नयन और स्तन के वर्णन को सर्वाधिक महत्व मिला है। नेत्र चार प्रकार के बताये गये हैं—प्रियों के लिये वक्र, स्वजनों के लिये सरल, मध्यस्थ

के लिये मृत्यु और शत्रु के लिये रक्त। मान के लिये यद्यपि स्वतन्त्र एक वज्जा है, तथापि तत्सम्बन्धित गाथायें अन्यत्र भी उपलब्ध होती हैं। मान के हेतु के रूप में प्रणय और ईर्ष्या—दोनों के दर्शन होते हैं। प्रवास का वर्णन अनेक वज्जाओं में प्रमुख रूप से किया गया है। प्रोषित, विरह, पुरुषालाप, अचलणा, अन्य आदि वज्जायें प्रवासियों की विरहव्यथा का करुण वर्णन करती हैं। नारीनिष्ठ वियोग की अपेक्षा पुरुषनिष्ठ वियोग कम है। पथिक और अन्य वज्जाओं में विप्रलंभ के आश्रय पुरुष हैं। परकीया के विरह का कारण लोकमर्यादा है। कहीं-कही एकपक्षीय प्रणय और लज्जादि भी संयोग में अन्तराय उपस्थित करते हैं। विरही नारी के आन्तरिक सौन्दर्य की स्मृतियाँ कम करते हैं। बाह्य रूप का आकर्षण ही प्रायः उनके प्रलापो का केन्द्र है।

विरह को वास्तविक अग्नि कहा गया है। वह काम रूपी वायु से प्रेरित और स्नेह रूपी ईंधन से उद्दीपित होने पर असह्य बन जाता है। सन्निपात के समान उसमें ज्वर, शीत और रोमांच के लक्षण प्रकट होते हैं। विरहताप के वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण हैं। शीतोपचार की रूढियों को स्वीकार किया गया है। चन्द्र और चन्दन भी विरहिणियों को दग्ध करते हैं। वे प्रायः अनंग और चन्द्र को उपालंभ देती हैं। कहीं-कही निःस्वार्थ प्रणय के ऐसे उदात्त वर्णन भी मिलते हैं, जहाँ प्रेमिका प्रेमी के सुधासिक्त अंगों के स्पर्श की भी वाञ्छा नहीं करती, उसे देख लेना ही पर्याप्त समझती है—

अच्छउता फंससुहं अमयरसाओ वि दूररमणिज्जं।
दंसणमेत्तेण वि पिययमस्स भण किं ण पज्जत्त ॥

प्रणय की परिधि बहुत विस्तृत है। पशुओं के अनेक प्रणय-चित्र नितान्त मार्मिक हैं। उनमें विरह-ताप की तीव्रता मनुष्यों से कम नही। प्रिया की स्मृति में आहें भरते गजेन्द्र के सूँड पर स्थित हरित तृणों का कौर जल कर भस्म हो जाता है। वियोगी चक्रवाक पद्मवन को अग्नि, नलिनी को चिता, अपने शरीर को मृतक और सरोवर को श्मशान समझता है। अस्ताचलशिखरारूढ रवि को देखता हुआ वह विरहाकुल होकर चञ्चुगृहीत मृणाली को न खाता है और न गिराता ही है। ऐसा लगता है जैसे शरीर से प्रयाण करते हुये प्राणों को रोक रखने के लिये कंठ में अर्गला लगा दी गई हो। चक्रदम्पति को कभी सुख नहीं मिलता। रात्रि में अलग-अलग रहते हैं, तो वियोग की दारुण यन्त्रणा झेलते रहने पर भी प्राभातकालिक मिलन की आशा उन्हें जीवित रखती है, परन्तु कल्पना

कीजिये; वे दिन कैसे बीतते होंगे, जिनमें प्रत्येक क्षण सन्ध्या तक बिछुड़ जाने, का भय बना रहता है। करभ अशोक पल्लवों से परिपूर्ण नन्दनवन में चरता है फिर भी मरुस्थल के सुखों की मधुरस्मृतियाँ उसे कचोटती रहती हैं। वे शैलशृंग, वे पीलुपल्लव, वे करील कुड्मल और जन्मभूमि की वे विलास क्रीडायें अन्यत्र कहाँ हैं ? भ्रमर मालती के वियोग में मरणावस्था को प्राप्त हो जाता है। वह गुनगुनाता है, चक्कर काटता है, काँपता है, पंखों को हिलाता है और अंगों को पटकता है। यह मानवेतर प्रणय शृंगार कोटि में नहीं, भावकोटि में आता है।

शृंगार रस के अन्तर्गत स्वाधीन पतिका, प्रोषित पतिका, विरहोत्कंठिता और खंडिता नायिकाओं के ही वर्णन अधिक हैं। असती, वैद्य, ज्यौतिषिक, मुसल आदि वज्जाओ मे प्रणय अश्लीलता की सीमा तक पहुंच गया है, परन्तु व्यग्य-प्रधान शैली का आश्रय लेने के कारण कुरूपता कम हो गई है। धार्मिक वज्जा की सांकेतिक शैली अपने ढंग की अनूठी है। यथासंभव अश्लील अर्थ को गुप्त ही रखा गया है। व्यंग्य के रूप मे बड़ी विदग्धता के साथ उसका संकेत किया गया है। जहाँ तक हो सका है, वहाँ तक वाच्यार्थ को अभद्र नही होने दिया गया है। जैसे हम अपने गुह्य अंगों को सुरम्य वस्त्रों से आवृत कर लेते हैं, नग्न नही रहने देते हैं, उसी प्रकार कुशल कवि भी अपने अभिप्रेत अर्थ को व्यंग्य रख कर ही विदग्ध गोष्ठियों में प्रस्तुत करते हैं। उसमें यदि कहीं अभद्रता भी होती है, तो उसका नग्न प्रदर्शन नहीं रहता है। इस प्रकार शैली वैदग्ध्य से मनाक् प्रच्छादित अश्लीलता पर सबकी दृष्टि नहीं पड़ती है। वह तो सहृदय-संवेद्य होती है। मुसल, लेखक और यांत्रिक वज्जाओं के वाच्यार्थ बिल्कुल अश्लील नही हैं। ज्योतिषिक और वैद्य वज्जाओ में शृंगार का प्रच्छादन श्लेष से किया गया है। जिन गाथाओ में न तो श्लेष है और न कोई प्रतीक ही है, वहाँ भी उत्कट शृंगार संलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि के रूप में प्रतीयमान ही रहता है, वाच्य नहीं। जहाँ वाच्यार्थ मे श्लीलता का अभाव है, वहाँ भी अनेकार्थक शब्दों के कारण शाब्दी व्यंजना का स्फुरण हो जाता है। समासोक्ति के स्थलों पर वस्तुतः अश्लीलता रहती नहीं है। वहाँ विशेष्य (उपमेय, प्रस्तुत) में श्लेष नहीं रहता है। अतः कार्य, लिंग और विशेषणों के सारूप्य के कारण अप्रस्तुत व्यवहार का व्यंजना से आभास मात्र होता है।

वज्जालग्ग का भणिति वैदग्ध्य अद्वितीय है। विविध भावों का परिपोष और रसों का अतिरेक, इसकी प्रमुख विशेषतायें हैं। काव्यशास्त्र में रसादि को

असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि कहा गया है। इसके अनेक उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। संचारी भावों के भी कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

सेयच्छलेण पेच्छह तणुए अंगंमि से अमायंतं।
लावण्णं ओसरइ व्व तिवलिसोवाणपंतीए॥

—औत्सुक्य

पत्ते पियपाहुणए मंगलवलयाइं विक्किणंतीए।
दुग्गयघरिणी-कुलवालियाइ रोवाविवो गामो॥

—दैन्य

उब्भेउ अंगुलिं सा विलया जा मह पइं न कामेइ।
सो को वि जंपउ जुवा जस्स मए पेसिया दिठ्ठी॥

—गर्व

छिन्नं पुणो वि छिज्जउ महुमहचक्केण राहुणो सीसं।
गिलिओ जेण विमुक्को असईणं दूसओ चन्दो॥

—अमर्ष

संभरिऊण य रुण्णं तोइ तुमं तह विमुक्कपुक्कारं।
निद्दय जह सुहियस्स वि जणस्स ओ निवडिओ बाहो॥

—विषाद

निम्नलिखित गाथा में प्रतिकूल संचारी भाव का उन्मेष रसापकर्षक है—

नइ पूर सच्छहे जोव्वणंमि दिअहेसु निच्चपहिएसु।
अणियत्तासु वि राईसु पुत्ति किं दड्ढमाणे ण॥

यहाँ शृंगार विरोधी विभाव यौवन की चंचलता, दिन की गतिमत्ता और रातों की अनिवर्तनशीलता के द्वारा जगत् की अनित्यता का प्रतिपादन होने से निर्वेद की उपस्थिति हो जाती है।

वज्जालग्ग मे भावों का तारल्य अलंकारों के रसानुगुण विनिवेश के कारण और भी बढ गया है। विविध वज्जाओं में यमक (गा० १८८) रूपक (गा० १९) उत्प्रेक्षा (गा० ३१४, ३२२, ३१३) विभावना (गा० ३९, बाला श्लोक ४) विशेषोक्ति (गा० १५२, ४६४) विषम (गा० ८२, ६३९, ३०० × ५) काव्यलिंग (गा० १७७, ३२१) अतिशयोक्ति (गा० ५५४) अत्युक्ति (गा० ४३४) उत्तर (गा० २१४, ४९४) विरोधाभास (गा० १३, ५६१) अन्योन्य

(गा० ७३) हेतु (गा० ६०२) तद्गुण (गा० ५५१, ५९६) सार (गा० ८५, १३५) अर्थान्तरन्यास (गा० ७८, ५४३, ५५७, १९३, ८० × १) तुल्ययोगिता (गा० ८९, ६८१) दीपक (गा० ९, १३, २४) अपह्नुति (गा० ६४९) यथा-संख्य (गा० ६५८) दृष्टान्त (गा० ३५, ७०३) व्यतिरेक (गा० १४) एकावली (गा० ३४) आक्षेप (गा० ३६७, ४३८) समुच्चय (गा० २९६, ६३८) समा-सोक्ति (गा० ७११, ७०९) पुनरुक्तवदाभास (गा० २५५) आदि अलंकारों के उदाहरण बिखरे पड़े हैं । अलंकारों की संकीर्णता का एक उदाहरण देखिये :—

सेयच्छलेण पेच्छह तणुए अंगंमि से अमायंतं ।
लावण्णं ओसरइ व्व तिवलिसोवाणपंतीहिं ॥

यहाँ 'ओसरइ व्व' में क्रियोत्प्रेक्षा है । उसके अंग हैं—रूपक, अपह्नुति और काव्यलिंग । काव्यलिंग का हेतु है—द्वितीय चरण में विद्यमान अत्युक्ति ।

निम्नलिखित गाथा में कवि की उपमा गर्हित चोर से देने के कारण अनौचित्य है—

कह कह वि रएइ पयं मग्गं पुलएइ छेय मारुहइ ।
चोरो व्व कई अत्थं घेऊण कह वि निव्वहइ ॥

समुच्चय के साथ श्लेष का मणि-काञ्चन सयोग दर्शनीय है—

एक्को च्चिय दुव्विसहो विरहो मारेइ गयवई भीमो ।
किं पुण गहियसिलीमुहसमाहवो फग्गुणो पत्तो ॥

अन्य अलंकारों में चमत्कार सृष्टि करने वाले श्लेष के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

हिट्ठकयकंटयाणं पयडियकोसाण मित्तसमुहाणं ।
मामि गुणवंतयाणं कह कमले वसइ न हु कमला ॥

यहाँ अप्रस्तुत व्यवहार समारोपात्मक समासोक्ति और काव्यलिंग का आधार श्लेष है । कभी-कभी वह अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य-समर्थक-भाव की सिद्धि के लिये आवश्यक बन गया है—

जह जह वड्ढेइ ससी तह तह ओ पेच्छ घेप्पइ मएण ।
वयणिज्जवज्जियाआ कस्स वि जइ हुंति रिद्धीओ ॥
किसिओसि की स केसव किं न कओ धन्नसगहो मूढ ।
कत्तो मण परिओसो विसाहियं भुंजमाणस्स ॥

द्वितीय गाथा के पूर्वार्ध में अनुप्रास की कमनीयता भी कम नहीं है ।

प्रहेलिका के स्थलों पर अर्थभ्रम उत्पन्न करने का कार्य श्लेष ही करता है—

कस्स कएण किसोयरि वरणयरं वहसि उत्तमंगेण।
कण्णेण कण्णवहणं वाणरसंक य हत्थेण॥

इसके अतिरिक्त अनेक गाथाओं में वह व्यतिरेक (गा० १५०) व्याघात (गा० १६१) रूपक (गा० ४३६) और विरोध का साधक है एवं शब्दशक्ति मूलक संलक्ष्यक्रमवस्तु ध्वनि के स्थलों पर भी उसकी उपयोगिता दिखाई देती है—

जइ सो न एइ गेहं ता दूइ अहोमुही तुमं कीस।
सो हो ही मज्झ पिओ जो तुज्झ न खंडए वयणं॥

यहाँ वचन खंडन की प्रतीति वदन खंडन के रूप में होती है, जिसका हेतु श्लेष है।

उपर्युक्त स्थलों पर श्लेषकृत चमत्कार का अस्तित्व होने पर भी अन्य अलंकारो का प्राधान्य है। वज्जालग्ग में श्लेष की भारी सख्या देखकर पता चलता है कि संग्रहकार शब्द-चमत्कार के प्रबल समर्थक थे।

वज्जालग्ग में प्रकृति और प्रतीक

प्राय: काव्यों में प्रकृति की अवतारणा तीन रूपों में की जाती है—आलम्बन, उद्दीपन और अप्रस्तुत योजना। आलम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण वहाँ होता है, जहाँ प्रकृति ही कवि का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय रहती है। ऐसे स्थलो पर सामान्य वस्तु सूचना भी हो सकती है और चित्रोपमता भी। प्रथम में अर्थग्रहण मात्र होता है और द्वितीय में बिम्ब-ग्रहण। साहित्य में वस्तुनिष्ठ बिम्बग्राही वर्णन को ही उत्कृष्ट माना गया है। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति ने प्रकृति के विविध परुष एवं मसृण दृश्यों का चित्रण करते समय अद्‌भुत बिम्बों की सृष्टि की है। वज्जालग्ग में उस कोटि के बिम्बों की बात तो दूर है, सामान्य बिम्ब के दर्शन भी दुर्लभ हैं। परन्तु इसका यह अभिप्राय कथमपि नही है कि वज्जालग्ग की गाथायें निम्नस्तर की हैं। साहित्यिक दृष्टि से उनका भी महत्त्व अक्षुण्ण है। प्रकृति-वर्णन मे बिम्बों की सृष्टि करना या न करना, केवल प्रतिभा पर नहीं, दृष्टि पर भी निर्भर है। बहुत से महाकवि इस बात पर ध्यान नहीं देते कि प्रकृति का कौन सा दृश्यखण्ड कैसा है अथवा किस प्राणी की शारीरिक मुद्रा विशेष का स्वरूप क्या है। उनकी दृष्टि प्रकृति और मानव-जीवन के

विविध व्यापारों में विद्यमान साम्य पर ही अधिक रहती है। ऐसे कवि प्रकृति को प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रकृति उनका साध्य नहीं, साधन-मात्र रहती है। अतः उनके वर्णनों में बिम्बसृष्टि का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसी दृष्टि-भेद के कारण वज्जालग्ग में प्रकृति आलम्बन के रूप में कम उपलब्ध होती है। उद्दीपन और अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत ही उसका अधिक विनियोग दिखाई देता है। वस्तुतः अप्रस्तुत योजना के रूप में प्रकृति का जितना प्रचुर प्रयोग किया गया है, उतना उद्दीपन के रूप में भी नहीं। अप्रस्तुत योजना दो प्रकार की है—उपमान और प्रतीक। प्रथम में प्राकृतिक दृश्य विधान का कोई अवसर ही नहीं है। द्वितीय प्रकार में भी, प्रतीक स्वतन्त्र नहीं रहते हैं, उन्हें सारूप्यवशात् किसी अभिप्रेतार्थ की प्रतीति कराने के लिये ही ग्रहण किया जाता है। प्रतीकात्मक काव्यों की शैली सांकेतिक होती है, वहाँ प्रकृति के उतने अंश पर ही कवि का ध्यान केन्द्रित रहता है, जितने की उसे आवश्यकता रहती है। अतः जहाँ प्रकृति-स्वरूप नहीं, केवल संकेत का प्राधान्य है, वहां बिम्ब-रचना कैसे संभव होगी। वज्जालग्ग में प्रयुक्त प्रधान प्रतीक इस प्रकार हैं, जिनमें अधिकांश का सम्बन्ध प्रकृति से है—

प्रतीक	अर्थ
गज	प्रतापी या स्वाभिमानी पुरुष
विन्ध्य	आश्रयदाता
धवल	कर्मठ सेवक
सिंह	पराक्रमी पुरुष
करभ	प्रणयी, जन्मभूमि से वियुक्त पुरुष
वेलि	नायिका, सुन्दरी
इन्दिन्दिर (भ्रमर)	प्रणयी, छली प्रणयी
सुर-तरु-विशेष	श्रेष्ठ आश्रयदाता
हंस	सज्जन अथवा विद्वान्
लेखक	मैथुनकारी
यान्त्रिक	,,
मुसल	लिंग
उद्द	भोगी
पथिक	प्रवासी, प्रणयी
जम्बुक	राजा और कुत्सित आश्रयदाता

हंस-मानस	आश्रित-आश्रय
चन्दन	सज्जन
वट	आदर्श आश्रयदाता
ताल	कृपण स्वामी
वडवानल	तेजस्वी पुरुष या शत्रु
सिन्धु	महापुरुष और आश्रयदाता
सुवर्ण	गुणवान्
दीपक	गुणवान्
रत्नाकर	धनी, कृपण, आश्रयदाता
कटहल	सुसेव्य स्वामी
जलधर	दाता
चातक	याचक
कृष्णदन्त	निखट्टू सेवक
उज्ज्वलदन्त	कर्मठ सेवक
मधुपटल	आनन्द
कौस्तुभ	गुणवान्
चन्द्र	,,
पाटला	श्रेष्ठ सुन्दरी
जलरंकु	खल
भ्रमर	खल

उपर्युक्त प्रतीकों में अधिकतर साहित्यिक परम्परा में पुराकाल से ही प्रसिद्ध हैं। इनमें बाह्य दृष्टि से जितना वैविध्य है, आन्तरिक दृष्टि से उतना नहीं है। प्रायः एक अर्थ के प्रत्यायक कई-कई प्रतीक दिखाई देते हैं। परन्तु इन प्रतीकों के माध्यम से जिन भावों का सम्प्रेषण किया गया है, वे बड़े मार्मिक हैं। कहीं-कहीं एक ही प्रकरण में एक ही वस्तु के लिये कई प्रतीक बारी-बारी आये हैं, फिर भी आर्थिक चमत्कार में न्यूनता नही आने पाई है। शृंगारिक अभिव्यक्ति के लिए अनेक नूतन और मौलिक प्रतीकों की भी सृष्टि की गई है।[1]

ऋतु-वर्णन के प्रसंग में यद्यपि प्रकृति-वर्णन का पर्याप्त अवसर था, परन्तु वहाँ भी वह उद्दीपन विभाव का अंग बनकर रह गई है। प्रकृति का उपयोग

---

१. इन प्रतीकों का परिचय अनुवाद में यथास्थान दिया गया है।

वहीं तक सीमित रह गया है, जहाँ तक वह किसी मानवीय मनोभाव के उत्कर्ष या अपकर्ष में सहायक होती है। ऐसे वर्णनों में प्राकृतिक दृश्य विधान कवि का लक्ष्य नहीं है, फिर भी कल्पना की कमनीयता और शैली की वक्रता देखकर मन मुग्ध हो जाता है। तुलना में प्रकृति सुख की अपेक्षा दुःख का उद्दीपन करने के लिये अधिक प्रयुक्त हुई है। गाथाओं में विप्रलम्भ शृंगार की बहुलता ही इसका हेतु है। जब पावस में सान्द्र मेघ गंभीर-गर्जन करने लगते हैं और जब कल्लोलावर्त-संकुल कूलकषा कल्लोलिनियाँ सलिल-पूर-प्लावित वसुन्धरा को दुर्लंघ्य बना देती हैं, तब मार्गों के अवरुद्ध हो जाने के कारण प्रोषित-पतिका प्रवासी प्रियतम के लौटने की आशा छोड देती हैं। प्रियतम के ध्यान मे तल्लीन कृशकलेवरा विरहिणियों की वेदना देख कर सहानुभूति से मेघों का हृदय भी द्रवित हो उठता है और जलधारा के व्याज से अश्रु टपकने लगते हैं। हरित शाद्वलमंडित वनस्थली में नर्तनशील उच्छृत-शिखंड मयूर उन प्रवासियों का पता पूछने लगते है, जो अपनी प्रेयसियों को अकेली छोड़ कर दूर चले गये हैं। कलकंठी प्रवासियों को चेतावनी देने लगती है कि जब तक तुम्हारी प्रिया मर नहीं जाती, तब तक घर लौट आओ। एकान्त सदन में अवधि-गणना-तत्पर अकेली पथिक-प्रिया को विद्युत पिंगाक्ष कृष्ण मेघ उल्कापिशाच सा दिखाई देता है (६४१, ६४७, ६४८ ६४९, ६५०)। शिशिर के दिनों को इसलिये शाप दिया जाता है कि उनके कारण अप्रिय पत्नी के प्रति भी प्रणय का अभिनय करना पड़ता है (६६५)। गृह प्रागण में प्रवर्धमान सहकार तरु भी वसन्त आने पर वसा, अन्त्र और मास का शोषण करने लगता है (६३९)। ग्रीष्म में दवाग्नि की मसि से मलिन विन्ध्य शिखरों को देख कर प्रोषितपतिकायें वर्षा के श्यामल मेघों की सभावना से व्याकुल हो उठती हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रकृति विविध परिस्थियों में पड़े मानव-हृदय को नाना रूपों से प्रभावित करती है। वज्जालग्ग में प्रकृति एक रूप में और दिखाई देती है। वहाँ वह न तो उद्दीपन के रूप में प्रभाव डालती है और न प्रतीक के रूप में। उसका उद्देश्य केवल व्यंजनाव्यापार द्वारा किसी अभिप्रेतार्थ की अभिव्यक्ति कराना है :—

मा रुवसु ओणयमुही धवलायंतेसु सालिछेत्तेसु।
हरियालमंडियमुहा नड व्व सणवाडया जाया॥

शालि क्षेत्रों के श्वेत हो जाने पर (सूख जाने पर) शिर झुकाये मत रोओ, हरिताल से विभूषित मुख वाले नट के समान सन के खेत तैयार हो गये हैं।

पुव्वेण सणं पच्छेण वंजुला दाहिणेण वट विडवो।
पुत्तिइ पुण्णेहि विना न लब्भए एरिसो गामो ॥

पूर्व में सन, पश्चिम में बेंत और दक्षिण में बरगद है, बेटी! बिना पुण्य के ऐसा गाँव नही मिलता है।

जत्थ न खुज्जियविडवो न नई नवनं न उज्जडो गेहो।
तत्थ भण कह वसिज्जइ सुविसत्थवज्जिए गामे ॥

जहाँ न कुबड़े पेड़ है, न नदी है, न वन है और न उजड़ा घर ही है, उस निश्चिन्त स्थान से रहित गाँव में बताओ कैसे रहा जाय? इन गाथाओ में गाँव की प्राकृतिक स्थिति का वर्णन प्रच्छन्न प्रणय में अपेक्षित संकेत-स्थलों की सुलभता अथवा दुर्लभता के उद्देश्य से किया गया है। अनेक गाथाओं मे जहाँ प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र मिलते है, वहाँ भी अलकारो के चमत्कार में उसका स्वरूप तिरोहित हो गया है। परन्तु बीच-बीच में ऐसे भी वर्णन उपलब्ध होते हैं, जिनका शब्दचित्र चित्त को बरबस मोह लेता है—

रुंदारविंदमयरंदाणंदियाली रिंछोली।
रणझणइ कसणमणिमेहल व्व महुमासलच्छीए ॥

इस गाथा मे विशाल अरविन्द मन्दिर में मकरन्द-पान से मुदित मधुकर-माला का उपमा के माध्यम से, जो चित्र अंकित किया गया है, उसमें नाद-सौन्दर्य मे चार चाँद लगा दिये हैं।

इस प्रकार यद्यपि वज्जालग्ग में प्रकृति के बिम्बग्राही चित्रों की कमी है, किन्तु उद्दीपन के रूप में उसके वर्णन बड़े हृदयग्राही हैं।

भाषा एवं शैली

वज्जालग्ग की भाषा को हम मिश्रित भाषा कह सकते हैं। कतिपय विशेषताओं के आधार पर उसे जैनमहाराष्ट्री मान लेना बहुत उचित नहीं है, क्योकि ग्रन्थ की सारी गाथायें न तो एक कवि की रचनायें हैं और न उनका रचना काल ही एक है। वे विभिन्न कालों में विभिन्न कवियों के द्वारा रची गई हैं। अतः भाषा की एकरूपता और व्यवस्था का सर्वत्र अभाव दिखाई देता है। यदि कतिपय गाथाओं में जैनमहाराष्ट्री की प्रवित्तियाँ दृष्टिगत होती हैं, तो कुछ मे अर्धमागधी के भी प्रयोग मिलते हैं। सबसे अधिक प्रभाव तो अपभ्रंश का है। संक्षेप में विभिन्न प्रकृति लक्षणों की संकीर्णता ही वज्जालग्ग की भाषा का प्रधान लक्षण है। उसमें यदि पैशाची के समान ण के स्थान

पर न का प्रयोग है, तो मागधी के समान ज के स्थान पर य भी विद्यमान है। यदि महाराष्ट्री में प्रचलित (क्त्वा के स्थान पर) ऊण के दर्शन होते हैं, तो अर्धमागधी के समान क्त्वा का तुमुन् के अर्थ में प्रयोग भी है। यदि इस प्रकार लक्षणों की संकीर्णता पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो अपभ्रंश का प्रभाव सर्वाधिक है। जिन गाथाओं पर यह प्रभाव जितना अधिक है, उन्हें रचनाकाल दृष्टि से उतना ही अर्वाचीन समझना चाहिये। संक्षेप में भाषा की निम्नलिखित विलक्षणतायें दर्शनीय हैं :—

१. आम् के स्थान पर हं, ङि के स्थान पर हिं, देसि के स्थान पर देहि, अन्ति के स्थान पर हिं और लोट् प्रथम पुरुष एक वचन में उ के स्थान पर हु का प्रयोग।

२. इ, इवि, एवि प्रभृति पूर्वकालिक-क्रिया-प्रत्ययों का अपभ्रंशानुकूल प्रयोग।

३. निष्ठा के अर्थ में मूलधातु का प्रयोग।

४. अपभ्रंश उ प्रत्यय।

५. लुप्तविभक्तिक प्रयोग।

६. एतद् के स्थान पर एह, युष्मद् का तृतीया में पइ।

७. लोट् में सि के स्थान पर इ, करेसु के स्थान पर करि।

८. छन्दों की आवश्यकता के अनुसार स्वरों में परिवर्तन, काट-छाँट, लघु को दीर्घ और दीर्घ को लघु बना देना।

९. व्यत्यय, किसी स्वर के स्थान पर अन्य स्वर का प्रयोग।

१०. समास में छन्दों की गति सुरक्षित रखने के लिये व्यंजन-द्वित्व।

११. म, व और र का आगम[१]।

१२. म के स्थान पर व एवं व के स्थान पर म।

१३. द्वित्व के स्थलों पर द्वित्व का अभाव, मण्णे के स्थान पर मणे और दुस्सह के स्थान पर दूसह।

विभिन्न वज्जाओं में देशी शब्दों का भारी संख्या में प्रयोग मिलता है। कितने देशी शब्द तो ऐसे हैं, जो प्रसिद्ध शब्दकोषों में भी अप्राप्य हैं। ऐसे शब्दों का बाहुल्य कवियों पर उनकी मातृभाषा (प्रान्तीय भाषा) के प्रभाव का सूचक है, क्योंकि उस समय तक प्रान्तीय भाषायें पर्याप्त विकसित हो चुकी थीं।

---

१. वर्णागम की प्रवृत्ति पालि में भी है, वहाँ य, म, त, र और ग का आगम होता है—

वनतरमा चागमा —मोग्गलान, १/४५।

एक ही वज्जा में निविष्ट विभिन्न गाथाओं में शैली-भेद विद्यमान है। यदि कहीं दीर्घ समासान्त-पदावली के विकट बन्ध हैं, तो कहीं समास की गन्ध भी नहीं है और कहीं समास है, किन्तु नितान्त विरल। यदि कहीं श्लेष के कारण आर्थिक जटिलता है, तो दूसरी ओर ऐसी आडम्बरहीन गाथायें भी हैं, जहाँ एक-एक पद से अनायास अर्थ छलकता दिखाई देता है। वैदर्भी रीति का प्राधान्य है। प्रसाद और माधुर्य गुणों की अनुपम छटा दर्शनीय है। किसी-किसी वज्जा में (जैसे सुहड और साहस) ओज भी है। निम्नलिखित गाथाओं की विलक्षण प्रासादिकता दर्शनीय है—

थर-थर थरेइ-हियय जीहा घोलेइ कंठमज्झमि।
नासइ प्रहलावण्णं देहि त्ति परं भणंतस्स॥
ता रूवं ताव गुणा लज्जा सच्च कुलक्कमो ताव।
ताव च्चिय अहिमाणो देहि त्ति ण भण्णए जाव॥

अनेक गाथायें अलकार के भार से लदी हैं। शब्दालकारों में यमक के उदाहरण कम हैं। अनुप्रास अनायास ही सुलभ हो जाता है। वस्तुतः श्लेष की ओर ही कवियों का झुकाव अधिक है। इसी कारण अनेक गाथायें बहुत दुरूह बन गई है। प्रायः गाथाओ में शब्दो को सँवारने की अपेक्षा अर्थों को अलकृत करने का अधिक प्रयास किया गया है, इसीलिये श्लेष जैसा शब्दालकार भी अन्य का अंग होकर गौण ही रह गया है। मुहाविरों और लोकोक्तियों के प्रयोग भी अनेक गाथाओं में मिलते हैं (गा० ५५६, ४४९ × १३)। व्यन्यात्मक एवं अनुरणनात्मक शब्दो के द्वारा रसानुभूति को तीव्र बनाया गया है। अनेक गाथायें बिल्कुल आडम्बर-हीन और अनलकृत होने पर भी अपने भोले-पन से चित्त को अभिभूत कर लेती हैं। ऐसे स्थलों पर भाषा का जो अकृतिम सहज स्वरूप उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र खोजने पर ही दिखाई देगा। यद्यपि कुछ स्थलों पर व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग[1] भी मिलते हैं, किन्तु गुणों की भीड़ में उन पर दृष्टि नही जाती है। उपमाओं मे मूर्त उपमानों का बाहुल्य है। संवादात्मक शैली को अपनाने से कई गाथाओ में अद्भुत नाटकीयता आ गई है—

"कइया गओ पियो" "पुत्ति अज्ज" "अज्जेव कइदिणा होंति।"[2]
"एक्को" "एद्दहमेत्तो" भणिउं मोहं गया बाला॥

१. वज्जालग्गं, गा० ६६०।

२. इसी संवादात्मक शैली मे रचित निम्नलिखित श्लोक दर्शनीय हैं,

"कुसलं राहे" "सुहिओ सि कंस" "कंसो कहिं" "कहिं राहा !"
इय बालियाइ भणिए विलक्खहसिरं हरिं नमह ॥

प्रथम उदाहरण में नायिका के भोलेपन के साथ गाथा की सरलता और आडम्बरशून्यता भी अनुपम है ।

लक्षक और व्यंजक शब्दों के उचित प्रयोग के कारण वज्जालग्ग की शैली में पर्याप्त भंगिमा आ गई है । अनेक गाथायें ध्वनि काव्य के सर्वोत्तम उदाहरणों के रूप में रखी जा सकती हैं । लक्षक शब्द कभी-कभी अपने वाच्य के साथ अर्थान्तर में संक्रमित हो जाते हैं और कभी-कभी उनका वाच्यार्थ बिल्कुल तिरोहित हो जाता है—

मयणाणिल संधुक्खिय णेहिंधदूसह दूरपज्जलिओ ।
डहइ सहि पियविरहो जलणो जलणोच्चिय वराओ ॥

—अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि

यहाँ द्वितीय जलण (ज्वलन) शब्द अपने अर्थ के साथ अर्थान्तर (नाम मात्र का अग्नि) में संक्रमित हो गया है । अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का एक उदाहरण देखिये—

कवडेण रमंति जणं पियं पयंपंति अत्थलोहेण ।
ताण णमो वेस्साणं अप्पा वि न वल्लहो जाणं ॥

यहाँ नमस्कार का वास्तविक अर्थ असंगत होने के कारण उपेक्षित है । उक्त शब्द का अर्थ 'श्रद्धापूर्वक ग्रहण' नहीं, 'अश्रद्धापूर्वक त्याग' है । बहुत सी गाथाओं में वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव (प्रकरण) देश, काल और हाव-भावादि के वैशिष्ट्य से वाचक शब्द भी स्वार्थ विश्रान्त न होकर व्यंग्य के वाहक बन गये हैं । वाच्य और व्यंग्य की प्रतीतियों में पूर्वापर क्रम लक्षित होने कारण ऐसे काव्यों को शास्त्रीय भाषा में संलक्ष्य-क्रम ध्वनि कहा गया है । वस्तु ध्वनि का एक निदर्शन प्रस्तुत है—

जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पद्माकर ने जगद्विनोद में अनूदित किया है—

बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि ! रुषं रोषान्मया किं कृतम्,
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेनवचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥

—अमरुशतक

अत्ता वहिरंधलिया बहुविहवीवाह संकुलो गामो।
मज्झ पइ य विएसे को तुज्झ वसेरयं देइ॥

इसका भावानुवाद मैंने यों किया है—

सास बिचारी के आँख नहीं वह,
देखती है दिन में ही अँधेरा।
आज विवाह में लोग गये सब,
लौटेंगे होने के बाद सबेरा।
कोई नहीं है अकेली हूँ गेह में,
दूर विदेश में कंत का डेरा।
ढूंढ़ लो रात में दूसरा ठौर, है,
कौन यहाँ जो तुम्हें दे बसेरा॥

यहाँ प्रोषित पतिका वक्त्री है और बोद्धा (श्रोता) है प्रोषित नवयुवक। दोनों में आंगिक संपर्क की वासना समान है। सूना घर और रात्रि का समय—ऐसे अनुकूल देश-काल में वासना-तृप्ति का कितना सुन्दर अवसर है। अतः भावुक एवं विदग्ध काव्य मर्मज्ञों को नायिका के निषेध में भी गुप्त स्वीकृति की झलक मिल जाती है। रीति काल के प्रसिद्ध कवि सुखदेव मिश्र (कविराज) ने निम्न-लिखित कवित्त में ऐसी ही व्यंजक परिस्थिति को उपस्थित करने का प्रयास किया है—

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
अहै रैनि अँधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन, कविराज न सोहात भौन,
दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है॥
संग ना सहेली, बैस नवल अकेली,
तन परी तलबेली-महा लाग्यो मैन सरु है।
भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही ! यहाँ चोरन को डरु है॥

परन्तु कवि ने "तन परी तलबेली-महा, लाग्यो मैन सरु है"—इस वाक्य-द्वारा व्यंग्य को बिल्कुल वाच्य कर दिया है। अतः यह कवित्त पूर्वोदाहृत गाथा की समकक्षता में नहीं आ सकता है। इसकी अपेक्षा, इसी सन्दर्भ में कवीन्द्र का यह कवित्त वस्तु ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है—

शहर मँझार ही पहर एक लागि जैहै,
छोरे पै नगर के सराय है उतारे की।
कहत कविंद मग माँझ ही परैगी साँझ,
खबर उड़ानी है बटोही द्वैक मारे की।
घर के हमारे परदेश को सिधारे,
यातें दया कै बिचारी हम रीति राह बारे की।
उतरौ नदी के तीर, बरके तरे ही तुम,
चौंकौ जनि चौंकी तहीं पाहरू हमारे की॥

इसमे प्राकृत-गाथा के समान ही व्यंजकता का पूर्ण निर्वाह है। कहीं-कहीं व्यंग्य इतना अपरिहार्य हो गया है कि बिना उसके गाथा का अर्थ ही अधूरा और असंगत प्रतीत होने लगता है—

एक्कसर पहर दारिय माइंद गइंद जुज्झमाभिडिए।
वाहि न लज्जसि नच्चसि दोहग्गे पायडिज्जंते॥

व्याध ने युद्धरत व्याघ्र और गजेन्द्र को एक ही बाण से मार गिराया है। पति के इस शौर्य से पुलकित हो कर व्याध-वधू नाचने लगती है। सखी कहती है—अरी नाचती क्यो है? यह तो तेरा दुर्भाग्य प्रकट हुआ है। लीजिये, पति का पराक्रम भी पत्नी का दुर्भाग्य-सूचक बन गया। कितनी बड़ी असगति है, इस अर्थ से। परन्तु दूसरे क्षण व्यंजना व्यापार का उन्मेष होता है। आखिर विवाहित व्याध का अपरिमित बाहुबल सुरक्षित कैसे रह गया? यदि वह अपनी पत्नी के प्रणय-पाश में आबद्ध होता तो निःसंदेह विषय-सेवन से क्षीण हो गया होता और एक ही बाण से दो दुर्धर्ष वन्य पशुओं का वध न कर पाता। अत: वह अपनी पत्नी से प्रेम नही करता है। स्त्री का इससे बढ़ कर दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? गाथाओं में जहाँ व्यंग्य प्रधान नही रहता, वहाँ भी वह कभी वाच्य का साधक होता है, तो कभी अंग। कभी उसकी प्रधानता सन्दिग्ध होती है, तो कभी वाच्य और व्यंग्य दोनों समकक्ष होते हैं। व्यंग्य जब वाच्य का अंग होता है, तब समासोक्ति होती है और जब दोनों समकक्ष होते हैं, तब अप्रस्तुतप्रशंसा। वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य का प्राधान्य होने पर काव्य का अभिधान ध्वनि होता है। वज्जा-लग्ग में इन तीनों के उदाहरण भरे पड़े हैं।

वज्जालग्ग की रचनाशैली विदग्धता से परिपूर्ण है। इससे सराबोर होने पर भी उसकी गाथाओं को समझने के लिए केवल शब्द और अर्थ के ज्ञान से काम

नहीं चल सकता है, उनमे प्रतिपादित व्यंग्य को समझने के लिए वैदुष्य के साथ-साथ सहृदयता भी अपेक्षित है। शैली की उदात्तता, भावों की तीव्रता, भाषा की सजीवता, अलंकारों की गरिमा और भणिति-भंगिमा की दृष्टि से यह प्राकृत साहित्य के श्रेष्ठतम काव्यों मे से एक है।

नैतिक आदर्श

नैतिक दृष्टि से भी वज्जालग्ग एक सुन्दर कृति है। समाज में भले-बुरे लोगों को ठीक-ठीक पहचान पाना एक कठिन कार्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में खलों और सज्जनों के लक्षण देकर एक को त्यागने और दूसरे को अंगीकार करने के उपदेश हैं। सज्जनों के चरित का बडा ही उदात्त चित्रण किया गया है। सज्जन क्रोध नहीं करता, यदि करता है, तो अमंगल नहीं सोचता। यदि सोचता है, तो कहता नहीं और यदि कहता है, तो लज्जित हो जाता है। दृढ़ रोष से कलुषित होने पर भी मुंह से अप्रिय वचन नहीं निकलते। वह न तो दूसरे का उपहास करता है और न अपनी श्लाघा। विप्रियकारी के प्रति भी उसका व्यवहार मधुर ही रहता है। दुष्टों के कठोर वचन सुन कर वह हँस देता है। नित्य उपकार में तत्पर रहता है, किसी का भी अहित नहीं करता। उसका क्रोध बिजली की कौंध के समान क्षणभंगुर होता है और उसकी मैत्री पाषाण-रेखा के समान कभी भी धूमिल नहीं होती। दीनों का उद्धार, शरणागत का रक्षण, अपराधियों को क्षमा कर देना—ये सज्जन की विशेषतायें हैं। वह विकट परिस्थिति में भी वचनभंग नहीं करता है। मैत्री के प्रसंग में जल और दुग्ध का दृष्टान्त दिया गया है। जल जब मिलता है, तब दुग्ध को अधिक बना देता है और औटाने पर पहले वही जलता है। सच्चा मित्र वही है, जो आपत्ति में पहले काम आता है। वस्तुतः उसे ही मित्र बनाना उचित है, जो भित्ति-चित्र के समान किसी संकट और देश-काल में पराङ्मुख न हो। कुलीन व्यक्ति का वाग्बन्धन लौह-शृंखला तथा अन्य सभी पाशों से सुदृढ़ होता है। अंगस्पर्श ही प्रेम का लक्ष्य नहीं है, प्रेमी को देख लेने मात्र से सुख की प्राप्ति होती है। खलों के चरणों में प्रणत होकर त्रैलोक्य की संपत्ति अर्जित कर लेने की अपेक्षा सम्मान-पूर्वक तृण का अर्जन भी सुखद है। धीरवज्जा में धैर्यगुण की प्रशंसा की गई है और बताया गया है कि धीर-पुरुषों को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। आकाश तभी तक विस्तीर्ण है, समुद्र तभी तक अगाध है और शैलश्रेणियाँ तभी तक दुर्लंघ्य हैं, जब तक उनकी तुलना धीरों से नहीं की जाती है। धीरों के लिए मेरु तृण के समान, स्वर्ग घर के प्रांगण के समान, आकाश हाथ से छूये हुये के समान और समुद्र क्षुद्र नदी के समान हो

जाता है। वीर-पुरुष सदैव पुरुषार्थ में प्रवृत्त रहता है, भाग्य के भरोसे बैठा नहीं रहता। साहसवज्जा में साहस के लिये प्रेरित करते हुये कहा गया है कि साहसी व्यक्ति मनोवांछित फल प्राप्त करके ही दम लेता है, राहु के केवल मस्तक ही था, शरीर, हाथ-पाँव आदि नही थे, फिर भी वह चन्द्रमा को निगल गया। वीरों के साहस को देखकर प्रतिदैव (भाग्य) भी भयाक्रान्त हो जाता है और अनुकूल कार्य करने लगता है। व्यवसाय का फल है विभव, विभव का फल है विह्वलजनोद्धार, विह्वलजनोद्धार से यश की प्राप्ति होती है और यश से सब कुछ मिल जाता है। सत्पुरुषों को ऐश्वर्य में विनम्र और ऐश्वर्यहीन होने पर उन्नत रहना चाहिये। दान की सत्प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती हुई गाथा कहती है—हे जननी! ऐसे पुत्र को जन्म मत देना, जो दूसरे से याचना करने में प्रवृत्त हो। जिसने याचना करने पर याचक को निराश कर दिया हो, उसे तो गर्भ में भी न धारण करना। प्रभु-वज्जा में बताया गया है कि स्वामी को मूर्खों का अनादर और सुपात्रों का समादर करना चाहिये। सेवकवज्जा मे सेवा का उज्ज्वल आदर्श वर्णित है। आदर्श सेवक स्वामी से मुँह खोलकर कुछ नही माँगता है, विनम्र सेवा को ही अपनी याचना समझ कर सन्तुष्ट रहता है। कृषि की प्रशंसा मे यह कथन है—यदि पीवर स्तनों वाली तीन गायें, चार समर्थ बैल और रालक धान्य की मंजरियाँ निष्पन्न है, तो सेवा-वृत्ति को दूर से ही प्रणाम कर लेना चाहिये। सुहड-वज्जा मे पराक्रम की प्रशंसा है। धवलवज्जा मे कर्मठ भृत्य का आदर्श प्रतीक माध्यम से वर्णित है। सिंहवज्जा मे साहस, पराक्रम और व्यवसाय की प्रेरणा दी गई है। हरिणवज्जा मे संगीत पर प्राणो की बलि चढा देने वाले हरिणो के मर्मस्पर्शी चित्र कलाकारों को उचित पुरस्कार देने के लिये उत्साहित करते हैं। करभवज्जा में मातृभूमि के अलौकिक अनुराग की अद्भुत झाँकी प्रस्तुत की गई है। करभ नन्दवन मे भी रहकर जन्मभूमि के मरुस्थल को नही भूल पाता है। सुरतरु विशेष और हस वज्जाओ मे श्रेष्ठ आश्रय को छोड़ कर निंद्य आश्रय में रहने की निंदा की गई है। वेस्सावज्जा में वेश्यागमन की घोर निंदा है। कुटिलता, वक्रता, वचना और असत्य—ये दूसरे के दोष भले ही हों, वेश्या के भूषण हैं। उसकी छाती उस शैवाल-लिप्त प्रस्तर के समान है, जिस पर चढ़ने वाले का पतन अवश्यंभावी है। वेश्या श्मशान की उस शृगाली के समान है, जो एक मृतक को खाती है, दूसरे को कटाक्ष से सुरक्षित रखती है और तीसरे पर दृष्टि रखती है। जरावज्जा जगत् की क्षण-भंगुरता का प्रतिपादन करती है। गुणवज्जा में कुल की अपेक्षा गुण को श्रेष्ठ कहा गया है।

कर्म ही मानव को उच्च और नीच स्थान प्राप्त कराता है। मन्दिर और कूप बनाने वाले क्रमशः ऊपर और नीचे मुँह करके चलते हैं। संयम भारतीय संस्कृति की आत्मा है। निम्नलिखित गाथा में कुलबालिकाओं के मनोनिग्रह का कितना मनोरम चित्र है—

इच्छाणियत्तपसरो कामो कुलबालियाण किं कुणइ।
सीहो व्व पंजरगओ अंग च्चिय झिज्जइ वराओ॥

गाथा के अनुसार भारतीय ललना इन चार वस्तुओं का समाहार है—वीणा, वंश, आलापिनी, पारावत और कोकिल। जो सब के खा चुकने पर खाती है, सब के सो जाने पर सोती है और सबसे पहले जग जाती है, वह स्त्री नही, घर की लक्ष्मी है। आदर्श गृहिणी घर के थोड़े से भक्ष्यकणों को कुछ इस प्रकार बढ़ा देती है कि बान्धव भी समुद्र के समान थाह नही पाते हैं। दरिद्र महिलाओं के सन्तोष और गाम्भीर्य का वर्णन इस प्रकार है—

दुग्गयघरंमि घरिणी रक्खंती आउलत्तणं पइणो।
पुच्छियदोहलसद्धा उययं चिय दोहलं कहइ॥

गर्भिणी पत्नी से पति पूछता है—"तुम्हारी इच्छा क्या है ?" वह सोचती है कि यदि कही कोई दूसरी वस्तु माँगूगी तो ये अकिंचनता वश नही दे पायेंगे। अतः कहती है—'मेरी कुछ भी इच्छा नही है, केवल जल पीना चाहती हूँ'। जल, राजा और रंक सब को सुलभ है। यह है भारतीय महिला का तपःपूत व्यक्तित्व। जब नैहर के लोग ठाट-बाट से आते हैं, तब आभिजात्य पर गर्व रखने वाले निःस्व पति की मर्यादा बनाये रखने में तत्पर गृहिणी उन पर कुपित हो उठती है। कामुक देवर का मन दूषित हो जाने पर चरित्रगुणशालिनी भाभी चिन्ता से क्षीण होती जाती है, परन्तु यह बात अपने क्रोधी पति को नही बताती, क्यों कि भय है कि कही संयुक्त परिवार विघटित न हो जाय। सुघरिणी-वज्जा में परिवार की नाव खेने वाली तपस्विनी ललनाओ के कर्मठ व्यक्तित्व एवं त्यागमय जीवन के अनेक मार्मिक प्रसंग हैं, जो दूसरो के लिये अनुकरणीय हो सकते हैं। एक दरिद्र के घर मे कुछ भी नही रह गया है। सयोग से एक अतिथि आ जाता है। कुटुम्बभरण में लगी दरिद्र गृहस्वामिनी अपने विवाह का मांगलिक वलय बेंच कर उसका आतिथ्य करती है—

पत्ते पियपाहुणए मंगलवलयाइ विक्किणंतीए।
दुग्गयघरिणीकुलबालियाइ रोवाविओ गामो॥

दैन्य, श्रद्धा, कुलाभिमान और कर्तव्यनिष्ठा का विलक्षण दृश्य है। कभी वैभव के दिनों में जहाँ वायस बलि खाया करता था, अब उसी घर की गिरी दशा आ गई है। प्रत्येक दिन की तरह वह परिचित वायस आज भी आया परन्तु बिना कुछ पाये निराश होकर उड गया। यह देख कर दरिद्र गृहिणी इतना रोई, जितना बान्धवों के मरने पर भी न रोती—

बन्धवमरणे वि हहा दुग्गयघरिणोइ वि ण तहा रुण्णं।
अपत्तबलिविलक्खे वल्लहकाए समुड्डोणे ॥

दरिद्रता में भी एक गृहिणी के त्याग और तप की तब पराकाष्ठा हो जाती है, जब वह स्वयं भूख से पीडित होने पर भी, बालकों के खाने से बचा हुआ भोजन दुःखियों में बाँट देती है—

डिंभाण भुत्तसेसं छुहाकिलंता वि देइ दुहियाणं।
कुलगोरवेण वरईउ रोरघरिणीउ झिज्जंति ॥

यह है दया, दैन्य और कुलगौरव की साक्षात् प्रतिमूर्ति। नारी केवल भोग्या नही है। वह गृहकार्य में गृहिणी, सुरत मे वेश्या, सुजनों में कुलवधू, वृद्धावस्था मे सखी एव सकट में मंत्री और सेवक है—इन पंक्तियों में वह अनेकान्तवाद का सुन्दर उदाहरण बन गई है—

घरवावारे घरिणी वेस्सा सुरयंमि कुलवहू सुयणे।
परिणइ मज्झंमि सही विहुरे मंति व्व भिच्चो व्व ॥

जैन धर्म में एकान्त बुद्धि को अज्ञान बताया गया है। वज्जालग्ग की संग्रह-शैली इस धार्मिक मान्यता की सूचना देती है। यदि वज्जाओं का इस दृष्टि से अवलोकन करें, तो यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा। संयोग-वियोग, कमलनिन्दा-कमलप्रशसा, प्रेमनिन्दा-प्रेमप्रशसा, सुघरिणी-कुट्टिनी, सती-असती, पतिव्रता-वेश्या, दानी-कृपण, महिलानुराग-महिलानिन्दा (महिलावज्जा), भाग्यवाद-पुरुषार्थवाद, सज्जन-दुर्जन, प्रभु-सेवक, दीन-धीर आदि युग्मों के द्वारा जिन परस्पर विरोधी धर्मों को प्रस्तुत किया गया है, उनके कारण पाठको के मन म पदार्थ सम्बन्धी दुराग्रह या स्थिर ऐकान्तिक-धारणा नही बन सकती है। स्थूल दृष्टि से ग्रन्थ मे वासनात्मक चित्रो की बहुलता दिखाई पड़ती है, परन्तु सूक्ष्म-शेमुषी से कुछ और ही बात समझ में आती है। प्रेम में वियोग की प्रधानता क्या सन्देश देती है ? क्या वह प्रणय की दु:खद परिणति की ओर इंगित नही करती ? यदि ग्रन्थ का लक्ष्य विलासिता का प्रचार होता, तो प्रेमवज्जा में ये गाथायें क्यों संकलित की जातीं—

ताव च्चिय होइ सुहं जाव न कीरइ पिओ जणो को वि।
पियसंगो जेहि कओ दुक्खाण समप्पिओ अप्पा॥
सो सुवइ सुहं सो दुक्खवज्जिओ सो सुहाण सयखाणी।
वाए मणेण काएण जस्स न हु वल्लहो को वि॥

स्तनवज्जा में यदि संग्रहकार को स्तनाभिलाष प्रतिपादन ही अभीष्ट होता, तो अन्त में ये गाथायें नहीं आ सकती थी—

थणजुयलं तीइ निरंतरं पि दट्ठूण तारिसं पडियं।
मा करउ को वि गव्वं एत्थ असारंमि संसारे॥
कह नाम तीइ तं तह सभावगरुओ वि थणहरो पडिओ।
अहवा महिलाण चिरं हियए को नाम संठाइ॥

परिवर्तित संस्कृत छाया

वांछित अर्थसिद्धि के लिये मैंने उपलब्ध संस्कृत छाया में स्थान-स्थान पर प्रमाण पुरस्सर परिवर्तन किये हैं। इस सन्दर्भ में मेरी विवेचनात्मक स्थापनायें परिशिष्ट ख में दी गई हैं। यहाँ उपलब्ध संस्कृत छाया-पाठ परिवर्तन के साथ नीचे दिया जा रहा है—

गाथांक

१	सुजनाना सुभाषितं वक्ष्यामि	
	सुजनेभ्य. सुभाषितं वक्ष्यामि	(परिवर्तित पाठ)
५७	पिशुने सुखम्	
	पिशुनेन सुखम्	(परिवर्तित पाठ)
६१	बहुकूटकपटभृतानाम्	
	१—बहुकूटकपट भृतानाम् २—बहुकूटकर्वट भृतानाम्	(परिवर्तित पाठ)
९०	भव्यात्मना संपद्यते	
	भव्यत्ववता सपद्यते	(परिवर्तित पाठ)
१२१	शास्त्रार्थे पतितस्य (स्वस्वार्थे पतितस्य वा)	
	शस्तार्थे पतितस्य	(परिवर्तित पाठ)
१२७	लक्ष्मीः स्थिराणि प्रेमाणि	
	लक्ष्मीरपि राति (ददाति) प्रेमाणि	(परिवर्तित पाठ)
१६२	स्नेहस्य पदस्य वा	
	स्नेहस्य पयसो वा	(परिवर्तित पाठ)

२८१ उत्सृष्टवृषभदाहैक मण्डिता
स्थूलवृषभदाहैकमण्डिता (परिवर्तित पाठ)

२९१ नयने समानीततीक्ष्णे (तीक्ष्णौ) परपुरुष जीवहरणे (हरणौ)
असितसिते (असितशितौ) च मुग्धे
नयने सम्मानितपक्ष्मयुते (समानीत तीक्ष्णौ) परपुरुष जीव हरणे (हरणौ)
असितसिते (असितश्रीकौ) च मुग्धे (परिवर्तित पाठ)

३०९ अमृतमयाविव समदौ (समृगौ) शशीव
निर्विकारौ (अमतौ) मद इव समदौ (समृगौ) शशीव (परिवर्तित पाठ)

३७४ गोदावर्यास्तटानि
गोदावर्यास्तीर्थानि (परिवर्तित पाठ)

४०० कररुहैः तनुं स्पृशन्ती
कररुहैस्तनु स्पृश्यमाना (तनौ स्पृश्यमाना वा) (परिवर्तित पाठ)

४०२ आश्वास्यते श्वासा यावन्न श्वासाः समाप्यन्ते
१—आश्वास्यते साशा यावन्न श्वासाः समाप्यन्ते (परिवर्तित पाठ)
२— ,, साशा ,, ,, ,, ,,

४१६ दूति कलयित्वा
दूती कलयित्वा (परिवर्तित पाठ)

५०१ विपरीते रविबिम्बे (रतिबिम्बे) नक्षत्राणां (नखक्षताना) स्थानगृहीतानाम्
विपरीते रविबिम्बे (विवृतेरतिबिम्बे) नक्षत्राणां (नृखाप्ताना, नखार्तानां,
आत्तनखाना वा) स्थानगृहीताना (स्थानकहृताना, मानेनग्रहणीयाना
गृहीतस्थानना वा) (परिवर्तित पाठ)

५१६ प्रज्ञप्तिकानाम्
पञ्चाशत्स्त्रीणाम् (प्रज्ञप्तिदानं प्रपौत्राणां प्राज्ञप्तिकेभ्यो वा)
(परिवर्तित पाठ)

५१६ पुक्कारयं (पूत्काररतम्)
पुक्कारयं, फूत्कारकं, पुंस्कारकम् (परिवर्तित पाठ)

,, वैद्यत्वम्
वैद्यत्वं (विद्यावत्वम्) (परिवर्तित पाठ)

५१८ शतरयेण (शतरतेन)
शयरजसा (शतरतेन) (परिवर्तित पाठ)

५२० प्रहण्यते
मा हन्यताम् (परिवर्तित पाठ)
५२१ अन्नं (अन्यत्) न रोचत एव मम पिपासया (प्रियाशया) पूरितं हृदयम् ।
स्नेहसुरतार्द्राङ्कं तव सुरतं वैद्य प्रतिभाति ॥
अन्नं (अन्यः) न रोचत एव मम पिपासया (प्रियाशया) पूरितं हृदयम् ।
नेह सुरजसार्द्राङ्कं (स्नेहसुरतार्द्राङ्कं स्नेहसुरयार्द्राङ्कं वा)
तव सुरजः (सुरतं) वैद्य प्रतिभाति (परिवर्तित पाठ)
५४८ अदृष्टदोषा अपि रज्यन्ते
अदृष्टदोषा अपि रज्यन्ते (अदृष्ट दोषा विरज्यन्ते) । (परिवर्तित पाठ)
५५५ ऊर्ध्वाक्षि वेदना अपि नमन्ति चरिता अपि गुणैः ।
ऊर्ध्वाक्षि वेदनयापि नमन्ति चर्याया अपि गुणैः । (परिवर्तित पाठ)
५६२ बाणसम्बन्धम्
१. बानसम्बन्धम्, २. बाणसम्बन्धम् (परिवर्तित पाठ)
प्रचुरकुटिला
प्रचुरकुटिला (पौर कुटिला) (परिवर्तित पाठ)
मुष्ट्या संवहति
१. मुष्ट्या मुष्टेः वा स्व वहति २. मुष्ट्या सवहति । (परिवर्तित पाठ)
५६३ यातः प्रियं प्रिय प्रति एकं निर्वापयति तमेव प्रदीप्तम् ।
भवत्यपरस्थित एव वेश्यासार्थस्तृणाग्निरिव ॥
यातः प्रिय प्रियं (यातोऽप्रियं प्रियं) प्रति एक विध्यापयति
(विध्यायति) तदेव (तमेव) प्रदीप्तं (प्रलिप्तम्) ।
भवत्यपरस्थित एव (भवत्यवरस्थित एव) वेश्यासार्थः
तृणग्निरिव । (परिवर्तित पाठ)
५६४ पुलकितेनाङ्गेन
पुलकितेनाङ्गेन (प्रदर्शितेनाङ्गेन) (परिवर्तित पाठ)
५६६ न गणयति रूपवन्तं न कुलीनं नैव रूपसम्पन्नम् ।
न गणयति रूपवन्तं न कुलीनं नैवारूपसम्पन्नम् । (परिवर्तित पाठ)
५७० बालया कालं गमय
स्वं पाथ्या कालं गमय (परिवर्तित पाठ)
५७६ मा जानीत मम सुभग वेश्याहृदयं सवम्मनोल्लापम् ।
मा जानीत मम सुखदं वेश्याहृदयं स्वमदनोल्लावम् । (परिवर्तित पाठ)

५९८ तृष्णका

तृष्णावती (परिवर्तित पाठ)

६०० क्षधितोऽसि कस्मात् केशव किं न कुतो धन्यासंग्रहो

(धान्य सग्रहः) मूढ ।

कुतो मनः परितोषो विशाखिका (विषाधिक) भुञ्जानस्य ।

क्षधितोऽसि (क्रुष्टोऽसि) कस्मात् केशव किं न कृतः

धन्यासंग्रहो (धान्य सग्रहः) मूढ ।

कुतो मनः परितोषो विशाखिका (विसाधितं) भुञ्जानस्य ।

(परिवर्तित पाठ)

६०९ चन्द्राहतप्रतिबिम्बाया यस्या मुक्ताट्टहास-भीताया. ।

चन्द्राधृत प्रतिबिम्बाया (चन्द्राहृत प्रतिबिम्बायाः)

जातिमुक्ताट्टहासभीतायाः । (परिवर्तित पाठ)

६१० ललितकमलसरोभ्रमरम् ।

ललितकमलसर भ्रमरम् । (परिवर्तित पाठ)

६३४ दिङ्मणिमञ्जरीभिः

दिशि मणिमञ्जरीभिः (परिवर्तित पाठ)

६४० यद्बालक इति भणितोऽसि ।

यद्ब्रयालय इति भणितोऽसि (परिवर्तित पाठ)

६४१ मा रज्य शुभजनके शोभाञ्जनके च दृष्टमात्रे ।

भङ्क्ष्यस इति साहसिका सा हसिता सर्वलोकेन ।।

मा रज्य सुभञ्जनके शोभाञ्जनके च दृष्ट मात्रे ।

भङ्क्ष्यस इति शाखाश्रिता (प्रियाश्रिता वा) सा

हसिता सर्वलोकेन । (परिवर्तित पाठ)

६५६ प्रियमप्रियं जनो वहति

प्रियामप्रिया जनो वहति (परिवर्तित पाठ)

सीतातपनक्षयो जातः

शीतातपनक्षयो (सोतायवनक्षतं सीताकथमक्षत वा)

जातः (जातम्) । (परिवर्तित पाठ)

६५७ अवधूतालक्षणधूसरा दृश्यन्ते पथवृक्षाः ।

पश्य शिशिरवातगृहीता अलक्षणा दीनपुरुषा इव ।।

अवधूताक्षणधूसरा (अवधूतक लक्षणधूसरा)
दृश्यन्ते पथकक्षाः ।
पश्य शिशिरवातलतिका (शिशिरवातगृहीता)
अलक्षणा दीन पुरुषा इव ।। (परिवर्तित पाठ)

६६२ संकुचितकंपनशीलाङ्गः शङ्कनशीलो दत्तसकलपदमार्गः ।
पलितेभ्यो लज्जमानो न गणयति अतीते दत्तम् ।।
सङ्कुचितकम्पशीलाङ्ग. स्वशङ्कनशील. (स्वशङ्कनशील:)
दत्तमचलपदमार्गः (दत्तसकलपदमार्गः
दत्तसजलपदमार्गो वा ।
पलितेभ्योलज्जमानो न गणयत्यपि त्वया दत्तम् ।। (परिवर्तित पाठ)

६६३ मन्मथभक्षणदिव्यौषध्याङ्गं च करोति जराराजः ।
प्रेक्षध्व निष्ठुरहृदय इदानीं सेवते तं कामः ।।
मन्मथदिव्यभक्षण सख्या अङ्ग च कूणयति जराराजः
(ज्वर राजः)
प्रेक्षध्वं निष्ठुरहृदय इदानी ता सेवते कामः ।। (परिवर्तित पाठ)

६८१ वधूकाना वधूजने तथा च ।
वधूकानां वहुजने तथा च । (परिवर्तित पाठ)

६८३ गृहीत विमुक्तास्तेजो जनयन्ति सामाजिका नरेन्द्राणाम् ।
दण्डस्तथैव स्थित आमूलं हृन्ति टणत्कारः ।।
गृहीतविमुक्तास्तेजो जनयन्ति सामादयो नरेन्द्राणाम् ।
दण्डस्तथैव स्थित आमूलं हृन्ति तेजः (टणत्कारः) ।। (परिवर्तित पाठ)

६९० किं तेन जातेनापि पुरुषेण पदपूरणेप्यसमर्थेन ।
येन न यशसा भृतं मरिद्वद् भुवनान्तरं सकलम् ।।
किं तेन जातेनापि पुरुषेण पदपूरणेऽप्यसमर्थेन
(पयःपूरणेऽप्यसमर्थेन) ।
येन न यशसा भृतं सरिद्वद् भुवनान्तरं (भूवनान्तरं)
सकलम् ।। (परिवर्तित पाठ)

७०२ ऊर्ध्वं व्रजन्त्यधो व्रजन्ति मूलाङ्कुरा इव भुवने ।
विद्याधिके कुतः कुलात् पुरुषाः समुत्पन्नाः ।।

व्रजन्ति अधः ऊर्ध्वं भयन्तो मूलाङ्कुरा इव पृथिव्याः ।
बीजादिव एकतः कुलात् पुरुषाः समुत्पन्नाः ।।
यह संस्कृत छाया गउडवहो काव्य से उद्धृत है।

७१२ आत्मानं परं न जानासि नूनं सगुणोऽसि लक्ष्मीपरिचरितः ।
उज्ज्वलसम्मुखः प्रेक्षध्वं तद्वदनमपि खलु न स्थापयति ।।
आप्यात् (आत्मनः) परं न जानासि नूनं सगुणोऽसि
(शकुनोऽसि) लक्ष्मीपरिचरितः (लक्ष्मीपरिकारित.) ।
उज्ज्वलसमूहः (उज्ज्वलसम्मुखः) प्रेक्षस्व ह
तावदयनमपि (तद् वदनमपि) न स्थापयति ।। (परिवर्तित पाठ)

७१७ सरसानां सूर्य परिसंस्थितानाम्
सरसानां सूर्य परिसंस्थिताना
(शूर परिसंस्थितानाम्) (परिवर्तित पाठ)

७३० उत्तमकुलेषु जन्म तव चन्दन तरुवराणां मध्ये ।
उत्तम कुले सुजन्म तव चन्दन तरुवराणां मध्ये । (परिवर्तित पाठ)

७३९ मुकुलयतश्च मुक्तास्तव पलाशाः पलाश शकुनैः ।
येन मधुमास-समये निजवदनं झटिति श्यामलितम् ।।
मुकुलयतश्च मुक्तास्तव पलाशाः पलाश स्वगुणैः
(शकुनैः)
येन मधुमाससमये (मधुमांससमये) निजवदनं
झटिति श्यामलितम् (परिवर्तित पाठ)

७४१ दृष्ट्वा किंशुक शाखास्त्वं बालया कस्माद् वञ्चितः ।
दृष्ट्वा किंशुकं शाखया ताम्रवत्या कस्माद् वञ्चितः ।।
(परिवर्तित पाठ)

७६२ मध्ये न यानवर्तिनोऽर्थिनो यद् गताः पारे ।
मध्येन यानपात्रिणोऽर्थिनो यद् गताः पारे । (परिवर्तित पाठ)

७८९ विस्तारेण त्यक्तम्
विस्तारे लघु (परिवर्तित पाठ)

अतिरिक्त गाथायें

७२×२ अदृष्टे रणरणको दृष्टे ईर्ष्या अदृष्टे मानः ।
अदृष्टे रणरणको दृष्ट ईर्ष्या अतीष्टके मानः । (परिवर्तित पाठ)

९० × ६ तुलाग्रेण कार्यकर्तृणाम्
काकतालीयेन कार्यकर्तृणाम् (परिवर्तित पाठ)
९० × १२ बुद्धि· सत्यं मित्रं····(?) नो महाकाव्यम् ।
बुद्धिः सत्यं मित्रं वरन्ना महाकाव्यम् । (पूरित पाठ)
१९९ × ४ रे रत्नकोटिगर्विन् गजेन्द्र न खलु सेवनीयोऽसि ।
रे रदनकोटिगर्विन् (रत्नकोटिगर्विन्) गजेन्द्र
(गवेन्द्र) न खलु सेवनीयोऽसि । (परिवर्तित पाठ)
१९९ × ५ लघुत्वं नीतः
लघुत्वं प्राप्तः (परिवर्तित पाठ)
२१४ × १ अहो स्वपित·········· लुलितधम्मिल्लकुन्तलकलापः ।
ओ स्वपिति विरलाच्छलुलितधम्मिल्लकुन्तलकलापः ।
(पूरित पाठ)
पक्षान्तर मे छाया का निम्नलिखित स्वरूप होगा—
ओ स्वपिति विरलानच्छलुलिताधार्मिककुन्तलकलाप. ।
(परिवर्तित पाठ)

२१४ × ५ धनुर्हरं समुल्लिखति
धनुर्भरं समुल्लिखति (परिवर्तित पाठ)
२८४ × ६ किं कार्यं तेऽपि जानन्ति ।
कैङ्कर्यं यस्य ते विजानन्ति (परिवर्तित पाठ)
३०० × ६ बाष्पाभ्यन्तरप्रसृतगलत्····(?) अक्षिणी ।
बाष्पाभ्यन्तरप्रसृतगलद्बाधाभिरक्षिणी । (पूरित पाठ)
३१२ × ११ पथि प्रपाकलशाभ्यामिव स्तनाभ्यां दग्धमुखाभ्याम् ।
पथि प्रपाकशाभ्यामिव स्तनाभ्यामधोमुखाभ्याम् ॥
(परिवर्तित पाठ)
३१२ × ११ स्थानकराभ्यामाभ्यामधोमुखाभ्यामनवरतप्रौढाभ्याम् ।
स्तनाभ्यां नरेन्द्राभ्यामिव किं क्रियते पदविमुक्ताभ्याम् ॥
स्थानचरैरेतैरधोमुखैरनवरतप्रौढैः ।
स्तनैर्नरेन्द्रैरिव किं क्रियते पयोविमुक्तैः
(पदविमुक्तैः) । (परिवर्तित पाठ)
३१८ × ६ करोति लालाकुलं हृदयम् ।
करोति लालायुक्तं हृदयम् । (परिवर्तित पाठ)

३४९ × १० नैति तैरेव'''(?)

नैति तैरेव सम्बं: ।

यह छाया संस्कृत टीका के आधार पर दी गई है ।

४२१ × १ रूपस्य हितक्लेशस्य

रूपस्य हितक्लेशस्य (हृतक्लेशस्य) (परिवर्तित पाठ)

४९६ × ८ बहुले तमोऽन्धकारे रमितप्रमुक्तयो. श्वश्रूस्नुषयो ।

सममेव सगतौ (मिलितौ) द्वयोरपि'''(?) हस्तौ ।।

बहुले तमोऽन्धकारे रमितप्रमुक्तयो. श्वश्रूस्नुषयो.

(माश्रुसोण्हयो) ।

सममेव संगतौ द्वयोरपि शारद्द्रहे

(सारद्रहे) हस्तौ (परिवर्तित एव पूरित पाठ)

५५९ × २ आर्या माकन्दनिघीन् किमपि कुमारी: शिक्षयति ।

आर्या माकन्दनिघीनां किमपि कुमारी: शिक्षयति । (परिवर्तित पाठ)

६२४ × ३ कर्णेन कर्णवहनं वानरसंख्यं च हस्तेन ।

कर्णेन कर्णवधन (कणवहन) वानरसख्या

(वानरसंख्य वा) च हस्तेन । (परिवर्तित पाठ)

६३७ × १ दत्तपुष्पयानेन

दत्तपुष्पदानेन (दत्तपुष्पयानेन) (परिवर्तित पाठ)

६४१ × ३ ज्वलयतीव सुधया सर्वाङ्गम्

ज्वलतीव क्षुधया सर्वाङ्गम् (परिवर्तित पाठ)

प्राकृत ग्रन्थ परिषत् द्वारा प्रकाशित वज्जालग्ग में बालासिलोयवज्जा का केवल मूल प्राकृत पाठ (अंग्रेजी अनुवाद सहित) उपलब्ध है । इस संस्करण मे भी परिशिष्ट क के अन्त मे उसका मूल पाठ (सानुवाद) ही छपा है । अन्य वज्जाओं के समान उसकी भी संस्कृत छाया होनी चाहिये थी । परन्तु ग्रन्थ छपते समय इस बात पर ध्यान नही गया । अध्येताओं के सौकर्य के लिये उस [illegible] की स्वरचित संस्कृत छाया दे रहा हूँ—

बालासिलोयवज्जा (बालाश्लोकव्रज्या)

तव तुङ्गपयोधरविषमदुर्गमध्यस्थितः कुरङ्गाक्षि ।
करिष्यति पुनरिव नूनं हरेण सह विग्रहमनङ्गः ॥१॥
अपहस्तितभयप्रसरो नूनं प्रसृताक्षि मन्मथ इदानीम् ।
हरयुद्धसहो वर्तते तव तुङ्गपयोधरारूढः ॥२॥

प्रकटितबाहुमूलमवनमित स्थूलस्तन भरोत्सङ्गम् ।
दिवसेन मा समाप्यतां तवैतच्चिकुर-संयमनम् ॥३॥
सुखित इति जीवति विद्धो म्रियतेऽविद्धो तवाक्षिबाणेन ।
इति शिक्षिता केनाप्यपूर्वमेतं धनुर्वेदम् ॥४॥
निपतति यत्र यत्रैव तव मनोहर तरलतरलिता दृष्टिः ।
सुन्दरि तत्र तत्रैवाङ्गेषु विजृम्भते मदनः ॥५॥
शशिवदने मा व्रजात्र तडागे मृगशावकाक्षि ।
मुकुलयन्ति न जानासि शशाङ्कशङ्कया कमलानि ॥६॥

मैंने व्याख्या की अपेक्षा से वज्जालग्ग के उपलब्ध पाठ में कतिपय परिवर्तन किये हैं। वे स्थल इस प्रकार हैं—

गाथांक	उपलब्ध पाठ	स्वीकृत पाठ
२८१	थोरवसण दाहेक्कमंडिया	थोरवसह दाहेक्कमडिया इस पाठ मे वसण के स्थान पर वसह को स्वीकृति टीकाकार रत्नदेव ने की है।
५१२	पुणो वि अंगं	पुणो विअंग (पुणो वि अंगं) श्लेषानुरोध से दोनो पाठ स्वीकार्य हैं।
५२०	महम्मइ	म हम्मइ
५४८	विरज्जति	१–विरज्जति २–वि रज्जंति
५६१	वि लग्गए कंठं	१–विलग्गए कंठ २–वि लग्गए कंठं
५६२	वेस्सा मुट्टीइ संवहइ	१–वेस्सा मुट्ठीइ स वहइ । २–वेस्सा मुट्ठीइ संवहइ । श्लेष में दोनो स्वीकार्य हैं।
५	संपत्तियाइ कालं गमेसु	सं पत्तियाइ कालं गमेसु
६०९	चंदाहयपडिबिंबाइ, जाइ मुक्कट्टहासभीयाए	चंदाहयपडिबिंबाइ, जाइमुक्कट्टहास भीयाए
६३४	दिसिमणिमंजरीहि	दिसि मणिमजरीहि
७०२	उड्ड वच्चंति अहो वयंति मूलंकुर व्व भुवणंमि ।	वच्चंति अहो उड्डं अइंति, मूलंकुरव्व पुहईए ।

	विज्जाहियए कत्तो,	वीजाहि च एक्कत्तो
	कुलाहि पुरिसा समुप्पन्ना ॥	कुलाहि पुरिसा समुप्पण्णा ॥
		यह पाठ 'गउडवहो' के आधार पर है।
७१२	अप्पं वरं न आणसि तुमं	अप्पा वरं न आणसि तूणं
	सउणो सि लच्छिपरियरिओ।	सउणोसि लच्छिपरियरिओ।
	उज्जलसमुहो पेच्छह,	उज्जलसमुहो पेच्छ ह
	ता वयणं पि हु न ठावेह ॥	ता वयण पि हु न ठावेह ॥
७३०	उत्तमकुलेसु जम्मं	उत्तमकुले सुजम्म
७६२	मज्झे न जाणवत्ती	मज्झेण जाणवत्ती
२८४ × ६	किं कज्जं जस्स ते वि याणंति	किंकज्जं जस्स ते वियाणंति।

उपर्युक्त स्थलों के हिन्दी अनुवाद को हृदयंगम करने के लिए परिशिष्ट ख का अवलोकन नितान्त आवश्यक है। साथ ही और भी बहुत सी गाथायें ऐसी है, जिनका मर्म नही समझा जा सकता है। परिशिष्ट ख में व्याकरण, कोष और साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थो से विविध प्रमाण उद्धृत कर अपनी मौलिक आर्थिक मान्यताओं की सुदृढ़ स्थापना की गई है। पूर्ववर्ती व्याख्याकार जिन गाथाओ में विद्यमान श्लेष को नहीं पहचान सके थे, उनमें प्रमाण पुरस्सर श्लेष का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। बहुत सी गाथायें व्यंजक शब्दो में निहित निगूढ व्यंग्य की अनवगति के कारण दुरूह ही नही, असगत भी प्रतीत होती थी। उनकी विशद् विवेचना की गई है और व्यंग्य को स्पष्ट कर आर्थिक विसंगति को दूर कर दिया गया है।

मैंने अनेक गाथाओं में वर्णित कामियों की कुचेष्टाओं का प्रकाशन निर्लिप्त रहकर ही किया है। अतः निर्दोष हूं। अन्धकार मे प्रकाश होने पर द्रष्टा को चाहे घट दिखाई पड़े चाहे विषधर सर्प, इसमे दीपक का क्या दोष है? जो रहेगा वही तो दिखाई देगा—

गाहासु कामीण कुचेष्टिआइं मए अलित्तेण णिरूविआइं।
कुडो पआसिज्जइ सप्पओ वा को एत्थ दीवस्स तमंमि दोसो ॥

प्रस्तुत व्याख्या सर्वथा दोषमुक्त है—यह कहना अत्युक्ति होगी, क्योंकि इस सम्बन्ध में मेरा यह कथन है—

जए ससंको ण कलंकवज्जिओ ण रत्ति रहिओ दिअहो वि दिस्सइ।
एआहिअरणंमि कई अ विब्भमो कहं णु होज्जा रअणा अदुट्ठा ॥ ●

आभार

मैंने कई वर्ष पूर्व प्राकृत ग्रन्थ परिषत् द्वारा प्रकाशित वज्जालग्ग का अवलोकन किया था। उसकी अंग्रेजी भूमिका में सम्पादक प्रो० माधव वासुदेव पटवर्धन ने बहुत सी गाथाओं की व्याख्या करने में असमर्थता प्रकट की थी और अपने पाठकों से उनका अर्थ खोजने का आग्रह किया था। उसी समय मेरे मन में वज्जालग्ग की नई व्याख्या करने का विचार उत्पन्न हुआ था, जिसके फलस्वरूप यह पुस्तक आपके समक्ष प्रस्तुत है। व्याख्या का कार्य १९७८ ई० में ही पूर्ण हो गया था। परिशिष्ट ख की रचना १९७९ ई० में हुई थी। उसी वर्ष नवम्बर में डॉ० हरिहर सिंह ने उसे धारावाहिक रूप से 'श्रमण' में प्रकाशित करना प्रारंभ कर दिया था। इसी बीच सौभाग्य से डॉ० सागरमल जैन ने पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक-पद को सुशोभित किया। उन्होंने परिशिष्ट ख को श्रमण के अंकों में इतस्ततः प्रकाशित करने की अपेक्षा एक पुस्तक का रूप देना अधिक उपयुक्त समझा और फिर उसके साथ हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण वज्जालग्ग के प्रकाशन की योजना बनी।

इस ग्रन्थ का आधार प्राकृत ग्रन्थ परिषत् द्वारा प्रकाशित वज्जालग्ग है। जहाँ कहीं टीका या अंग्रेजी अनुवाद की चर्चा हुई है; वहाँ रत्नदेव की संस्कृत टीका और प्रो० पटवर्धनकृत अंग्रेजी अनुवाद से अभिप्राय समझना चाहिए। अधिकतर अंग्रेजी अनुवाद के आलोच्य अंशों को उद्धृत न कर उनका हिन्दी अनुवाद या सारांशमात्र रख दिया गया है। ऐसे स्थलों पर अंग्रेजी अनुवाद की शब्दावली देखने के लिए पाठकों को प्राकृत ग्रन्थ परिषत् द्वारा प्रकाशित वज्जालग्ग की शरण लेनी पड़ेगी। प्राकृत ग्रन्थ परिषत् ने मुझे वज्जालग्ग के मूल पाठ का उपयोग करने की अनुमति दी है। अतः उसका आभारी हूँ।

मूल प्राकृत पाठ और संस्कृत छाया प्राकृत ग्रन्थ परिषत् द्वारा प्रकाशित संस्करण के अनुसार ही हैं। ऐसी स्थिति में अनेक गाथाओं के मूल पाठ और हिन्दी अनुवाद में पर्याप्त विरोध दिखाई देगा। अतः संस्कृत छाया और मूल प्राकृत पाठ में जहाँ कहीं भी परिवर्तन या परिष्कार अभिप्रेत है, उसका उल्लेख भूमिका में कर दिया गया है। उन स्थलों का हिन्दी अनुवाद मैंने अपने स्वीकृत पाठ के अनुसार किया है।

वज्जालग्ग

१. सर्वज्ञ जिन के मुखकमल मे बसने वाली श्रुतदेवी (सरस्वती) को प्रणाम कर धर्म, अर्थ और काम से युक्त श्रुतज्ञान-रूपी सुभाषित कहूँगा (अथवा सज्जनों के लिए सूक्तियाँ कहूँगा) ॥ १ ॥

२. जो अमृततुल्य प्राकृत-काव्य को पढ़ना-सुनना नही जानते वे काम सम्बन्धी तत्त्वचर्चा करते हुए लज्जित क्यो नही होते ? ॥ २ ॥

३. *विविध कवियो द्वारा रची हुई गाथाओ मे से श्रेष्ठ गाथा समूह का चयन कर निश्चय ही विधि-पूर्वक 'जगत वल्लभ' वज्जालग्ग की रचना की गई है ॥ ३ ॥

४. जहाँ एक प्रस्ताव (प्रसङ्ग) में बहुत सी गाथाये पढी (कही) जाती है, वह वज्जालग्ग है। पद्धति को वज्जा कहा गया है ॥ ४ ॥

५. जो इस वज्जालग्ग को उचित अवसर पर सदैव पढ़ता है, वह प्राकृत-काव्य का कवि और यशस्वी होता हे ॥ ५ ॥

१—सोयारवज्जा (श्रोतृपद्धति)

६. काव्य-रचना कष्ट से होती है, (काव्य-रचना) हो जाने पर उसे सुनाना कष्टप्रद होता है और जब सुनाया जाता है, तब सुनने वाले भी कठिनाई से मिलते हैं ॥ १ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

वज्जालग्ग

१. *सव्वन्नुवयणपंकयणिवासिणिं पणमिऊण सुयदेविं ।
धम्माइतिवग्गजुयं सुयणाण सुहासियं वोच्छं ॥ १ ॥
सर्वज्ञवदनपङ्कजनिवासिनी प्रणम्य श्रुतदेवीम् ।
धर्मादित्रिवर्गयुतं सुजनानां सुभाषितं वक्ष्यामि ॥

२. अमयं पाइयकव्वं पढिउं सोउं च जे न जाणंति ।
कामस्स तत्तवत्तिं कुणंति ते कह न लज्जंति ॥ २ ॥
अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति ।
कामस्य तत्त्ववार्तां कुर्वन्ति ते कथं न लज्जन्ते ॥

३. *विविहकइविरइयाणं गाहाण वरकुलाणि घेत्तूण ।
रइयं वज्जालग्गं विहिणा जयवल्लहं नाम ॥ ३ ॥
विविधकविविरचिताना गाथाना वरकुलानि गृहीत्वा ।
रचितं व्रज्यालग्नं विधिना जयवल्लभं नाम ॥

४. एक्कत्थे पत्थावे जत्थ पढिज्जंति पउरगाहाओ ।
तं खलु वज्जालग्गं वज्ज त्ति य पद्धई भणिया ॥ ४ ॥
एकार्थे प्रस्तावे यत्र पठ्यन्ते प्रचुरगाथाः ।
तत्खलु व्रज्यालग्नं व्रज्येति च पद्धतिर्भणिता ॥

५. एयं वज्जालग्गं सव्वं जो पढइ अवसरम्मि मया ।
पाइयकव्वकई सो होहिइ तह कित्तिमंतो य ॥ ५ ॥
एतद्व्रज्यालग्नं सर्वं यः पठत्यवसरे सदा ।
प्राकृतकाव्यकविः स भविष्यति तथा कीर्तिमांश्च ॥

१. सोयारवज्जा [श्रोतृपद्धतिः]

६. दुक्खं कीरइ कव्वं कव्वम्मि कए पउंजणा दुक्खं ।
संते पउंजमाणे सोयारा दुल्लहा हुंति ॥ १ ॥
दुःखं क्रियते काव्यं काव्ये कृते प्रयोजना दुःखम् ।
सति प्रयुञ्जाने श्रोतारो दुर्लभा भवन्ति ॥

७. सक्कयमसक्कयं पि हु अत्थो सोयारसंगमवसेण ।
अप्पुव्वरसविसेसं जणेइ जं तं महच्छरियं ।। २ ।।
संस्कृतमसंस्कृतमपि खल्वर्थः श्रोतृसंगमवशेन ।
अपूर्वरसविशेषं जनयति यत्तन्महाश्चर्यम् ।।

८. मुत्ताहलं व कव्वं सहावविमलं सुवण्णसंघडियं ।
सोयारकण्णकुहरम्मि पयडियं पायडं होइ ।। ३ ।।
मुक्ताफलमिव काव्यं स्वभावविमलं सुवर्णसंघटितम् ।
श्रोतृकर्णकुहरे प्रपतितं (प्रकटितं) प्रकटं भवति ।।

२. गाहावज्जा [गाथापद्धति]

९. अद्धक्खरभणियाइ नूण सविलासमुद्धहसियाइ ।
अद्धच्छिपेच्छियाइं गाहाहि विणा न नज्जति ।। १ ।।
अर्धाक्षरभणितानि नूनं सविलासमुग्धहसितानि ।
अर्धाक्षिप्रेक्षितानि गाथाभिर्विना न ज्ञायन्ते ।।

१०. *सालंकाराहि सलक्खणाहि अन्नन्नरायरसियाहिं ।
गाहाहि पणइणीहि य खिज्जइ चित्तं अइंतीहि ।। २ ।।
सालङ्काराभिः सलक्षणाभिरन्यान्यरागरसिता(का)भिः ।
गाथाभिः प्रणयिनीभिश्च खिद्यते चित्तमनागच्छन्तीभिः ।।

११. एयं चिय नवरि फुडं हियय गाहाण महिलियाण च ।
अणरसिएहि न लब्भइ दविणं व विहीणपुण्णेहि ।। ३ ।।
एतदेव केवलं स्फुटं हृदयं गाथाना महिलाना च ।
अरसिकैर्न लभ्यते द्रविणमिव विहीनपुण्यैः ।।

१२. सच्छंदिया सरूवा सालंकारा य सरस-उल्लावा ।
वरकामिणि व्व गाहा गाहिज्जती रसं देइ ।। ४ ।।
सच्छन्दस्का (स्वच्छन्दिका) सरूपा सालङ्कारा च सरसोल्लापा ।
वरकामिनीव गाथा गीयमाना (गाह्यमाना) रसं ददाति ।।

७ संस्कृत अथवा असंस्कृत (प्राकृत) में वर्णित कोई भी अर्थ (भाव) श्रोता का सम्पर्क पा कर जो अपूर्व रस-विशेष उत्पन्न कर देता है, वही बहुत बड़ा आश्चर्य है ॥ २ ॥

८. जैसे स्वभाव से उज्ज्वल मौक्तिक जब सुवर्ण-सूत्र से संघटित (ग्रथित) होकर कर्णरन्ध्र मे पड़ता है, तब आकर्षक बन जाता है, वैसे ही स्वभावतया निर्दोष काव्य जब सुन्दर अक्षरों से रचित होकर श्रोता के कानों में पड़ता है, तब अभिव्यक्त होता है (अर्थात् उस का महत्त्व ज्ञात होता है) ॥ ३ ॥

२—गाहावज्जा (गाथापद्धति)

९. रमणियों की अर्द्धाक्षर-भणिति (अर्द्ध-उच्चरित कथन), विभ्रमपूर्ण मधुर-हास्य और कटाक्षावलोकन, नि:सन्देह बिना गाथाओं के (पढे) नही जाने जाते ॥ १ ॥

१० *जैसे आभूषणों से मण्डित, सुलक्षणा (सामुद्रिकशास्त्र वर्णित लक्षणों से युक्त) तथा अन्य-अन्य रातों मे रसयुक्त (या प्रेम के रस को समझने वाली) प्रेयसियों के (प्रतीक्षा करने पर भी) न आने पर चित्त दु:खी हो जाता है, वैसे ही जब उपमादि अलंकारों से अलंकृत, व्याकरण-प्रतिपादित लक्षणों से युक्त और विभिन्न रागों (संगीत स्वरों) में रसित (ध्वनित) होने वाली गाथायें समझ मे नही आती, तो मन में खेद होता है ॥ २ ॥

११ यह सत्य (स्पष्ट) है, कि नीरस व्यक्ति गाथाओं का गुप्तभाव और महिलाओं का प्रेम (हृदय) वैसे ही नही पा सकते, जैसे पुण्यहीन जन द्रव्य ॥ ३ ॥

१२ छन्दो में रचित, सुन्दर शब्दो एवं उपमादि अलंकारों से युक्त और सरस उक्तियों वाली गाथा, पढने पर वैसे ही रस (शृंगारादि) प्रदान करती है, जैसे स्ववश, रूपवती, मण्डित और मधुर-भाषिणी श्रेष्ठ कामिनी भोग करने पर सुख प्रदान करती है ॥ ४ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

१३. गाहाण रसा महिलाण विब्भमा कइजणाण उल्लावा ।
कस्स न हरंति हियय बालाण य मम्मणुल्लावा ।। ५ ।।

गाथानां रसा महिलाना विभ्रमाः कविजनानामुल्लापाः ।
कस्य न हरन्ति हृदयं बालाना च मन्मनोल्लापाः ।।

१४. सव्वो गाहाउ जणो वीसत्थो भणइ सव्वगोट्ठीसु ।
परमत्थो जो ताणं सो नाओ महछइल्लेहि ।। ६ ।।

सर्वो गाथा जनो विश्वस्तो भणति सर्वगोष्ठीषु ।
परमार्थो यस्तासां स ज्ञातो महाविदग्धै ।।

१५. गाहा रुअइ वराई सिक्खिज्जती गवारलोएहिं ।
कीरइ लुंचपलुंचा जह गाई मददोहेहि ।। ७ ।।

गाथा रोदिति वराकी शिक्ष्यमाणा ग्रामीणलोकैः ।
क्रियते लुञ्चप्रलुञ्चा यथा गौर्मन्ददोग्धृभिः ।।

१६. गाहे भज्जिहिसि तुमं अहवा लहुयत्तणं वि पाविहिसि ।
गामारदंतदिढकढिणपीडिया उच्छुलट्ठि व्व ।। ८ ।।

गाथे भङ्क्ष्यसे त्वमथवा लघुत्वमपि प्राप्स्यसि ।
ग्रामीणदन्तदृढकठिनपोडिता इक्षुयष्टिरिव ।।

१७. गाहाण गीयाण ततीसद्दाण पोढमहिलाणं ।
ताणं चिय सो दंडो जे ताण रस न याणति ।। ९ ।।

गाथाना गीताना तन्त्रीशब्दानां प्रौढमहिलानाम् ।
तेषामेव स दण्डो ये तेषा रसं न जानन्ति ।।

१८. छंदं अयाण माणेहि जा किया सा न होइ रमणिज्जा ।
कि गाहा अह सेवा अहवा गाहा वि सेवा वि ।।१०।।

छन्दो(छन्दम्)अजानद्भिर्या कृता सा न भवति रमणोया ।
कि गाथाथ सेवा, अथवा गाथापि सेवापि ।।

१३. गाथाओं के रस, महिलाओं के विभ्रम, कवियों की उक्तियाँ और बालकों के अव्यक्त शब्द (तोतली बोलियाँ) किसका मन नहीं मोह लेते है ।। ५ ।।

१४ सभी कविजन सभी गोष्ठियों में विश्वस्त होकर गाथाएँ पढ़ते हैं, परन्तु उनमें गूढार्थ (व्यंग्य-अर्थ) श्रेष्ठ विदग्ध जन ही जान[1] पाते हैं ।। ६ ।।

१५. जब गवाँर लोग सीखने लगते है, तब बेचारी गाथा रो पड़ती है। वे वैसे ही उसे नोंच-खरोच डालते हैं, जैसे अनाडी दुहने वाला गाय को ।। ७ ।।

१६. गाथे ! गवाँरों के दृढ और कठोर दाँतो से पीड़ित होकर (अर्थात् मूर्खों के द्वारा उच्चरित होकर) तुम ईख के समान या तो भग्न हो जाओगी या लघु (निस्सार) हो जाओगी [ईख रस निकल जाने के कारण लघु (निस्सार) हो जाती है और गाथा अक्षर के अशुद्ध उच्चारण से लघु (छोटी) हो जाती है] ।। ८ ।।

१७. जो गाथाओ, गीतो, तन्त्रीशब्दो (वाद्ययन्त्र के स्वर) और प्रौढ़ महिलाओं का रस नही जानते, उनके लिए यही दण्ड है कि वे आनन्द से वंचित रह जाते है[2] ।। ९ ।।

१८. छन्द (छन्द और इच्छा) न जानने वालो के द्वारा जो की जाती है, वह सुन्दर नहीं होती। क्या ? गाथा या सेवा अथवा गाथा और सेवा दोनों। (छन्द के ज्ञान के अभाव मे गाथा और सेव्य की इच्छा के ज्ञान के अभाव से सेवा रमणीय नही होती है) ।। १० ।।

---

१. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।। —ध्वन्यालोक, कारिका ७

२. तन्त्रीनाद कबित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूडे बूडे तिरे, जे बूडे सब अंग ।। —बिहारी, २६३

३. कव्ववज्जा [काव्यपद्धतिः]

१९. चिंतामंदरमंथाणमंथिए वित्थरम्मि अत्थाहे ।
उप्पज्जंति कईहिययसायरे कव्वरयणाइं ॥ १ ॥
चिन्तामन्दरमन्थानमथिते विस्तृतेऽस्ताघे ।
उत्पद्यन्ते कविहृदयसागरे काव्यरत्नानि ॥

२०. *रयणुज्जलपयसोहं त कव्वं ज तवेइ पडिवक्खं ।
पुरिसायतविलासिणिरसणादाम मिव रमत ॥ २ ॥
रचनोज्ज्वल (रत्नोज्ज्वल) पदशोभं तत् काव्यं यत्-
तापयति प्रतिवक्षः (प्रतिपक्षम्) ।
पुरुषायमाणविलासिनीरशनादामेव रसान्तम् (रसत्) ॥

२१. पाइयकव्वम्मि रसो जो जायइ तह य छेयभणिएहि ।
उययस्स य वासियसीयलस्स तित्ति न वच्चामो ॥३॥
प्राकृतकाव्ये रसो यो जायते तथा च च्छेकभणितैः ।
उदकस्य च वासितशीतलस्य तृप्ति न व्रजामः ॥

२२. कह कह वि रएइ पय मग्ग पुलएइ छेयमारुहइ ।
चोरो व्व कई अत्थं घेत्तूण कह वि निव्वहइ ॥ ४ ॥
कथंकथमपि रचयति पद मार्ग प्रलोकयतिच्छेकम्-
(छेदम्) आरोहति ।
चोर इव कविरर्थ गृहीत्वा कथमपि निर्वहति ॥

२३. सद्दावसद्दभीरू पए पए कि पि कि पि चिततो ।
दुक्खेहि कह वि पावइ चोरो अत्थं कई कव्व ॥ ५ ॥
शब्दापशब्दभीरुः पदे पदे किमपि किमपि चिन्तयन् ।
दुःखैः कथमपि प्राप्नोति चोरोऽर्थं कविः काव्यम् ॥

२४. सद्दपलोट्टं दोसेहि वज्जिय सुललियं फुडं महुरं ।
पुण्णेहि कह वि पावइ छंदे कव्वं कलत्त च ॥ ६ ॥
शब्दप्रवृत्तं दोषैर्वजितं सुललितं स्फुटं मधुरम् ।
पुण्यैः कथमपि प्राप्नोति च्छन्दसि(च्छन्दे)काव्यं कलत्रं च ॥

३—कव्ववज्जा (काव्यपद्धति)

१९. चिन्तन-रूपी मन्दर (पर्वत) की मथानी से (मन्थान से) मथित, कवियों के विस्तृत और अगाध हृदय-सिन्धु मे काव्य-रत्न उत्पन्न होते है ॥ १ ॥

२० *जिस रचनावैशिष्ट्य के द्वारा पदों (शब्दो या छन्दों के चरणों) की उज्ज्वल (निर्दोष, श्रुति कटुत्वादि रहित) शोभा रहती है तथा जिसके भीतर (शृंगारादि) रस स्थित रहता है, उस काव्य की प्रशसा से प्रत्येक हृदय वैसे हो विचलित हो उठता है; जैसे रत्नो द्वारा चरणों की शोभा को उज्ज्वल बनाने वाली, विपरीत-रति-संसक्त रमणी की क्वणित-रशना (करधनी की मधुर ध्वनि) सपत्नियो को संतप्त कर देती है ॥ २ ॥

२१. प्राकृत-काव्य, विदग्ध-भणिति (द्वयर्थक व्यंग्योक्ति) तथा सुवासित शीतल जल से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उससे हमे पूर्णतया तृप्ति नहीं होती है ॥३॥

२२. जैसे चोर सावधानी से पैर रखता है, (भयवश इधर-उधर) मार्ग देखता है, भित्ति-छिद्र (सेंध) पर चढता है और किसी प्रकार कठिनाई से धन ले जाता है, वैसे ही कवि सावधानी से पद-रचना करता है, वैदर्भी आदि सुकुमार और कठोर मार्गो (शैलियो) का चिन्तन करता है, छेकानुप्रास की योजना करता है और अर्थ को लेकर कठिनाई से उसका निर्वाह करता है ॥४॥

२३ चोर अच्छे-बुरे शब्दो (या शकुन या अपशकुन की सूचना देने वाली आवाजों से) से डरता हुआ पद-पद पर कुछ सोचता हुआ, क्लेश-पूर्वक अर्थ (धन) प्राप्त करता है और कवि शुद्ध एवं अशुद्ध शब्दों के प्रति सतर्क रहता हुआ, छन्द के प्रत्येक चरण पर कुछ चिन्तन करता हुआ काव्य को कठिनाई से प्राप्त करता है (काव्य की रचना करता है) ॥ ५ ॥

२४. उचित शब्दों से रचित, दोष-रहित, ललित, प्रसाद एवं माधुर्य-युक्त और छन्दों में रचित कविता तथा आज्ञानुवर्तिनी, निर्दोष, सुन्दर, स्वच्छ-हृदय, मधुर-स्वभाव एवं वशीभूत स्त्री किसी प्रकार पुण्य से ही प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

२५. अणवरयबहलरोमंचकंचुयं जणियजणमणाणंदं ।
जं न धुणावइ सीसं कव्वं पेम्मं च किं तेण ।। ७ ।।
अनवरतबहलरोमाञ्चकञ्चुकं जनितजनमनआनन्दम् ।
यन्न धूनयति शीर्षं काव्यं प्रेम च किं तेन ।।

२६. सो सोहइ दूसंतो कइयणरइयाइ विविहकव्वाइं ।
जो भंजिऊण अवयं अन्नपयं सुंदर देइ ।। ८ ।।
स शोभते दूषयन् कविजनरचितानि विविधकाव्यानि ।
यो भङ्क्त्वा अपदम् अन्यपदं सुन्दरं ददाति ।।

२७. अत्थक्को रसरहिओ देसविहीणोऽणुणासिओ तुरिओ ।
मुहवंचणो विराओ एए दोसा पढंतस्स ।। ९ ।।
अविरतो रसरहितो देशविहीनोऽनुनासिकस्त्वरितः ।
मुखवञ्चनो विराग एते दोषाः पठतः ।।

२८. देसियसद्दपलोट्टं महुरक्खरछंदसठिय ललिय ।
फुडवियडपायडत्थं पाइयकव्वं पढेयव्वं ।। १० ।।
देशीयशब्दप्रवृत्तं मधुराक्षरच्छन्दःसंस्थितं ललितम् ।
स्फुटविकटप्रकटार्थं प्राकृतकाव्यं पठनीयम् ।।

२९. ललिए महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे ।
संते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं ।। ११ ।।
ललिते मधुराक्षरे युवतिजनवल्लभे सशृङ्गारे ।
सति प्राकृतकाव्ये कः शक्नोति संस्कृतं पठितुम् ।।

३०. अबुहा बुहाण मज्झे पढंति जे छंदलक्खणविहूणा ।
ते भमुहाखग्गणिवाडियं पि सीसं न लक्खंति ।। १२ ।।
अबुधा बुधाना मध्ये पठन्ति ये छन्दोलक्षणविहीनाः ।
ते भ्रूखङ्गनिपातितमपि शीर्षं न लक्षयन्ति ।।

२५. जो अनवरत विपुल रोमाच के साथ जन-मन मे आनन्द उत्पन्न करता हुआ शिर न धुनवा दे (हिलवा दे), वह प्रेम और काव्य व्यर्थ है (उस प्रेम या काव्य से क्या लाभ ?) ॥ ७ ॥

२६. वही कवि-रचित विविध-काव्यों को दूषित करता हुआ (उनकी आलोचना करता हुआ) शोभित होता है, जो अनुपयुक्त पद को हटाकर अन्य उपयुक्त पद की योजना करने मे समर्थ है ॥ ८ ॥

२७. विराम के स्थान पर न रुकना, रसहीन होना, देश-काल की उपेक्षा करना, अनुनासिक उच्चारण, त्वरितपाठ, मुँह बिगाड़ना और लय रहित पाठ करना—ये काव्य-पाठक के दोष है ॥ ९ ॥

२८. देशी शब्दों से रचित, मधुर अक्षरों और छन्दो मे आबद्ध, स्पष्ट (फुड), गम्भीर और गूढार्थवाले (पायडत्थ = प्रावृतार्थ = ध्वनि) ललित प्राकृत-काव्य पठनीय है ॥ १० ॥

२९ ललित, मधुराक्षर से युक्त, युवतियो को प्रिय और शृंगार-रस से युक्त प्राकृत-काव्य के रहते हुए कौन संस्कृत पढ सकेगा अर्थात् नही पढेगा ॥ ११ ॥

३० जब छन्दों के लक्षणो को न जानने वाले मर्ख, (अनाड़ी) विद्वानों के बीच काव्य-पाठ करते है, तब वे (विद्वानों के) भृकुटि-खड्ग (अरुचि के कारण खड्ग के समान वक्र भौह) से कटे हुए (अपने) मस्तक को भी नही देख पाते (अर्थात् अपनी कमियों को नही जान पाते हैं) ॥ १२ ॥

(जब विद्वान् विरस एवं अशुद्ध काव्य-पाठ से ऊब कर भौहे टेढी करने लगते है, उस समय उनके कटाक्ष से मानों उन मूर्खों के शिर ही कट जाते हैं, परन्तु वे इतना भी नही जान पाते ।)

३१. *पाइयकव्वस्स नमो पाइयकव्वं च निम्मियं जेण ।
ताहं चिय पणमामो पढिऊण य जे वि याणंति ।। १३ ।।
प्राकृतकाव्याय नमः प्राकृतकाव्यं च निर्मितं येन ।
तेभ्यश्चैव प्रणमामः पठितुं च येऽपि जानन्ति ॥

४. सज्जणवज्जा [सज्जनपद्धतिः]

३२. महणम्मि ससी महणम्मि सुरतरू महणसभवा लच्छी ।
सुयणो उण कहसु मह न याणिमो कत्थ संभूओ ।। १ ।।
मथने शशी मथने सुरतरुर्मथनसम्भवा लक्ष्मीः ।
सुजनः पुनः कथय मम न जानीमः क्व संभूतः ॥

३३ सुयणो सुद्धसहावो मइलिज्जतो वि दुज्जणजणेण ।
छारेण दप्पणो विय अहिययरं निम्मलो होइ ।। २ ।।
सुजनः शुद्धस्वभावो मलिनीक्रियमाणोऽपि दुर्जनजनेन ।
क्षारेण दर्पण इवाधिकतरं निर्मलो भवति ।

३४ सुयणो न कुप्पइ च्चिय अह कुप्पइ मंगुलं न चिंतेइ ।
अह चिंतेइ न जपइ अह जपइ लज्जिरो होइ ।। ३ ।।
सुजनो न कुप्यत्येवाथ कुप्यति पापं न चिन्तयति ।
अथ चिन्तयति न जल्पत्यथ जल्पति लज्जितो भवति ॥

३५. दढरोसकलुसियस्स वि सुयणस्स मुहाउ विप्पियं कत्तो ।
राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमय चिय मुयंति ।।४।।
दृढरोषकलुषितस्यापि सुजनस्य मुखाद्विप्रियं कुतः ।
राहुमुखेऽपि शशिन किरणा अमृतमेव मुञ्चन्ति ॥

३६. दिट्ठा हरंति दुक्खं जंपंता देति सयलसोक्खाइं ।
एयं विहिणा सुकयं सुयणा ज निम्मिया भुवणे ।। ५ ।।
दृष्टा हरन्ति दुःखं जल्पन्तो ददति सकलसौख्यानि ।
एतद्विधिना सुकृतं सुजना यन्निर्मिता भुवने ॥

३१. *प्राकृत-काव्य को नमस्कार है, जिन्होंने प्राकृत-काव्य की रचना की है उन्हें नमस्कार है। जो पढ कर उन्हे जान लेते है (समझ लेते है), उन्हे भी हम प्रणाम करते है ॥ १३ ॥

४—सज्जणवज्जा (सज्जनपद्धति)

३२. मन्थन से चन्द्रमा, मन्थन से कल्पवृक्ष और मन्थन से ही लक्ष्मी की उत्पत्ति हुई है। तो फिर बताओ, हम नही जानते कि सज्जन कहाँ से उत्पन्न हुआ? (अर्थात् उसे भी मन्थन से ही उत्पन्न होना चाहिए) ॥ १ ॥

३३ विशुद्ध-स्वभाव सज्जन दुर्जन-द्वारा लाछित (मलिन) किये जाने पर भी, वैसे ही अधिक निर्मल हो जाता है, जैसे छार से दर्पण ॥ २ ॥

३४. सज्जन क्रोध ही नही करता है, यदि करता है तो अमंगल नहीं सोचता, यदि सोचता है तो कहता नही और यदि कहता है तो लज्जित हो जाता है ॥ ३ ॥

३५. दृढ रोष से कलुषित होने पर भी सज्जन के मुख से अप्रिय वचन कहा से निकल सकते है? चन्द्रमा को किरणें राहु के मुख में भी अमृत ही गिराती है (टपकाती हैं) ॥ ४ ॥

३६. विधाता ने यह अच्छा ही किया जो संसार में सुजनों की रचना कर दी। वे देखे जाने पर दुःख हर लेते हैं और बोलते समय सभी सुख प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

३७. न हसंति परं न थुवंति अप्पय पियसयाइ जंपंति ।
एसो सुयणसहावो नमो नमो ताण पुरिसाणं ॥ ६ ॥
न हसन्ति परं न स्तुवन्त्यात्मानं प्रियशतानि जल्पन्ति ।
एष सुजनस्वभावो नमो नमस्तेभ्यः पुरुषेभ्यः ॥

३८. अकए वि कए वि पिए पियं कुणता जयम्मि दीसंति ।
कयविप्पिए वि हु पिय कुणति ते दुल्लहा सुयणा ॥७॥
अकृतेऽपि कृतेऽपि प्रिये प्रियं कुर्वन्तो जगति दृश्यन्ते ।
कृतविप्रियेऽपि खलु प्रियं कुर्वन्ति ते दुर्लभाः सुजनाः ॥

३९ सव्वस्स एह पयई पियम्मि उप्पाइए पियं काउं ।
सुयणस्स एह पयई अकए वि पिए पियं काउं ॥ ८ ॥
सर्वस्यैषा प्रकृतिः प्रिय उत्पादिते प्रियं कर्तुम् ।
सुजनस्यैषा प्रकृतिरकृतेऽपि प्रिये प्रियं कर्तुम् ॥

४० फरुस न भणसि भणिओ वि हससि हसिऊण जपसि पियाइ ।
सज्जण तुज्झ सहावो न याणिमो कस्स सारिच्छो ॥९॥
परुषं न भणसि भणितोऽपि हससि हसित्वा जल्पसि प्रियाणि ।
सज्जन तव स्वभावो न जानीमः कस्य सदृक्षः ॥

४१. नेच्छसि परावयारं परोवयार च निच्चमावहसि ।
अवराहेहि न कुप्पसि सुयण नमो तुह सहावस्स ॥ १० ॥
नेच्छसि परापकारं परोपकारं च नित्यमावहसि ।
अपराधैर्न कुप्यसि सुजन नमस्तव स्वभावाय ॥

४२. दोहिं चिय पज्जत्तं बहुएहि वि किं गुणेहि सुयणस्स ।
विज्जुप्फुरियं रोसो मित्ती पाहाणरेह व्व ॥ ११ ॥
द्वाभ्यामेव पर्याप्तं बहुभिरपि किं गुणैः सुजनस्य ।
विद्युत्स्फुरितं रोषो मैत्री पाषाणरेखेव ॥

३७. सज्जनों का यह स्वभाव है कि वे न तो दूसरों का उपहास करते हैं और न अपनी प्रशंसा। सैकड़ों प्रियवचन बोलते रहते हैं (अर्थात् सदैव प्रिय-वचन ही बोलते हैं)। ऐसे पुरुषों को नमस्कार है ॥ ६ ॥

३८. जगत् में प्रियकार्य करने या न करने पर भी प्रिय करने वाले पुरुष तो दिखाई देते हैं, परन्तु जो विप्रिय करने पर भी प्रिय ही करते रहते हैं वे सज्जन दुर्लभ है ॥ ७ ॥

३९. प्रिय करने पर प्रिय करना—यह सभी की प्रकृति है, परन्तु प्रिय न करने पर भी प्रिय करना—यह सज्जनों की प्रकृति है ॥ ८ ॥

४०. हे सज्जन! तुम कठोर वचन नही बोलते हो, (किसी के द्वारा कठोर वचन) बोलने पर भी हँस देते हो, हँस कर प्रिय कहते हो, हम नहीं जानते कि तुम्हारा स्वभाव किसके समान है ॥ ९ ॥

४१. दूसरों का अपकार नही चाहते, नित्य परोपकार करते रहते हो और अपराधों से कुपित नही होते हो, हे सज्जन! तुम्हारे स्वभाव को नमस्कार है ॥ १० ॥

४२. सज्जन के बहुत से गुणों से क्या प्रयोजन? उसके ये दो गुण ही पर्याप्त हैं—बिजली की कौंध के समान क्षणभंगुर क्रोध और पाषाण-रेखा के समान चिरस्थायिनी मैत्री ॥ ११ ॥

४३. रे रे कलिकालमहागइंद गलगज्जियस्स को कालो ।
अज्ज वि सुपुरिसकेसरिकिसोरचलणंकिया पुहवी ॥१२॥
रे रे कलिकालमहागजेन्द्र गलर्गजितस्य कः कालः ।
अद्यापि सुपुरुषकेसरिकिशोरचरणाङ्किता पृथ्वी ॥

४४. दीणं अब्भुद्धरिउं पत्ते सरणागए पियं काउं ।
अवरद्धेसु वि खमिउं सुयणो च्चिय नवरि जाणेइ ॥१३॥
दीनमभ्युद्धर्तुं प्राप्ते शरणागते प्रियं कर्तुम् ।
अपराधेष्वपि क्षन्तुं सुजन एव केवलं जानाति ॥

४५. बे पुरिसा धरइ धरा अहवा दोहि पि धारिया धरणी ।
उवयारे जस्स मई उवयरियं जो न पम्हुसइ॥ १४ ॥
द्वौ पुरुषौ धरति धराथवा द्वाभ्यामपि धारिता धरणी ।
उपकारे यस्य मतिरुपकृतं यो न विस्मरति ॥

४६. *पडिवज्जंति न सुयणा अह पडिवज्जंति अह वि दुक्खेहि ।
पत्थररेह व्व समा मरणे वि न अन्नहा होइ ॥ १५ ॥
प्रतिपद्यन्ते न सुजना अथ प्रतिपद्यन्ते कथमपि दुःखैः ।
प्रस्तररेखेव समा मरणेऽपि नान्यथा भवति ॥

४७. सेला चलंति पलए मज्जायं सायरा वि मेल्लंति ।
सुयणा तहि पि काले पडिवन्नं नेय सिढिलंति ॥ १६ ॥
शैलाश्चलन्ति प्रलये मर्यादा सागरा अपि मुञ्चन्ति ।
सुजनास्तस्मिन्नपि काले प्रतिपन्नं नैव शिथिलयन्ति ॥

४८. चंदणतरुव्व सुयणा फलरहिया जइ वि निम्मिया विहिणा ।
तह वि कुणंति परत्थं नियसरीरेण लोयस्स ॥ १७ ॥
चन्दनतरुरिव सुजनाः फलरहिता यद्यपि निर्मिता विधिना ।
तथापि कुर्वन्ति परार्थं निजकशरीरेण लोकस्य ॥

४३. अरे कलिकाल रूपी महागजेन्द्र ! तुम्हारी गर्जना का यह कौन सा अवसर है ? आज भी यह पृथ्वी सत्पुरुष-रूपी सिंह-कुमार के चरणों से अङ्कित है ॥ १२ ॥

४४. दीनो का उद्धार करना, शरणागत का प्रिय (मङ्गल) करना और अपराधियो को भी क्षमा कर देना—यह केवल सज्जन ही जानता है ॥ १३ ॥

४५ पृथ्वी दो प्रकार के पुरुषों को धारण करती है अथवा दो प्रकार के पुरुषो ने पृथ्वी को धारण किया है—जिस की मति उपकार में (लगी) है और जो किए हुये उपकार को नही भूलता ॥ १४ ॥

४६. *सज्जन पहले तो वचन देते ही नही, यदि देते है तो बहुत कठिनाई से और जब वचन दे देते है, तो वह (दिया गया वचन) पाषाण-रेखा के समान सदैव अटल रहता है और मरने पर भी उसमे अन्यथाभाव नही होता (अर्थात् अपना जीवन देकर भी उस वचन का निर्वाह करते है) ॥ १५ ॥

४७. प्रलय काल मे पर्वत भी चलायमान हो जाते है, सागर भी अपनी सीमाये छोड देते है। किन्तु सज्जन व्यक्ति उस काल मे भी अपने वचन को भंग नही करते ॥ १६ ॥

४८. यद्यपि विधाता ने सज्जनो को चन्दनतरु के समान फलरहित[1] बनाया है तथापि वे अपने शरीर से लोगो का उपकार करते रहते हैं (या जगत् का उपकार करते रहते है) ॥ १७ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

१. चन्दन मे फल नही लगते है और सज्जन मे फल अर्थात् स्वार्थ नही होता है ।

५. दुज्जणवज्जा [दुर्जनपद्धतिः]

४९. हयदुज्जणस्स वयण निरंतरं बहलकज्जलच्छायं ।
संकुद्धं भिउडिजुयं कया वि न हु निम्मल दिट्ठ ॥१॥
हतदुर्जनस्य वदनं निरन्तरं बहलकज्जलच्छायम् ।
संक्रुद्धं भृकुटियुतं कदापि न खलु निर्मलं दृष्टम् ॥

५०. *थद्धो वकग्गीवो अवचिओ विसमदिट्ठिदुप्पेच्छो ।
अहिणवरिद्धि व्व खलो सूलादिन्नु व्व पडिहाइ ॥ २ ॥
स्तब्धो वक्रग्रीवोऽवाञ्चितो विषमदृष्टिदुष्प्रेक्ष्यः ।
अभिनवर्द्धिरिव खलः शूलादत्त इव प्रतिभाति ॥

५१. नहमासभेयजणणो दुम्मुहओ अत्थिखडणसमत्थो ।
तह वि हु मज्झावलिओ नमह खलो नहरणसरिच्छो ॥३॥
नखमासभेदजननो दुर्मुखो(द्विमुखो)ऽर्थि-(ऽस्थि-)खण्डनसमर्थः ।
तथापि खलु मध्यावलितो नमत खलो नखलूसदृक्षः ॥

५२. अकुलीणो दोमुहओ ता महुरो भोयणं मुहे जाव ।
मुरउ व्व खलो जिण्णम्मि भोयणे विरसमारसइ ॥ ४ ॥
अकुलीनो द्विमुखस्तावन्मधुरो भोजनं मुखे यावत् ।
मुरज इव खलो जीर्णे भोजने विरसमारसति ॥

५३. *निद्धम्मो गुणरहिओ ठाणविमुक्को य लोहसंभूओ ।
विंधइ जणस्स हियय पिसुणो बाणु व्व लग्गंतो ॥ ५ ॥
निर्धर्मो गुणरहितः स्थानविमुक्तश्च लोभ-(लोह-)संभूतः ।
विध्यति जनस्य हृदयं पिशुनो बाण इव लगन् ॥

५—दुज्जणवज्जा (दुर्जनपद्धति)

४९. जिसकी कान्ति निरन्तर घने काजल के समान मलिन रहती है, जिसकी दोनों भौंहें चढ़ी रहती हैं, ऐसे दुष्ट का मुख कभी भी निर्मल नहीं दिखाई देता ॥ १ ॥

५०. *जिसकी ग्रीवा (गर्व से) वक्र रहती है, (भयानक दृष्टि के कारण) जिसे देखना कठिन है ऐसा वंचित न होने वाला (अर्थात् कभी धोखा न खाने वाला) अभिमानी (थद्ध = स्तब्ध), खल (दुष्ट-पुरुष) शूल-प्रोत (शूली पर चढ़ाये हुए) मनुष्य और अभिनव धनी के समान प्रतीत होता है ॥ २ ॥

५१. जिस प्रकार नहन्नी नख और मांस को अलग-अलग करने वाली, अस्थि का खण्डन करने मे समर्थ, द्विमुखी एवं मध्य वक्र होती है, उसी के समान दुष्ट जन भी प्रेमी जनों मे भेद उत्पन्न करने वाले, अर्थियों अर्थात् याचकों के हित का खण्डन करने मे समर्थ, द्विमुखी अर्थात् अन्दर-बाहर से एक समान न रहने वाला (कभी कुछ और कभी कुछ कहने वाला) तथा वक्र हृदय वाला होता है, उमे (दूर से ही) नमस्कार कर लो ॥ ३ ॥

५२. दुष्ट पुरुष मृदङ्ग के समान होता है। जिस प्रकार मृदङ्ग अकुलीन (भूमि का स्पर्श न करते हुये गोद मे रख कर बजाया जाता है) होता है, उसीप्रकार दुष्ट भी अकुलीन होता है। जिसप्रकार मृदङ्ग के दो मुख होते है, उसी प्रकार दुष्ट भी द्विमुखी होता है अर्थात् सामने प्रशंसा व पीछे निन्दा करने वाला होता है। जिस प्रकार मृदङ्ग तभी तक ही स्वर देता है जब तक उस पर आटा लगा रहता है, उसी प्रकार दुष्टजन भी तभी तक मधुर भाषी होते है जब तक उनके मुख मे भोजन रहता है अर्थात् उनका हित साधन होता रहता है। जैसे मृदङ्ग आटा निकल जाने पर स्वरहीन हो जाता है, उसी प्रकार दुष्टजन भी मतलब निकल जाने पर कटुभाषी बन जाते है॥ ४ ॥

५३. जिस प्रकार लौह से बना हुआ बाण धर्म अर्थात् धनुष से रहित होकर गुण अर्थात् प्रत्यञ्चा से छूटकर, स्थान (आलीढ़ादि प्रयत्न विशेष) से विमुक्त होकर, लगने पर प्राणियों के हृदय का भेदन करता है, उसी प्रकार दुष्ट जन भी लोभ के वशीभूत होकर धर्म और गुण से रहित हो मिलने पर लोगों के हृदय को पीड़ा पहुँचाता है ॥ ५ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

५४. जम्मे वि जं न हूयं न हु होसइ जं च जम्मलक्खे वि ।
तं जंपति तह च्चिय पिसुणा जह होइ सारिच्छं ॥ ६ ॥
जन्मन्यपि यन्न भूतं न खलु भविष्यति यच्च जन्मलक्षेऽपि ।
तज्जल्पन्ति तथैव पिशुना यथा भवति सदृक्षम् ॥

५५. गुणिणो गुणेहि विहवेहि विहविणो होंतु गव्विया नाम ।
दोसेहि नवरि गव्वो खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो ॥७॥
गुणिनो गुणैर्विभवैर्विभविनो भवन्तु गर्विता नाम ।
दोषैः केवल गर्वः खलाना मार्ग एवापूर्वः ॥

५६. संतं न देति वारेंति देतयं दिन्नय पि हारंति ।
अणिमित्तवइरियाण खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो ॥८॥
सन्न ददति वारयन्ति ददत दत्तमपि हारयन्ति ।
अनिमित्तवैरिणा खलाना मार्ग एवापूर्व ॥

५७ *परविवरलद्धलक्खे चित्तलए भीसणे जमल्जीहे ।
वकपरिसविकरे गोणसे व्व पिसुणे सुहं कत्तो ॥ ९ ॥
परविवरलब्धलक्ष्ये चर्लचित्ते (चित्रले) भीषणे यमलजिह्वे ।
वक्रगमनशीले गोनस इव पिशुने सुख कुत ॥

५८. *असमत्थमततंताण कुलविमुक्काण भोयहीणाणं ।
दिट्ठाण को न बीहइ वितरसप्पाण व खलाण ॥ १० ॥
असमर्थमन्त्रतन्त्रेभ्यः कुलविमुक्तेभ्यो भोगहीनेभ्यः ।
दृष्टेभ्यः को न बिभेति व्यन्तरसर्पेभ्य इव खलेभ्यः ॥

५९. एय चिय बहुलाहो जीविज्जइ जं खलाण मज्झम्मि ।
लाहो ज न डसिज्जइ भुयंगपरिवेढिए चलणे ॥ ११ ॥
एतदेव बहुलाभो जीव्यते यत् खलानां मध्ये ।
लाभो यन्न दश्यते भुजङ्गपरिवेष्टिते चरणे ॥

५४. जो इस जन्म मे नही हुआ और जिसका लाखों जन्मों में भी हो पाना सम्भव नही है, उसे दुर्जन (पिशुन) ऐसे (सहज भाव से) कह जाता है जैसे बिलकुल सच हो ॥ ६ ॥

५५. *यदि गुणवान् गुण से और धनवान् धन से गर्वित हो जाते हैं तो हो जायँ। खलों का तो मार्ग ही अद्‌भुत है, वे तो दोषों पर ही गर्व करते है ॥ ७ ॥

५६ अकारण वैर रखने वाले खलों का मार्ग ही अपूर्व है। वे स्वयं सम्पत्ति होते हुए भी नही देते, देने वाले को रोकते है और दिया हुआ द्रव्य भी छीन लेते है ॥ ८ ॥

५७. *दूसरों के विवरों (बिलो) मे प्रविष्ट हो जाना ही जिसका लक्ष्य है, जिसके शरीर पर चित्तिया है, जिसकी दो जिह्वाएँ हैं और जो कुटिल गति से चलता है उस भयानक सर्प को जैसे सुख नहीं मिलता है, ठीक वैसे ही उन दुष्ट जनों को भी सुख नही मिलता है जो दूसरों के छिद्रो (दोषो) को ही देखते रहते है, जो चञ्चलचित्त वाले है, जो अत्यन्त कठोर है, जो चुगलखोर है और जिनकी गति वक्र है ॥ ९ ॥

५८. *मन्त्र-तन्त्र से असाध्य, (सापो के) आठों कुलों से बहिर्भूत, फणहीन व्यन्तरसर्पो के समान जिनके निवारण मे उपदेश एवं उपाय व्यर्थ है, जो परिवार की मर्यादा से मुक्त है, जो विषय-सेवन से नीच हो चुके हैं, ऐसे खलों को देख कर कौन नही डरता[1] ? ॥ १० ॥

५९. खलों के बीच जीवित रहे, यही बहुत बड़ा लाभ है। पैर में लिपटा साँप यदि नही काटता तो यही बहुत है ॥ ११ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

१. इस पर प्रो० पटवर्धन की टिप्पणी उचित नही है।

६०. न सहइ अब्भत्थणियं असइ गयाणं पि पिट्ठिमंसाइं ।
दट्ठूण भासुरमुहं खलसीहं को न बीहेइ ।। १२ ।।
न सहतेऽभ्यर्थनाम् (न सहतेऽभ्रस्तनितम्) अश्नाति
गतानामपि (गजानामपि) पृष्ठमांसानि ।
दृष्ट्वा भासुरमुखं खलसिंहं को न बिभेति ।।

६१. *मा वच्चह वीसंभ पमुहे बहुकूडकवडभरियाणं ।
निव्वत्तियकज्जपरंमुहाण सुणयाण व खलाणं ।। १३ ।।
मा व्रजत विश्रम्भं प्रमुखे बहुकूटकपटभृतानाम् ।
निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखानां शुनकानामिव खलानाम् ।।

६२. जेहि चिय उब्भविया जाण पसाएण निग्गयपयावा ।
समरा डहंति विज्झं खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो ।।१४।।
यैरेवोर्ध्वीकृता येषां प्रसादेन निर्गतप्रतापा ।
शबरा दहन्ति विन्ध्यं खलानां मार्ग एवापूर्वः ।।

६३. सरसा वि दुमा दावाणलेण डज्झंति सुक्खसंवलिया ।
दुज्जणसंगे पत्ते सुयणो वि सुहं न पावेइ ।। १५ ।।
सरसा अपि द्रुमा दावानलेन दह्यन्ते शुष्कसंवलिताः ।
दुर्जनसंगे प्राप्ते सुजनोऽपि सुखं न प्राप्नोति ।

६४. खलसज्जणाण दोसा गुणा य को वण्णिउं तरइ लोए ।
जइ नवरि नायराओ दोहि जीहासहस्सेहि ।। १६ ।।
खलसुजनयोर्दोषान् गुणांश्च को वर्णयितुं शक्नोति लोके ।
यदि केवलं नागराजो द्वाभ्यां जिह्वासहस्राभ्याम् ।

६. मित्तवज्जा [मित्रपद्धतिः]

६५. एक्कं चिय सलहिज्जइ दिणेसदियहाण नवरि निव्वहणं ।
आजम्म एक्कमेक्केहि जेहि विरहो च्चिय न दिट्ठो ।।१।।
एकमेव श्लाघ्यते दिनेशदिवसयोः केवलं निर्वहणम् ।
आजन्मैकैकाभ्या याभ्यां विरह एव न दृष्टः ।।

६०. दुष्टजन सिंह के समान होते हैं। उन से कौन नही डरता ? सिंह मेघों की गर्जना नही सह सकता तो खल अभ्यर्थना को। सिंह गजों का भी पृष्ठ-मांस खा जाता है तो खल परोक्ष मे लोगों की निन्दा करता है। सिंह का मुह (नुकीले) दाँतों के कारण भयानक रहता है तो खल का मुँह देखने में ही भयानक लगता है ॥ १२ ॥

६१. *अपना कार्य समाप्त हो जाने पर मुँह दूसरी ओर कर लेने वाले कुत्तों के समान, अत्यन्त छल-कपट से परिपूर्ण तथा अपना काम निकल जाने पर मुँह फेर लेने वाले खलों के समक्ष विश्वासपूर्वक मत जाओ ॥ १३ ॥

(कुत्ते मैथुन समाप्त हो जाने पर अपना मुँह फिरा लेते है)

६२. जिसके द्वारा ऊपर उठाये गये और जिसके द्वारा उन का प्रताप प्रकट हुआ उसी विन्ध्य पर्वत को शबर जला डालते हैं। खलों का मार्ग ही विचित्र है ॥ १४ ॥

६३. शुष्क काष्ठों से मिल कर सरस वृक्ष भी दावानल में दग्ध हो जाते है। दुर्जन के संसर्ग मे सुजन भी सुख नही पाता ॥ १५ ॥

६४ खलों के दोष और सज्जनों के गुणों का वर्णन कौन कर सकता है ? यदि कोई कर सकता है, तो दो हजार जिह्वाओ से केवल नागराज शेष ॥ १६ ॥

६—मित्तवज्जा (मित्रपद्धति)

६५. अकेले सूर्य और दिन का प्रणय-निर्वाह श्लाघ्य है, जिन्होंने आजन्म एक दूसरे का वियोग ही नही देखा ॥ १ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

६६. पडिवन्नं दिणयरवासराण दोण्हं अखंडियं सुहइ।
सुरो न दिणेण विणा दिणो वि न हु सूरविरहम्मि ॥२॥
प्रतिपन्नं दिनकरवासरयोर्द्वयोरखण्डितं शोभते।
सूर्यो न दिनेन विना दिनमपि न खलु सूर्यविरहे॥

६७. मित्तं पयतोयसमं सारिच्छं जं न होइ किं तेण।
अहियाएइ मिलंतं आवइ आवट्टए पढमं ॥ ३ ॥
मैत्रं पयस्तोयसमं सदृक्षं यन्न भवति कि तेन।
अधिकायते मिलदापद्यावर्तते प्रथमम्॥

६८. तं मित्त कायव्व जं किर वसणम्मि देशकालम्मि।
आलिहियभित्तिबाउल्लयं व न परंमुह ठाइ ॥ ८ ॥
तन्मित्रं कर्तव्यं यत् किल व्यसने देशकाले।
आलिखितभित्तिपुत्रक इव न पराङ्मुख तिष्ठति॥

६९. तं मित्त कायव्व ज मित्तं कालकंबलीसरिसं।
उयएण धोयमाणं सहावरंगं न मेल्लेइ ॥ ५ ॥
तन्मित्रं कर्तव्यं यन्मित्रं कालकम्बलीसदृशम्।
उदकेन धाव्यमान स्वभावरङ्गं न मुञ्चति।

७०. *सगुणाण निग्गुणाण य गरुया पालति जं जि पडिवन्न।
पेच्छह वसहेण सम हरेण वोलाविओ अप्पा ॥ ६ ॥
सगुणाना निर्गुणाना च गुरव पालयन्ति यदेव प्रतिपन्नम्।
प्रेक्षध्वं वृषभेण समं हरेणा तिक्रामित आत्मा॥

७१. छिज्जउ सीस अह होउ बंधणं चयउ सव्वहा लच्छी।
पडिवन्नपालणे सुपुरिसाण ज होइ त होउ ॥ ७ ॥
छिद्यता शीर्षमथ भवतु बन्धनं त्यजतु सर्वथा लक्ष्मी।
प्रतिपन्नपालने सुपुरुषाणा यद्भवति तद्भवतु॥

६६. दिनकर और दिन-दोनों की अखंड प्रतिपत्ति (मैत्री या अनुराग) की शोभा है। दिन के बिना सूर्य और सूर्य के बिना दिन नही रह सकता ॥ २ ॥

६७. जो मैत्री जल और दुग्ध के समान नही है उस से लाभ क्या ? जल जब मिलता है तब दूध को अधिक बना देता है और औटाने पर वही पहले जलता है (आपत्ति में भी वही पहले काम आता है) ॥ ३ ॥

६८. मित्र उसे बनाना चाहिये जो भित्ति-चित्र के समान किसी भी संकट और देश-काल मे कभी विमुख न हो ॥ ४ ॥

६९. मित्र उसे बनाना चाहिये जो काले कम्बल के समान जल से धोये जाने पर भी सहजरंग को नही छोड़ता अर्थात् साथ नहीं छोड़ता है ॥ ५ ॥

७०. *महापुरुष, सगुणों और निर्गुणो में, जिस का जो (कार्य) स्वीकार कर लेते है; उस की रक्षा करते है। देखो, शिव ने बैल के साथ अपना जीवन बिता दिया ॥ ६ ॥

७१. चाहे शिर कट जाय, चाहे कारागार मे चले जायँ और चाहे सब प्रकार से निर्धन ही क्यों न हो जायँ, अंगीकृत की रक्षा में जो होना है वह सब हो जाय, सज्जनों को उस की चिन्ता नही रहती है ॥ ७ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

७२. दिढलोहसंकलाणं अन्नाण वि विविहपासबंधाणं ।
ताणं चिय अहिययरं वायाबंधं कुलीणस्स ।। ८ ।।
दृढलोहशृङ्खलाभ्योऽन्येभ्योऽपि विविधपाशबन्धेभ्यः ।
तेभ्य एवाधिकतर वाग्बन्धनं कुलीनस्य ।।

७. नेहवज्जा [स्नेहपद्धति.]

७३. चदो धवलिज्जइ पुण्णिमाइ अह पुण्णिमा वि चंदेण ।
समसुहदुक्खाइ मणे पुण्णेण विणा न लब्भंति ।। १ ।।
चन्द्रो धवलीक्रियते पूर्णिमयाथ पूर्णिमापि चन्द्रेण ।
समसुखदुःखानि मन्ये पुण्येन विना न लभ्यन्ते ।।

७४. एक्काइ नवरि नेहो पयासिओ तिहुयणम्मि जोण्हाए ।
जा झिज्जइ झीणे ससहरम्मि वड्ढेइ वड्ढंते ।। २ ।।
एकया केवलं स्नेहः प्रकाशितस्त्रिभुवने ज्योत्स्नया ।
या क्षीयते क्षीणे शशधरे वर्धते वर्धमाने ।।

७५. झिज्जइ झीणम्मि सया वड्ढइ वड्ढंतयम्मि सविसेसं ।
सायरससीण छज्जइ जयम्मि पडिवन्नणिव्वहणं ।। ३ ।।
क्षीयते क्षीणे सदा वर्धते वर्धमाने सविशेषम् ।
सागरशशिनो राजते जगति प्रतिपन्ननिर्वहणम् ।।

७६. पडिवन्नं जेण समं पुव्वणिओएण होइ जीवस्स ।
दूरट्ठिओ न दूरे जह चंदो कुमुयसंडाणं ।। ४ ।।
प्रतिपन्न येन समं पूर्वनियोगेन भवति जीवस्य ।
दूरस्थितो न दूरे यथा चन्द्रः कुमुदषण्डानाम् ।।

७७. दूरट्ठिया न दूरे सज्जणचित्ताण पुव्वमिलियाणं ।
गयणट्ठिओ वि चंदो आसासइ कुमुयसंडाइं ।। ५ ।।
दूरस्थिता न दूरे सज्जनचित्ताना पूर्वमिलितानाम् ।
गगनस्थितोऽपि चन्द्र आश्वासयति कुमुदषण्डानि ।।

७२. कुलीन व्यक्ति का वाग्बन्धन (बात मे बँध जाना) सुदृढ़ लौह-शृंखला तथा अन्य विविध पाशों के बन्धन से भी अधिक (सुदृढ़) है ॥ ८ ॥

७—नेह-वज्जा (स्नेह-पद्धति)

७३. *पूर्णिमा चन्द्रमा को धवल बना देती है और चन्द्रमा पूर्णिमा को। मैं समझता हूँ कि जिन मित्रों के सुख-दुःख समान होते हैं वे पुण्य के विना नही प्राप्त होते ॥ १ ॥

७४. केवल ज्योत्स्ना ने तीनों लोकों में स्नेह प्रकाशित किया है, जो चन्द्रमा के क्षीण हो जाने पर क्षीण हो जाती है और बढ़ने पर बढ जाती है ॥ २ ॥

७५. संसार मे सागर और चन्द्रमा का स्वीकृत-प्रणय-निर्वाह सर्वदा सुशोभित होता है, क्योंकि सागर चन्द्रमा के क्षीण होने पर क्षीण हो जाता है और बढने पर विशेष-रूप से बढ़ जाता है ॥ ३ ॥

७६. पूर्वकृत-कर्म की प्रेरणा से जीव जिस के साथ प्रीति का सम्बन्ध जोड़ लेता है वह दूर रहने पर भी दूर नही रहता, जैसे चन्द्रमा कुमुदवन से ॥ ४ ॥

७७. पूर्व-मिलित सज्जनों के चित्तों से दूर रहने पर भी कोई दूर नही रहता। आकाश मे रह कर भी चन्द्रमा कुमुद वनों को आश्वस्त कर देता है ॥ ५ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

७८. दिट्ठे वि हु होइ सुहं जइ वि न पावंति अंगसंगाइं ।
दूरट्ठिओ वि चंदो सुणिव्वुइं कुणइ कुमुयाणं ।। ६ ।।
दृष्टेऽपि खलु भवति सुखं यद्यपि न प्राप्नुवन्त्यङ्गसंगान् ।
दूरस्थितोऽपि चन्द्रः सुनिर्वृतिं करोति कुमुदानाम् ।

७९. एमेव कह वि कस्स वि केण वि दिट्ठेण होइ परिओसो ।
कमलायराण रइणा किं कज्जं जे वियसंति ।। ७ ।।
एवमेव कथमपि कस्यापि केनापि दृष्टेन भवति परितोषः ।
कमलाकराणा रविणा किं कार्यं येन विकसन्ति ॥

८०. कत्तो उग्गमइ रई कत्तो वियसंति पकयवणाइ ।
सुयणाण जए नेहो न चलइ दूरट्ठियाणं पि ।। ८ ।।
कुत उद्गच्छति रविः कुतो विकसन्ति पङ्कजवनानि ।
सुजनाना जगति स्नेहो न चलति दूरस्थितानामपि ॥

८. नीइवज्जा [नीतिपद्धतिः]

८१. जं जस्स मम्मभेयं चालिज्जंतं च दूमए हियय ।
त तस्स कण्णकडुय कुलेसु जाया न जपंति ।। १ ।।
यद्यस्य मर्मभेदम् उच्यमानं च दूनयति हृदयम् ।
तत्तस्य कर्णकटुकं कुलेषु जाता न जल्पन्ति ॥

८२. संतेहि असतेहि य परस्स कि जंपिएहि दोसेहिं ।
अत्थो जसो न लब्भइ सो वि अमित्तो कओ होइ ।। २ ।।
सद्भिरसद्भिश्च परस्य किं जल्पितैर्दोषैः ।
अर्थो यशो न लभ्यते स चामित्रः कृतो भवति ॥

८३. अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वं ।
अप्पहियपरहियाणं अप्पहियं चेव कायव्वं ।। ३ ।।
आत्महितं कर्तव्यं यदि शक्यते परहितं च कर्तव्यम् ।
आत्महितपरहितयोरात्महितं चैव कर्तव्यम् ॥

७८. प्रेमी यद्यपि अंगों का स्पर्श नही पाते है तथापि देख कर भी उन्हें सुख मिल जाता है। चन्द्रमा सुदूर स्थित होने पर भी कुमुद-कानन को आह्लादित कर देता है[1] ॥ ६ ॥

७९. किसी को देख कर भी किसी को अकारण ही सुख मिल जाता है। सूर्य से कमलो का क्या प्रयोजन है जो (उसे देख कर) विकसित हो जाते है ॥ ७ ॥

८०. सूर्य कहां निकलता है और कमल कहां खिलते हैं। संसार में सुजनो का प्रेम दूर रहने पर भी विचलित नही होता ॥ ८ ॥

८—नीइवज्जा (नीति-पद्धति)

८१. जो किसी के मर्म का भेदन करने वाला है और कहने पर हृदय को दुःख देता है, कुलीन व्यक्ति उसे उससे नही कहते ॥ १ ॥

८२. दूसरो के विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषो को कहने से क्या लाभ ? न तो अर्थ मिलता है और न यश। अपितु उस को भी शत्रु बना लिया जाता है ॥ २ ॥

८३. अपना हित करना चाहिये और हो सके तो परहित करना चाहिये। अपने हित और पराये हित मे (यदि किसी एक को करना पडे तो) अपना हित ही करना चाहिए ॥ ३ ॥

---

१. अमिलंताण व दीसइ णेहो दूरे वि मठियाणं पि।
जइ वि हु रवि गयणयले इह तह वि लहइ सुहु णलिणी ॥
—नयनन्दी

८४. पुरिसे सच्चसमिद्धे अलियपमुक्के सहावसंतुट्ठे ।
तवधम्मणियममइए विसमा वि दसा समा होइ ॥ ४ ॥

पुरुषे सत्यसमृद्धेऽलीकप्रमुक्ते स्वभावसन्तुष्टे ।
तपोधर्मनियममये विषमापि दशा समा भवति ॥

८५. सीलं वरं कुलाओ दालिद्दं भव्वयं च रोगाओ ।
विज्जा रज्जाउ वरं खमा वरं सुट्ठु वि तवाओ ॥ ५ ॥

शीलं वरं कुलात् दारिद्र्यं भव्यं च रोगात् ।
विद्या राज्याद्वरं क्षमा वरं सुष्ठ्वपि तपसः ॥

८६. सील वर कुलाओ कुलेण किं होइ विगयसीलेण ।
कमलाइ कद्दमे संभवति न हु हुति मलिणाइ ॥ ६ ॥

शीलं वरं कुलात् कुलेन कि भवति विगतशीलेन ।
कमलानि कर्दमे संभवन्ति न खलु भवन्ति मलिनानि ॥

८७ जं जि खमेइ समत्थो धणवतो जं न गव्वमुव्वहइ ।
जं च सविज्जो नमिरो तिसु तेसु अलकिया पुहवी ॥ ७ ॥

यत् खलु क्षमते समर्थो धनवान् यन्न गर्वमुद्वहति ।
यच्च सविद्यो नम्रस्त्रिभिस्तैरलङ्कृता पृथ्वी ॥

८८ छंदं जो अणुवट्टइ मम्म रक्खइ गुणे पयासेइ ।
सो नवरि माणुमाण देवाणं वि वल्लहो होइ ॥ ८ ॥

छन्दं योऽनुवर्तते मर्म रक्षति गुणान् प्रकाशयति ।
स न केवलं मानुषाणां देवानामपि वल्लभो भवति ॥

८९. छणवंचणेण वरिसो नासइ दिवसो कुभोयणे भुत्ते ।
कुकलत्तेण य जम्मो नासइ धम्मो अहम्मेण ॥ ९ ॥

क्षणवञ्चनेन वर्षो नश्यति दिवसः कुभोजने भुक्ते ।
कुकलत्रेण च जन्म नश्यति धर्मोऽधर्मेण ॥

८४. सत्यनिष्ठ, असत्यरहित, स्वभाव से सन्तुष्ट और तप, धर्म एवं नियम से युक्त पुरुष की विषम दशा भी सम हो जाती है ॥ ४ ॥

८५. कुल से शील श्रेष्ठ है, रोग से दारिद्रय श्रेष्ठ है, विद्या राज्य से श्रेष्ठ है और क्षमा बड़े से बड़े तप से भी श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

८६. कुल से शील श्रेष्ठ है। शीलच्युत कुल से क्या लाभ ? कमल पंक मे जन्म लेता है परन्तु मलिन नही होता ॥ ६ ॥

८७. जो मनुष्य समर्थ होने पर भी क्षमा करता है, धनवान् होने पर भी गर्व नही धारण करता और जो विद्वान् होने पर भी विनम्र रहता है–इन तीनों से पृथ्वी अलंकृत होती है[१] ॥७॥

८८. जो छन्दानुवर्तन करता है (अर्थात् किसी को इच्छा के अनुकूल कार्य करता है), रहस्य की रक्षा करता है और गुणों को प्रकाशित करता है, *वह केवल मनुष्यों का नही देवों का भी प्रिय हो जाता है ॥ ८ ॥*

८९. उत्सव न करने से वर्ष नष्ट हो जाता है और कुभोजन से दिन। कुकलत्र (दुष्ट स्त्री) से जन्म नष्ट हो जाता है और अधर्म से धर्म ॥ ९ ॥

---

१. इसका अन्तिम चरण हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण में उद्धृत किया है।

९०. *छन्नं धम्मं पयडं च पोरिसं परकलत्तवंचणयं ।
गंजणरहिओ जम्मो राढाइत्ताण संपडइ ।। १० ।।
छन्नो धर्मः प्रकटं च पौरुषं परकलत्रवञ्चनम् ।
कलङ्करहितं जन्म भव्यात्मनां संपद्यते ।।

९. धीरवज्जा [धीरपद्धतिः]

९१. अप्पाण अमुयता जे आरभति दुग्गमं कज्जं ।
परमुहपलोइयाणं ताण कह होइ जयलच्छी ।। १ ।।
आत्मानममुञ्चन्तो य आरभन्ते दुर्गमं कार्यम् ।
परमुखावलोकिना तेषा कथं भवति जयलक्ष्मीः ।।

९२. सिग्घं आरुह कज्जं पारद्धं मा कहं पि सिढिलेसु ।
पारद्धसिढिलियाइ कज्जाइ पुणो न सिज्झंति ।। २ ।।
शीघ्रमारोह कार्यं प्रारब्धं मा कथमपि शिथिलय ।
प्रारब्धशिथिलितानि कार्याणि पुनर्न सिध्यन्ति ।।

९३. अच्छउ ता इयरजणो अंगे च्चिय जाइ पंच भूयाइं ।
ताह चिय लज्जिज्जइ पारद्धं परिहरंतेण ।। ३ ।।
आस्तां तावदितरजनोऽङ्ग एव यानि पञ्च भूतानि ।
तेभ्य एव लज्ज्यते प्रारब्धं परिहरता ।।

९४. झीणविहवो वि सुयणो सेवइ रन्नं न पत्थए अन्नं ।
मरणे वि अइमहग्घं न विक्किणइ माणमाणिक्कं ।। ४ ।।
क्षीणविभवोऽपि सुजनः सेवतेऽरण्यं न प्रार्थयतेऽन्यम् ।
मरणेऽप्यतिमहार्घं न विक्रीणाति मानमाणिक्यम् ।।

९५ बे मग्गा भुवणयले माणिणि माणुन्नयाण पुरिसाण ।
अहवा पावंति सिरिं अहव भमंता समप्पंति ।। ५ ।।
द्वौ मार्गौ भुवनतले मानिनि मानोन्नतानां पुरुषाणाम् ।
अथवा प्राप्नुवन्ति श्रियमथवा भ्रमन्तः समाप्यन्ते ।।

९०. *गुप्तधर्म, प्रकटपराक्रम, परस्त्री-त्याग और निष्कलंक जन्म—ये भव्यात्माओं को ही प्राप्त होते है ॥ १० ॥

९. धीर-वज्जा (धीर-पद्धति)

९१. अपने प्राणों की चिन्ता विना छोड़े (अर्थात् स्वयं कष्ट न उठाते हुए), जो लोग दुर्गम (दु:साध्य) कार्य प्रारम्भ कर देते है, उन दूसरों का मुँह जोहने वालों को लक्ष्मी कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ १ ॥

९२. कार्य का आरम्भ शीघ्र करो, प्रारब्ध (अर्थात् प्रारम्भ किए हुए) कार्य मे किसी भी प्रकार की शिथिलता मत करो। प्रारम्भ किए हुए कार्यो मे शिथिलता आ जाने पर वे पुनः पूर्ण नही होते है ॥ २ ॥

९३ प्रारब्ध (प्रारम्भ किए हुए) कार्य को छोड़ते समय अन्य लोग तो दूर रहे , अपने ही शरीर मे जो पंचभूत है, उन्ही से लाज लगती है ॥ ३॥

९४. सुजन धनहीन होने पर भी अरण्य का सेवन करता है अर्थात् वन मे चला जाता है। किन्तु अन्य से याचना नही करता। वह मर जाने पर भी स्वाभिमान-रूपी अमूल्य माणिक्य को नही बेचता ॥ ४ ॥

९५. हे मानिनि ! जगत् में मानोन्नत (स्वाभिमानी) पुरुषों के दो मार्ग हैं—या तो लक्ष्मी प्राप्त करते है या परिभ्रमण करते हुए समाप्त हो जाते है (अथवा अपने को समर्पित कर देते है) ॥ ५ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

९६. बेण्णि वि हुंति गईओ साहसवंताण धीरपुरिसाणं ।
वेल्लहलकमलहत्था रायसिरी अहव पव्वज्जा ।। ६ ।।

द्वे अपि भवतो गती साहसवतां धीरपुरुषाणाम् ।
विकसितकमलहस्ता राजश्रीरथवा प्रव्रज्या ।।

९७. अहवा मरंति गुरुवसणपेल्लिया खंडिऊण नियजीह ।
नो गतूण खलाणं चवंति दीणक्खरं धीरा ।। ७ ।।

अथवा म्रियन्ते गुरुव्यसनप्रेरिताः खण्डयित्वा निजजिह्वाम् ।
नो गत्वा खलाना जल्पन्ति दीनाक्षरं धीराः ।।

९८. अह सुप्पइ पियमालिंगिऊण उत्तुंगथोरथणवट्ठे ।
अह नरकरककालसंकुले भीसणमसाणे ।। ८ ।।

अथ सुप्यते प्रियामालिङ्ग्योत्तुङ्गपृथुस्तनपृष्ठे ।
अथ नरकरङ्ककङ्कालसंकुले भीषणश्मशाने ।।

९९. अह भुजइ सह पियकामिणीह कच्चोलथालसिप्पीहिं ।
अहवा विमलकवाले भिक्ख भमिऊण पेयवणे ।। ९ ।।

अथ भुङ्क्ते सह प्रियकामिनीभिः कच्चोलस्थालशुक्तिभिः ।
अथवा विमलकपाले भिक्षा भ्रान्त्वा प्रेतवने ।।

१००. नमिऊण जं विढप्पइ खलचलणं तिहुयण पि किं तेण ।
माणेण ज विढप्पइ तण पि तं निव्वुइं कुणइ ।। १० ।।

नत्वा यदर्ज्यते खलचरणं त्रिभुवनमपि किं तेन ।
मानेन यदर्ज्यते तृणमपि तन्निर्वृतिं करोति ।।

१०१. ते धन्ना ताण नमो ते गरुया माणिणो थिरारंभा ।
जे गरुयवसणपडिपेल्लिया वि अन्नं न पत्थंति ।। ११ ।।

ते धन्यास्तेभ्यो नमस्ते गुरवो मानिनः स्थिरारम्भाः ।
ये गुरुव्यसनप्रतिप्रेरिता अप्यन्यं न प्रार्थयन्ते ।।

९६. साहसी धीर पुरुषों की दो गतियाँ होती हैं—हाथ में सुन्दर (या कोमल) कमल को धारण करने वाली लक्ष्मी की प्राप्ति अथवा प्रव्रज्या ॥ ६ ॥

९७. धीर पुरुष भारी कष्ट (दु:ख) से प्रेरित होने पर (या पीडित होने पर) अपनी जिह्वा काट कर मर भले ही जाय परन्तु खलों के आगे जाकर दीन वाणी नही बोलता है ॥ ७ ॥

९८ (धीर पुरुष) या तो प्रिया का आलिंगन कर उन्नत एवं स्थूल उरोजो के फलक पर शयन करना है या नर-कपालों और कंकालों से भरे भयानक श्मशान मे ॥ ८ ॥

९९. धीर पुरुष या तो सुन्दर कामिनियों के साथ कच्चोलों (प्यालों), थालियो और शुक्तिपात्रों मे भोजन करता है या भिक्षा माँग कर प्रेतवन (श्मशान) मे उज्ज्वल नरकपाल मे (भोजन करता है) ॥ ९ ॥

१००. खलों के चरणों मे प्रणत हो कर यदि तीनों लोकों की संपत्ति अर्जित कर ली जाय, तो उससे क्या ? सम्मान से यदि तृण भी अर्जित हो, तो वह सुख देता है ॥ १० ॥

१०१ जो गुरुव्यसन (दारुण दु:ख) से पीडित होने पर भी अन्य से याचना नहीं करते, वे उद्योग में स्थिर रहने वाले, गौरवशाली और स्वाभि-मानी पुरुष धन्य है, उन्हे नमस्कार है ॥ ११ ॥

१०२. तुंगो च्चिय होइ मणो मणंसिणो अंतिमासु वि दसासु ।
अत्थंतस्स वि रइणो किरणा उद्धं चिय फुरंति ॥ १२ ॥

तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमास्वपि दशासु ।
अस्तमयमानस्यापि रवेः किरणा ऊर्ध्वमेव स्फुरन्ति ॥

१०३. ता तुंगो मेरुगिरी मयरहरो ताव होइ दुत्तारो ।
ता विसमा कज्जगई जाव न धीरा पवज्जंति ॥ १३ ॥

तावत्तुङ्गो मेरुगिरिर्मकरालयस्तावद्भवति दुस्तरः ।
तावद्विषमा कार्यगतिर्यावन्न धीराः प्रपद्यन्ते ॥

१०४. ता वित्थिण्ण गयणं ताव च्चिय जलहरा अइगहीरा ।
ता गरुया कुलसेला जाव न धीरेहि तुल्लंति ॥ १४ ॥

तावद्विस्तीर्णं गगनं तावदेव जलधरा अतिगभीराः ।
तावद्गुरुकाः कुलशैला यावन्न धीरैस्तुल्यन्ते ॥

१०५. मेरू तिणं व सग्गो घरंगणं हत्थछित्तं गयणयलं ।
वाहलिया य समुद्दा साहसवताण पुरिसाण ॥ १५ ॥

मेरुस्तृणमिव स्वर्गो गृहाङ्गणं हस्तस्पृष्टं गगनतलम् ।
क्षुद्रनद्यः समुद्राः साहसवतां पुरुषाणाम् ॥

१०६. *संघडियघडियविघडियघडंतविघडतसंघडिज्जंत ।
अवहत्थिऊण दिव्वं करेइ धीरो समारद्धं ॥ १६ ॥

संघटितघटितविघटितघटमानविघटमानसंघट्यमानम् ।
अपहस्त्य दैवं करोति धीरः समारब्धम् ॥

१०. साहसवज्जा [साहसपद्धतिः]

१०७. साहसमवलंबंतो पावइ हियइच्छियं न संदेहो ।
जेणुत्तमंगमेत्तेण राहुणा कवलिओ चंदो ॥ १ ॥

साहसमवलम्बमानः प्राप्नोति हृदयेप्सितं न संदेहः ।
येनोत्तमाङ्गमात्रेण राहुणा कवलितश्चन्द्रः ॥

१०२. मनस्वियों का मन अन्तिम दशा में भी उन्नत ही रहता है। अस्त होते समय भी सूर्य की किरणें ऊपर ही चमकती हैं॥ १२॥

१०३. जब तक धीर पुरुष कोई कार्य करना स्वीकार नहीं कर लेते, तभी तक मेरुपर्वत ऊँचा है, समुद्र दुस्तर है और तभी तक कार्य-सिद्धि में बाधायें रहती हैं[1] ॥ १३ ॥

१०४. आकाश तभी तक विस्तीर्ण है, समुद्र तभी तक अति अगाध है और कुलशैल तभी तक बड़े हैं, जब तक उनकी तुलना धीरों से नहीं की जाती॥ १४॥

१०५. साहसी पुरुषों के लिए मेरु तृण के समान, स्वर्ग घर के आँगन के समान, आकाश हाथ से छुये हुए के समान और समुद्र क्षुद्र नदियों के समान हो जाता है॥ १५॥

१०६. *जो पहले साथ था या बना था या बिगड़ गया था एवं अब जो बन रहा है या बिगड़ रहा है या साथ दे रहा है, उस भाग्य को छोड़ कर धीर पुरुष समारब्ध कार्य को कर डालता है॥ १६॥

१०—साहस-वज्जा (साहस-पद्धति)

१०७. साहस का अवलम्बन करता हुआ मनुष्य मनोवांछित फल प्राप्त करता है—इस में सन्देह नहीं। राहु के केवल मस्तक ही था (शरीर हाथ, पाँव आदि नहीं थे) फिर भी चन्द्रमा को निगल गया॥ १॥

१. यह गाथा शीलाककृत चउपन्नमहापुरिसचरियं में भी है (२९।३)।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

१०८. तं किं पि साहसं साहसेण साहंति साहससहावा ।
जं भाविऊण दिव्वो परंमुहो धुणइ नियसीसं ।। २ ।।
तत् किमपि साहसं साहसेन साधयन्ति साहसस्वभावाः ।
यद् भावयित्वा दैवं पराङ्मुखं धूनयति निजशिरः ।।

१०९. थरथरइ धरा खुब्भंति सायरा होइ विम्हलो दइवो ।
असमववसायसाहससंलद्धजसाण धीराणं ।। ३ ।।
कम्पते धरा क्षुभ्यन्ति सागरा भवति विह्वलं दैवम् ।
असमव्यवसायसाहससंलब्धयशोभ्यो धीरेभ्यः ।।

११०. *अगणियसमविसमाणं साहसतुंगे समारुहंताणं ।
रक्खइ धीराण मणं आसन्नभयाउलो दइवो ।। ४ ।।
अगणितसमविषमाणां साहसतुङ्गे समारोहताम् ।
रक्षति धीराणा मन आसन्नभयाकुलं दैवम् ।।

१११. तं कि पि कम्मरयणं धीरा ववसति साहसवसेण ।
जं बंभहरिहराण वि लग्गइ चित्ते चमक्कारो ।। ५ ।।
तत्किमपि कर्मरत्नं धीरा व्यवस्यन्ति साहसवशेन ।
यद् ब्रह्महरिहराणामपि लगति चित्ते चमत्कारः ।।

११२. धीरेण समं समसीसियाइ रे दिव्व आरुहंतस्स ।
होहिइ कि पि कलंकं धुव्वंतं जं न फिट्टिहिइ ।। ६ ।।
धीरेण समं समशीर्षिकायां रे दैवारोहतः ।
भविष्यति कोऽपि कलङ्को धाव्यमानो यो न यास्यति ।।

११३. जह जह न समप्पइ विहिवसेण विहडतकज्जपरिणामो ।
तह तह धीराण मणे वड्ढइ बिउणो समुच्छाहो ।। ७ ।।
यथा यथा न समाप्यते विधिवशेन विघटमानकर्मपरिणामः ।
तथा तथा धीराणां मनसि वर्धते द्विगुणः समुत्साहः ।।

१०८. साहसपूर्ण स्वभाव वाले पुरुष अपने साहस से कुछ ऐसा साहसमय कार्य सिद्ध कर लेते है कि जिसे देख कर प्रतिकूल भाग्य (पराजय के कारण) अपना सिर धुनने लगता है ॥ २ ॥

१०९. अथक परिश्रम और साहस से यश प्राप्त करने वाले धीर पुरुषों से पृथ्वी थर्राती है, सागर क्षुब्ध हो जाते हैं और भाग्य विस्मित हो जाता है ॥ ३ ॥

११०. *निकटवर्ती (पराजय जन्य) भय से आकुल देव सम एवं विषम (अनुकूल एवं प्रतिकूल) अवस्थाओं को न गिनने वाले (परवाह न करने वाले) एवं साहस के समुन्नत शिखर पर आरोहण करने वाले धीर पुरुषो का मन रखता है (अनुकूल कार्य करने लगता है या उन के संकल्प को पूर्ण करता है) ॥ ४ ॥

१११. धीरजन अपने साहस से कर्मरत्न का कुछ ऐसा व्यवसाय (उद्योग या व्यापार) करते है जो शिव और विष्णु के मनों को भी आश्चर्य लगता है ॥ ५ ॥

११२. अरे भाग्य ! धीर के साथ स्पर्धा करने पर (तुझे) कुछ ऐसा कलंक लगेगा जो धोने पर भी नहीं मिटेगा ॥ ६ ॥

१११. जैसे-जैसे भाग्यवश बिगड़ते हुए कार्य का परिणाम[1] नहीं प्राप्त होता, वैसे-वैसे धीरों के मन में दूना उत्साह बढ़ने लगता है ॥ ७ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

१ परिणाम, यहाँ सफलता सूचक है ।

११४. फलसंपत्तीइ समोणयाइ तुंगाइ फलविपत्तीए ।
हिययाइ सुपुरिसाणं महातरूणं व सिहराइं ॥ ८ ॥
फलसंपत्त्या समवनतानि तुङ्गानि फलविपत्त्या ।
हृदयानि सुपुरुषाणां महातरूणामिव शिखराणि ।

११५. हियए जाओ तत्थेव वड्ढिओ नेय पयडिओ लोए ।
ववसायपायवो सुपुरिसाण लक्खिज्जइ फलेहिं ॥ ९ ॥
हृदये जातस्तत्रैव वर्धितो नैव प्रकटितो लोके ।
व्यवसायपादपः सुपुरुषाणा लक्ष्यते फलैः ॥

११६. ववसायफलं विहवो विहवस्स य विहलजणसमुद्धरणं ।
विहलुद्धरणेण जसो जसेण भण किं न पज्जत्तं ॥ १० ॥
व्यवसायफलं विभवो विभवस्य च विह्वलजनसमुद्धरणम् ।
विह्वलोद्धरणेन यशो यशसा भण किं न पर्याप्तम् ॥

११७. आढत्ता सप्पुरिसेहि तुंगववसायदिन्नहियएहिं ।
कज्जारंभा होहिंति निप्फला कह चिरं कालं ॥ ११ ॥
आरब्धाः सत्पुरुषैस्तुङ्गव्यवसायदत्तहृदयैः ।
कार्यारम्भा भविष्यन्ति निष्फलाः कथं चिरं कालम् ॥

११८. न महुमहणस्स वच्छे मज्झे कमलाण नेय खीरहरे ।
ववसायसायरे सुपुरिसाण लच्छी फुडं वसइ ॥ १२ ॥
न मधुमथनस्य वक्षसि मध्ये कमलानां नैव क्षीरनिधौ ।
व्यवसायसागरे सुपुरुषाणां लक्ष्मी स्फुटं वसति ॥

११९. तद्दियहारभवियावडाण मित्तेक्ककज्जरसियाणं ।
रविरहतुरयाण व सुपुरिसाण न हु हिययवीसामो ॥१३॥
तद्दिवसारम्भव्यापृताना मित्रैककार्यरसिकानाम् ।
रविरथतुरगाणामिव सुपुरुषाणा न खलु हृदयविश्रामः ॥

११४. सत्पुरुषों के हृदय बड़े वृक्षों के शिखर के समान ऐश्वर्य प्राप्त होने पर (वृक्ष-पक्ष में फल लगने पर) विनम्र (वृक्ष-पक्ष में अवनत) और ऐश्वर्यहीन होने पर (वृक्ष-पक्ष में फल झड़ जाने पर) उन्नत हो जाता है (वृक्ष-पक्ष मे फल न रहने पर डालियाँ ऊपर चली जाती है) ॥ ८ ॥

११५. सत्पुरुषों का व्यवसायरूपी वृक्ष हृदय मे उत्पन्न होता है, वहीं बढ़ता है, लोक मे प्रकट नहीं होता, जब उस का फल (परिणाम) सम्मुख आता है तभी उसे लोग जान पाते है ॥ ९ ॥

११६. व्यवसाय का फल है विभव और विभव का फ़ल है विह्वल जनों का उद्धार। विह्वल जनों के उद्धार से यश प्राप्त होता है और यश से कहो क्या नही मिलता? ॥ १० ॥

११७. जिन का मन उन्नत व्यवसाय (कार्य) में लग चुका है, उन सत्पुरुषों के द्वारा आरम्भ किए हुए कार्य चिरकाल तक कैसे निष्फल रह सकते है ॥ ११ ॥

११८. लक्ष्मी न तो विष्णु के वक्षःस्थल पर रहती है, न कमलों के मध्य में और न क्षीरसिन्धु मे। वह तो प्रकट रूप से सत्पुरुषों के व्यवसाय-सागर मे निवास करती है ॥ १२ ॥

११९. सूर्य के रथ के घोड़ों के समान सत्पुरुषों को हार्दिक विश्राम नही ही मिलता है। सूर्य के रथ के घोड़े उस दिन का आरम्भ करने मे संलग्न रहते हैं और सत्पुरुष उसी दिन आरम्भ किए हुए कार्य में व्यापृत रहते है। सूर्य के रथ के घोड़ो को एक मात्र सूर्य के कार्य में ही आनन्द मिलता है तो सत्पुरुषों को मित्र के एक मात्र कार्य को पूर्ण करने में ही आह्लाद मिलता है ॥ १३ ॥

११. दिव्ववज्जा [दैवपद्धतिः]

१२०. अत्थो विज्जा पुरिसत्तणं च अन्नाइ गुणसहस्साइं ।
दिव्वायत्ते कज्जे सव्वाइ नरस्स विहडंति ।। १ ।।

अर्थो विद्या पौरुषं चान्यानि गुणसहस्राणि ।
दैवायत्ते कार्ये सर्वाणि नरस्य विघटन्ते ।।

१२१. *सत्थत्थे पडियस्स वि मज्झेण एइ किं पि तं कज्जं ।
जं न कहिउ न सहिउं न चेव पच्छाइउं तरइ ।। २ ।।

शास्त्रार्थे पतितस्यापि मध्येनैति तत् किमपि कार्यम् ।
यन्न कथयितु न सोढु न चैव प्रच्छादयितु शक्नोति ।।

१२२. जइ विसइ विसमविवरं लंघइ उयहिं करेइ ववसायं ।
तह वि हु फलं न पावइ पुरिसो दिव्वे पराहुत्ते ।। ३ ।।

यदि विशति विषमविवरे लङ्घयत्युदधिं कुरुते व्यवसायम् ।
तथापि खलु फलं न प्राप्नोति पुरुषो दैवे पराग्भूते ।।

१२३. नग्घंति गुणा विहडंति बधवा वल्लहा विरज्जंति ।
ववसाओ न समप्पइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ।। ४ ।।

नार्घन्ति गुणा विघटन्ते बान्धवा वल्लभा विरज्यन्ते ।
व्यवसायो न समाप्यते नरस्य दैवे पराग्भूते ।।

१२४. जं जं डालं लंबइ हत्थे गहिऊण वीसमइ जत्थ ।
सा सा तडत्ति तुट्टइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ।। ५ ।।

या यां शाखा लम्बते हस्ते गृहीत्वा विश्राम्यति यस्याम् ।
सा सा तटदिति त्रुट्यति नरस्य दैवे पराग्भूते ।।

१२५. जं नयणेहिं न दीसइ हियएण वि जं न चिंतियं कह वि ।
तं तं सिरम्मि निवडइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ।। ६ ।।

यन्नयनाभ्यां न दृश्यते हृदयेनापि यन्न चिन्तितं कथमपि ।
तत्तच्छिरसि निपतति नरस्य दैवे पराग्भूते ।।

११—दिव्व-वज्जा (दैवपद्धति)

१२०. जब मनुष्य का कोई कार्य भाग्याधीन रहता है तब अर्थ, विद्या, पौरुष और अन्य सभी सहस्रों गुण व्यर्थ हो जाते हैं ॥ १ ॥

१२१. *प्रशंसनीय प्रयोजन (शस्तार्थ) में पड़े हुये (लगे हुये) मनुष्य को भी बीच में कुछ वह कार्य आ जाता है जिसे वह न कह सकता है, न सह सकता है और न छिपा सकता है ॥ २ ॥

१२२. दैव के पराङ्मुख होने पर यदि पुरुष विषम विवर में प्रवेश करता है, समुद्र को पार करता है और व्यवसाय करता है तो भी उसका फल नही पाता ॥ ३ ॥

१२३. मनुष्य का भाग्य विपरीत होने पर उसके गुणों का मूल्य नहीं रह जाता, बान्धव साथ छोड़ देते है, प्रियजन विरक्त हो जाते हैं और व्यवसाय की समाप्ति नही होती (उसका काम पूरा नहीं हो पाता है) ॥ ४ ॥

१२४. मनुष्य का भाग्य विपरीत हो जाने पर वह जिस-जिस डाली को हाथ से पकड़कर विश्राम करता है, वही-वही तड़तडा कर टूट जाती है ॥ ५ ॥

१२५. जब मनुष्य का भाग्य विपरीत हो जाता है तब वे-वे आपत्तियाँ सिर पर पड़ती हैं जिन्हें न तो आँखों से देखा गया है और न मन में जिनको कल्पना ही की गई है ॥ ६ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

१२—विहिवज्जा [विधिपद्धतिः]

१२६. खंडिज्जइ विहिणा ससहरो वि सूरस्स होइ अत्थमणं ।
हा दिव्वपरिणईए कवलिज्जइ को न कालेणं ।। १ ।।

खण्ड्यते विधिना शशधरोऽपि सूर्यस्य भवत्यस्तमनम् ।
हा दैवपरिणत्या कवलीक्रियते को न कालेन ।।

१२७. *को एत्थ सया सुहिओ कस्स व लच्छी थिराइ पेम्माइं ।
कस्स व न होइ खलणं भण को हु न खंडिओ विहिणा ।।२।।

कोऽत्र सदा सुखितः कस्य वा लक्ष्मीः स्थिराणि प्रेमाणि ।
कस्य वा न भवति स्खलनं भण कः खलु न खण्डितो विधिना ।।

१२८. उन्नय नीया नीया वि उन्नया हुंति तक्खण च्चेव ।
विहिपरिणामियकज्जं हरिहरबम्हा न याणंति ।। ३ ।।

उन्नता नीचा नीचा अप्युन्नता भवन्ति तत्क्षणादेव ।
विधिपरिणामितकार्यं हरिहरब्रह्माणो न जानन्ति ।।

१२९. विहिणा जं चिय लिहियं नलाडवट्टीइ तेण दइवेण ।
पच्छा सो वि पसन्नो अन्नह करिउं न हु समत्थो ।। ४ ।।

विधिना यदेव लिखितं ललाटपट्टे तेन दैवेन ।
पश्चात्सोऽपि प्रसन्नोऽन्यथा कर्तुं न खलु समर्थः ।।

१३०. किं करइ किर वराओ साहसववसायमाणगरुओ वि ।
पुरिसो भग्गपयावो विहिणा विवरीयरूवेण ।। ५ ।।

किं करोति किल वराकः साहसव्यवसायमानगुरुरपि ।
पुरुषो भग्नप्रतापो विधिना विपरीतरूपेण ।।

१३१. बेण्णि वि महणारंभे पेच्छह जं पुव्वकम्मपरिणामो ।
उप्पज्जइ हरह विसं कण्हस्स घणत्थणा लच्छी ।। ६ ।।

द्वे अपि मथनारम्भे प्रेक्षध्वं यत् पूर्वकर्मपरिणामः ।
उत्पद्यते हरस्य विषं कृष्णस्य घनस्तनी लक्ष्मीः ।।

१२—विहि-वज्जा (विधि-पद्धति)

१२६ विधि के द्वारा चन्द्रमा भी खंडित होता है और सूर्य का भी अस्तमन होता है। हाय, भाग्य की परिणति से काल किसे नहीं खा जाता ॥ १ ॥

१२७. *यहाँ कौन सदा सुखी है और लक्ष्मी भी किसे सदैव प्रेम प्रदान करती है ? किसका स्खलन नहीं होता है ? विधि ने किसे नहीं खंडित किया ? ॥ २ ॥

१२८. विधिवश परिणत होने वाले कार्यों को ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी नही जानते। उन्नत भी नीच और नीच भी क्षण भर में उन्नत हो जाते हैं ॥ ३ ॥

१२९. भाग्य से विधि ने जो भी ललाट पर लिख दिया, उसे पश्चात् प्रसन्न होने पर वह भी अन्यथा करने मे समर्थ नही है ॥ ४ ॥

१३०. साहस से भारी उद्योग करने वाला बेचारा पुरुष भी क्या करता है ? उसके प्रताप को विपरीत-रूप-धारी विधि भग्न कर देता है ॥ ५ ॥

१३१. पूर्वकृतकर्म का जो परिणाम होता है उसे देखिये—शिव और विष्णु, दोनों सागर-मन्थन में आरम्भ से ही उपस्थित थे। शिव को विष मिला और विष्णु को पीन पयोधरा लक्ष्मी[१] ॥ ६ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

१. मैंने वज्जालग्ग की गाथाओं के भावो को लेकर कतिपय सवैये लिखे हैं। पाठको के मनोरजन के लिये अनुवाद के साथ उन्हें भी दे रहा हूँ—

दोनो ने सागर मन्थन मे श्रम एक ही साथ समान लगाया।
देखिये किन्तु पुराकृत कर्म का क्या फल दोनो के सामने आया।
हाथ लगी हरि के कमला जिसकी छवि देख मयंक लजाया।
पीने को भोले महेश ने अन्त मे हाय दुरन्त हलाहल पाया ॥

१३२. विहिविहियं चिय लब्भइ अमयं देवाण महुमहे लच्छी ।
रयणायरम्मि महिए हरस्स भाए विसं जायं ।। ७ ।।
विधिविहितमेव लभ्यतेऽमृतं देवानां मधुमथने लक्ष्मीः ।
रत्नाकरे मथिते हरस्य भागे विषं जातम् ॥

१३. दीणवज्जा [दीनपद्धतिः]

१३३. परपत्थणापवन्नं मा जणणि जणेसु एरिसं पुत्तं ।
उयरे वि मा धरिज्जसु पत्थणभंगो कओ जेण ।। १ ।।
परप्रार्थनाप्रपन्नं मा जननि जनयेदृशं पुत्रम् ।
उदरेऽपि मा धारय प्रार्थनाभङ्गः कृतो येन ॥

१३४ ता रूवं ताव गुणा लज्जा सच्चं कुलक्कमो ताव ।
ताव च्चिय अहिमाणो देहि त्ति न भण्णए जाव ।। २ ।।
तावद्रूपं तावद्गुणा लज्जा सत्यं कुलक्रमस्तावत् ।
तावदेवाभिमानो देहीति न भण्यते यावत् ॥

१३५. तिणतूला वि हु लहुयं दीणं दइवेण निम्मियं भुवणे ।
वाएण किं न नीयं अप्पाण पत्थणभएण ।। ३ ।।
तृणतूलादपि खलु लघुर्दीनो दैवेन निर्मितो भुवने ।
वातेन किं न नीत आत्मानं प्रार्थनभयेन ॥

१३६. थरथरथरेइ हिययं जीहा घोलेइ कंठमज्झम्मि ।
नासइ मुहलावण्णं देहि त्ति परं भणंतस्स ।। ४ ।।
कम्पते हृदयं जिह्वा घूर्णते कण्ठमध्ये ।
नश्यति मुखलावण्यं देहीति परं भणतः ॥

१३७. किसिणिज्जंति लयता उयहिजल जलहरा पयत्तेण ।
धवलीहुंति हु देंता देंतलयंतंतरं पेच्छ ।। ५ ।।
कृष्णीभवन्ति गृह्णन्त उदधिजलं जलधराः प्रयत्नेन ।
धवलीभवन्ति खलु ददतो ददद्गृह्णदन्तरं प्रेक्षस्व ॥

१३२. रत्नाकर का मन्थन होने पर देवों को अमृत मिला, विष्णु को लक्ष्मी मिली और शिव के भाग में विष आया। जो विधि-विहित होता है, वही मिलता है ॥ ७ ॥

१३—दीण-वज्जा (दीन-पद्धति)

१३३. हे जननि ! ऐसे पुत्र को जन्म मत देना जो दूसरे से याचना करने में प्रवृत्त हो। जिसने याचना करने पर याचक को निराश कर दिया है, उसे तो गर्भ में भी न धारण करना ॥ १ ॥

१३४. तभी तक गुण है और तभी तक लज्जा, तभी तक सत्य एवं कुल-क्रम है और तभी तक अभिमान, जब तक 'दे दो' यह न कहिये ॥ २ ॥

१३५. दैव ने जगत् मे दरिद्र को तृण और तूल (रूई) से भी लघु (हल्का) बनाया है। तो फिर उसे हवा क्यों न उड़ा ले गई ? इस भय से कि कहीं मुझ से भी न कुछ माँग ले[1] ॥ ३ ॥

१३६—केवल 'दे दो' यह कहने के लिये उद्यत होते ही हृदय थर्रा जाता है, कंठगत जिह्वा काँपने लगती है और मुख का लावण्य नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

१३७. जब मेघ प्रयत्न पूर्वक समुद्र से जल लेने लगते हैं तब श्यामल हो जाते हैं। जब देने लगते हैं (बरसने लगते हैं) तब उज्ज्वल हो जाते हैं। देने वाले और लेने वाले का अन्तर देख लो ॥ ५ ॥

---

१. लघु है तृण भूतल में जितना यह जानते है सब लोग भले।
लघु कास का फूल है, तूल भी है, लघु धूल भी है पड़ी पाँव-तले।
सबसे लघु किन्तु दरिद्र ही है, लघुता जिसे डाह से देख जले।
उड़ा ले गई क्यों न हवा उसको, भय था कि कहीं कुछ माँग न ले ॥

१४—दारिद्दवज्जा [दारिद्रचपद्धतिः]

१३८. दारिद्दय तुज्झ गुणा गोविज्जंता वि धीरपुरिसेहिं ।
पाहुणएसु छणेसु य वसणेसु य पायडा हुंति ॥ १ ॥
दारिद्र्यक तव गुणा गोप्यमाना अपि धीरपुरुषैः ।
प्राघूर्णकेषु क्षणेषु च व्यसनेषु च प्रकटा भवन्ति ॥

१३९. दारिद्दय तुज्झ नमो जस्स पसाएण एरिसी रिद्धी ।
पेच्छामि सयललोए ते मह लोया न पेच्छंति ॥ २ ॥
दारिद्र्यक तुभ्यं नमो यस्य प्रसादेनेदृश्यृद्धिः ।
प्रेक्षे सकललोकास्ते मां लोका न प्रेक्षन्ते ॥

१४०. जे जे गुणिणो जे जे वि माणिणो जे वियड्ढसंमाणा ।
दालिद्द रे वियक्खण ताण तुमं साणुराओ सि ॥ ३ ॥
ये ये गुणिनो ये येऽपि मानिनो ये विदग्धसंमानाः ।
दारिद्र्य रे विचक्षण तेषा त्वं सानुरागमसि ॥

१४१. दीसंति जोयसिद्धा अंजणसिद्धा वि के वि दीसंति ।
दारिद्दजोयसिद्धं मं ते लोया न पेच्छंति ॥ ४ ॥
दृश्यन्ते योगसिद्धा अञ्जनसिद्धा अपि केचन दृश्यन्ते ।
दारिद्र्ययोगसिद्ध मा ते लोका न प्रेक्षन्ते ॥

१४२. जे भग्गा विहवसमीरणेण वंकं ठवंति पयमग्गं ।
ते नूण दालिद्दोसहेण जइ पंजलिज्जंति ॥ ५ ॥
ये भग्ना विभवसमीरणेन वक्रं स्थापयन्ति पदमार्गम् ।
ते नून दारिद्र्यौषधेन यदि प्राञ्जलीक्रियन्ते ॥

१४३. किं वा कुलेण कीरइ किं वा विणएण किं व रूवेण ।
धणरहियाणं सुंदरि नराण को आयरं कुणइ ॥ ६ ॥
किं वा कुलेन क्रियते किं वा विनयेन किं वा रूपेण ।
धनरहितानां सुन्दरि नराणा क आदरं करोति ॥

१४—दारिद्दवज्जा (दारिद्र्य-पद्धति)

१३८. दारिद्र्य ! धीर पुरुषों द्वारा छिपाये जाने पर भी तुम्हारे गुण पाहुनों, उत्सवों और व्यसनो (संकटों) में प्रकट हो जाते है ॥ १ ॥

१३९. दारिद्र्य ! तुम्हें नमस्कार है, तुम्हारी कृपा से मुझे ऐसी सिद्धि प्राप्त हो गई है कि मैं सब लोगों को देखता हूँ परन्तु मुझे वे लोग नही देखते ॥ २ ॥

१४०. दारिद्र्य ! तुम बड़े विचक्षण (विद्वान्) हो, (क्योंकि) जितने गुणवान्, स्वाभिमानी और विदग्धों मे सम्मानित लोग है, उन पर अनुरक्त रहते हो ॥ ३ ॥

१४१. योग-सिद्ध देखे जाते है और कुछ अंजनसिद्ध भी दिखाई देते हैं। मैं दारिद्र्य-योग-सिद्ध हूँ, मुझे अन्य लोग नहीं देख पाते है ॥ ४ ॥

१४२. जो वैभवरूपी वातव्याधि से भग्न होकर टेढ़ा पैर रख कर चलते हैं वे निश्चय ही दारिद्र्य-रूपी महौषध से सीधे हो जाते हैं ॥ ५ ॥

१४३. सुन्दरि ! कुल, विनय और रूप से क्या होता है ? जो मनुष्य धन-हीन हो जाता है उसका कौन आदर करता है ? ॥ ६ ॥

१४४. जाई रूवं विज्जा तिन्नि वि गच्छंतु कंदरे विवरे।
अत्थो च्चिय परिवड्ढउ जेण गुणा पायडा हुंति ॥ ७ ॥

जाती रूपं विद्या त्रीण्यपि गच्छन्तु कन्दरे विवरे।
अर्थ एव परिवर्धतां येन गुणाः प्रकटा भवन्ति ॥

१४५. धम्मत्थकामरहिया जे दियहा निद्धणाण वोलीणा।
जइ ताइ गणेइ विही गणेउ न हु एरिसं जुत्तं ॥ ८ ॥

धर्मार्थकामरहिता ये दिवसा निर्धनानामतिक्रान्ताः।
यदि तान् गणयति विधिर्गणयतु न खल्वीदृशं युक्तम् ॥

१४६. संकुयइ संकुयंते वियसइ वियसंतयम्मि सूरम्मि।
सिसिरे रोरकुडुंबं पंकयलीलं समुव्वहइ ॥ ९ ॥

संकुचति संकुचति विकसति विकसति सूर्ये।
शिशिरे दरिद्रकुटुम्बं पङ्कजलीलां समुद्वहति ॥

१५. पहुवज्जा [प्रभुपद्धतिः]

१४७. छज्जइ पहुस्स ललियं पियाइ माणो खमा समत्थस्स।
जाणंतस्स य भणियं मोणं च अयाणमाणस्स ॥ १ ॥

राजते प्रभोर्ललितं प्रियाया मानः क्षमा समर्थस्य।
जानतश्च भणितं मौनं चाजानतः ॥

१४८. सच्छंदं बोलिज्जइ किज्जइ जं नियमणस्स पडिहाइ।
अजसस्स न बीहिज्जइ पहुत्तणं तेण रमणिज्जं ॥ २ ॥

स्वच्छन्दं कथ्यते क्रियते यन्निजमनसः प्रतिभाति।
अयशसो न भीयते प्रभुत्वं तेन रमणीयम् ॥

१४९. जम्मदिणे थणणिवडणभएण दिज्जंति धाइउच्छंगे।
पहुणो ज नीयरया मन्ने तं खीरमाहप्पं ॥ ३ ॥

जन्मदिने स्तननिपतनभयेन दीयन्ते धात्र्युत्सङ्गे।
प्रभवो यन्नीचरता मन्ये तत्क्षीरमाहात्म्यम् ॥

१४४. जाति, रूप और विद्या—ये तीनों कन्दरा और बिलों में चले जायें। जिससे गुण-वृद्धि होती है, वह धन ही बढ़े ॥ ७ ॥

१४५. निर्धनों के जो दिन धर्म, अर्थ और काम के अभाव में बोत चुके है, यदि विधाता उन्हें भो आयु के भीतर गिनता है, तो गिन ले परन्तु यह उचित नही है ॥ ८ ॥

१४६. शिशिर मे दरिद्र-कुटुम्ब पंकजों की लोला धारण कर लेता है। वह सूर्य के संकुचित होने पर संकुचित और उसके विकसित होने पर विकसित होता है ॥ ९ ॥

१५—पहु-वज्जा (प्रभुपद्धति)

१४७. प्रभु की क्रोड़ा, प्रिया का मान, समर्थ की क्षमा, ज्ञानी का भाषण और मूर्ख का मौन शोभा देता है ॥ १ ॥

१४८. स्वच्छन्दता से बातें की जाती हैं, जो अपने मन को रुचता है, वह कार्य किया जाता है और अपयश से भो नहीं डरा जाता—इसी से प्रभुत्व रमणीय है ॥ २ ॥

१४९. प्रभुजन (राजा) जो नीचों (अकुलोन लोगों) में अनुरक्त होते हैं—मैं समझता हूँ, यह दूध का प्रभाव है। (क्योंकि) वे जन्म के दिन ही माता के स्तनों के पतन-भय से धात्री की गोद में दे दिये जाते हैं ॥ ३ ॥

१५०. हिट्ठट्ठे जडणिवहं तह य सुपत्ताइ उत्तमंगेसु ।
जह होइ तरू तह जइ पहुणो ता किं न पज्जत्तं ॥ ४ ॥
अधोऽधो मूलनिवहं (जडनिवहं) तथा च सुपत्राणि (सुपात्राणि) उत्तमाङ्गेषु ।
यथा भवति तरुस्तथा यदि प्रभवस्तत् किं न पर्याप्तम् ॥

१६. सेवयवज्जा [सेवकपद्धतिः]

१५१. जं सेवयाण दुक्खं चारित्तविवज्जियाण नरणाह ।
तं होउ तुह रिऊणं अहवा ताण पि मा होउ ॥ १ ॥
यत्सेवकाना दुःखं चारित्र्यविवर्जिताना नरनाथ ।
तद्भवतु तव रिपूणामथवा तेषामपि मा भवतु ॥

१५२. भूमीसयणं जरच्चीरबंधणं बंभचेरय भिक्खा ।
मुणिचरियं दुग्गयसेवयाण धम्मो परं नत्थि ॥ २ ॥
भूमीशयनं जरच्चीरबन्धनं ब्रह्मचर्यं भिक्षा ।
मुनिचरितं दुर्गतसेवकानां धर्मः परं नास्ति ॥

१५३. जइ नाम कह वि सोक्खं होइ तुलग्गेण सेवयजणस्स ।
तं खवणयसग्गारोहणं व विग्गोवयसएहिं ॥ ३ ॥
यदि नाम कथमपि सौख्यं भवति काकतालीयेन सेवकजनस्य ।
तत्क्षपणकस्वर्गारोहणमिव व्याकुलभावशतैः ॥

१५४. *ओलग्गिओ सि धम्मम्मि होज्ज एण्हिं नरिंद वच्चामो ।
आलिहियकुंजरस्स व तुह पहु दाणं चिय न दिट्ठं ॥४॥
अवलग्नोऽसि धर्मे भूया इदानीं नरेन्द्र व्रजामः ।
आलिखितकुञ्जरस्येव तव प्रभो दानमेव न दृष्टम् ॥

१५५. आसन्नफलो फणसो व्व नाह सयलस्स सेवयजणस्स ।
अम्हं पुण पत्थिव पत्थिओ वि तालो तुमं जाओ ॥ ५ ॥
आसन्नफलो पनस इव नाथ सकलस्य सेवकजनस्य ।
अस्माकं पुनः पार्थिव प्रार्थितोऽपि तालस्त्वं जातः ॥

१५०. जिस प्रकार वृक्ष जड़ों को नीचे और पत्रों को मस्तक पर धारण करते हैं, उसी प्रकार यदि प्रभु-गण भी जड़ों (मूर्खों) का अनादर और सुपात्रों (विद्वानों) का सम्मान करते, यही क्या पर्याप्त (समुचित) नहीं था ? ॥ ४ ॥

१६—सेवय-वज्जा (सेवक-पद्धति)

१५१. हे नरनाथ ! चारित्र्य-शून्य सेवकों को जो दुःख झेलना पड़ता है, वह तुम्हारे शत्रुओं को मिले; अथवा उन्हें भी न हो ॥ १ ॥

१५२. दरिद्र सेवक भूमि पर शयन करता है, जीर्ण चीर बाँधता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता है और भिक्षा माँगता है। यद्यपि इस प्रकार वह मुनियों का आचरण करता है परन्तु (मुनियों के समान) उसे धर्म नहीं प्राप्त होता है ॥ २ ॥

१५३. यदि संयोग से सेवक-जनों को किसी प्रकार सुख भी मिलता है, तो वह क्षपणक (जैन साधु) के स्वर्गारोहण के समान अनेक कष्ट झेलने पर ॥ ३ ॥

१५४. *हे राजन् ! तुम धर्म में लगे हो, रहने दो मैं इस समय जाता हूँ। प्रभो ! चित्र-लिखित हाथी के समान तुम्हारा दान (अथवा मद जल) ही नहीं देखा गया है ॥ ४ ॥

१५५. हे नरनाथ ! सभी सेवकों के लिये तो तुम उस कटहल के समान हो, जिसका फल बहुत ही निकट रहता है, परन्तु मैंने जब याचना की तो ताल के वृक्ष बन गये ॥ ५ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

१५६. फणसेण समं महिमंडलम्मि का तरुवराण समसीसी ।
करिकुंभसच्छहं मग्गणाण जो देइ फलणिवहं ॥ ६ ॥

पनसेन समं महीमण्डले का तरुवराणां समशीर्षिका ।
करिकुम्भसदृक्षं मार्गणानां यो ददाति फलनिवहम् ॥

१५७. वरिसिहिसि तुम जलहर भरिहिसि भुवणंतराइ नीसेसं ।
तण्हासुसियसरीरे मुयम्मि वप्पीहयकुडुंबे ॥ ७ ॥

वर्षिष्यसि त्वं जलधर भरिष्यसि भुवनान्तराणि निःशेषम् ।
तृष्णाशोषितशरीरे मृते चातककुटुम्बे ॥

१५८. देहि त्ति कह नु भण्णइ सुपुरिसववहारवाहिर वयणं ।
सेविज्जइ विणएणं एस च्चिय पत्थणा लोए ॥ ८ ॥

देहीति कथं नु भण्यते सुपुरुषव्यवहारबहिर्भूतं वचनम् ।
सेव्यते विनयेनैषैव प्रार्थना लोके ॥

१५९. *भुंजति कसणडसणा अब्भंतरसंठिया गइंदस्स ।
जे उण विहुरसहाया ते धवला बाहिर च्चेव ॥ ९ ॥

भुञ्जते कृष्णदशना अभ्यन्तरसंस्थिता गजेन्द्रस्य ।
ये पुनर्विधुरसहायास्ते धवला बहिरेव ॥

१६०. तंबाउ तिन्नि सुपओहराउ चत्तारि पक्कलबइल्ला ।
निप्पन्ना रालयमंजरीउ सेवा सुहं कुणउ ॥ १० ॥

गावस्तिस्रः सुपयोधराश्चत्वार समर्थवृषभाः ।
निष्पन्ना रालकमञ्जर्यः सेवा सुखं करोतु ॥

१६१. सव्वो छुहिओ सोहइ मढदेउलमंदिरं च चच्चरयं ।
नरणाह मह कुडुंबं छुहछुहियं दुब्बलं होइ ॥ ११ ॥

सर्वो धवलितः शोभते मठदेवकुलमन्दिरं च चत्वरम् ।
नरनाथ मम कुटुम्बं सुधाधवलितं (क्षुधाक्षुधितं) दुर्बलं भवति ॥

१५६. भूमण्डल के वृक्षों में उस पनस (कटहल) के समान कौन है जो याचकों को करिकुम्भ के समान बड़े-बड़े फल प्रदान करता है ॥ ६ ॥

१५७. जलधर ! तुम बरसोगे और सम्पूर्ण भुवनान्तर (संसार) को जल से परिपूर्ण भी कर दोगे परन्तु कब ? जब तृष्णा (तृषा) से शुष्क-शरीर वाले चातकों के परिवार मर जायँगे ॥ ७ ॥

१५८. 'दे दो' यह बात किसी से क्यों कही जाय। यह तो सत्पुरुषों के व्यवहार से बाहर है। मै विनय-पूर्वक सेवा करता हूँ—संसार में यही मेरी प्रार्थना है (अर्थात् सेवा करना ही मेरी याचना है, मुँह से कुछ माँगना व्यर्थ है)

१५९. *गजेन्द्र के कृष्ण दन्त जो खाने का कार्य करते हैं वे भीतर रहते हैं। जो विपत्तियों में सहायक बनते हैं वे शुभदन्त बाहर ही पड़े रहते हैं ॥ ९ ॥

१६०. यदि पीन स्तनों वाली तीन गायें, चार समर्थ बैल और शालक धान्य की मजरियाँ निष्पन्न हैं तो सेवा (भृत्य-वृत्ति) सुखी हो (अर्थात् सेवा से प्रयोजन नही है, उसे दूर से ही आशीर्वाद है) ॥ १० ॥

१६१. हे नरनाथ ! मठ, देवमन्दिर और चत्वर—ये सभी सुधालिप्त (छुहिय) होने पर शोभित होते हैं, परन्तु मेरा कुटुम्ब क्षुधा (सुधा = छुहा) से पीड़ित (छुहिय = क्षुभित) होने पर दुर्बल हो रहा है ॥ ११ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

१७. सुहडवज्जा [सुभटपद्धतिः]

१६२. *जं दिज्जइ पहरपरव्वसेहि मुच्छागएहि पयमेक्कं ।
तह नेहस्स पयस्स व न याणिमो को समब्भहिओ ॥ १ ॥

यद्दीयते प्रहारपरवशैर्मूर्छागतैः पदमेकम् ।
तथा स्नेहस्य पदस्य वा न जानीमः किमभ्यधिकम् ॥

१६३. भग्गे वि बले वलिए वि साहणे सामिए निरुच्छाहे ।
नियभुयविक्कमसारा थक्कंति कुलुग्गया सुहडा ॥ २ ॥

भग्नेऽपि बले वलितेऽपि साधने स्वामिनि निरुत्साहे ।
निजभुजविक्रमसारास्तिष्ठन्ति कुलोद्गताः सुभटाः ॥

१६४. वियलइ धणं न माण झिज्जइ अगं न झिज्जइ पयावो ।
रूवं चलइ न फुरण सिविणे वि मणंसिसत्थाणं ॥ ३ ॥

विगलति धनं न मानः क्षीयतेऽङ्गं न क्षीयते प्रतापः ।
रूपं चलति न स्फुरण स्वप्नेऽपि मनस्विसार्थानाम् ॥

१६५. अवमाणिओ व्व संमाणिओ व्व नवसेवओ व्व कुविओ व्व ।
पहरइ कयावराहो व्व निब्भओ को वि संगामे ॥ ४ ॥

अपमानित इव संमानित इव नवसेवक इव कुपित इव ।
प्रहरति कृतापराध इव निर्भयः कोऽपि संग्रामे ॥

१६६. उयरे असिकप्परिए अंतोहे निवडियम्मि चलणेसु ।
भमइ भडो जसलुद्धो ससंकलो मत्तहत्थि व्व ॥ ५ ॥

उदरेऽसिदारितेऽन्त्रौघे निपतिते चरणयोः ।
भ्रमति भटो यशोलुब्धः सश्रृङ्खलो मत्तहस्तीव ॥

१६७. दाहिणकरेण खग्गं वामेण सिरं धरेइ निवडंतं ।
अंतावेढियचलणो जाइ भडो एक्कमेक्कस्स ॥ ६ ॥

दक्षिणकरेण खड्गं वामेन शिरो धारयति निपतत् ।
अन्त्रावेष्टितचरणो याति भट एकैकस्य ॥

१७—सुहड-वज्जा (सुभट-पद्धति)

१६२. *जब रणभूमि में विपक्ष-प्रहारों से परवश और मूर्च्छित-प्राय हो जाने पर भी सुभटगण एक डग आगे ही रहते हैं, तब हम यह नहीं समझ पाते कि प्रेम और दूध में कौन बड़ा है ।। १ ।।

१६३. जब बल टूट जाता है, सेना पराङ्मुख हो जाती है और स्वामी भी उत्साह खो बैठता है उस समय भी अपनी भुजाओं का शौर्य और बल ही जिनका धन है, वे कुलीन सुभट (युद्ध में) स्थिर होकर खड़े रहते है ।। २ ।।

१६४. मनस्वियों के समूहों का धन नष्ट होता है, मान नहीं; अंग क्षीण होते हैं, प्रताप नही; रूप चला जाता है, परन्तु उत्साह (या स्फूर्ति) स्वप्न मे भी नही जाता ।। ३ ।।

१६५ कोई निर्भय वीर संग्राम में इस प्रकार प्रहार कर रहा है मानों अपमानित हो गया है, मानों सम्मानित हुआ है, मानों नया सेवक है, मानों कुपित हो गया है और मानों उस से कोई अपराध हो गया है ।। ४ ।।

(उपर्युक्त सभी अवस्थाओं मे उत्साहातिरेक संभव है)

१६६. किसी वीर का उदर कृपाण के प्रहार से विदीर्ण हो गया और आंतें निकल कर पैरों पर गिर पड़ी तथापि वह यश-कामी (युद्ध में) ऐसे विचर रहा है जैसे शृंखला-सहित मत्तगजराज ।। ५ ।।

१६७. जिसके चरण आँतों से आवेष्टित हो चुके हैं, वह वीर दाहिने हाथ में कृपाण और बायें हाथ मे कट कर गिरते हुए मस्तक को लेकर एक-एक पर आक्रमण करता जा रहा है ।। ६ ।।

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

१६८. अज्ज वि विहुरो सुपहू अज्ज वि पहरंति सुहडसंघाया ।
अज्ज वि मज्झत्था जयसिरी वि ता जीव मा वच्च ।। ७ ।।

अद्यापि विधुरः सुप्रभुरद्यापि प्रहरन्ति सुभटसंघाताः ।
अद्यापि मध्यस्था जयश्रीरपि तस्माज्जीव मा व्रज ।।

१६९. नेच्छइ सग्गग्गमणं कुवइ भडो सुरवहूहि निज्जन्तो ।
गरुयपडिवक्खपेल्लियसामियकज्जे अणिम्माए ।। ८ ।।

नेच्छति स्वर्गगमनं कुप्यति भटः सुरवधूभिर्नीयमानः ।
गुरुकप्रतिपक्षक्षिप्तस्वामिकार्येऽनिर्मिते ।।

१७०. एक्को वि को वि नियगोत्तभूसणो धरउ जणणिउयरम्मि ।
जो रिउघडाण समुहो परंमुहो परकलत्ताणं ।। ९ ।।

एकोऽपि कोऽपि निजगोत्रभूषणो ध्रियतां जनन्युदरे ।
यो रिपुघटाना समुखः पराङ्मुखः परकलत्रेभ्यः ।।

१७१. वियडं सो परिसक्कउ सामिपसायं च सो समुव्वहउ ।
दुव्वारवेरिवारणणिवारणा जस्स भुयदंडा ।। १० ।।

विकटं स परिक्रामतु स्वामिप्रसादं च स समुद्वहतु ।
दुर्वारवैरिवारणनिवारणौ यस्य भुजदण्डौ ।।

१७२. एक्कं दंतम्मि पयं बीयं कुंभम्मि तइयमलहंतो ।
बलिबंधविलसियं महुमहस्स आलंबए सुहडो ।। ११ ।।

एकं दन्ते पदं द्वितीयं कुम्भे तृतीयमलभमानः ।
बलिबन्धविलसितं मधुमथनस्यालम्बते सुभटः ।।

१७३. चलचमरकण्णचालिरविज्जिज्जंतो भडो गइंदेण ।
ओ सुवइ सामिकयकज्जणिब्भरो दंतपल्लंके ।। १२ ।।

चलचामरकर्णचञ्चलवीज्यमानो भटो गजेन्द्रेण ।
अहो स्वपिति स्मामिकृतकार्यनिर्भरो दन्तपल्यङ्के ।।

१६८. (रणांगण मे मृतप्राय पड़ा वीर कहता है) अब भी प्रभु (राजा) संकट-ग्रस्त हैं, अब भी सुभट-समूह प्रहार कर रहे हैं, अब भी विजयलक्ष्मी मध्यस्थ है, तो हे मेरे जीव ! तुम भी अभी प्रस्थान मत करो ॥ ७ ॥

१६९. प्रबल प्रतिपक्षियों के प्रतिरोध के कारण स्वामी का कार्य अपूर्ण रह जाने पर वीर स्वर्ग नहीं जाना चाहता है। जब सुर-बालाएँ उसे ले जाने लगती है, तो क्रुद्ध हो जाता है ॥ ८ ॥

१७०. जननि ! अपने उदर में वंश को विभूषित करने वाले किसी ऐसे वीर को धारण करना–जो शत्रुओं की गजघटाओं के सम्मुख हो और परकलत्रों (पर स्त्रियो) के विमुख ॥ ९ ॥

१७१. जिसके भुजदण्ड वैरियों के दुर्निवार्य वारणों (हाथियों) का निवारण करने वाले है, उसे ही विकट गति से चलना चाहिये और उसे ही स्वामी की कृपा प्राप्त होनी चाहिये ॥ १० ॥

१७२. वीर ने एक पद तो गजराज के दाँत पर रख दिया और दूसरा कुंभस्थल पर। तीसरे पद के लिए स्थान न पाने पर उसकी वही शोभा हुई जो बलिको बाँधते समय विष्णु की हुई थी ॥ ११ ॥

१७३. अहा ! वह वीर स्वामी का कार्य समाप्त कर गजदन्त के पर्यंक पर निश्चिन्त सो गया है। गजराज अपने चंचल-कर्णों से उसके ऊपर चँवर डुला रहा है ॥ १२ ॥

१७४. गाढासणस्स कस्स वि उयरे निहयस्स मंडलग्गेण ।
अद्धं महीइ पडियं तुरंगपिट्ठिट्ठियं अद्धं ॥ १३ ॥
गाढासनस्य कस्याप्युदरे निहतस्य मण्डलाग्रेण ।
अर्धं मह्यां पतितं तुरंगपृष्ठस्थितमर्धम् ॥

१७५. सब्भावे पहुहियए जीए सग्गे जसे जए सयले ।
ठविए रणम्मि सीसे कयकज्जो नच्चिओ सुहडो ॥ १४ ॥
सद्भावे प्रभुहृदये जीवे स्वर्गे यशसि जगति सकले ।
स्थापिते रणे शिरसि कृतकार्यो नर्तितः सुभटः ॥

१७६. छिन्ने रणम्मि बहुपहुपसायमालापडिच्छिरे सीसे ।
उत्तिण्णगरुयभारं व नच्चियं नरवरकबंधं ॥ १५ ॥
छिन्ने रणे बहुप्रभुप्रसादमालाग्राहिणि शीर्षे ।
उत्तीर्णगुरुकभारमिव नर्तितं नरवरकबन्धम् ॥

१७७. पक्खाणिलेण पहुणो विरमउ मुच्छ त्ति पासपडिएण ।
गिद्धंतकड्ढणं दूसहं पि साहिज्जइ भडेण ॥ १६ ॥
पक्षानिलेन प्रभोर्विरमतु मूर्छेति पार्श्वपतितेन ।
गृध्रान्त्रकर्षणं दुःसहमपि सह्यते भटेन ॥

१७८. वच्छत्थलं च सुहडस्स रुहिरकुंकुमविलित्तयंगस्स ।
वरकामिणि व्व चुंबइ उरे निसन्ना सिवा वयणं ॥ १७ ॥
वक्षःस्थलं च सुभटस्य रुधिरकुंकुमविलिप्ताङ्गस्य ।
वरकामिनीव चुम्बत्युरसि निषण्णा शिवा वदनम् ॥

१८. धवलवज्जा [धवलपद्धतिः]

१७९. संचुण्णियथोरजुयप्पहारसंजणियगरुयकिणसोहो ।
धवलस्स महाभरकड्ढणाइ कंधो च्चिय कहेइ ॥ १ ॥
संचूर्णितपृथुयुगप्रहारसंजनितगुरुककिणशोभः ।
धवलस्य महाभरकर्षणानि स्कन्ध एव कथयति ॥

१७४. कोई वीर (अश्व पर) इतनी दृढ़ता से बैठा था कि पेट पर कृपाण का प्रहार होने से आधा शरीर कट कर पृथ्वी पर गिर गया और आधा अश्व की पीठ पर ही रह गया ॥ १३ ॥

१७५. वीर ने सद्भावना (सन्तोष) को प्रभु (स्वामी) के हृदय में, जीव को स्वर्ग में, यश को सम्पूर्ण जगत् में और मस्तक को रणभूमि में रख दिया और कृतार्थ होकर नाचने लगा ॥ १४ ॥

१७६. जब प्रभु (स्वामी या राजा) की बहुत सी कृपाओं के फल-स्वरूप प्राप्त पुष्पमालाओं को धारण करने वाला मस्तक रण मे कट गया, तो श्रेष्ठ वीर का कबन्ध नाचने लगा, जैसे भारी बोझ उतर गया हो ।। १५ ॥

१७७. रणक्षेत्र मे घायल पड़े हुए वीर की आँतें गृध्र खीच रहे हैं, परन्तु वह उस पीड़ा को असह्य होने पर भी इसलिए सह रहा है कि पास में ही पड़े हुये स्वामी की मूर्च्छा (गृध्रों के) पंखो की हवा से टूट जाय ॥ १६ ॥

१७८. जिसके अंग रुधिर-कुंकुम से लिप्त हो चुके हैं, उस (घायल) वीर की छाती पर बैठी शिवा (शृगाली) श्रेष्ठ कामिनी के समान मुख और छाती का चुम्बन कर रही है ॥ १७ ॥

१८—धवल-वज्जा (धवल-पद्धति)

१७९. पृथुल जूए के प्रहार से चूर-चूर हो कर, जिसमें घट्ठे पड गये हैं, वह बैल (धवल) का कन्धा ही कह देता है कि वह भारी बोझ ढोता है ॥ १ ॥

१८०. अह मरइ धुरालग्गो संचुण्णियसंधिबंधणो धवलो ।
न हु पामरस्स विहुरे आरापरिघट्टणं सहइ ॥ २ ॥

अथ म्रियते धुरालग्नः संचूर्णितसन्धिबन्धनो धवलः ।
न खलु पामरस्य विधुर आरापरिघट्टनं सहते ॥

१८१. अह तोडइ नियकंधं अह कड्ढइ गुरुभरम्मि दुव्वोज्झं ।
धवलो धुरम्मि जुत्तो न सहइ उच्चारियं हक्कं ॥ ३ ॥

अथ त्रोटयति निजस्कन्धमथ कर्षति गुरुभरे दुर्वाह्यम् ।
धवलो धुरि युक्तो न सहत उच्चारितं प्रेरणम् ॥

१८२. चिक्कणचिक्खल्लचहुट्टचक्कथक्के भरम्मि जाणिहिसि ।
अविसेसन्नय गहवइ परंमुहो जं सि धवलाणं ॥ ४ ॥

चिक्कणकर्दममग्नचक्रस्थिते भरे ज्ञास्यसि ।
अविशेषज्ञ गृहपते पराङ्मुखो यदसि धवलेभ्यः ॥

*१८३. अमुणियगुणो न जुप्पइ न मुणिज्जइ स य गुणो अजुत्तस्स ।
थक्के भरे विसूरइ अउव्ववग्गं गओ धवलो ॥ ५ ॥

अज्ञातगुणो न युज्यते न ज्ञायते स च गुणोऽयुक्तस्य ।
स्थिते भरे खिद्यतेऽपूर्ववल्गां गतो धवलः ॥

१८४. सो च्चिय सयडे सो च्चिय हलम्मि सो च्चिय वहेइ पिट्ठीए ।
बहुगोधणो वि हलिओ नदइ एक्केण धवलेण ॥ ६ ॥

स एव शकटे स एव हले स एव वहति पृष्ठे ।
बहुगोधनोऽपि हालिको नन्दत्येकेन धवलेन ॥

१८५. कत्तो लब्भंति धुरंधराइ धवलाइ भरसमत्थाइं ।
अइविहुरे गुरुभारं कड्ढंति य लीलमत्ताए ॥ ७ ॥

कुतो लभ्यन्ते धुरंधरा धवला भरसमर्थाः ।
अतिविधुरे गुरुभरं कर्षन्ति च लीलामात्रेण ॥

१८०. जिसके सन्धि-बन्धन चूर-चूर हो गये है, वह जुता हुआ उत्तम बैल मर भले ही जाय; परन्तु विषम परिस्थिति में यह नहीं सह सकता कि गँवार गाड़ीवान उसे पिराने (पैने) से खोदे ॥ २ ॥[1]

१८१. उत्तम बैल, भारी बोझ लदा होने पर या तो अपना कन्धा तोड़ डालता है या उस दुर्वाह्य शकट को खींच ले जाता है; परन्तु प्रेरणा के लिये उच्चारित उत्तेजनात्मक शब्द नही सह पाता (टिक्-टिक् शब्द) ॥ ३ ॥

१८२. अरे अविशेषज्ञ गृहपति ! तुम उत्तम बैलों से विमुख हो गये हो; किन्तु जब चिकने कीचड़ में पहिया फँस जाने के कारण बोझ से लदी गाड़ी रुक जायगी, तब (उत्तम बैल का गुण) जानोगे ॥ ४ ॥

*१८३. जिसका गुण अज्ञात है, वह (गाड़ी आदि में) जोता नही जाता और बिना जोते गुण भी नही जाना जाता है। जिसको पहली बार गत्यवरोध रज्जु से रोक दिया गया है, वह उत्तम बैल (किसी विषम परिस्थिति में) बोझ से लदी गाड़ी रुक जाने पर खिन्न होता है ॥ ५ ॥[2]

१८४. यद्यपि हालिक (किसान या हलवाह) के पास बहुत-सा गोधन है; तथापि वह एक ही उत्तम श्वेत बैल से आनन्दित रहता है; क्योंकि वही शकट में, वही हल में और वही पीठ पर भी भार ढोता है ॥ ६ ॥

१८५. जो भार वहन करने मे समर्थ हैं और विषम परिस्थिति में भारी बोझ को भी लीला-पूर्वक (आनन्द-पूर्वक) खीच ले जाते हैं, वे धुरी को धारण करने वाले उत्तम श्वेत बैल कहाँ मिलते हैं ? ॥ ७ ॥

---

१. संस्कृत शब्द-प्राजन, बैलों को चुभाने वाला दण्डा विशेष

२. अर्थ के लिए टिप्पणी देखिए।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

१९. विंझवज्जा [विन्ध्यपद्धतिः]

१८६. दंतच्छोहं तडवियडमोडणं सरसपल्लवुल्लिहणं ।
जइ विंझो च्चिय न सहइ ता करिणो कत्थ वच्चंति ।।१।।
दन्तक्षोभं तटविकटमोटनं सरसपल्लवोल्लेखनम् ।
यदि विन्ध्य एव न सहते तत् करिणः कुत्र व्रजन्ति ॥

१८७. सा रेवा ताइ पाणियाइ ते च्चेव करिणिसंघाया ।
सा सल्लइ सल्लइ गयवरस्स विंझं मुयतस्स ।। २ ।।
सा रेवा तानि पानीयानि ते चैव करिणीसंघाताः ।
सा सल्लकी शल्यायते गजवरस्य विन्ध्यं मुञ्चतः ॥

१८८. विंझेण विणा वि गया नरवइभवणेसु गोरविज्जति ।
विंझो न होइ अगओ गएहिं बहुएहिं वि गएहिं ।। ३ ।।
विन्ध्येन विनापि गजा नरपतिभवनेषु गौरविता भवन्ति ।
विन्ध्यो न भवत्यगजो गजैर्बहुभिरपि गतैः ॥

१८९. गोमहिसतुरंगाणं पसूण सव्वाण जुज्जए ठाणं ।
दड्ढगइंदाण पुणो अह विंझो अह महाराओ ।। ४ ।।
गोमहिषतुरंगाणां पशूनां सर्वेषां युज्यते स्थानम् ।
दग्धगजेन्द्राणां पुनरथ विन्ध्योऽथ महाराजः ॥

२०. गयवज्जा [गजपद्धतिः]

१९०. वियलियमएण गयजोव्वणेण हल्लंतदंतमुसलेण ।
अज्ज वि वणं सणाहं जूहाहिव पइ जियंतेण ।। १ ।।
विगलितमदेन गतयौवनेन चलद्दन्तमुसलेन ।
अद्यापि वनं सनाथं यूथाधिप त्वया जीवता ॥

१९१. अज्ज वि संभरइ गओ मज्जंतो सरवरम्मि लीलाए ।
जं करिणिकरग्गुम्मूलिएण पहओ मुणालेण ।। २ ।।
अद्यापि संस्मरति गजो मज्जन् सरोवरे लीलया ।
यत् करिणीकराग्रोन्मूलितेन प्रहृतो मृणालेन ॥

१९—विंझ-वज्जा (विन्ध्य-पद्धति)

१८६. यदि विन्ध्याचल दाँतों की चोट, विकट तट प्रान्त का आमोटन (मर्दन) एवं सरस पल्लवों का भक्षण न सहे तो हाथी कहाँ जायँ ? ॥ १ ॥

१८७. गजेन्द्र जब विन्ध्य को छोड़ने लगता है तो उसे वह रेवा नदी, उसका वह पानी, वे ही हाथियों के झुंड और वे ही सल्लकी के वृक्ष शल्य के समान सालते हैं (पीड़ा देते हैं) ॥ २ ॥

१८८ विन्ध्य के अभाव मे भी गजों को नरपतियों के भवनों में गौरव प्राप्त हो जाता है और विन्ध्य बहुत से गजों के चले जाने पर भी अगज (गजरहित) नहीं हो जाता है ॥ ३ ॥

१८९. गो, महिष, तुरंग और सभी पशुओं के रहने के लिये उचित स्थान है, परन्तु इन दग्ध-गजों को या तो विन्ध्याचल है या तो फिर कोई महाराज ॥ ४ ॥

२०—गयवज्जा (गज-पद्धति)

१९०. हे यूथपति ! तुम्हारा मद गलित हो चुका है, युवावस्था बीत गई है और मुसल के समान (मोटे) दाँत हिलने लगे हैं, परन्तु तुम्हारे जीवित रहने से आज भी यह वन सनाथ है ॥ १ ॥

१९१. (स्वतन्त्र जीवन में कभी) सरोवर में नहाते समय करिणी (हथिनी) ने सूँड़ से मृणाल उखाड़ कर जो मार दिया था, उसे आज भी (पराधीन दशा में) वह गजराज भूल नहीं सका है ॥ २ ॥

१९२. मा सुमरसु चदणपल्लवाण करिणाह गेण्ह तिणकवलं ।
जा जह परिणमइ दसा तं तह धीरा पडिच्छंति ।। ३ ।।

मा स्मर चन्दनपल्लवानां करिनाथ गृहाण तृणकवलम् ।
या यथा परिणमति दशा ता तथा धीराः प्रपद्यन्ते ।।

१९३. मा झिज्जसु अणुदियहं करिणिविओएण मूढ करिणाह ।
सोक्खं न होइ कस्स वि निरंतरं एत्थ संसारे ।। ४ ।।

मा क्षीयस्वानुदिवसं करिणीवियोगेन मूढ करिनाथ ।
सौख्यं न भवति कस्यापि निरन्तरमत्र संसारे ।।

१९४. जायासुयविरहविसंठुलस्स जूहाहिवस्स विंझम्मि ।
ते सरसपल्लवा सल्लईइ विसकवलसारिच्छा ।। ५ ।।

जायासुतविरहविसंष्ठुलस्य यूथाधिपतेर्विन्ध्ये ।
ते सरसपल्लवाः सल्लक्या विषकवलसदृक्षाः ।।

१९५. गरुयछुहाउलियस्स य वल्लहकरिणीसुहं भरंतस्स ।
सरसो मुणालकवलो गयस्स हत्थे च्चिय विलीणो ।। ६।।

गुरुक्षुधाकुलितस्य च वल्लभकरिणीसुखं स्मरतः ।
सरसो मृणालकवलो गजस्य हस्त एव विलीनः ।।

१९६. तह नीससियं जूहाहिवेण चिरविलसियं भरंतेण ।
करगहियं तिणकवलं हरियं जह झत्ति पज्जलियं ।। ७ ।।

तथा निःश्वसितं यूथाधिपेन चिरविलसितं स्मरता ।
करगृहीतं तृणकवलं हरितं यथा झटिति प्रज्वलितम् ।।

१९७. विरहपलित्तो रे वरगइंद मा भंज सयलवणराई ।
उम्मूलिए वि विंझे विरहावत्था तह च्चेय ।। ८ ।।

विरहप्रदीप्त रे वरगजेन्द्र मा भङ्ग्धि सकलवनराजीः ।
उन्मूलितेऽपि विन्ध्ये विरहावस्था तथैव ।।

१९२. हे करिनाथ! तृणों का कौर उठा लो और चन्दन-पल्लवों की याद भूल जाओ। जो दशा जिस रूप में परिणत होती है, धीर पुरुष उस दशा को उसी रूप में स्वीकार करते हैं॥ ३ ॥

१९३. मूढ गजेन्द्र! करिणी (हथिनी) के वियोग में अनुदिन क्षीण मत होते जाओ। इस संसार में किसी का भी सौख्य निरन्तर नहीं रहता॥ ४ ॥

१९४. विन्ध्य पर्वत पर पत्नी और पुत्र के विरह से संतप्त होने वाले गजराज को सल्लकी के वे सरस पल्लव विष के कौर के समान लगते है॥ ५ ॥

१९५. तीव्र-क्षुधा से आकुल गजेन्द्र को प्यारी करिणी से प्राप्त सुखों की स्मृति आते ही मृणाल का सरस कौर सूँड़ पर ही नष्ट हो गया॥ ६ ॥

१९६. बहुत दिनों की सुखमय लीलाओं को स्मरण कर गजेन्द्र ने ऐसी लम्बी साँस ली कि सूँड़ पर लिया हुआ हरे तृणों का कौर तुरन्त जल कर भस्म हो गया॥ ७ ॥

१९७. हे गजेन्द्र! विरह-दग्ध हो कर सम्पूर्ण वनराजि को मत तोड़ डालो। विन्ध्य पर्वत को भी उखाड़ डालने पर विरह-दशा वैसी ही रहेगी॥ ८ ॥

१९८. जूहाओ वणगहणं गहणाउ सरं सराउ गिरिसिहरं ।
सिहराहिंतो पुहविं निएइ हत्थी पियाविरहे ।। ९ ।।
यूथाद्वनगहनं गहनात्सरः सरसो गिरिशिखरम् ।
शिखरात्पृथिवीं पश्यति हस्ती प्रियाविरहे ।।

१९९. करिणिकरप्पियणवसरससल्लईकवलभोयणं दंती ।
जइ न मरइ सुमरंतो ता किं किसिओ वि मा होउ ।।१०।।
करिणीकरार्पितनवसरससल्लकीकवलभोजनं दन्ती ।
यदि न म्रियते स्मरंस्तदा किं कृशितोऽपि मा भवतु ।।

२१. सीहवज्जा [सिंहपद्धतिः]

२००. किं करइ कुरंगी बहुसुएहि ववसायमाणरहिएहिं ।
एक्केण वि गयघडदारणेण सिंही सुहं सुवइ ।। १ ।।
किं करोति कुरङ्गी बहुसुतैर्व्यवसायमानरहितैः ।
एकेनापि गजघटादारकेण सिंही सुखं स्वपिति ।।

२०१. जाइविसुद्धाण नमो ताण मइंदाण अहह जियलोए ।
जे जे कुलम्मि जाया ते ते गयकुंभणिद्दलणा ।। २ ।।
जातिविशुद्धेभ्यो नमस्तेभ्यो मृगेन्द्रेभ्योऽहह जीवलोके ।
ये ये कुले जातास्ते ते गजकुम्भनिर्दलनाः ।।

२०२. मा जाणह जह तुंगत्तणेण पुरिसाणं होइ सोंडीरं ।
मडहो वि मइंदो करिवराण कुंभत्थलं दलइ ।। ३ ।।
मा जानीत यथा तुङ्गत्वेन पुरुषाणां भवति शौण्डीर्यम् ।
लघुरपि मृगेन्द्रः करिवराणा कुम्भस्थलं दलयति ।।

२०३. बेण्णि वि रण्णुप्पन्ना बज्झंति गया न चेव केसरिणो ।
संभाविज्जइ मरणं न गंजणं धीरपुरिसाणं ।। ४ ।।
द्वावप्यरण्योत्पन्नौ बध्यन्ते गजा न चैव केसरिणः ।
संभाव्यते मरणं न कलङ्को धीरपुरुषाणाम् ।।

१९८. गजराज प्रिया के वियोग में यूथ से निकल कर वन को, वन से सरोवर को, सरोवर से गिरिशिखर को और गिरिशिखर से पुनः पृथ्वी को देखता है ॥ ९ ॥

१९९. यदि गजराज करिणी की सूँड़ से अर्पित सरस सल्लकी के भोजन को स्मरण कर मर नहीं जाता, तो क्या दुर्बल भी न हो ? ॥ १० ॥

२१—सीह-वज्जा (सिंह-पद्धति)

२००. मृगी व्यवसाय (पुरुषार्थ) और मान से रहित बहुत से पुत्रों से क्या कर लेती है ? सिंहनी एक ही गजघटा-विदारक पुत्र से सुखपूर्वक सोती है ॥ १ ॥

२०१. अहा ! इस जीवलोक में जो जन्मना विशुद्ध हैं, उन मृगेन्द्रों को नमस्कार है, उन के कुल में जो-जो उत्पन्न हुए; वे सभी गजराजों के कुम्भों को विदीर्ण करने वाले थे ॥ २ ॥

२०२. बड़े होने से (ही) पुरुषों मे शौर्य आता है—यह मत समझो। सिंह-शावक छोटा होने पर भी श्रेष्ठ गजों का कुम्भस्थल विदीर्ण कर डालता है ॥ ३ ॥

२०३. गज और सिंह—दोनों ही वन में उत्पन्न होते हैं। (परन्तु), गजों को लोग बाँध लेते हैं, सिंह को नहीं। धीर-पुरुषों का मरण हो सकता है, अपमान नहीं ॥ ४ ॥

२२. वाहवज्जा [व्याधपद्धतिः]

२०४. एक्कसरपहरदारियमाइंदगइंदजुज्झमाभिडिए ।
वाहि न लज्जसि नच्चसि दोहग्गे पायडिज्जंते ।। १ ।।

एकशरप्रहारदारितमृगेन्द्रगजेन्द्रयुद्धे प्रवृत्ते ।
व्याधि न लज्जसे नृत्यसि दौर्भाग्ये प्रकट्यमाने ॥

२०५. कत्तो तं रायघरेसु विलसियं जं घरम्मि वाहस्स ।
गयकुंभवियारियमोत्तिएहि जं जंगलं किणइ ।। २ ।।

कुतस्तद्राजगृहेषु विलसितं यद्गृहे व्याधस्य ।
गजकुम्भविदारितमौक्तिकैर्यज्जांगलं क्रीयते ॥

२०६. अज्ज कयत्थो दियहो वाहवहू रूवजोव्वणुम्मइया ।
सोहग्गं धणुरुंपच्छलेण रच्छासु विक्खिरइ ।। ३ ।।

अद्य कृतार्थो दिवसो व्याधवधू रूपयौवनोन्मत्ता ।
सौभाग्यं धनुरुल्लिखनच्छलेन रथ्यासु विष्किरति ॥

२०७. ओ खिप्पइ मंडलमारुएण गेहंगणाउ वाहीए ।
सोहग्गधयवडाइ व्व धणुरओरुंपरिछोली ।। ४ ।।

अहो क्षिप्यते मण्डलमारुतेन गेहाङ्गणाद्व्याधवध्वाः ।
सौभाग्यध्वजपटानीव धनूरजस्त्वक्पङ्क्तिः ॥

२०८. जह जह वड्ढंति थणा तह तह झिज्जंति पंच वत्थूणि ।
मज्झं पइ कोयंडं पल्लिजुवाणा सवत्तीओ ।। ५ ।।

यथा यथा वर्धेते स्तनौ तथा तथा क्षीयन्ते पञ्च वस्तूनि ।
मध्यं पतिः कोदण्डः पल्लियुवानः सपत्न्यः ॥

२२—वाह-वज्जा (व्याध-पद्धति)

[विषय-भोग से किस प्रकार शक्तिक्षीण हो जाती है—इसका चित्रण इस 'वज्जा' में किया गया है]

२०४. व्याध (शिकारी) ने युद्ध-रत सिंह और हाथी—दोनों को एक ही बाण से विदीर्ण कर दिया। अरी व्याध-वधू! अपना दौर्भाग्य प्रकट होने पर नाच रही हो, लजाती नही हो[1] ? ॥ १ ॥

(यदि पति का तुम्हारे प्रति प्रगाढ-प्रेम रहता तो अब तक निरन्तर संभोग करने के कारण वह इतना क्षीण हो गया होता कि एक ही बाण से हाथी और सिंह का आखेट करने की शक्ति न रह जाती। उसका शौर्य तुम्हारे दौर्भाग्य का सूचक है।)

२०५. जहाँ गजकुम्भ के विदारण से प्राप्त मौक्तिक से माँस मोल लिया जाता है, उस व्याध-गृह में जो आनन्द है, वह राजप्रासादो में कहाँ ? ॥२॥

२०६. आज का दिन कृतार्थ (सफल) हो गया। अहा! रूपयौवनोन्मत्ता व्याध-वधू धनुष के तनूकरण (खुरच कर पतला करने) से निकले चूर्ण को सौभाग्य के समान गलियों में बिखेर रही है ॥ ३ ॥

(व्याध अनवरत संभोग से इतना क्षीण हो गया था कि अब पुराने भारी धनुष को उठाने में उसे कष्ट होता था। अन्त में उसने विवश होकर मोटे धनुर्दण्ड को खुरच-खुरच कर पतला कर दिया। उसकी पत्नी धनुष के खुरचने से निकले हुए महीन चूर्णों को गलियों मे फेंक रही है। लगता है, जैसे वे चूर्ण उसके अखण्ड सौभाग्य की सूचना दे रहे हैं।)

२०७. अरे, मण्डल-मारुत (चक्रवात) धनुष के तनूकरण से उद्भूत वल्कल-चूर्ण को व्याध-वधू की सौभाग्य-पताका के समान प्रांगण के बाहर उड़ा रहा है ॥ ४ ॥

२०८. जैसे-जैसे व्याध-वधू के पयोधर बढ़ते हैं, तैसे-तैसे पाँच वस्तुयें क्षीण होती जा रही है—पति, धनुष, गाँव के तरुण और सपत्नियाँ ॥ ५ ॥

(पति विषय सेवन से, धनुष तनूकरण से, गाँव के युवक विरहताप से और सपत्नियाँ डाह से दुर्बल होती जा रही है)

---

१. केसरी और मतगज के रण ने, वन में उत्पात मचाया।
दोनो को रोष-भरे पति ने झट एक ही बाण से मार गिराया।
देखते ही यह व्याध-वधू! अरी तूने गडाधन कौन सा पाया ?
नाचती क्यों है ? अभागिन! सोच ले, तेरे तो रोने का वासर आया ॥

२०९. जह जह वड्ढंति थणा वियसइ मयणो सवम्महा दिट्ठी ।
तह तह वाहजुवाणो दियहे धणुल्लिहइ ।। ६ ।।
यथा यथा वर्धेते स्तनौ विकसति मदनः समन्मथा दृष्टिः ।
तथा तथा व्याधयुवा दिवसे दिवसे धनुरुल्लिखति ।।

*२१०. जह जह न चडइ चावो उम्मिल्लइ करह पल्लिणाहस्स ।
तह तह सुण्हा विप्फुल्लगंडविवरुम्मुही हसइ ।। ७ ।।
यथा यथा नारोहति चापो भ्रश्यते (स्रंसते) करात् पल्लिनाथस्य ।
तथा तथा स्नुषा विफुल्लगण्डविवरोन्मुखी भवति ।।

२११. दिन्नं थणाण अग्घं करिणीजूहेण वाहवहुयाए ।
रंडत्तणं न पत्तं हे सुंदरि तुह पसाएण ।। ८ ।।
दत्तः स्तनयोरर्धः करिणीयूथेन व्याधवध्वाः ।
रण्डात्वं न प्राप्तं हे सुन्दरि तव प्रसादेन ।।

२१२. सिहिपेहुणावयंसा वहुया वाहस्स गव्विरी भमइ ।
गयमुत्तागहियपसाहणाण मज्झे सवत्तीणं ।। ९ ।।
शिखिपिच्छावतंसा वधूर्व्याधस्य गर्ववती भ्राम्यति ।
गजमुक्तागृहीतप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ।।

२१३. वाणियय हत्थिदंता कत्तो अम्हाण वग्घकित्तीओ ।
उत्तुंगथोरथणवट्टसालसा जं वहू सुवइ ।। १० ।।
वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयः ।
उत्तुंगपृथुस्तनपट्टसालसा यद्वधूः स्वपिति ।।

२०९. जैसे-जैसे प्रिया के स्तन बढ़ रहे थे, काम की वृद्धि हो रही थी और दृष्टि सकाम होती जा रही थी, तैसे-तैसे व्याध-युवक प्रतिदिन अपना धनुर्दण्ड (छील कर) पतला करता जा रहा था ॥ ६ ॥

*२१०. जैसे-जैसे पल्लीनाथ अपना धनुष नही चढ़ा पाता था और वह उस के हाथ से गिर-गिर पड़ता था, वैसे-वैसे उसकी बहू, जिसके विकसित कपोलों पर गड्ढे पड़ गये थे, दूसरी ओर मुँह करके हँस पड़ती थी[1] ॥ ७ ॥

(मुझ में आसक्त होने के कारण इन की यह दशा हो गई है—यह सोच कर व्याध-वधू को हँसी आ जाती थी)

२११. हथिनियों के झुण्ड ने व्याध-वधू के स्तनों को अर्घ्य दिया—सुन्दरि तुम्हारे प्रसाद से हमें वैधव्य नही प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥

(वधू के स्तनों से आकृष्ट व्याध ने विषयासक्त होकर आखेट करना बन्द कर दिया था जिससे हथिनियों का सौभाग्य अक्षुण्ण रह गया)

२१२. जिन्होंने गज-मुक्ताओं से शृंगार किया था, उन सौतों के बीच मयूर-पुच्छ का आभूषण धारण करने वाली व्याध-वधू गर्व के साथ भ्रमण करती थी ॥ ९ ॥

(वह सोचती थी कि व्याध इन सौतों मे बिल्कुल नही आसक्त था। अतः उस की शक्ति क्षीण नहीं हुई थी। उन दिनों उसने शक्तिशाली गजराजों को मार कर मुक्ताहलों से पत्नियों का शृंगार किया था। आज मेरे प्रणय-पाश से आबद्ध होकर इतना दुर्बल हो गया है कि हाथियों का वध करने की शक्ति ही नहीं रह गई है। मयूरों के आखेट से ही सन्तोष कर लेता है। मैं तुच्छ मयूर-पुच्छ का आभूषण धारण कर के भी इन बहुमूल्य मुक्ताहलों से लदी हुई सौतों से श्रेष्ठ हूँ, क्योंकि पति का दुर्लभ-प्रेम मैंने ही पाया है, इन (सौतों) ने नहीं)

२१३. वणिक्! जब तक घर में उत्तुंग-स्तन-भार से अलसाने वाली वधू सोती है, हमारे पास हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म कहाँ? ॥ १० ॥

---

१. बिहारी ने भी हँसते समय कपोलों पर गाड़ पड़ने का वर्णन किया है—
गोरी गदकारी परै, हँसत कपोलन गाड़।
कैसी लसति गमारि यह, सुनकिरवा की आड़ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

२१४. वग्घाण नहा सीहाण केसरा मोत्तिया गइंदाणं ।
कत्तो वाणिय अम्हं मयचम्मपरिग्गहो नत्थि ।। ११ ।।

व्याघ्राणां नखाः सिंहानां केसरा मौक्तिकानि गजेन्द्राणाम् ।
कुतो वाणिजास्माकं मृगचर्मपरिग्रहो नास्ति ॥

२३. हरिणवज्जा [हरिणपद्धतिः]

२१५. हरिणा जाणंति गुणा रण्णे वसिऊण गेयमाहप्पं ।
ताणं चिय नत्थि धणं जीय वाहस्स अप्पंति ।। १ ।।

हरिणाः जानन्ति गुणानरण्य उषित्वा गेयमाहात्म्यम् ।
तेषामेव नास्ति धनं जीव व्याधस्यार्पयन्ति ॥

२१६. अम्हाण तिणंकुरभोयणाण न हु किंचि संचियं दविणं ।
मह मंसपिंडतुट्ठो जइ वच्चइ ता अहं धन्नो ।। २ ।।

अस्माकं तृणाङ्कुरभोजनानां न खलु किमपि संचितं द्रविणम् ।
मम मांसपिण्डतुष्टो यदि व्रजति तदाहं धन्यः ॥

२१७. एक्केण वि सरउ सरेण वाह किं बीयएण गहिएण ।
एक्कं पि वसइ जीयं हयास दोण्हं पि य सरीरे ।। ३ ।।

एकेनापि पूर्यतां शरेण व्याध किं द्वितीयेन गृहीतेन ।
एकोऽपि वसति जीवो हताश द्वयोरपि च शरीरे ॥

२१८. सरसल्लिएण भणियं कंधं धुणिऊण जुण्णहरिणेण ।
गिज्जउ पुणो वि गिज्जउ जाव य कंठट्ठिओ जीवो ।। ४ ।।

शरशल्यितेन भणितं स्कन्धं धूत्वा जीर्णहरिणेन ।
गीयतां पुनर्गीयतां यावच्च कण्ठस्थितो जीवः ॥

२१९. घाएण मओ सद्देण मई चोज्जेण वाहवहुया वि ।
अवठंभिऊण धणुहं वाहेण वि मुक्किया पाणा ।। ५ ।।

घातेन मृगः शब्देन मृगी आश्चर्येण व्याधवधूरपि ।
अवष्टभ्य धनुर्व्याधेनापि मुक्ताः प्राणाः ॥

२१४. वणिक्! व्याघ्रों के नख, सिंहों के केसर और गजेन्द्रों के मौक्तिक कहाँ? हमारे पास तो मृगचर्म भी नही है ॥ ११ ॥

(पुत्र की विषय-प्रसक्ति से खिन्न व्याध-माता की उक्ति है। वह कहती है कि मेरा विषयी-पुत्र अब हाथियों और व्याघ्रों को कौन कहे, तुच्छ मृगों को भी नही मार पाता है)

२३—हरिण-वज्जा (हरिण-पद्धति)

२१५. हरिण वन में रह कर भी गीत का महत्त्व जानते है। उन के पास धन नही है, व्याध (शिकारी) को जीवन ही अर्पित कर देते हैं ॥ १ ॥

२१६ हम तृणांकुरों का भोजन करते हैं, हमारे पास (देने के लिए) कुछ भी संचित द्रव्य नही है। यदि वह गाने वाला व्याध हमारे मांस-पिण्ड से तुष्ट हो कर चला जाय, तो धन्य हो जायेंगे ॥ २ ॥

२१७. व्याध! एक ही बाण छोड़ो, दूसरा क्यों लेते हो। इन दोनों (हरिण और हरिणी) के शरीरों मे एक ही जीव बसता है (अर्थात् एक के मारने पर दोनों ही मर जायेंगे ॥ ३ ॥

२१८. शर-विद्ध बूढे हरिण ने कन्धा हिला कर कहा—(व्याध!) जब तक कण्ठ में जीव है, तब तक गाओ और फिर गाओ ॥ ४ ॥

२१९. मृग तो आघात से मर गया, मृगी मृग के करुण शब्द को सुन कर मर गई, व्याध-वधू आश्चर्य से मर गई और व्याध ने भी धनुष रोक कर अपने प्राण छोड़ दिए[1] ॥ ५ ॥

---

१. पहरेण मओ विहरेण तह मई घरिणिणयणसभरिओ
बाहो वियलियवाहो तिण्णि वि सभयं च्चिय मयाइं ॥
—लीलावई

२४. करहवज्जा [करभपद्धतिः]

२२०. कंकेल्लिपल्लवोव्वेल्लमणहरे जइ वि नंदणे चरइ ।
करहस्स तह वि मरुविलसियाइ हियए खुडुक्कंति ।। १ ।।
कङ्केल्लिपल्लवोद्वेलमनोहरे यद्यपि नन्दने चरति ।
करभस्य तथापि मरुविलसितानि हृदय आविर्भवन्ति ।।

२२१. ते गिरिसिहरा ते पीलुपल्लवा ते करीरकसरक्का ।
लब्भंति करह मरुविलसियाइ कत्तो वणेत्थम्मि ।। २ ।।
तानि गिरिशिखराणि ते पीलुपल्लवास्ते करीरकुड्मलाः ।
लभ्यन्ते करभ मरुविलसितानि कुतो वनेऽत्र ।।

२२२. पुणरुत्तपसारियदीहकंधरो करह किं पलोएसि ।
कत्तो लब्भति मरुत्थलीउ दिव्वे पराहुत्ते ।। ३ ।।
पुनरुक्तप्रसारितदीर्घकन्धरः करभ किं प्रलोकयसि ।
कुतो लभ्यन्ते मरुस्थल्यो दैवे पराङ्मुखे ।।

२२३. दीहुण्हपउरणीसाससोसियासेसपीलुसयसिहरो ।
कवल पि न गेण्हसि करह मुद्ध किं चक्खियमपुव्वं ।। ४ ।।
दीर्घोष्णप्रचुरनिःश्वासशोषिताशेषपीलुशतशिखरः ।
कवलमपि न गृह्णासि करभ मुग्ध किमास्वादितमपूर्वम् ।।

२२४. उन्नयकंधर मा जूर करह ता धरसु किं चि चरिऊण ।
तुह जोग्गा अक्कमरुत्थलीइ तुंगा तरू कत्तो ।। ५ ।।
उन्नतकन्धर मा खिद्यस्व करभ तावद् ध्रियस्व किंचिच्चरित्वा ।
तव योग्या अर्कमरुस्थल्यां तुङ्गास्तरवः कुतः ।।

*२२५. ज जोहाइ विलग्गं किंचि वरं मामि तस्स तं दिट्ठं ।
थुक्केइ चक्खिउं वणसयाइ करहो धुयग्गीवो ।। ६ ।।
यज्जिह्वायां विलग्नं किंचिद्वरं सखि तस्य तद्दृष्टम् ।
थूत्करोत्यास्वाद्य वनशतानि करभो धुतग्रीवः ।।

२४—करह-वज्जा (करभ-पद्धति)

२२०. यद्यपि ऊँट अशोक-पल्लवों से भरे नन्दन वन में चरता है, फिर भी मरुस्थल के सुखों की स्मृतियाँ हृदय में आ जाती हैं ॥ १ ॥

२२१ वे शैल-शिखर, वे पीलु-पल्लव, वे करील-कुड्मल और मरुस्थल की वे विलास-क्रीडाएँ इस वन में कहाँ ? ॥ २ ॥

२२२. करभ (ऊँट) ! बार-बार लम्बी गर्दन फैलाकर क्या देख रहे हो ? भाग्य विपरीत हो जाने पर मरुस्थल भी कहाँ मिलते है ? ॥ ३ ॥

२२३. मुग्ध-करभ ! तुम बार-बार दीर्घ, उष्ण एवं घनी उसाँसों से पीलु-वृक्षों के सम्पूर्ण पल्लवों को सुखा दे रहे हो। कौर भी नहीं उठा रहे हो। कौन-सा (ऐसा) अपूर्व पदार्थ चख लिया है ? ॥ ४ ॥

२२४. हे उन्नत-स्कन्ध करभ ! दुःख मत करो। कुछ चर कर धीरज धर लो। इस मदारों के मरुस्थल मे तुम्हारे योग्य उन्नत वृक्ष कहाँ ? ॥ ५ ॥

*२२५. (वह) ऊँट सैकड़ों वनों (वृक्ष-समूहों) को चख कर और गर्दन हिला कर, थूक देता है। सखि ! यह देखा गया है कि जिसकी जिह्वा में जो लग जाता है (रुच जाता है), उसके लिए वही श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

*विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

२२६. अन्नेहिं पि न पत्ता पत्तलकरहेहि करह सा वेल्ली ।
को एसो तुज्झ गहो जं चिंतसि विंझसिहराइ ॥ ७ ॥
अन्यैरपि न प्राप्ता कृशकरभैः करभ सा वल्ली।
क एष तव ग्रहो यच्चिन्तयसि विन्ध्यशिखराणि॥

२५. मालईवज्जा [मालतीपद्धतिः]

२२७. तह तुह विरहे मालइ महिमंडलवंदणिज्जमयरंदे ।
परिझीणं भमरउलं जह जायं मसयवंदं व ॥ १ ॥
तथा तव विरहे मालति महीमण्डलवन्दनीयमकरन्दे।
परिक्षीणं भ्रमरकुलं यथा जातं मशकवृन्दमिव॥

२२८. वड्ढसु मालइकलिए निब्भरमयरंदपरिमलुग्गारे ।
मुंचंतु छप्पया सेसकुसुमसेवाकिलेसस्स ॥ २ ॥
वर्धस्व मालतीकलिके निर्भरमकन्दरन्दपरिमलोद्गारे।
मुञ्चन्तु षट्पदाः शेषकुसुमसेवाक्लेशम्॥

२२९. वियसंतु नाम गंधुद्धुराउ सेसाउ कुसुमजाईओ ।
इंदिंदिरस्स रणरणयकारणं मालइ च्चेव ॥ ३ ॥
विकसन्तु नाम गन्धोद्धुराः शेषाः कुसुमजातयः।
इन्दिन्दिरस्य रणरणककारणं मालत्येव॥

२३०. मडहं मालइकलियं महुयर दट्ठूण किं पराहुत्तो ।
एत्तो पसरइ भुवणंतराइ गंधो वियंभंतो ॥ ४ ॥
लघ्वीं मालतीकलिकां मधुकर दृष्ट्वा किं पराङ्मुखः।
इतः प्रसरति भुवनान्तराणि गन्धो विजृम्भमाणः॥

२३१. मडहुल्लियाइ किं तुह इमीइ किं वा दलेहि तलिणेहिं ।
आमोए महुयर मालईइ जाणिहिसि माहप्पं ॥ ५ ॥
लघुतया किं तवैतस्याः किं पत्रैस्तलिनैः।
आमोदे मधुकर मालत्या ज्ञास्यसि माहात्म्यम्॥

२२६. अरे करभ ! अन्य कृशकाय करभों को यह वेलि भी नहीं मिल सकी। तुम्हारा यह आग्रह कैसा कि (आज उसे पाकर भी) विन्ध्य की ऊँची चोटियों की चिन्ता (ध्यान) कर रहे हो।। ७ ॥

२५—मालई-वज्जा (मालती-पद्धति)

२२७. हे मालती ! तुम्हारा मकरन्द महीमण्डल में वन्दनीय है। तुम्हारे विरह में क्षीण भ्रमर-कुल बिल्कुल मच्छरों का समूह बन गया है ॥ १ ॥

२२८. हे मालती-कलिके ! तुम भरे हुए मकरन्द को महक फैला रही हो, वृद्धि को प्राप्त होओ, (ताकि) भंवरे अन्य पुष्पों की सेवा के कष्ट से मुक्त हो जायें ॥ २ ॥

२२९. (चाहे) महकने वाले पुष्पों की शेष जातियां खिला करें। (किन्तु) भ्रमर की उत्कण्ठा का कारण तो एकमात्र मालती ही है ॥ ३ ॥

२३०. अरे मधुकर ! नन्हीं सी मालती-कलिका को देख कर फिरे क्यों जा रहे हो ? यहां से वह सुगन्ध फैलती है, जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो जाती है ॥ ४ ॥

२३१. अरे मधुकर ! यदि मालती की आकृति नन्ही-सी है और उसकी पँखड़ियां भी पतली है तो उस से क्या ? इस का महत्त्व सुगन्ध से समझोगे ॥ ५ ॥

२३२. तह वासियं वणं मालईइ कुसुमेहि निब्भरं सरए ।
जह इत्थ तत्थ कत्थ वि भमरा दुक्खेहि लक्खंते ॥ ६ ॥

तथा वासितं वनं मालत्या कुसुमैनिर्भरं शरदि ।
यथात्र तत्र कुत्रापि भ्रमरा दुःखैर्लक्ष्यन्ते ॥

२३३. का समसीसी सह मालईइ सेसाण कुसुमजाईणं ।
जस्स वि गंधविलित्ता भसला भसलेहि पिज्जंति ॥७॥

का समशीर्षिका सह मालत्या शेषाणां कुसुमजातीनाम् ।
यस्यापि गन्धविलिप्ता भ्रमरा भ्रमरैः पीयन्ते ॥

२३४. कलियामिसेण उब्भेवि अंगुलि मालईइ महमहियं ।
धरउ जु धरणसत्थो मह एंतो महुयरजुवाणो ॥ ८ ॥

कलिकामिषेणोर्ध्वीकृत्ययाङ्गुलि मालत्या कथितम् ।
धरतु यो धरणसमर्थो माम् आयन् मधुकरयुवा ॥

२३५. पक्खुक्खेवं नहसूइखंडणं भमरभरसमुव्वहणं ।
उव सहइ थरहरंती वि दुब्बला मालइ च्चेव ॥ ९ ॥

पक्षोत्क्षेपं नखसूचिखण्डनं भ्रमरभरसमुद्वहनम् ।
पश्य सहते कम्पमानापि दुर्बला मालत्येव ॥

२६. इंदिंदिरवज्जा [इन्दिन्दिरपद्धतिः]

२३६. इंदिंदिर छप्पय भसल भमर भमिओ सि काणणं सयलं ।
मालइसरिसं कुसुमं जइ दिट्ठं कि न ता भणसि ॥१॥

इन्दिन्दिर षट्पद भसल भ्रमर भ्रान्तोऽसि काननं सकलम् ।
मालतीसदृशं कुसुमं यदि दृष्टं किं न तदा भणसि ॥

२३७. कत्थ वि दलं न गंधं कत्थ वि गंधो न पउरमयरंदो ।
एक्ककुसुमम्मि महुयर बे तिन्नि गुणा न लब्भंति ॥२॥

कुत्रापि दलं न गन्धः कुत्रापि गन्धो न प्रचुरमकरन्दः ।
एककुसुमे मधुकर द्वौ त्रयो गुणा न लभ्यन्ते ॥

२३२. मालती ने शरद् में अपने फूलों से वन को कुछ ऐसा महका दिया कि कहीं भी इधर-उधर बड़ी कठिनाई से भँवरे दिखाई देते हैं (अर्थात् सभी भ्रमर मालती लताओं पर ही आ गये) ॥ ६ ॥

२३३. शेष पुष्प-जातियों की मालती से क्या स्पर्धा, जिसकी गन्ध से लिप्त भँवरों को भँवरे ही पी डालते है ॥ ७ ॥

२३४. मालती ने कलिका के व्याज (माध्यम) से अंगुली उठा कर सुगन्ध की भाषा में यों कहा—इधर आता हुआ जो भ्रमर-कुमार समर्थ हो, वह मेरे ऊपर अधिकार करे ॥ ८ ॥

२३५. देखो, पक्षियों के पंखों का आघात, (चुनने वालों के, नाखूनों और (मालाकार की) सूईयों के घाव तथा भ्रमरों का भार थरथराती हुई दुबली-पतली मालती ही सह पाती है ॥ ९ ॥

२६—इंदिंदिर-वज्जा (इन्दिन्दिर-पद्धति)

२३६. इन्दिन्दिर ! षट्पद ! भ्र.र! तुम सम्पूर्ण कानन में भ्रमण कर चुके हो। यदि मालती के समान कोई पुष्प देखा हो, तो क्यों नही बताते ? (कहते) ॥ १ ॥

२३७. भ्रमर ! कहीं पंखड़ियाँ हैं, तो गन्ध नहीं और कहीं गन्ध है, तो प्रचुर मकरन्द नहीं। एक पुष्प में दो-तीन गुण नही पाये जाते ॥ २ ॥

२३८. एक्कं महुयरहियं तं चिय पुण मालईइ पडिरुद्धं ।
सेसा फुल्लंतु फलंतु पायवा को निवारेइ ॥ ३ ॥

एकं मधुकरहृदयं तदेव पुनर्मालत्या प्रतिरुद्धम् ।
शेषाः पुष्पन्तु फलन्तु पादपाः को निवारयति ॥

२३९. मालइ पुणो वि मालइ हा मालइ मालइ त्ति जंपंतो ।
उव्विग्गो भमइ अली हिंडंतो सयलवणराई ॥ ४ ॥

मालति पुनरपि मालति हा मालति मालतीति जल्पन् ।
उद्विग्नो भ्रमत्यलिर्हिण्डमानः सकलवनराजीः ॥

२४०. *रुणरुणइ वलइ वेल्लइ पक्खउडं धुणइ खिवइ अंगाइ ।
मालइकलियाविरहे पंचावत्थं गओ भमरो ॥ ५ ॥

रुणरुणायते वलति वेल्लति वक्षपुट धुनोति क्षिपत्यङ्गानि ।
मालतीकलिकाविरहे पञ्चावस्था गतो भ्रमरः ॥

२४१. *मालइविरहे रे तरुणभसल मा रुवसु निब्भरुक्कंठं ।
वल्लहविओयदुक्खं मरणेण विणा न वीसरइ ॥ ६ ॥

मालतीविरहे रे तरुणभ्रमर मा रोदीर्निर्भरोत्कण्ठनम् ।
वल्लभवियोगदुःखं मरणेन विना न विस्मर्यते ॥

२४२. जाव न वियसइ सरसा वरइ न ईस पि मालईकलिया ।
अविणीयमहुयरेहि ताव च्चिय पाउमारद्धा ॥ ७ ॥

यावन्न विकसति सरसा वृणोति नेशमपि मालतीकलिका ।
अविनीतमधुकरैस्तावदेव पातुमारब्धा ॥

२४३. वियसंतसरसतामरसभसल वियसेइ मालई जाव ।
ता जत्थ व तत्थ व जह व तह व दियहा गमिज्जंति ॥८॥

विकसत्सरसतामरसभ्रमर विकसति मालती यावत् ।
तावद्यत्र वा तत्र वा यथा वा तथा वा दिवसा गम्यन्ते ॥

२३८. भ्रमर के एक ही मन है, उसे मालती ने बाँध लिया है। शेष वृक्ष भी फूलें और फलें, रोकता कौन है ? ॥ ३ ॥

२३९. बार-बार मालती ! मालती ! हाय मालती ! हाय मालती !— कहता हुआ भँवरा दुःखी हो कर सम्पूर्ण वनराजि में भटक रहा है ॥ ४ ॥

२४० *भ्रमर मालती के वियोग में मरणावस्था को प्राप्त हो गया है। वह गुनगुनाता है, चक्कर काटता है, काँपता है, पंखों को हिलाता है और अंगो को पटकता है ॥ ५ ॥

२४१. *अरे तरुण मधुकर ! मालती के वियोग में मुक्तकण्ठ से विलाप मत करो। वल्लभा का वियोग बिना मरे नहीं भूलता ॥ ६ ॥

२४२. अभी मालती कलिका विकसित नही हुई थी, (युवती नहीं हुई थी) उस मे रस (मकरन्द या शृंगार भाव) नहीं आया था और उसने अपने प्रणयी को चुना भी नही था कि अविनीत मधुकरों ने तभी उसे पीना आरम्भ कर दिया ॥ ७ ॥

२४३- अरे विकसित-सरस- कमलों में रहने वाले भ्रमर ! जब तक मालती नहीं खिलती है, तब तक इधर-उधर जैसे-तैसे दिन काट लो ॥ ८ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

२४४. *छप्पय गमेसु कालं वासवकुसुमाइ ताव मा मुयसु ।
मन्न जियंतो पेच्छसि पउरा रिद्धी वसंतस्स ।। ९ ।।

षट्पद गमयस्व कालं वासवकुसुमानि तावन्मा मुञ्च ।
मन्ये जीवन् पश्यसि प्रचुरा ऋद्धीर्वसन्तस्य ।।

२४५. मा इंदिदिर तुगसु पंकयदलणिलय मालईविरहे ।
तुंबिणिकुसुमाइ न संपडंति दिव्वे पराहुत्ते ।। १० ।।

मेन्दिन्दिर ताम्य पङ्कजदलनिलय मालतीविरहे ।
तुम्बिनिकुसुमानि न संपतन्ति दैवे पराग्भूते ।।

२४६. इयरकुसुमेसु महुयर दे बंध रइं विमुंच रणरणयं ।
झायंतो च्चिय मरिहिसि कत्तो ते मालई सरए ।। ११।

इतरकुसुमेषु मधुकर हे बधान रतिं विमुञ्च रणरणकम् ।
ध्यायन्नेव मरिष्यसि कुतस्ते मालती शरदि ।।

२४७. भमरो भमरो त्ति गुणोज्झिएहिं कुसुमेहिं लाइओ दोसो ।
लहिऊण मालइं पुण सो निउणो भमउ जइ भमइ ।।१२।।

भ्रमरो भ्रमर इति गुणोज्झितैः कुसुमैरारोपितो दोषः
लब्ध्वा मालतीं पुनः स निपुणो भ्रमतु यदि भ्रमति ।।

२४८. कुन्दलयामउलपरिट्ठिएण भरिऊण मालइविलासं ।
तह नीससियं इंदिंदिरेण जह सा वि पज्जलिया ।।१३।।

कुन्दलमतामुकुलपरिस्थितेन स्मृत्वा मालतीविलासम् ।
तथा निःश्वसितमिन्दिरेण यथा सापि प्रज्वलिता ।।

२४९. *वोसट्टबहलपरिमलकेयइमयरंदवासियंगस्स ।
हियइच्छियपियलंभा चिरा सया कस्स जायंति ।।१४।।

विकसितबहलपरिमलकेतकीमकरन्दवासिताङ्गस्य ।
हृदयेप्सितप्रियालम्भाश्चिरात् सदा कस्य जायन्ते ।।

२४४. *भ्रमर ! अपना दिन काटो, अरूसे के फूलों को तब तक मत छोड़ो। मैं समझता हूँ कि जीवित रहोगे तो वसन्त का प्रचुर वैभव फिर देखोगे ॥ ९ ॥

२४५. पंकज-पुंज मे घर करने वाले भ्रमर ! मालती के वियोग में भटको मत। भाग्य विपरीत होने पर लौकी के फूल भी नही मिलते है ॥ १० ॥

२४६. अरे भ्रमर ! अन्य फूलो से प्रेम जोड़ लो। अरे यह उत्कंठा छोड दो। सोचते-सोचते ही मर जाओगे। इस शरद् मे मालती कहाँ ? ॥ ११ ॥

२४७. भँवरा भ्रमणशील होता है—इस प्रकार का दोष गुणहीन पुष्प लगाते है। (किन्तु) मालती को पाकर वह निपुण भँवरा यदि अन्यत्र चला जाय, तब समझें ॥ १२ ॥

२४८. कुन्दलता के मुकुल पर स्थित भ्रमर ने मालती को स्मरण करके कुछ ऐसी लम्बी साँस ली कि उससे वह जलकर भस्म हो गई ॥ १३ ॥

२४९. *एक बार बहुपरिमला प्रफुल्ल केतकी के मकरन्द से जिसके अंग सुवासित हो चुके हैं, ऐसे किस भ्रमर (या युवक) को चिरकाल में मनोवाछित प्रियाओं (कलिकाओं या लताओं या तरुणियों) की उपलब्धियाँ सदा होती हैं ? अर्थात् सदा नहीं होती हैं ॥ १४ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

२५०. वियलियदलं पि गंधोज्झियं पि विरसं पि मालईविडवं ।
भसलेहि नेय मुक्कं पढमरसं संभरंतेहि ॥ १५ ॥
विगलितदलोऽपि गन्धोज्झितोऽपि विरसोऽपि मालतीविटपः ।
भ्रमरैर्नैव मुक्तः प्रथमरसं संस्मरद्भिः ॥

२५१. ढंखरसेसो वि हु महुयरेहि मुक्को न मालईविडवो ।
दरवियसियकलियामोयबहलिमं संभरंतेहि ॥ १६ ॥
पत्रपुष्परहितशाखाशेषोऽपि खलु मधुकरैर्मुक्तो न मालतीविटपः ।
दरविकसितकलिकामोदबाहुल्यं संस्मरद्भिः ॥

२५२. निबिडदलसठियं पि हु कलियं वियसाविऊण सविसेसं ।
जे पढमं तीइ रस पियंति ते छप्पया छेया ॥ १७ ॥
निबिडदलसंस्थितामपि खलु कलिका विकास्य सविशेषम् ।
ये प्रथमं तस्या रसं पिबन्ति ते षट्पदाश्छेकाः ॥

२७. सुरतरुविसेसवज्जा [सुरतरुविशेषपद्धतिः]

२५३. वसिऊण सग्गलोए गंधं गहिऊण पारिजायस्स ।
रे भसल कि न लज्जसि चुंबंतो इयरकुसुमाइं ॥ १ ॥
उषित्वा स्वर्गलोके गन्धं गृहीत्वा परिजातस्य ।
रे भ्रमर कि न लज्जसे चुम्बन्नितरकुसुमानि ॥

२५४. कत्तो लवंगकलिया इच्छ पूरेइ छेयभसलस्स ।
अमरतरुमंजरिरसेण जस्स आणंदियं हिययं ॥ २ ॥
कुतो लवङ्गकलिकेच्छां पूरयति च्छेकभ्रमरस्य ।
अमरतरुमञ्जरीरसेन यस्यानन्दितं हृदयम् ॥

२५५. *भमर भमंतेण तए अणेयवणगहणकाणणुद्देसं ।
दिट्ठो सुओ य कत्थ वि सरिसतरू पारिजायस्स ॥ ३ ॥
भ्रमर भ्राम्यता त्वयानेकवनगहनकाननोद्देशम् ।
दृष्टः श्रुतश्च कुत्रापि सदृशतरुः पारिजातस्य ॥

२५०. मालती की शाखा की पत्तियाँ झड़ जाने पर भी, गन्ध न रह जाने पर भी, रस-हीन हो जाने पर भी, पहली बार की रसानुभूति का स्मरण करने वाले भ्रमरों ने उसे नहीं छोड़ा ॥ १५ ॥

२५१. मालती की शाखा मे पत्र और पुष्प न रह जाने पर भी किंचित् विकसित कलिका की सुगन्ध को याद रखने वाले भ्रमरों ने उसे नहीं छोड़ा ॥ १६ ॥

२५२. जो कसी हुई पंखड़ियों वाली कली को विशेष-रूप से खिला कर प्रथम उस का रस-पान करते है, वे भ्रमर विदग्ध (चतुर) हैं ॥ १७ ॥

२७—सुरतरुविसेसवज्जा (सुर-तरु-विशेष-पद्धति)

२५३. अरे भ्रमर ! स्वर्गलोक में रह कर और पारिजात का सौरभ प्राप्त करके भी मदार के फूलों को चूमते तुझे लज्जा नही आती ॥ १ ॥

२५४. पारिजात की मंजरियों से जिसका हृदय आनन्दित हो चुका है, उस विदग्ध भ्रमर की इच्छा लौंग की कली कहाँ से पूर्ण कर सकती है ? ॥ २ ॥

२५५. *भ्रमर ! क्या तुमने अनेक वनों, गहरों और गृहों में भ्रमण करके पारिजात के समान किसी वृक्ष को कहो भी देखा-सुना है ? ॥ ३ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

२५६. अमरतरुकुसुममंजरि वाउहया महुयरेण जं रसिया ।
तल्लद्धरसेण कओ संकप्पो सेसकुसुमाणं ॥ ४ ॥
अमरतरुकुसुममञ्जरी वायुहता मधुकरेण यद्रसिता ।
तल्लब्धरसेन कृतः संकल्पः शेषकुसुमानाम् ॥

२८. हंसवज्जा [हंसपद्धतिः]

२५७. हंसो सि महासरमंडणो सि धवलो सि धवल किं तुज्झ ।
खलवायसाण मज्झे ता हंसय कत्थ पडिओ सि ॥ १ ॥
हंसोऽसि महासरोमण्डनमसि धवलोऽसि धवल किं तव ।
खलवायसानां मध्ये तस्माद्धंस कुत्र पतितोऽसि ॥
२५८. हंसो मसाणमज्झे काओ जइ वसइ पंकयवणम्मि ।
तह वि हु हंसो हंसो काओ काओ च्चिय वराओ ॥ २ ॥
हंसः श्मशानमध्ये काको यदि वसति पङ्कजवने ।
तथापि खलु हंसो हंसः काकः काक एव वराकः ॥

२५९. अहिणवघणउच्छलिया सवित्थरा जइ वि पाउसवसेण ।
तह वि हु किं सेविज्जइ वाहलिया रायहंसेहि ॥ ३ ॥
अभिनवघनोच्छलिता सविस्तरा यद्यपि प्रावृड्वशेन ।
तथापि खलु किं सेव्यते क्षुद्रनदी राजहंसैः ॥

२६०. बे वि सपक्खा तह बे वि धवलया बे वि सरवरणिवासा ।
तह वि हु हंसबयाणं जाणिज्जइ अंतरं गरुयं ॥ ४ ॥
द्वावपि सपक्षौ तथा द्वावपि धवलौ द्वावपि सरोवरनिवासौ ।
तथापि खलु हंसबकयोर्ज्ञायतेऽन्तरं गुरुकम् ॥

२६१. नवणलिणमुणालुल्लोलमालियं हंस माणसं मोत्तुं ।
लज्जाइ कह न मूओ सेवंतो गामवाहलियं ॥ ५ ॥
नवनलिनमृणालोल्लोलमालितं हंस मानसं मुक्त्वा ।
लज्जया कथं न मृतः सेवमानो ग्रामक्षुद्रनदीम् ॥

२५६. भ्रमर ने वायु से आहत पारिजात मंजरी का जो उपभोग कर लिया, तो उससे प्राप्त रस (आनन्द और जल) से शेष कुसुमो का संकल्प कर दिया (अर्थात् दान कर दिया। दान मे दी हुई वस्तु को कोई पुनः ग्रहण नही करता है। दान संकल्प जल के साथ किया जाता है, यहाँ रस ही जल है) ॥ ४ ॥

२८—हंस-वज्जा (हंस-पद्धति)

२५७. तुम मानसरोवर के विभूषण हो और उज्ज्वल हो। अरे श्वेत वर्णवाले, तुम्हें क्या हो गया? दुष्ट कौओं के बीच कहाँ पड़ गये? ॥ १ ॥

२५८. यदि हंस श्मशान मे रहे और कौआ कमलों के वन में, तब भी हंस-हंस ही है और कौआ-कौआ ही ॥ २ ॥

२५०. यदि क्षुद्र नदी वर्षा मे नवीन मेघों के कारण उमड़ कर बहने लगे और विस्तृत हो जाय तो भी क्या राजहंस उसका सेवन करते हैं? ॥ ३ ॥

२६०. दोनों ही पंखों वाले है, दोनों ही शुभ्र हैं और दोनों ही सरोवर मे निवास करते है, फिर भी हंसों और वको में बड़ा अन्तर जाना जा सकता है ॥ ४ ॥

२६१. हंस! नवीन कमलों के मृणालों और (मृणाल भक्षी पक्षियों के) कोलाहलों से विभूषित[1] (अथवा नवीन कमल-मृणालों की चंचल मालाओं से युक्त) मानस को छोड़कर नीरव क्षुद्र नदी का सेवन करते हुये तुम लज्जा से मर क्यों न गये? ॥ ५ ॥

---

१. मूल मे मालिअ शब्द है। मैंने पाइयसद्दमहण्णव के आधार पर उस का बिभूषित अर्थ दिया है।

२६२. एक्केण य पासपरिट्ठिएण हंसेण होइ जा सोहा ।
तं सरवरो न पावइ बहुएहि वि ढिंकसत्थेहिं ।। ६ ।।

एकेन च पार्श्वपरिस्थितेन हंसेन भवति या शोभा ।
तां सरोवरो न प्राप्नोति बहुभिरपि ध्वांक्षसार्थैः ।।

२६३. माणससररहियाणं जह न सुहं होइ रायहंसाणं ।
तह तस्स वि तेहि विणा तीरुच्छंगा न सोहंति ।। ७ ।।

मानससरोरहितानां यथा न सुखं भवति राजहंसानाम् ।
तथा तस्यापि तैर्विना तीरोत्सङ्गा न शोभन्ते ।।

२९. चंदवज्जा [चन्द्रपद्धतिः]

२६४. सव्वायरेण रक्खह तं पुरिसं जत्थ जयसिरी वसइ ।
अत्थमिय चंदबिंबे ताराहि न कीरए जोण्हा ।। १ ।।

सर्वादरेण रक्षत तं पुरुषं यत्र जयश्रीर्वसति ।
अस्तमिते चन्द्रबिम्बे ताराभिर्न क्रियते ज्योत्स्ना ।।

२६५. जह जह वड्ढेइ ससी तह तह ओ पेच्छ घेप्पइ मएण ।
वयणिज्जवज्जियाओ कस्स वि जइ हुंति रिद्धीओ ।। २ ।।

यथा यथा वर्धते शशी तथा तथाहो पश्य गृह्यते मृगेण (मदेन) ।
वचनीयवर्जिता कस्यापि यदि भवन्त्यृद्धयः ।।

२६६. जइ चंदो किं बहुतारएहि बहुएहि किं च तेण विणा ।
जस्स पयासो लोए धवलेइ महामहीवट्ठं ।। ३ ।।

यदि चन्द्रः किं बहुतारकाभिर्बहुभिः किं च तेन विना ।
यस्य प्रकाशो लोके धवलयति महामहीपृष्ठम् ।।

२६७. चंदस्स खओ न हु तारयाण रिद्धी वि तस्स न हु ताणं ।
गरुयाण चडणपडणं इयरा उण निच्चपडिया य ।। ४ ।।

चन्द्रस्य क्षयो न खलु तारकाणामृद्धिरपि तस्य न खलु तासाम् ।
गुरुकाणामारोहणपतनमितरे पुनर्नित्यपतिताश्च ।।

२६२. तट पर स्थित एक ही मराल से सरोवर जो शोभा पाता है, वह बहुत से सारसों के समूहों[1] से भी नहीं ॥ ६ ॥

२६३. जैसे मानस के अभाव मे राजहंसों को सुख नही मिलता है, वैसे ही हंसो के बिना मानस के भी तट सुशोभित नहीं होते ॥ ७ ॥

२९—चंद-वज्जा (चन्द्र-पद्धति)

२६४. जिसमें जयश्री निवास करती है, उसकी रक्षा बड़े आदर से करो। चन्द्र के अस्त हो जाने पर तारो से चाँदनी नहीं होती है ॥ १ ॥

२६५. चन्द्रमा जैसे-जैसे बढता है, ओह देखो, तैसे-तैसे मृग (कलंक) द्वारा गृहीत होता जाता है (पक्ष मे मद द्वारा)। यदि किसी की ऋद्धियाँ दोष-हीन होती (तो कितना अच्छा होता) ॥ २ ॥

२६६. जिसका प्रकाश विस्तृत भू-पृष्ठ को धवल बना देता है, उस अकेले चन्द्रमा के रहते बहुत से तारों से क्या प्रयोजन ? और उसके न रहने पर बहुत से तारों से भी क्या लाभ ? ॥ ३ ॥

२६७. चन्द्रमा का क्षय होता है, तारों का नही, ऋद्धि भी उसी की होती है, उनकी नहीं। चढाव-उतार श्रेष्ठ जनों का ही होता है, अन्य क्षुद्र लोग तो सदैव पतनावस्था मे ही रहते हैं ॥ ४ ॥

---

१. मूल मे ढिंक शब्द है। इसका अर्थ रत्नदेव की टीका मे नही है। डा० जगदीश चन्द्र जैन ने (प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५८५) ढिंक का अर्थ मेढक लिखा है (जिस की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है)। पाइयसद्द-महण्णव के अनुसार वह पक्षि विशेष का वाचक है। प्रो० पटवर्धन ने उसे कौए या सारस के अर्थ मे ग्रहण किया है। इन दोनो अर्थों मे प्रथम (कौआ) उपयुक्त नही है क्योंकि प्रसंगानुसार किसी जलचर विहंग का ही वर्णन होना चाहिये। द्वितीय अर्थ (सारस) ग्राह्य हो सकता है। हिन्दी काव्यों मे उक्त शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। 'देशी नाममाला' में वायस (कौआ) के अर्थ मे ढक शब्द सकलित है (ढंको अ वायसे—४।१३) और साथ ही बलाका के अर्थ मे ढेंकी शब्द भी है (बलाइया ढेंकी—४।१५)।

२६८. रयणायरम्मि जम्मो हरसिरतिलओ सहोयरा लच्छी ।
विहडियकलाकलावो दसिया वि समीहए चंदो ॥ ५ ॥

रत्नाकरे जन्म हरशिरस्तिलकः सहोदरा लक्ष्मीः ।
विघटितकलाकलापो दशामपि समीहते चन्द्रः ॥

२६९. हरसिरसरणम्मि गओ लुक्कंतो तह जडाण मज्झम्मि ।
तह वि गिलिज्जइ चंदो विहिविहियं को निवारेइ ॥ ६ ॥

हरशिरःशरणे गतो निलयंस्तथा जटानां मध्ये ।
तथापि गिल्यते चन्द्रो विधिविहितं को निवारयति ॥

३०. छइल्लवज्जा [विदग्धपद्धतिः]

२७०. नयरं न होइ अट्टालएहि पायारतुंगसिहरेहिं ।
गामो वि होइ नयरं जत्थ छइल्लो जणो वसइ ॥ १ ॥

नगरं न भवत्यट्टालकैः प्राकारतुङ्गशिखरैः ।
ग्रामोऽपि भवति नगरं यत्र विदग्धो जनो वसति ॥

२७१. निवसंति जत्थ छेया ललियक्खरकव्वबंधणे कुसला ।
जाणंति वंकभणियं सुन्दरि नयरं, न सो गामो ॥ २ ॥

निवसन्ति यत्र च्छेका ललिताक्षरकाव्यबन्धने कुशलाः ।
जानन्ति वक्रभणितं सुन्दरि नगरं, न स ग्रामः ॥

२७२. जो जंपिऊण जाणइ जंपियमत्तं च जाणए अत्थं ।
देसो तेण पवित्तो अच्छउ नयरं वसंतेण ॥ ३ ॥

यो जल्पितुं जानाति जल्पितमात्रं च जानात्यर्थम् ।
देशस्तेन पवित्र आस्तां नगरं वसता ॥

२७३. गुरुविहवलंघिया अवि आवइ पत्ता वि आउरमणा वि ।
सिविणंतरे वि छेया नियकज्जं नेय सिढिलंति ॥ ४ ॥

गुरुविभवलङ्घिता अप्यापदं प्राप्ता अप्यातुरमनसोऽपि ।
स्वप्नान्तरेऽपि च्छेका निजकार्यं नैव शिथिलयन्ति ॥

२६८ जिस का जन्म रत्नाकर में हुआ है, जो शिव के मस्तक का तिलक है, और जिसकी बहन लक्ष्मी है, उस चन्द्रमा की भी कलाएँ क्षीण हो जाती हैं और वह भी दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है।

२६९. विधि का विधान कौन रोक सकता है? चन्द्रमा ने शिव के शिर पर शरण ली और उनकी जटाओ मे भी जाकर छिपा, तब भी राहु उसे निगल ही गया ॥ ६ ॥

३०—छइल्ल-वज्जा (विदग्ध-पद्धति)

२७०. अट्टालिकाओं और ऊँचे प्राचीर-शिखरो से नगर नहीं होता। जहाँ विदग्ध-जन निवास करता है, वह गाँव भी नगर बन जाता है ॥ १ ॥

२७१. सुन्दरि! जो ललिताक्षर काव्यों की रचना मे पटु और वक्रोक्ति के अभिज्ञ है, वे विदग्ध जहाँ निवास करते है, वह नगर है, ग्राम नही ॥ २ ॥

२७२. जो संभाषण करना जानता है और कही हुई बात का मर्म तुरन्त समझ जाता है, उसके रहने से नगर को कौन कहे, देश पवित्र हो जाता है ॥ ३ ॥

२७३. चतुरजन विपुल-वैभव-द्वारा ऊपर उठने पर भी, आपत्ति मे पड़ने पर भी, आतुर-चित्त होने पर भी और स्वप्न में अवस्थित रहने पर भी अपना कार्य शिथिल नही करते ॥ ४ ॥

श्री पटवर्धन ने ढंक को ढिंक का मूल समझ कर उसका अर्थ कौआ लिखा होगा। वस्तुत: ढंक मे ढिंक का बनना उतना स्वाभाविक नही है, जितना ढेंकी से। स्त्रीलिंग ढेंका का आद्यस्वर ह्रस्व होने पर उसका रूप ढिंकी हो जायगा जिसका पुल्लिग रूप होगा ढिंक। इसका अर्थ बगुला या बक है। बक जलचर विहग है। काव्यो में हसो के प्रतिपक्षी के रूप मे सर्वत्र उसी का वर्णन आता है। अत यही अर्थ उपयुक्त है।

२७४. अन्नं धरंति हियए अन्नं वायाइ कीरए अन्नं।
छेयाण पत्थिवाण य खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो ।।५।।

अन्यद्धरन्ति हृदयेऽन्यद्वाचि क्रियतेऽन्यत् ।
छेकानां पार्थिवानां च खलानां मार्ग एवापूर्वः ।।

२७५. छेयाण जेहि कज्जं न हु होसइ जेहि जम्मलक्खे वि ।
दोहि पि तेहि सरिसंसरिस च्चिय हुंति उल्लावा ।।६।।

छेकानां यैः कार्यं न खलु भविष्यति यैर्जन्मलक्षेऽपि ।
द्वाभ्यामपि ताभ्यां सदृशसदृशा एव भवन्त्युल्लापाः ।।

२७६. सब्भावबाहिरेहिं तह कह वि पियक्खरेहि जंपंति ।
जह बंधव त्ति कलिउं लोए सीसेहि वुब्भंति ।। ७ ।।

सद्भावबहिर्भूतैस्तथा कथमपि प्रियाक्षरैर्जल्पन्ति ।
यथा बान्धवा इति कलयित्वा लोके शीर्षैरुह्यन्ते ।।

२७७. दिट्ठीतुलाइ भुवणं तुलंति जे चित्तचेल्लए निहियं ।
को ताण छेयवाणिज्जयाण भण खंडण कुणइ ।। ८ ।।

दृष्टितुलया भुवनं तुलयन्ति ये चित्ततुलापात्रे निहितम् ।
कस्तेषां छेकवणिजां भण खण्डनं करोति ।।

२७८. तं नत्थि तं न हूयं न हु होसइ त च तिहुयणे सयले ।
तं विहिणा वि न विहियं जं न हु नायं छइल्लेहिं ।।९।।

तन्नास्ति तन्न भूतं न खलु भविष्यति तच्च त्रिभुवनेसकले ।
तद्विधिनापि न विहितं यन्न खलु ज्ञातं विदग्धैः ।।

२७९. जह पढमदिणे तह पच्छिमम्मि फरुसाइ नेय जंपंति ।
अव्वो महाणुभावा विरज्जमाणा वि दुल्लक्खा ।। १० ।।

यथा प्रथमदिने तथा पश्चिमेपि परुषाणि नैव जल्पन्ति ।
अहो महानुभावा विरज्यमाना अपि दुर्लक्ष्याः ।।

२७४. चतुरजन (विदग्ध), राजा और खलों का मार्ग ही अपूर्व है। वे मन में अन्य सोचते हैं, वाणी से अन्य कहते हैं और करते कुछ अन्य हैं ॥ ५ ॥

२७५. जिनसे अपना काम निकलता है और जिनसे लाखों जन्मों में भी कोई काम नही निकलेगा—दोनों से चतुरों की एक-जैसी बातें होती हैं ॥ ६ ॥

२७६. चतुर लोग कुछ ऐसे ढंग से प्रिय शब्द बोलते हैं कि सच्चे प्रेम का अभाव होने पर भी संसार में सब उन्हे अपना भाई समझ कर शिरोधार्य कर लेते हैं ॥ ७ ॥

२७७. बताइये, जो चित्त के पलड़े पर रखे हुये सम्पूर्ण जगत् को दृष्टि की तुला पर तौल लेते है, उन विदग्ध-जन-रूपी वणिको को कौन ठग सकता है ? ॥ ८ ॥

२७८. जिसे विदग्ध नहीं जानते, वह न है, न हुआ, न होगा और उसे विधाता ने भी नहीं समझा है ॥ ९ ॥

२७९. अहो, महानुभाव (विदग्ध-जन) विरक्त होने पर भी कठिनाई से लक्षित होते हैं (अर्थात् पहचाने जाते हैं)। वे मैत्री के आरंभ में जिस प्रकार मधुर संभाषण करते हैं, उसी प्रकार मैत्री के अन्तिम दिन भी वे कड़वी बात नही कहते ॥ १० ॥

२८०. बहुकूडकवडभरियाण पुत्ति छेयाण जो पिडे पडइ ।
सो सुन्नो सुन्नमणो सिविणे वि न पावए सुक्खं ।। ११ ।।

बहुकूटकपटभृताना पुत्रि च्छेकानां जो पिटे पतति ।
स शून्यः शून्यमनाः स्वप्नेऽपि न प्राप्नोति सौख्यम् ॥

२८१. *जह कह वि ताण छप्पन्नयाण तणुयंगि गोयरे पडसि ।
ता थोरवसणदाहेक्कमंडिया दुक्करं जियसि ।। १२ ।।

यदि कथमपि तेषां षट्प्रज्ञानां तन्वङ्गि गोचरे पतसि ।
तद् महद्व्यसनदाहैकमण्डिता दुष्करं जीवसि ॥

२८२ मा पुत्ति वंकवंकं जंपसु पुरओ छइल्ललोयाणं ।
हियए जं च निहित्तं तं पि हयासा मुणंति बुद्धीए ।।१३।।

मा पुत्रि वक्रवक्रं जल्प पुरतश्छेकलोकानाम् ।
हृदये यच्च निहित तदपि हताशा जानन्ति बुद्धया ॥

२८३. लीलावलोयणेण वि मुणंति जे पुत्ति हिययपरमत्थं ।
ते कारिमउवयारेहि कह नु छेया छलिज्जंति ।। १४ ।।

लीलावलोकनेनापि जानन्ति ये पुत्रि हृदयपरमार्थम् ।
ते कृत्रिमोपचारैः कथ नु च्छेकाश्छल्यन्ते ॥

२८४. सहस त्ति जं न दिट्ठो सरलसहावेण जं न आलत्तो ।
उवयारो जं न कओ त चिय कलियं छइल्लेहिं ।।१५।।

सहसेति यन्न दृष्टः सरलस्वभावेन यन्नालपितः ।
उपचारो यन्न कृतस्तदेव कलितं छेकैः ॥

३१. पंचमवज्जा [पञ्चमपद्धतिः]

२८५. कठब्भंतरणिग्गयदरघोलिरघुरहुरंतहुंकारं ।
खलिरक्खरं पि मारइ पंथिय मा पंचमं सुणसु ।। १ ।।

कण्ठाभ्यन्तरनिर्गतदरघूर्णनशीलघुरघुरायमाणहुङ्कारम् ।
स्खलनशीलाक्षरमपि मारयति पथिक मा पञ्चमं शृणु ॥

२८०. पुत्रि ! जो नाना छल-कपट से भरे विदग्धों (चतुर-व्यक्तियों) के पाले पड़ता है, उस शून्य मनुष्य का मन सदैव रिक्त रहता है. स्वप्न में भी सुख नही पाता ॥ ११ ॥

२८१. *हे कृशांगि ! यदि किसी प्रकार तुम उन चतुर जनों के समक्ष पड़ गई तो स्थूल साँड के समान एक मात्र दाह (तप्तशलाकाक और पीडा या जलन) से युक्त होकर कठिनाई से जीवित रहोगी (पाठभेद में— एक मात्र भारी दु:ख की जलन से युक्त होकर कठिनाई से जीवित रहोगी) ॥ १२ ॥

२८२. अरी बेटी ! चतुरो के आगे टेढ़ी (वक्र-भणिति) बाते मत करो । ये दुष्ट हृदय मे जो रहता है, उसे भी बुद्धि से जान लेते है ॥ १३ ॥

२८३. पुत्रि ! जो लीलापूर्वक देखकर भी हृदय का रहस्य जान लेते है, वे विदग्ध कृत्रिम उपचारो मे धोखे मे नही आ सकते ॥ १४ ॥

२८४. सहसा जिसे देखा नही, जिसके साथ सरल स्वभाव से बाते भी नही की और जिसके प्रति कोई उपचार भी नही किया, उस प्रियतम को विदग्धों ने जान लिया ॥ १५ ॥

३१—पंचमवज्जा (पञ्चम-पद्धति)

२८५. हे पथिक ! जिसमे किंचित् घुरघुराती हुई हुंकार मिश्रित है, वह कंठ के भीतर से निकला हुआ पंचमराग स्खलिताक्षर (टूटे अक्षरों वाला) होने पर भी मार डालता है, मत सुनो ॥ १ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

२८६. घोलंततारवण्णुज्जलेण वरतरुणिकण्णलग्गेण ।
लोयणजुयलेण व पंचमेण भण को न संतविओ ॥ २ ॥

घूर्णमानतारवर्णोज्ज्वलेन वरतरुणीकर्णलग्नेन ।
लोचनयुगलेनेव पञ्चमेन भण को न संतापितः ॥

२८७. अन्ने वि गामराया गिज्जता देंति सयलसोक्खाइं ।
एयस्स पुणो हयपचमस्स अन्नो चमक्कारो ॥ ३ ॥

अन्येऽपि ग्रामरागा गीयमाना ददति सकलसौख्यानि ।
एतस्य पुनर्हतपञ्चमस्यान्यश्चमत्कारः ॥

२८८. *अप्पणकज्जेण वि दीहरच्छि थोरयरदीहरणरणया ।
पंचमसरपसरुग्गारगब्भिणा एंति नीसासा ॥ ४ ॥

आत्मकार्येणापि दीर्घाक्षि महत्तरदीर्घरणरणकाः ।
पञ्चमस्वरप्रसारोद्गारगर्भिता आयन्ति निःश्वासाः ॥

२८९. तं वंचिओ सि पिययम तीए बाहोहसवलिज्जता ।
न सुया नीसासखलंतमथरा पचमतरंगा ॥ ५ ॥

त्वं वञ्चितोऽसि प्रियतम तस्या बाष्पौघमंवल्यमानाः ।
न श्रुता निःश्वासस्खलन्मन्थराः पञ्चमतरङ्गाः ॥

२९०. सुम्मइ पंचमगेयं पुज्जिज्जइ वसहवाहणो देवो ।
हियइच्छिओ रमिज्जइ संसारे इत्तियं सारं ॥ ६ ॥

श्रूयते पञ्चमगेयं पूज्यते वृषभवाहनो देवः ।
हृदयेप्सितो रम्यते संसार एतावत्सारम् ॥

३२. नयणवज्जा [नयनपद्धतिः]

२९१. *नयणाइ समाणियपत्तलाइ परपुरिसजीवहरणाइं ।
असियसियाइ य मुद्धे खग्गाइ व कं न मारंति ॥ १ ॥

नयने समानीततीक्ष्णे (तीक्ष्णौ) परपुरुषजीवहरणे (हरणौ) ।
असितसिते (असितशितौ)च मुग्धे खड्गाविव कं न मारयतः ॥

२८६. घूमती हुई पुतलियों के वर्ण से मनोहर, वर-तरुणियों के कानों को छू लेने वाले दो नेत्रों के समान जो गूँजने वाले अक्षरों से प्रिय हैं तथा जो श्रेष्ठ तरुणियों के कानों को भला लग रहा है, उस पंचमराग से कौन संतप्त नहीं होता ।। २ ।।

२८७ अन्य भी ग्राम (अर्थात् स्वर-समूह) और राग गाये जाने पर सम्पूर्ण सुख देते है । इस दुष्ट पचम का चमत्कार ही अन्य है ।। ३ ।।

२८८. *हे विशाल-लोचने ! जिनके भीतर पंचम-स्वर का प्रसार रहता है, उन मार्मिक वचनों से युक्त, दीर्घ, स्थूल (स्पष्ट या गंभीर) और उद्वेगोत्पादक नि श्वास (केवल प्रणय प्रसूत नही होते अपितु) अपने कार्य (कठिन श्रम) से भी आते है ।। ४ ।।

२८९. प्रियतम ! तुम वंचित रह गये क्योंकि अश्रुओं के प्रवाह से सवलित, लम्बी साँसों से स्खलित और धीमा हो जाने वाले उसके[1] पंचम राग की तान नही सुनी ।। ५ ।।

२९० पंचम-गीत सुना जाय, भगवान् शिव की पूजा की जाय और मनचाहे के साथ रमण किया जाय—इतना ही संसार में सार (तत्त्व) है ।। ६ ।।

३२—नयण-वज्जा (नयन-पद्धति)

*२९१. अरी मुग्धे ! शत्रु के सैनिकों का (पुरुषों का) वध करने वाले, कृष्ण कान्तियुक्त एवं साथ मे लाये गये (या सचालित) तीक्ष्ण खड्गो के समान, पराये पुरुषों का जीव लेने वाले (वियोग में) समादृत एवं पक्ष्ययुक्त तथा कृष्णधवलकान्ति वाले तेरे नेत्र किस-किस को नही मार डालते है ।। १ ।।

---

१. मूल में तीए (तस्याः) शब्द है ।

*विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

२९२. जत्तो नेहस्स भरो तत्तो निवडंति कसणधवलाइं ।
चलचलयकोडिमोडणकराइ नयणाइ तरुणीणं ॥ २ ॥

यतः स्नेहस्य भरस्ततो निपतन्ति कृष्णधवलानि ।
चञ्चलकोटिमोटनकराणि नयनानि तरुणीनाम् ॥

२९३. सवियारसविब्भमरहसवसविसट्टंतमणहरुद्दामा ।
मयणाउलाण दिट्ठी लक्खिज्जइ लक्खमज्झम्मि ॥ ३ ॥

सविकारसविभ्रमरभसवशविकसन्मनोहरोद्दामा ।
मदनाकुलानां दृष्टिर्लक्ष्यते लक्षमध्ये ॥

२९४ जत्तो विलोलपम्हलधवलाइ चलंति नवर नयणाइ ।
आयण्णपूरियसरो तत्तो च्चिय धावइ अणंगो ॥ ४ ॥

यतो विलोलपक्ष्मलधवलानि चलन्ति केवलं नयनानि ।
आकर्णपूरितशरस्तत एव धावत्यनङ्गः ॥

२९५. कस्स न भिंदइ हिययं अणंगसरधोरणि व्व निवडंती ।
बालाइ वलियलोयणफुरंतमयणालसा दिट्ठी ॥ ५ ॥

कस्य न भिनत्ति हृदयमनङ्गशरधोरणीव निपतन्ती ।
बालाया वलितलोचनस्फुरन्मदनालसा दृष्टिः ॥

२९६. नयणाइ तुज्झ सुंदरि विसेण भरियाइ निरवसेसाइं ।
एमइ मारंति जणं अलज्जि किं कज्जलं देसि ॥ ६ ॥

नयने तव सुन्दरि विषेण भृते निरवशेषे ।
एवमेव मारयतो जनमलज्जे किं कज्जलं ददासि ॥

२९७ ईसिसिदिन्नकज्जलणीलुप्पलसच्छहेहिं नयणेहिं ।
वम्महमत्ता बाला मइया इव भमइ उत्तट्ठा ॥ ७ ॥

ईषदीषद्दत्तकज्जलनीलोत्पलसच्छायाभ्यां नयनाभ्याम् ।
मन्मथमत्ता बाला मृगीव भ्रमत्युत्त्रस्ता ॥

२९२. जो चंचल कोरों को वक्र बना देते हैं, वे तरुणियों के कृष्ण-श्वेत नेत्र जहाँ प्रेम की प्रगाढता होती है, वहीं पड़ते है ॥ २ ॥

२९३. मदनाकुलों की दृष्टि—जो विकार और विभ्रम (कटाक्ष) से युक्त रहती है, जो उत्सुकता से खिली रहती है, जो सुन्दर लगती है और जिसे रोका नही जा सकता—लाखों मे पहचानी जा सकती है ॥ ३ ॥

२९४. केवल चंचल-पक्ष्यो वाले शुभ्र नेत्र जहाँ जाते है, वही कानों तक बाण खीचे हुये कामदेव जाता है ॥ ४ ॥

२९५. बाला की वह दृष्टि, जो वक्र-लोचनो से सूचित होने वाले कामविकार से अलसायी है, कामदेव के बाणो को पंक्ति के समान किसका हृदय नही वेध देती ॥ ५ ॥

२९६. हे सुन्दरि ! पूर्णतया विष से भरी हुई (विष का वर्ण श्याम है) तुम्हारी आँखें ऐसे ही लोगो को मार डालती हैं, (फिर) काजल क्यों देती हो ? ॥ ६ ॥

२९७. थोड़ा-सा काजल देने से जिनकी कान्ति नीलोत्पल-जैसी हो गई है उन नेत्रों वाली वह बाला मदनोन्मत्त होकर त्रस्त मृगी के समान विचर रही है ॥ ७ ॥

२९८. वंकेहि पिओ सरलेहि सज्जणो उज्जुएहि मज्झत्थो ।
आयंबिरेहि रिउणो नयणाइ चउव्विहा हुंति ।। ८ ।।

वक्रैः प्रियः सरलैः सज्जन ऋजुभिर्मध्यस्थः ।
आताम्रै रिपवो नयनानि चतुर्विधानि भवन्ति ।।

२९९. नयणाण पडउ वज्जं अहवा वज्जाउ वड्डिलं किं पि ।
अमुणियजणे वि दिट्ठे अणुरायं जाइ पावंति ।। ९ ।।

नयनयोः पततु वज्रमथवा वज्रादधिकं किमपि ।
अज्ञातजनेऽपि दृष्टेऽनुरागं ये प्राप्नुत. ।।

३००. धावंति तम्मुहं धारिया वि वलियाइ तम्मि वलमाणे ।
जणसंकुले वि नच्चावियाइ तेणम्ह नयणाइं ।। १० ।।

धावतस्तन्मुखं धारिते अपि, वलिते तस्मिन्वलति ।
जनसङ्कुलेऽपि नर्तिते तेन मम नयने ।।

३३. थणवज्जा [स्तनपद्धति]

३०१. ठड्ढा खलो व्व सुयणो व्व संगया नरवइ व्व मडलिया ।
थणया तह दुग्गयचिंतियं व हियए न मायंति ।। १ ।।

स्तब्धौ खल इव सुजन इव सगतौ नरपतिरिव मण्डलितौ ।
स्तनौ तथा दुर्गतचिन्तेव हृदये न मातः ।।

३०२. अमुहा खलो व्व कुडिला मज्झं से किविणदाणसारिच्छा ।
थणया सप्पुरिसमणोरह व्व हियए न मायंति ।। २ ।।

अमुखौ खल इव कुटिलौ मध्येऽस्याः कृपणदानसदृक्षौ ।
स्तनौ सत्पुरुषमनोरथा इव हृदये न मातः ।।

३०३. तुलओ व्व समा मित्तो व्व सगया उन्नओ व्व अक्खलिया ।
सुयणो व्व सत्थहावा सुहडो व्व समुट्ठिया थणया ।। ३ ।।

तुलेव समौ मित्रमिव सङ्गतौ उन्नत इवास्खलितौ ।
सुजन इव स्वस्थभावौ (शस्तभावौ) सुभट इव समुत्थितौ स्तनौ ।।

२९८. नेत्र चार प्रकार के होते हैं—प्रियों के लिये वक्र, सज्जनों के लिये सरल, मध्यस्थ के लिये ऋजु और शत्रुओं के लिये रक्त ॥ ८ ॥

२९९. उन नयनों पर वज्र पड़े अथवा वज्र से भी अधिक कुछ पड़े, जो अपरिचित जनो को भी देखकर अनुरक्त हो जाते है ॥ ९ ॥

३००. उसने लोगों की भीड़ में भी मेरी आँखों को नचा दिया। वे रोकने पर भी उसके सम्मुख दौड़ पड़ी और उसके मुड़ने पर मुड़ गईं ॥ १० ॥

३३—थण-वज्जा (स्तन-पद्धति)

३०१. (ये) स्तन खलों के हृदय के समान कठोर है, मित्रों से सेवित (संगत) सज्जन के समान एक दूसरे से सटे (संगत = मिले) हैं, राजन्य मंडल के मध्य-स्थित (मंडलित) राजा के समान गोल (मंडलित) है और दरिद्र की चिन्ता के समान हृदय (मन और छाती) में नही समाते हैं ॥ १ ॥

३०२. *जिन मे दुग्ध-रन्ध्र नहीं है, वे कुटिलाकृति स्तन, अभद्र मुख एवं कुटिल व्यवहार वाले खल के समान हैं। उनका मध्यांश कृपणों के दान के समान है और वे वक्षःस्थल मे यों नहीं समा रहे हैं, जैसे सत्पुरुषों के मनोरथ उनके मन मै नही समाते ॥ २ ॥

३०३. ये स्तन, जैसे तुलादण्ड सम (सीधा) रहता है वैसे ही सम (बराबर आकार वाले) है, जैसे सज्जन संगत (मित्रों के साथ) रहते है वैसी ही संगत (परस्पर सटे हुये) है, जेसे उन्नत पुरुष अस्खलित (अपराध रहित) रहता है वैसे ही अस्खलित (पतनरहित) है, जैसे सज्जन शस्त-भाव (अच्छे विचार या स्वभाव वाला) होता है वैसे ही शस्त-भाव (प्रशंसनीय रूप या स्वस्थ अवस्था वाले = स्वस्थ-भाव) है और जैसे सुभट समुत्थित (युद्धार्थ उद्यत) रहते हैं वैसे ही समुत्थित (उठे हुये) रहते हैं ॥ ३ ॥

*विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

३०४. समउत्तुंगविसाला उम्मंथियकणयकलससंकासा ।
कामणिहाणो व्व थणा पुण्णविहूणाण दुप्पेच्छा ।। ४ ।।

समोत्तुङ्गविशालौ दग्धकनककलशसङ्काशौ ।
कामनिधानमिव स्तनौ पुण्यविहीनाना दुष्प्रेक्ष्यौ ।।

३०५. उत्तुगघणणिरंतरपक्काइयमाउलिगसारिच्छा ।
मारंति वासभूसियणहो व्व विज्जुज्जला थणया ।। ५ ।।

उत्तुगघननिरन्तरौ पक्वीभूतमातुलिंगसदृक्षौ ।
मारयतो वर्षाभूषितनभ इव विद्युदुज्ज्वलौ स्तनौ ।।

३०६. उब्बिबे थणहारे रेहइ बालाइ घोलिरो हारो ।
हिमगिरिवरसिहराओ खलिओ गगापवाहो व्व ।। ६ ।।

उद्भटे स्तनभारे राजते बालाया घूर्णनशीलो हार ।
हिमगिरिवरशिखरात् स्खलितो गङ्गाप्रवाह इव ।।

३०७. मग्गं चिय अलहतो हारो पीणुन्नयाणं थणयाणं ।
उब्बिबो भमइ उरे जंउणाणइफेणपुंजो व्व ।। ७ ।।

मार्गमेवालभमानो हारः पीनोन्नतयो स्तनयोः ।
उद्विग्नो भ्रमत्युरसि यमुनानदीफेनपुञ्ज इव ।।

३०८. अज्झाइ नीलकंचुयभरिउव्वरिय विहाइ थणवट्टं ।
जलभरियजलहरंतरदरुग्गओ चंदबिबो व्व ।। ८ ।।

प्रौढयुवत्या नीलकञ्चुकभृतावशिष्टं विभाति स्तनपट्टम् ।
जलभृतजलधरान्तरदरोद्गत चन्द्रबिम्बमिव ।।

३०९. *अमया मओ व्व समया ससि व्व हरिकरिसिरो व्व चक्कलया ।
किविणब्भत्थणविमुहा पसयच्छि पओहरा तुज्झ ।। ९ ।।

अमृतमयाविव, ममदौ(समृगौ)शशीव, हरिकरिशिर इव वर्तुलौ ।
कृपणाभ्यर्थनविमुखौ प्रसृत्यक्षि पयोधरौ तव ।।

३०४. जो दग्ध-कंचन-कलश के समान हैं (चूचुकों की श्यामता के कारण) वे सम, उन्नत और विशाल स्तन कामदेव की निधि के समान पुण्यहीनों को कठिनाई से दिखाई देते है ॥ ४ ॥

३०५. जो सुपक्व मातुलिंग (बिजौरा नीबू) के समान वर्तुल है, जो विद्युत के समान उज्ज्वल है, वे उन्नत, कठिन और सटे हुये दोनो स्तन, ऊँचे मेघों से परिपूर्ण, मातुलिंग के समान रंग वाले, बिजली से समुज्ज्वल और वर्षा ऋतु से विभूषित आकाश के समान मार डालते है ॥ ५ ॥

३०६. बाला के उन्नत उरोजो पर लहराता हार ऐसा लगता है, जैसे हिमाद्रि के शिखर से स्खलित गंगा-प्रवाह ॥ ६ ॥

३०७. पीनोन्नत उरोजो मे मार्ग न पाने वाला हार ऐसे शोभित हो रहा है, जैसे यमुना नदी में फेनपुंज ॥ ७ ॥

३०८. नीली कंचुकी में न समाने के कारण बाहर निकला हुआ युवती का स्तन-पट्ट यों लगता है, जैसे सजल मेघों के अन्तराल से थोड़ा सा झाँकता चन्द्रबिम्ब ॥ ८ ॥

*३०९. जैसे मद (मदिरा) अमत (अनिष्ट या असम्मत) है वैसे ही ये भी अमय (दोषरहित) है, जैसे चन्द्रमा समृग (मृगसहित) है वैसे ही ये भी समद (कस्तूरी लिप्त) है, जैसे ऐरावत का कुंभ विस्तृत है वैसे ही ये भी विस्तृत है। हे हरिणलोचने (या पसर-भर की आँखों वाली)! जैसे कृपण अभ्यर्थना (याचना) करने पर मुँह फेर लेते है वैसे ही तेरे पयोधर भी अभ्यर्थना-विमुख है (किसी की अभ्यर्थना करने पर चुप रह जाते हैं) ॥ ९ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

३१०. अव्वो न हुंति थणया मज्झ सरीरे सवत्तिणा जाया ।
आलिंगणे वि पत्ते दूरे वि पियं निवारेंति ।। १० ।।

अहो न भवतः स्तनौ मम शरीरे सपत्नौ जातौ ।
आलिङ्गनेऽपि प्राप्ते दूरेऽपि प्रियं निवारयतः ।।

३११. थणजुयलं तीइ निरंतरं पि दट्ठूण तारिसं पडियं ।
मा करउ को वि गव्वं एत्थ असारम्मि संसारे ।। ११ ।।

स्तनयुगलं तस्या निरन्तरमपि दृष्ट्वा तादृशं पतितम् ।
मा करोतु कोऽपि गर्वमत्रासारे संसारे ।।

३१२. कह नाम तीइ तं तह सहावगरुओ वि थणहरो पडिओ ।
अहवा महिलाण चिरं हियए को नाम संठाइ ।। १२ ।।

कथं नाम तस्यास्तत् तथा स्वभावगुरुरपि स्तनभरः पतितः ।
अथवा महिलाना चिर हृदये को नाम सतिष्ठति ।।

३४. लावण्णवज्जा [लावण्यपद्धतिः]

३१३. पल्लवियं करयलपल्लवेहि पप्फुल्लियं व नयणेहिं ।
फलियं मिव पीणपओहरेहि अज्झाइ लावण्णं ।। १ ।।

पल्लवित करतलपल्लवैः प्रपुष्पितमिव नयनाभ्याम् ।
फलितमिव पीनपयोधराभ्या प्रौढयुवत्या लावण्यम् ।।

३१४. तह चंपिऊण भरिया विहिणा लावण्णएण तणुयंगी ।
जह से चिहुरतरंगा अंगुलिमग्ग व्व दीसंति ।। २ ।।

तथा निपीड्य भृता विधिना लावण्येन तन्वङ्गी ।
यथास्याश्चिकुरतरङ्गा अङ्गुलिमार्गा इव दृश्यन्ते ।।

३१५. अन्नं लडहत्तणयं अन्न च्चिय का वि बाहुलयछाया ।
सामा सामन्नपयावइणो रेह च्चिय न होइ ।। ३ ।।

अन्यल्लटभत्वमन्यैव कापि बाहुलताछाया ।
श्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव न भवति ।।

३१०. अरे जो आलिंगन प्राप्त होने पर भी प्रिय को रोक लेते हैं (सटने नही देते), वे वैरी बन जाने वाले स्तन काश कहीं मेरे शरीर में न होते ॥ १० ॥

३११. उसके घने स्तनों को भी इस प्रकार गिरा हुआ देखकर असार संसार में किसी को भी गर्व नही करना चाहिये ॥ ११ ॥

३१२ उसका वह स्वभाव से गुरु स्तन भी किस प्रकार गिर गया। अथवा महिलाओ के हृदय मे कौन चिरकाल तक ठहरता है ? ॥ १२ ॥

३४—लावण्णवज्जा (लावण्य-पद्धति)

३१३. आर्या (मान्य महिला) का लावण्य, मानो करतल-पल्लवो से पल्लवित, नयनो से पुष्पित और पीनपयोधरों से फलित हो गया है॥ १ ॥

३१४. विधाता ने उस तन्वंगी के शरीर को इस प्रकार दबा-दबा कर सौन्दर्य से भर दिया है कि उसकी केशो की लटें विधाता की अंगुलि-रेखा-सी लगती है अर्थात् सौन्दर्य करते समय विधाता ने शिर पर जहाँ हाथ रखे थे वहाँ काली रेखाएँ पड़ गई है। वे ही बालों की काली लटें है ॥ २ ॥

३१५. यह श्यामा (षोडश-वर्षीया सुन्दरी) मानों सामान्य प्रजापति की रचना ही नही है। इस की सुन्दरता अन्य ही है और इसको भुजाओं की कान्ति कुछ और ही है ॥ ३ ॥

३१६. करचरणगंडलोयणबाहुलयाजहणमंडलुद्धरियं ।
अंगेसु अमायतं रंखोलइ तीइ लावण्णं ॥ ४ ॥
करचरणगण्डलोचनबाहुलताजघनमण्डलोद्धृतम् ।
अङ्गेष्वमादितस्ततश्चलति तस्या लावण्यम् ॥

३१७. सामा नियंबगरुया थणजहणुव्वहणमंदसंचारा ।
लक्खिज्जइ मयणणराहिवस्स संचारिणि कुडि व्व ॥ ५ ॥
श्यामा नितम्बगुरुका स्तनजघनोद्वहनमन्दसचारा ।
लक्ष्यते मदननराधिपस्य सचारिणी कुटीव ॥

३१८. सेयच्छलेण पेच्छह तणुए अंगम्मि से अमायंतं ।
लावण्णं ओसरइ व्व तिवलिसोवाणपंतीहिं ॥ ६ ॥
स्वेदच्छलेन प्रेक्षध्व तनुकेऽङ्गे नस्या अमात् ।
लावण्यमपसरतीव त्रिवलिसोपानपङ्क्तिभिः ॥

३५. सुरयवज्जा [सुरतपद्धतिः]

३१९. दट्ठूण तरुणसुरयं विविहपलोट्टंतकरणसोहिल्लं ।
दीवो वि तग्गयमणो गय पि तेल्ल न लक्खेइ ॥ १ ॥
दृष्ट्वा तरुणसुरतं विविधप्रवर्तमानकरणशोभायुक्तम् ।
दीपोऽपि तद्गतमना गतमपि तैलं न लक्षयति ॥

३२०. मरुमरुमार त्ति भणंतियाइ सुरयम्मि केलिसंगामे ।
पासट्ठिओ वि दीवो सहसा हल्लप्फलो जाओ ॥ २ ॥
मरुमरुमार इति भणन्त्याः सुरते केलिसंग्रामे ।
पार्श्वस्थितोऽपि दीपः सहसा कम्पनशीलो जातः ॥

३२१. सुम्मइ वलयाण रवो नेउरसद्दो वि निब्भरो जाओ ।
कस्स वि धन्नस्स घरे महिला पुरिसत्तणं कुणइ ॥ ३ ॥
श्रूयते वलयानां रवो नूपुरशब्दोऽपि निर्भरो जातः ।
कस्यापि धन्यस्य गृहे महिला पुरुषकर्म करोति ॥

३१६. उसका लावण्य अंगो मे न समा कर कपोल, लोचन, बाहु-लता और जघन-मण्डल से उमड़ता चलता है ॥ ४ ॥

३१७. जिसके नितम्ब भारी है, जो स्तन और जघन का भार वहन करने के कारण मन्द-मन्द संचरण करती है, वह श्यामा मदन-महीपति की जंगम कुटी के समान लगतो है ॥ ५ ॥

३१८. देखो, उसका सौन्दर्य मानों कृश अगों मे न समाकर स्वेद के व्याज से त्रिवली के सोपानो से नीचे उतर रहा है ॥ ६ ॥

३५—सुरय-वज्जा (सुरत-पद्धति)

३१९. प्रवर्तमान विविध करणो (रतिबन्धो या आसनों) से सुशोभित होने वाली, तरुण दम्पतियों की रतिलीला को देखकर दीपक भी इतना तल्लीन हो गया कि उसे समाप्त हुये तेल का पता ही न चला ॥ १ ॥

३२०. 'मारो-मारो' इस प्रकार कहने वाली सुन्दरी के रति-केलि संग्राम में पार्श्व-स्थित दीपक भी सहमा कंपित हो उठा ॥ २ ॥

३२१. किसी सौभाग्यशाली पुरुष के घर मे महिला विपरीत रति कर रही है। वलयो का शब्द सुनाई दे रहा है और नूपुरो की रुन-झुन भी अधिक बढ़ गई है ॥ ३ ॥

३२२. दट्ठूण रयणिमज्झे बहुविहकरणेहि निब्भरं सुरयं ।
ओ धुणइ दीवओ विंभिओ व्व पवणाहओ सीसं ।। ४ ।।

दृष्ट्वा रजनीमध्ये बहुविधकरणैर्निर्भरं सुरतम् ।
अहो धुनोति दीपो विस्मित इव पवनाहतः शीर्षम् ।।

३२३. दंतणहक्खयमहियं निग्घायपडंतवलयणिग्घोसं ।
वणसीहाण व जुज्झं वुत्तं तं तारिसं सुरयं ।। ५ ।।

दन्तनखक्षतमहितं निर्घातपतद्वलयनिर्घोषम् ।
वनसिंहयोरिव युद्धं वृत्तं तत् तादृशं सुरतम् ।।

३२४. ओ सुम्मइ वासहरे विवरीयरयाइ पोढमहिलाए ।
चलवलयकरप्फालणकणतमणिमेहलासद्दो ।। ६ ।।

अहो श्रूयते वासगृहे विपरीतरतायाः प्रौढमहिलायाः ।
चलवलयकरास्फालनकणन्मणिमेखलाशब्दः ।।

३२५. न वि तह पढमसमागमसुरयसुहे पाविए वि परिओसो ।
जह बीयदियह सविलक्खलक्खिए वयणकमलम्मि ।।७।।

नापि तथा प्रथमसमागमसुरतसुखे प्राप्तेऽपि परितोषः ।
यथा द्वितीयदिवसे सविलक्षलक्षिते वदनकमले ।।

३२६. सरहसरमणसमप्पणकलयलिरकणंतणिहुयसिक्कारं ।
लब्भइ कुलवहुसुरए थवक्कओ सयलसोक्खाणं ।। ८ ।।

सरभसरमणसमर्पणकलकलशीलक्वणन्निभृतसीत्कारम् ।
लभ्यते कुलवधूसुरते स्तबकः सकलसौख्यानाम् ।।

३२७. झणझणइ कणयडोरो तुट्टइ हारो गलंति रयणाइं ।
पंडवभडसंगामो आढत्तो पोढमहिलाए ।। ९ ।।

झणझणायते कनककाञ्ची त्रुट्यति हारो गलन्ति रत्नानि ।
पाण्डवभटसंग्राम आरब्धः प्रौढमहिलया ।।

३२२. अरे ! मध्यरात्रि में नाना करणों से होने वाली प्रगाढ़ रति को देखकर पवनाहत दीपक मानों विस्मय से शिर हिला रहा है ।। ४ ।।

३२३. जिसमें आघात से पतनशोल कंकणो की ध्वनि हो रही थी और जो नखों और दन्तों के क्षतों से सनाथ थी, वह रति-लीला कुछ ऐसी लगी जैसे जंगली सिंहो का युद्ध हुआ हो क्योंकि उसमे भी परस्पर आक्रमण करने पर प्रचण्ड गर्जन-शब्द होता है और दाँतों एवं पंजों से घाव हो जाते है ।। ५ ।।

३२४. अहा ! विपरीत-रति करती हुई प्रौढ महिला के हाथों के आघात से चंचल हो जाने वाले ककण और (कटि की चंचलता के कारण) क्वणित होने वाली किंकिणी के शब्द सुनाई दे रहे है ।। ६ ।।

३२५. प्रथम समागम मे सुरत-सुख प्राप्त कर भी उतना सन्तोष न हुआ, जितना दूसरे दिन सलज्ज दिखाई देने वाले (प्रिया के) मुख-पंकज को देख कर ।। ७ ।।

३२६. जहाँ प्रेमी को शीघ्रता पूर्वक जघन समर्पित कर देने के कारण (या पति को अपना शरीर समर्पित कर देने के कारण) ककण बज उठते हैं और किंकिणी क्वणित हो जाती है तथा धीमी सीत्कार (सी-सी शब्द) होने लगती है, उन कुलवधुओं की रति में सभी सुखों का समुदाय मिलता है ।। ८ ।।

३२७. कंचन-कांची झनझना रही है, हार टूट रहा है और रत्न गिर रहे हैं—प्रौढ महिला ने तो कौरवों और पाण्डवों का संग्राम प्रारंभ कर दिया है ।। ९ ।।

३२८. *रेहइ सुरयवसाणे अद्धुक्खित्तो सणेउरो चलणो ।
जिणिऊण कामदेवं समुब्भिया धयवडाय व्व ।। १० ।।

राजते सुरतावसानेऽर्धोत्क्षिप्तः सनूपुरश्चरणः ।
जित्वा कामदेवं समुर्ध्वीकृता ध्वजपताकेव ।।

३६ पेम्मवज्जा [प्रेमपद्धतिः]

३२९. पेम्म अणाइपरमत्थपयडणं महुमहो व्व बहुभेयं ।
मोहाणुरायजणय अव्वो किं वंदिमो निच्चं ।। १ ।।

प्रेमानादिपरमार्थप्रकटनं मधुमथन इव बहुभेदम् ।
मोहानुरागजनकमहो किं वन्दामहे नित्यम् ।।

३३०. आलावणेण उल्लावणेण संगेण कोउहल्लेण ।
सोवाणपएहि व पियगुणेहि पेम्मं समारुहइ ।। २ ।।

आलापनेनोल्लापनेन सङ्गेन कौतूहलेन ।
सोपानपदैरिव प्रियगुणैः प्रेम समारोहति ।।

३३१. आरंभो जस्स इमो आसन्नासासोसियसरीरो ।
परिणामो कह होसइ न याणिमो तस्स पेम्मस्स ।। ३ ।।

आरम्भो यस्यायमासन्नाश्वासशोषितशरीरः ।
परिणामः कथं भविष्यति न जानीमस्तस्य प्रेम्णः ।।

३३२. दाणं न देइ न करेइ चाडुयं कहइ नेय सब्भावं ।
दंसणमेत्तेण वि किं पि माणुसं अमयसारिच्छं ।। ४ ।।

दानं न ददाति न करोति चाटुकं कथयति नैव सद्भावम् ।
दर्शनमात्रेणापि किमपि मानुषममृतसदृशम् ।।

३३३. जत्थ न उज्जग्गरओ जत्थ न ईसा विसूरणं माणं ।
सब्भावचाडुयं जत्थ नत्थि नेहो तहिं नत्थि ।। ५ ।।

यत्र नोज्जागरको यत्र नेर्ष्या खेदो मानः ।
सद्भावचाटुकं यत्र नास्ति स्नेहस्तत्र नास्ति ।।

*३२८. सुरत के अन्त में वधू का नूपुर-युक्त अर्धोत्क्षिप्त चरण ऐसा लगता है, मानों उसने पति-रूपी कामदेव को जीतकर ध्वजा फहरा दी है ॥ १० ॥

३६—पेम्म-वज्जा (प्रेम-पद्धति)

३२९. प्रेम विष्णु भगवान् के समान है। वह अनादि है और परमार्थ (कामोपभोग) का प्रकाशक है (विष्णु भी अनादि है और परमार्थ = मोक्ष या ज्ञान के प्रकाशक हैं)। उसके बहुत से (संयोग-वियोगदि) भेद हैं—(विष्णु के भी राम, कृष्णादि बहुत से भेद है)। और वह मोह एवं अनुराग उत्पन्न करता है (विष्णु भी मोह (माया) में अनुराग उत्पन्न करते है अर्थात् मायावी है) अहो! क्या हम उसे प्रणाम कर लें? ॥ १ ॥

३३०. आलाप, वक्रोक्ति, संसर्ग और औत्सुक्य—इन सोपानों के समान प्रिय के गुणों से प्रेम ऊपर चढ़ता है ॥ २ ॥

३३१. जिसका आरम्भ ही ऐसा है कि दीर्घ श्वास लेने पर निकटवर्ती लोगों के शरीर शुष्क हो जाते है, उस प्रेम का अन्त कैसा होगा—नही जानते ॥ ३ ॥

३३२. जो मनुष्य न कुछ देता है, न चाटुकारिता करता है और न मन की बातें ही कहता है, वह दर्शनमात्र से ही अमृत के समान मधुर लगता है ॥ ४ ॥

३३३. जहां जागरण नहीं है, जहां ईर्ष्या, खेद एवं मान नही हैं और जहां सच्ची चाटुकारिता नही है, वहां प्रेम नही है ॥ ५ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

३३४. *दाडिमफलं व पेम्मं एक्के पक्खे य होइ सकसायं ।
जाव न बीओ रज्जइ ता किं महुरत्तणं कुणइ ॥ ६ ॥

दाडिमफलमिव प्रेमैकस्मिन्पक्षे भवति सकषायम् ।
यावन्न द्वितीयो रज्यते (बीजं न रज्यते) तावत्किं मधुरत्वं करोति ॥

३३५. न तहा मारेइ विसं खज्जंतं पलसयं पि कवलेहिं ।
जह चक्खुरायरत्तं मारेइ सविब्भमं पेम्मं ॥ ७ ॥

न तथा मारयति विषं खाद्यमानं पलशतमपि कवलैः ।
यथा चक्षूरागरक्तं मारयति सविभ्रमं प्रेम ॥

३३६. अव्वो जाणामि अहं अत्तणहियएण अन्नहिययाइं ।
मा को वि कह वि रज्जउ, दुक्खुव्वहणाइ पेम्माइं ॥८॥

अहो जानाम्यहमात्महृदयेनान्यहृदयानि ।
मा कोऽपि कथमपि रज्यतु, दुःखोद्वहनानि प्रेमाणि ॥

३३७. अद्दिट्ठे रणरणओ दिट्ठे ईसा विडंबणा नाह ।
होइ न उज्जु व वंकं पेम्मं जह चंचु कीरस्स ॥ ९ ॥

अदृष्टे रणरणको दृष्ट ईर्ष्या विडम्बना नाथ ।
भवति न ऋज्विव वक्रं प्रेम यथा चञ्चूः कीरस्य ॥

३३८. अद्दिट्ठे रणरणओ दिट्ठे ईसा सुहट्ठिए माणं ।
दूरट्ठिए वि दुक्खं पिए जणे भण सुहं कत्तो ॥ १० ॥

अदृष्टे रणरणको दृष्ट ईर्ष्या सुखस्थिते मानः ।
दूरस्थितेऽपि दुःखं प्रिये जने भण सुखं कुतः ॥

३३९. ताव च्चिय होइ सुहं जाव न कीरइ पिओ जणो को वि ।
पियसंगो जेहि कओ दुक्खाण समप्पिओ अप्पा ॥ ११ ॥

तावदेव भवति सुखं यावन्न क्रियते प्रियो जनः कोऽपि ।
प्रियसङ्गो यैः कृतो दुःखेभ्यः समर्पित आत्मा ॥

*३३४. जैसे दाडिम-फल (अनार) जब पन्द्रह दिनों का होता है, तब उसका स्वाद कसैला रहता है। जब तक बीज नहीं लाल हो जाता, तब तक क्या उसमें माधुर्य आता है ? उसी प्रकार जब प्रेम एक पक्षीय होता है तब कटु होता है। जब तक दूसरा प्रेमी अनुरक्त नहीं हो जाता, तब तक क्या उसमें आनन्द आता है ? ॥ ६ ॥

३३५ भोजन के कौरों में सौ पल (पल = चार तोले) विष खा जाने पर भी वह उस प्रकार नही मारता, जिस प्रकार आँखों के अनुराग में रँगी शृंगारिक चेष्टाओं से युक्त प्रेम ॥ ७ ॥

३३६. अहो ! मैं तो अपने हृदय से दूसरों के हृदय को समझती हूँ। ईश्वर करे, कोई कही भी अनुराग न करे। प्रेम का निर्वाह बड़े क्लेश से होता है ॥ ८ ॥

३३७ नाथ ! न देखने पर उत्कंठा, देखने पर ईर्ष्या और विडंबना उत्पन्न होती है। प्रेम सीधा नहीं, शुकचंचु के समान वक्र है ॥ ९ ॥

३३८. न देखने पर उत्सुकता, देखने पर ईर्ष्या, सुख में स्थित होने पर मान और दूर चले जाने पर दुःख होता है। प्रिय जनों से सुख कहाँ[1] ? ॥ १० ॥

३३९. तभी तक सुख रहता है, जब तक किसी से प्रेम नही किया जाता। जिसने प्रेमी का साथ किया, उसने सैकड़ों दुःखों मे अपने को डाल दिया ॥ ११ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

१. देखने से बढ जाती है डाह न देखने से फिर प्यास घनी।
दूर दृगो से कही बसते तब दूनी मुझे लगती अवनी।
रीझते वे जो प्रसन्न कभी तब मान में बीतती है रजनी।
कौन भला सुख है प्रिय से यह तू ही बता दे अरी सजनी ॥

३४०. दूरं गए वि कयविप्पिए वि अन्नत्थ बद्धराए वि ।
जत्थ मणं न नियत्तइ तं पेम्मं परिचओ सेसो ।। १२।।

दूरं गतेऽपि कृतविप्रियेऽप्यन्यत्र बद्धरागेऽपि ।
यत्र मनो न निवर्तते तत्प्रेम परिचयः शेषः ।।

३४१. सो सुवइ सुहं सो दुक्खवज्जिओ सो सुहाण सयखाणी ।
वाए मणेण काएण जस्स न हु वल्लहो को वि ।। १३।।

स स्वपिति सुखं स दुःखवर्जितः स सुखाना शतखनिः ।
वाचि मनसा कायेन यस्य न खलु वल्लभः कोऽपि ।।

३४२. उल्लवउ को वि महिमंडलम्मि जो तेण नत्थि संणडिओ ।
खरपवणचाडुचालिरदवग्गिसरिसेण पेम्मेण ।। १४ ।।

उल्लपतु कोऽपि महीमण्डले यस्तेन नास्ति संनटितः ।
खरपवनचाटुचलनशीलदवाग्निसदृशेन प्रेम्णा ।।

३४३. सो को वि न दीसइ सामलंगि एयम्मि दड्ढहयलोए ।
जस्स समप्पिवि हियय सुहेण दियहा गमिज्जंति ।।१५।।

स कोऽपि न दृश्यते श्यामलाङ्गयेतस्मिन् दग्धहतलोके ।
यस्य समर्प्य हृदयं सुखेन दिवसा गम्यन्ते ।।

३४४. अव्वो तहि तहि चिय गयणं भमिऊण वीसमंतेण ।
बोहित्थवायसेण व हसाविया दड्ढपेम्मेण ।। १६ ।।

अहो तत्र तत्रैव गगनं भ्रान्त्वा विश्राम्यता ।
यानपात्रवायसेनेव हासिता दग्धप्रेम्णा ।।

३४५. जाए माणप्पसरे फिट्टे नेहे गयम्मि सब्भावे ।
अब्भत्थणाइ पेम्मं कीरंतं केरिसं होइ ।। १७ ।।

याते मानप्रसरे भ्रष्टे स्नेहे गते सद्भावे ।
अभ्यर्थनया प्रेम क्रियमाणं कीदृशं भवति ।।

३४०. दूर चले जाने पर भी, अप्रिय करने पर भी, अन्य से प्रेम जोड़ लेने पर भी, जहाँ मन नहीं फिरता, वहीं प्रेम है, शेष तो परिचय मात्र है ॥ १२ ॥

३४१. मनसा, वाचा और कर्मणा जिसका कोई भी प्रेमी नहीं है, वही सुख से सोता है, वही दुःख-रहित है और उसी के पास सैकड़ो सुखों की निधि है ॥ १३ ॥

३४२. भू-मण्डल मे कोई बताये तो भला कि चाटुकारिता-रूपो खर-पवन से प्रेरित दावाग्नि के समान उस प्रणय ने किसे नहीं भरमाया ? ॥ १४ ॥

३४३. हे श्यामलांगि ! इस दग्ध लोक में कोई भी ऐसा नहीं दिखाई देता, जिसके दिन किसी को हृदय अर्पित कर देने पर सुख से बीतते हों ॥ १५ ॥

३४४. जैसे जहाज का पक्षी इधर-उधर सर्वत्र आकाश में भ्रमण कर कही स्थान न पाकर वहीं लौट आता है, वैसे ही सर्वत्र शून्य में भ्रमण कर फिर उसी स्थान पर आकर टिक जाने वाले प्रेम ने मुझे उपहास्य बना दिया ॥ १६ ॥

३४५. जब मान चला जाता है, स्नेह नष्ट हो जाता है, सद्भाव नहीं रह जाता, तब केवल अभ्यर्थना से होने वाला प्रेम कैसा होता होगा ? ॥ १७ ॥

३४६. अद्दंसणेण अइदंसणेण दिट्ठे अणालवंतेण ।
माणेण पवसणेण य पंचविहं झिज्जए पेम्मं ।। १८ ।।

अदर्शनेनातिदर्शनेन दृष्टेऽनालपता ।
मानेन प्रवसनेन च पञ्चविधं क्षीयते प्रेम ।।

३४७. अद्दंसणेण बालय सुट्ठु वि नेहाणुबद्धमणसाणं ।
हत्थउडपाणियाइ व कालेण गलंति पेम्माणि ।। १९ ।।

अदर्शनेन बालक सुष्ठ्वपि स्नेहानुबद्धमनसोः ।
हस्तपुटपानीयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि ।।

३४८. पेम्मस्स विरोहियसंधियस्स पच्चक्खदिट्ठविलियस्स ।
उययस्स व तावियसीयलस्स विरसो रसो होइ ।। २० ।।

प्रेम्णो विरोधित्संधितस्य प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकस्य ।
उदकस्येव तापितशीतलस्य विरसो रसो भवति ।।

३४९. ताव य पुत्ति छइल्लो जाव न पेम्मस्स गोयरे पडइ ।
नेहेण नवरि छेयत्तणस्स मूला खणिज्जंति ।। २१ ।।

तावच्च पुत्रि विदग्धो यावन्न प्रेम्णो गोचरे पतति ।
स्नेहेन केवलं छेकत्वस्य मूलानि खन्यन्ते ।।

३७. माणवज्जा [मानपद्धतिः]

३५०. अलियपयंपिरि अणिमित्तकोवणे असुणि सुणसु मह वयणं ।
एक्कग्गाहिणि सोक्खेक्कबंधवं गलइ तारुण्णं ।। १ ।।

अलीकप्रजल्पिन्यनिमित्तकोपनेऽनाश्रव आकर्णय मम वचनम् ।
एकग्राहिणि सौख्यैकबान्धवो गलति तारुण्यम् ।।

३५१. अग्घाहि महुं दे गेण्ह चंदणं असुणि सुणसु मह वयणं ।
माणेण मा नडिज्जसु माणंसिणि गलइ छणराई ।। २ ।।

आजिघ्र मधु हे गृहाण चन्दनमनाश्रवे शृणु मम वचनम् ।
मानेन मा नट्यस्व मनस्विनि गलति क्षणरात्रिः ।।

३४६. न देखने, अधिक देखने, देखने पर भी न बोलने, मान और प्रवास—इन पाँच कारणों से प्रेम क्षीण हो जाता है ॥ १८ ॥

३४७. जिनके हृदय पूर्णतया प्रेम में बद्ध हो चुके हैं, उनका भी प्रेम न देखने से कालान्तर में वैसे गलित हो जाता है, जैसे हाथ की अंजलि मे रखा हुआ पानी ॥ १९ ॥

३४८. दो प्रेमियों में जब विरोध के पश्चात् पुनः सन्धि होती है और जब किसी का दोष प्रत्यक्ष देख लिया जाता है, तब उष्ण करके पुनः शीतल किये हुये जल के समान प्रेम का स्वाद विकृत हो जाता है ॥ २० ॥

३४९. पुत्रि ! तभी तक कोई चतुर है, जब तक प्रेम के पाले नही पड़ता। प्रेम ही के द्वारा चातुर्य की जड़ें खोदी जाती हैं ॥ २१ ॥

३७—माण-वज्जा (मान-पद्धति)

३५०. मिथ्यावादिनि ! अनिमित्त-कोपने, न सुनने वाली, एक ही बात पर आग्रह करने वाली, सुन्दरी ! मेरी बात सुन लो, सुख ही जिसका एक मात्र बन्धु है, वह तारुण्य बीत रहा है ॥ १ ॥

३५१. अरी न सुनने वाली ! मधुपान करो, चन्दन ग्रहण कर लो। मेरी बात सुनो, मान से मत नाचो, यह उत्सव की रात्रि बीत रही है ॥ २ ॥

३५२. एदइइ मह पसिज्जसु माणं मोत्तूण कुणसु परिओसं ।
कयसेहराण सुम्मइ आलावो झत्ति गोसम्मि ॥ ३ ॥

हे दयिते, मम प्रसीद मान मुक्त्वा कुरु परितोषम् ।
कुक्कुटाना श्रूयत आलापो झटिति प्रभाते ॥

३५३. निद्दाभंगो आवडुरत्तणं दीहरा य नीसासा ।
जायंति जस्स विरहे तेण समं केरिसो माणो ॥ ४ ॥

निद्राभङ्ग आपाण्डुरत्वं दीर्घाश्च निःश्वासा. ।
जायन्ते यस्य विरहे तेन समं कीदृशो मानः ॥

३५४. नइपूरसच्छहे जोव्वणम्मि दियहेसु निच्चपहिएसु ।
अणियत्तासु वि राईसु पुत्ति किं दड्ढमाणेण ॥ ५ ॥

नदीपूरसदृशे यौवने दिवसेषु नित्यपथिकेषु ।
अनिवृत्तास्वपि रात्रिषु पुत्रि किं दग्धमानेन ॥

३५५. जइ माणो कीस पिओ अहव पिओ कीस कीरए माणो ।
माणिणि दो वि गइंदा एक्कक्खंभे न बज्झंति ॥ ६ ॥

यदि मानः कस्मात् प्रियोऽथवा प्रियः, कस्मात् क्रियते मानः ।
मानिनि द्वावपि गजेन्द्रावेकस्तम्भे न बध्येते ॥

३५६. माणिणि मुएसु माणं जइ वि पिओ मुट्ठु वल्लहो तुज्झ ।
कारणवसेण कूवो न नमइ मुद्धे तुला नमइ ॥ ७ ॥

मानिनि, मुञ्च मानं यद्यपि प्रियः सुष्ठु वल्लभस्तव ।
कारणवशेन कूपो न नमति मुग्धे तुला नमति ॥

३५७. माणं अवलबंती मरिहिसि मुद्धे वसंतमासम्मि ।
माणो पुणो वि किज्जइ छणदियहा दुल्लहा हुंति ॥ ८ ॥

मानमवलम्बमाना मरिष्यसि मुग्धे वसन्तमासे ।
मानः पुनरपि क्रियते क्षणदिवसा दुर्लभा भवन्ति ॥

३५२. हे दयिते (प्रिये) ! प्रसन्न हो जाओ (या पसीज जाओ), मान त्याग कर परितोष कर लो, अब प्रभात-कालिक कुक्कुट का स्वर सुनाई दे रहा है ॥ ३ ॥

३५३. जिसके वियोग मे नींद चली जाती है, शरीर पीला पड़ जाता है और लम्बी साँसें लेनी पड़ती है, उसके साथ मान कैसा ? ॥ ४ ॥

३५४. हे पुत्रि ! जब यौवन नदी के प्रवाह के समान है, दिन नित्य गतिशील हैं और रातें फिर नहीं लौटतीं, तब फिर यह दग्ध मान किस लिये करती हो ? ॥ ५ ॥

३५५. जिससे मान किया जाता है, वह प्रिय कहाँ से हो सकता है अथवा जिससे प्रेम है, उससे मान ही कैसा ? मानिनि ! एक ही खम्भे में दो हाथी नही बाँधे जाते ॥ ६ ॥

३५६. मानिनि ! मान छोड़ दो। यद्यपि तुम्हारा स्वामी भली प्रकार तुम से प्रेम करता है, फिर भी आवश्यकता वश ढेकुली ही झुकती है, कुआँ नहीं झुकता है ॥ ७ ॥

३५७. मुग्धे ! वसन्त-मास मे मान का अवलम्बन कर मर जाओगी। मान फिर कर लेना, उत्सव के दिन दुर्लभ है ॥ ८ ॥

३५८. मा पुत्ति कुणसु माणं दइओ हिययम्मि निट्ठुरसहावो ।
कंदलिसरिसं पेम्मं ढसत्ति तुट्टं न संघडइ ।। ९ ।।

मा पुत्रि, कुरु मानं दयितो हृदये निष्ठुरस्वभावः ।
कन्दलीसदृशं प्रेम झटिति त्रुटितं न संघटते ॥

३५९. दढणेहणालपरिसंठियस्स सब्भावदलसुयंधस्स ।
पेम्मुप्पलस्स माए माणतुसारो च्चिय विणासो ।। १० ।।

दृढस्नेहनालपरिसंस्थितस्य सद्भावदलसुगन्धस्य ।
प्रेमोत्पलस्य मातर्मानतुषार एव विनाशः ॥

३६०. मुय माणं माण पिय पियसरयं जाव वच्चए सरयं ।
सरए सरयं सुरयं च पुत्ति को पावइ अउण्णो ।। ११ ।।

मुञ्च मानं मानय प्रियं प्रियसरका यावद्व्रजति शरद् ।
शरदि सरकं सुरतं च पुत्रि कः प्राप्नोत्यपुण्यः ॥

३६१. तुंगो थिरो विसालो जो रइओ मणपव्वओ तीए ।
सो दइयदिट्ठिवज्जासणिस्स घायं चिय न पत्तो ।। १२ ।।

तुङ्ग स्थिरो विशालो यो रचितो मानपर्वतस्तया ।
स दयितदृष्टिवज्राशनेर्घातमेव न प्राप्तः ॥

३६२. पायवडिओ न गणिओ पियं भणंतो वि विप्पियं भणिओ ।
वच्चंतो न निरुद्धो भण कस्स कए कओ माणो ।। १३ ।।

पादपतितो न गणितः प्रियं भणन्नापि विप्रियं भणितः ।
व्रजन्न निरुद्धो भण कस्य कृते कृतो मानः ॥

३६३. माणं हु तम्मि किज्जइ जो जाणइ विरहवेयणादुक्खं ।
अणरसियणिव्विसेसे किं कीरइ पत्थरे माणो ।। १४ ।।

मानः खलु तस्मिन् क्रियते यो जानाति विरहवेदनादुःखम् ।
अरसिकनिर्विशेषे किं क्रियते प्रस्तरे मानः ॥

३५८. पुत्रि ! मान मत करो। प्रेमी हृदय से निष्ठुर स्वभाव का है। कंदली (अंकुर) के समान शीघ्र टूट जाने पर प्रेम फिर जुड़ता नही ॥ ९ ॥

३५९. जो स्नेह के सुदृढ़ नाल पर स्थित है, सद्भाव की पंखड़ियों से जो महकता है, उस प्रेमोत्पल का मान रूपी तुषार ही विनाशक है ॥ १० ॥

३६०. जिसमे मदिरा प्रिय लगती है, वह शरद् ऋतु जब तक बीत नही जाती, तब तक मान छोड़ दो और प्रिय का सत्कार करो। शरद् ऋतु मे बिना पुण्य के किसे मदिरा और सुरत सुलभ होते है ? ॥ ११ ॥

३६१. उसने जो ऊँचा, स्थिर और विशाल मान का पर्वत बनाया था, उस पर प्रेमी के दृष्टि-वज्र के प्रहार का अवसर ही नहीं आया ॥ १२ ॥

३६२ जब प्रिय चरणों पर गिर पड़ा, तब भी उसकी गणना नही की, जब प्रिय बोलने लगा, तब भी कटु बातें कहीं और जब जाने लगा, तब भी नहीं रोका, बताओ ! मान ही किस लिये किया था ? ॥ १३ ॥

३६३. जो विरह-वेदना का कष्ट समझता है, मान उसके प्रति किया जाता है। जिसमे कोई विशेषता (सुख या दुःख की) ही नहीं है, उस नीरस पाषाण के प्रति मान क्यों कर रही हो ? ॥ १४ ॥

३६४. उज्जग्गिरस्स तणुयत्तणस्स सुसियस्स दीहरुण्णस्स ।
एयाण उरं दाऊणं पुत्ति माणं कुणिज्जासु ॥ १५ ॥
उज्जागरस्य तनुत्वस्य शोषितस्य दीर्घरुदितस्य ।
एतेषामुरो दत्त्वा पुत्रि मानं कुर्याः ॥

३८. पवसियवज्जा [प्रोषितपद्धतिः]

३६५. कल्लं किर खरहियओ पवसिहिइ पिओ त्ति सुव्वइ जणम्मि ।
तह वड्ढ भयवइ निसे जह से कल्लं चिय न होइ ॥ १ ॥
कल्यं किल खरहृदयः प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रूयते जने ।
तथा वर्धस्व भगवति निशे यथा तस्य कल्यमेव न भवति ॥

३६६. जइ वच्चसि वच्च तुमं को वारइ तुज्झ सुहव जंतस्स ।
तुह गमणं मह मरणं लिहिय पसत्थी कयंतेण ॥ २ ॥
यदि व्रजसि व्रज त्वं को वारयति तव सुभग यातः ।
तव गमनं मम मरणं लिखिता प्रशस्तिः कृतान्तेन ॥

३६७. जइ वच्चसि वच्च तुमं एण्हिं अवऊहणेण न हु कज्जं ।
पावासियाण मडयं छिविऊण अमंगलं होइ ॥ ३ ॥
यदि व्रजसि व्रज त्वम् इदानीमवगूहनेन न खलु कार्यम् ।
प्रवासिनां मृतकं स्पृष्ट्वामङ्गलं भवति ॥

३६८. वसिऊण मज्झ हियए जीयं गहिऊण अज्ज चलिओ सि ।
सहवासहरविडंबण गंगम्मि गओ न सुज्झिहिसि ॥ ४ ॥
उषित्वा मम हृदये जीवं गृहीत्वाद्य चलितोसि ।
सहवासगृहविडम्बन गङ्गायां गतो न शोत्स्यसि ॥

३६९. *जइ वच्चसि वच्च तुमं अंचल गहिओ य कुप्पसे कीस ।
पढमं चिय सो मुच्चइ जो जीवइ तुह विओएण ॥ ५ ॥
यदि व्रजसि व्रज त्वमञ्चले गृहीतश्च कुप्यसि कस्मात् ।
प्रथममेव स मुच्यते यो जीवति त्वद्वियोगेन ॥

३६४. पुत्रि ! रात्रि-जागरण, दुर्बलता, शरीर-शोषण, चिरकाल तक रोदन, इन सभी (संकटों) को मन में सोच कर ही मान करना चाहिये ॥ १५ ॥

३८—पवसिय-वज्जा (प्रोषित-पद्धति)

३६५. सुनती हूँ, कल निष्ठुर-हृदय प्रिय परदेश चला जायगा। भगवति यामिनि ! (रात्रि) ऐसी बढ़ जाओ की सबेरा ही न हो ॥ १ ॥

३६६. सुभग ! यदि जाते हो तो जाओ, तुम्हे जाने से रोकता कौन है ? तुम्हारा प्रस्थान और मेरा मरण, यह प्रशस्ति (लेख) काल ने लिख दी है ॥ २ ॥

३६७. यदि जाते हो तो जाओ, अब आलिंगन की आवश्यकता नही है। मृतकों को छूने से प्रवास-यात्रियों का अमंगल होता है ॥ ३ ॥

३६८. मेरे हृदय मे रहकर आज जीव लेकर जा रहे हो। अरे सहवास-गृह की विडम्बना करने वाले ! गंगा मे जाकर भी शुद्ध नही होगे ॥ ४ ॥

*३६९. यदि जाते हो तो जाओ, जो तुम्हारे वियोग में जीता है, उस देह को (या जीव को) मै पहले ही त्याग दे रही हूँ ॥ ५ ॥

*विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

३७०. न मए रुण्णं न कयं अमंगलं होंतु सयलसिद्धीओ ।
विरहग्गिधूमकडुयाइयाइ पयलंति नयणाइं ।। ६ ।।
न मया रुदितं न कृतममङ्गलं भवन्तु सकलसिद्धयः ।
विरहाग्निधूमकटुकीकृते प्रगलतो नयने ॥

३७१. रे ससिवाहणवाहण मा पवससु एरिसम्मि कालम्मि ।
सेलसुयासुयवाहणघणसद्दो जत्थ उच्छलइ ।। ७ ।।
रे शशिवाहनवाहन मा प्रवसेदृशे काले ।
शैलसुतासुतवाहनघनशब्दो यत्रोच्छलति ॥

३७२. रे ससिवाहणवाहण वारिज्जंतो न ठासि जइ सुहय ।
ता लच्छिवासवासं अम्हाणं वच्च दाऊण ।। ८ ।।
रे शशिवाहनवाहन वार्यमाणो न तिष्ठसि यदि सुभग ।
तदा लक्ष्मीवासवासमस्मभ्यं व्रज दत्त्वा ॥

३७३. इह पंथे मा वच्चसु गयवइ भणिय भुयं पसारेवि ।
पंथिय पियपयमुद्दा मइलिज्जइ तुज्झ गमणेण ।। ९ ।।
अस्मिन्पथि मा व्रज गतपतिकया भणितं भुजं प्रसार्य ।
पथिक प्रियपदमुद्रा मलिनोक्रियते तव गमनेन ॥

३९. विरहवज्जा [विरहपद्धतिः]

३७४. *अज्जं चेय पउत्थो उज्जागरओ जणस्स अज्जेय ।
अज्जेय हलद्दीपिंजराइ गोलाइ तूहाइं ।। १ ।।
अद्यैव प्रोषित उज्जागरो जनस्याद्यैव ।
अद्यैव हरिद्रापिञ्जराणि गोदावर्यास्तटानि ॥

३७५. अज्जं चेय पउत्थो अज्जं चिय सुन्नयाइ जायाइं ।
रच्छामुहदेउलचच्चराइ अम्हं च हिययाइं ।। २ ।।
अद्यैव प्रोषितोऽद्यैव शून्यानि जातानि ।
रथ्यामुखदेवकुलचत्वराण्यस्माकं च हृदयानि ॥

३७०. न मैं रोयी हूँ, न मैंने अमंगल ही किया है। तुम्हें सभी सिद्धियाँ (सफलतायें) मिलें। ये आँखें तो विरहाग्नि के धुएँ की कटु आहट से चू रही हैं ॥ ६ ॥

३७१. हे मूर्ख! (शशि के वाहन शिव और उनका वाहन बैल अर्थात् मूर्ख) ऐसे समय प्रवास मत करो जब कि मयूरों (शैलसुता के पुत्र कार्तिकेय और उनका वाहन मयूर) का शब्द मुखरित हो रहा है ॥ ७ ॥

३७२. अरे मूर्ख! अरे सुभग! यदि रोकने पर भी नहीं रुकते, तो मुझे पानी[1] (लक्ष्मी का आवास कमल और कमल का आवास जल) देकर ही जाओ (अर्थात् मैं मर रही हूँ, तर्पण करके फिर जाना) ॥ ८ ॥

३७३. गतपतिका ने भुजायें फैला कर कहा—'पथिक' इस मार्ग से मत जाओ, तुम्हारे जाने से प्रियतम के चरण-चिह्न धुधले हो जायँगे[2] ॥ ९ ॥

३९—विरह-वज्जा (विरह-पद्धति)

३७४. *आज ही वे चले गये, आज ही लोग रात को जाग रहे है (चोरों के भय से या विरह से) और आज ही गोदावरी के कूल हरिद्रा से पीले हो गये [उस युवक पर आसक्त महिलायें अपने शरीरों को हरिद्रा के उद्वर्तन (उबटन) से मंडित करती थीं। आज जब वह चला गया तब उस उद्वर्तन को प्रयोजनहीन समझकर गोदावरी मे धो रही है, अतः उसके कूल पीले हो गये है] ॥ १ ॥

३७५. आज ही वे गये और आज ही गली का मुख, देवमन्दिर, चत्वर और हमारे हृदय सूने हो गये हैं ॥ २ ॥

---

१. यह शैली सूरदास को कूट शैली का प्राचीन रूप है—
तोया को सुत तासुत को सुत तासुत—अब-वदनी।

२. बिनती सुन लो हत भागनि की अब आगे नही डग और बढाना।
उस जन्म के बन्धु बटोही सुनो घर को किसी दूसरी राह से जाना।
परदेश-बसे प्रिय का पद चिह्न पड़ा इसी धूल में है पहचाना।
मिट जाय कही न तुम्हारे प्रयाण से पाँव पड़ें, इस ओर न आना॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

३७६. अज्जं चिय तेण विणा इमीइ आयंबधवलकसणाइं ।
जच्चंधमोत्तियाइ व दिसासु घोलंति नयणाइं ॥ ३ ॥
अद्यैव तेन विनैतस्या आताम्रधवलकृष्णे ।
जात्यन्धमौक्तिके इव दिक्षु घूर्णतो नयने ॥

३७७. अज्जं गओ त्ति अज्जं गओ त्ति अज्जं गओत्ति लिहिरीए ।
पढम च्चिय दियहद्धे कुड्डो रेहाहि चित्तलिओ ॥ ४ ॥
अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति लिखनशीलया ।
प्रथम एव दिवसार्धे कुड्यं रेखाभिश्चित्रितम् ॥

३७८. अवहिदियहागमासंकिरीहि सहियाहि तीइ लिहिरीए ।
दो तिन्नि तह च्चिय चोरियाइ रेहा फुसिज्जंति ॥ ५ ॥
अवधिदिवसागमाशङ्कनशीलाभिः सखीभिस्तस्यां लिखनशीलायाम् ।
द्वे तिस्रस्तथैव चौरिकया रेखाः प्रोञ्छ्यन्ते ॥

३७९. 'कइया गओ पिओ', 'पुत्ति अज्ज', 'अज्जेव' कइ दिणा होंति' ।
'एक्को', 'एद्दहमेत्तो' भणिउ मोहं गया बाला ॥ ६ ॥
'कदा गतः प्रियः', 'पुत्रि अद्य', 'अद्यैव कति दिनानि भवन्ति' ।
'एकम्', 'एतावन्मात्रम्' भणित्वा मोहं गता बाला ॥

३८०. तह कह वि कुम्मुहुत्ते नियट्टई वल्लहो जियंताणं ।
जह फुडियसिप्पिसंपुडदलं व बीयं न संघडइ ॥ ७ ॥
तथा कथमपि कुमुहूर्ते निवर्तते वल्लभो जीवताम् ।
यथा स्फुटितशुक्तिसंपुटदलमिव द्वितीये न संघटते ॥

३८१. विरहेण मंदरेण व हिययं दुद्धोदहिं व महिऊण ।
उम्मूलियाइ अव्वो अम्हं रयणाइ व सुहाइं ॥ ८ ॥
विरहेण मन्दरेणेव हृदयं दुग्धोदधिमिव मथित्वा ।
उन्मूलितान्यहो अस्माकं रत्नानीव सुखानि ॥

३७६. उनके बिना आज ही ये रक्त, श्वेत और कृष्ण आखें जात्यन्ध मौक्तिक के समान दिशाओं में लुढ़क रही हैं (जात्यन्ध मौक्तिकों को कोई नहीं पूछता है) ॥ ३ ॥

३७७. आज चले गये, आज चले गये, वे आज चले गये—इस प्रकार लिखने वाली नायिका ने (वियोग के) पहले आधे दिन में ही सम्पूर्ण भित्ति रेखाओं से चित्रित कर डाली ॥ ४ ॥

३७८. जब नायिका प्रियतम के आगमन के दिन की गणना कर के दीवार पर रेखायें खीचती थी, तब उसकी सखिया, 'अवधि का दिन कही आ न जाय'—इस आशका से दो-तीन रेखाये छिप कर पोंछ देती थी (यदि कही अवधि का दिन आ जायगा तो यह हर्षातिरेक से ही मर जायगी अथवा सखिया समझती थी कि नायक निश्चित समय पर नही लौट पायेगा। अवधि का दिन कही आ न जाय और यह मर न जाय, इसलिये चुपके से दो-तीन रेखाये पोछ दिया करती थी) ॥ ५ ॥

३७९. प्रियतम कब गये ? पुत्रि ! आज। कितने दिनों का आज होता है ? एक। अरे इतना बड़ा एक दिन होता है—यह कह कर वह बाला मूर्च्छित हो गई ॥ ६ ॥

३८०. जैसे फूटी सीपी का एक भाग दूसरे भाग से फिर नहीं जुड़ सकता वैसे ही कभी-कभी विरहणियां जब जीवित रह जाती हैं, तब उन का प्रेमी कुछ ऐसे कुमुहूर्त में लौटता है, जब मेल नही होता ॥ ७ ॥

३८१. अरे ! मन्दर के समान विरह ने क्षीर सागर के समान हमारे हृदय को मथ कर रत्नों के समान सुखों को निकाल लिया[१] ॥ ८ ॥

---

१. मह हिययं रयणनिहि, महियं गुरुमंदरेण तं णिच्च ।
उम्मूलिय असेसं, सुहरयण कड्ढियं च तुह पिम्मे ॥
—सन्देश रासक, ११९

प्रेम अमिअ मन्दरु विरहु, भरत पयोधि गम्भीर ।
मथि काढेउ सुरमन्त हित, कृपासिंधु रघुबीर ॥
—रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दो० २३८

३८२. अज्जं पुण्णा अवही करेसु मुहमंडणं पयत्तेण ।
अज्ज समप्पइ विरहो इंते वि पिए अइंते वि ।। ९ ।।

अद्य पूर्णोऽवधिः कुरुष्व मुखमण्डनं प्रयत्नेन ।
अद्य समाप्यते विरह आयत्यपि प्रियेऽनायत्यपि ।।

३८३. खणमेत्तं संतावो सेओ सीयं तहेव रोमंचो ।
अव्वो दूसहणिज्जो पियविरहो संणिवाओ व्व ।। १० ।।

क्षणमात्रं संतापः स्वेदः शीतं तथैव रोमाञ्चः ।
अहो दुःसहनीयः प्रियविरहः सन्निपात इव ।।

३८४. उण्हुण्हा रणरणया दुप्पेच्छा दूसहा दुरालोया ।
संवच्छरसयसरिसा पियविरहे दुग्गमा दियहा ।। ११ ।।

उष्णोष्णा रणरणककारिणो दुष्प्रेक्ष्या दुःसहा दुरालोकाः ।
संवत्सरशतसदृशाः प्रियविरहे दुर्गमा दिवसा ।।

३८५. मयणाणिलसंधुक्खियणेहिंधणदुसहदूरपज्जलिओ ।
डहई सहि पियविरहो जलणो जलणो च्चिय वराओ ।। १२ ।।

मदनानिलसंधुक्षितस्नेहेन्धनदुःसहदूरप्रज्वलितः ।
दहति सखि प्रियविरहो ज्वलनो ज्वलन एव वराकः ।।

३८६. थोरंसुसलिलसित्तो हियए पज्जलइ पियविओयम्मि ।
विरहो हले हयासो अउव्वजलणो कओ विहिणा ।। १३ ।।

स्थूलाश्रुसलिलसिक्तो हृदये प्रज्वलति प्रियवियोगे ।
विरहो हले हताशोऽपूर्वज्वलनः कृतो विधिना ।।

३८७. विसहरविसग्गिसंसग्गदूसिओ डहइ चंदणो डहउ ।
पियविरहे महच्चोज्जं अमयमओ जं ससी डहइ ।। १४ ।।

विषधरविषाग्निसंसर्गदूषितो दहति चन्दनो दहतु ।
प्रियविरहे महाश्चर्यममृतमयो यच्छशी दहति ।।

३८२. आज अवधि पूर्ण हो गई, प्रयत्न पूर्वक मुख का श्रृंगार करो। आज प्रिय के आने और न आने पर भी विरह समाप्त हो रहा है[1] ॥ ९ ॥

३८३. क्षण भर में ज्वर, स्वेद, शीत और रोमांच हो जाता है। अरे प्रिय का विरह सन्निपात के समान असह्य है ॥ १० ॥

३८४. जो उत्कण्ठा उत्पन्न करने वाले हैं, जो दुष्प्रेक्ष्य, निरालोक (प्रकाश-शून्य या निराशा-पूर्ण) हैं, वे उष्ण, असह्य और दुर्गम दिन प्रिय के विरह मे सौ वर्ष से लगते हैं ॥ ११ ॥

३८५. सखि ! काम-रूपी वायु से प्रेरित, स्नेह-रूपी ईंधन से उद्दीपित और असह्य हो जाने वाला विरह ही वास्तविक अग्नि है, बेचारी अग्नि तो नाम से ही अग्नि है ॥ १२ ॥

३८६. सखि ! विधाता ने इस हताश विरह को अपूर्व अग्नि बना दिया है, यह तो प्रिय के अभाव मे स्थूल अश्रु-जल से (बड़े-बड़े अश्रु बिन्दुओं से) सिक्त होने पर भी हृदय में प्रज्ज्वलित हो उठता है ॥ १३ ॥

३८७. विषधर सर्पों की विषाग्नि के संसर्ग से दूषित शरीर वाला चन्दन यदि जलाता है, तो जलाये। प्रिय के वियोग में अमृतमय चन्द्र भी जलाता है—यह आश्चर्य है ॥ १४ ॥

---

१. बीत चुके दिन पूरे प्रवास के होगी अवश्य ही शीतल छाती।
आयेंगे वे यदि गेह नही तब भी सखि ! क्यो इतना पछताती ?
बेणी नही क्यों सजा रही फूल से क्यों न सुहाग का बिन्दु बनाती ?
अन्त है आज ही सारे वियोग का प्रीति अहा ! मन में न समाती ॥

३८८. ओसरसु मयण घेत्तूण जीवियं हरहुयासणुच्चरियं ।
पियविरहजलणजालावलीहि सहस त्ति डज्झिहिसि ।। १५ ।।
अपसर मदन गृहीत्वा जीवितं हरहुताशनोच्चरितम् ।
प्रियविरहज्वलनज्वालावलीभि सहसा धक्ष्यसे ।।

३८९. जेहि सोहग्गणिही दिट्ठो नयणेहि ते च्चिय रुवंतु ।
अगाइ अपावियसगमाइ ता कीस झिज्जंति ।। १६ ।।
याभ्या सौभाग्यनिधिर्दृष्टो नयनाभ्या ते एव रुदताम् ।
अङ्गान्यप्राप्तसंगमानि तत् कस्मात् क्षीयन्ते ।।

४०. अणंगवज्जा [अनङ्गपद्धतिः]

३९०. अन्नो को वि सहावो वम्महसिहिणो हला हयासस्स ।
विज्झाइ नीरसाणं हियए सरसाण पज्जलइ ।। १ ।।
अन्यः कोऽपि स्वभावो मन्मथशिखिनः सखि हताशस्य ।
वीध्यते नीरसाना हृदये सरसाना प्रज्वलति ।।

३९१. दिट्ठी दिट्ठिप्पसरो पसरेण रई रईइ सब्भावो ।
सब्भावेण य नेहो पंच वि बाणा अणंगस्स ।। २ ।।
दृष्टिर्दृष्टिप्रसरः प्रसरेण रती रत्या सद्भावः ।
सद्भावेन च स्नेहः पञ्चापि बाणा अनङ्गस्य ।।

३९२. उवरि महं चिय वम्मह पंच वि बाणा निसंस रे मुक्का ।
अन्नं उण तरुणिजणं किं हणिहिसि चावलट्ठीए ।। ३ ।।
उपरि ममैव मन्मथ पञ्चापि बाणा नृशंस रे मुक्ताः ।
अन्यं पुनस्तरुणीजनं किं हनिष्यसि चापयष्ट्या ।।

३९३. इच्छाणियत्तपसरो कामो कुलबालियाण किं कुणइ ।
सीहो व्व पंजरगओ अंग च्चिय झिज्जइ वराओ ।। ४ ।।
इच्छानिवृत्तप्रसरः कामः कुलबालिकानां किं करोति ।
सिंह इव पञ्जरगतोऽङ्ग एव क्षीयते वराकः ।।

३८८. अरे शम्भु को लोचनाग्नि से बचे मदन ! अपना जीव लेकर भाग जा। अन्यथा प्रिय के विरहानल की लपटों में सहसा भस्म हो जायगा ॥ १५ ॥

३८९. जिन्होंने सौभाग्य-निधि (प्रियतम) को देखा है, वे आँखें भले रोवें, परन्तु जिन्हें कभी उनका संगम नही प्राप्त हो सका है, वे अंग क्यों क्षीण होते जा रहे है ?[१] ॥ १६ ॥

४०—अणंग-वज्जा (अनंग-पद्धति)

३९०. सखि ! इस निगोड़ी मदनाग्नि का कुछ अन्य ही स्वभाव है, नीरसों के हृदय में बुझती है और सरसों के हृदय मे प्रज्वलित हो जाती है ॥ १ ॥

३९१. दृष्टि, दृष्टि का प्रसार, दृष्टि प्रसार से रति, रति से सद्भाव और सद्भाव से प्रेम—ये पाँचों काम के बाण हैं ॥ २ ॥

३९२. अरे नृशंस काम ! तुमने मेरे ही ऊपर पाँचों बाण छोड़ दिये। क्या अन्य तरुणियो को धनुर्दण्ड से मारोगे ? ॥ ३ ॥

३९३. जिनके हृदय मे कामवासना उत्पन्न होते ही जान-बूझ कर दबा दी जाती है, उन कुलबालिकाओं का कामदेव क्या कर सकता ? बेचारा पंजर-गत सिंह के समान अपने शरीर में क्षीण हो जाता है ॥ ४ ॥

---

१ वह पीकर रूप छटा प्रिय की जो अघाते नही थे कभी पहले।
अब रोते हुए इन लोचनो को यह दारुण पीर भले ही खले।
जिन्हें अवसर सगम का न मिला जो अभागे कभी है लगे न गले।
सखि ! वे चिरवंचित कोमल अंग वियोग में हो रहे क्यों दुबले ॥

३९४. *ए कुसुमसरा तुह डज्झिहिंति मा भणसु मयण न हु भणियं ।
पियविरहतावतविए मह हियए पक्खिवंतस्स ।। ५ ।।
हे कुसुमशरास्तव धक्ष्यन्ते मा भण मदन न खलु भणितम् ।
प्रियविरहतापतप्ते मम हृदये प्रक्षिपतः ।।

३९५. मइरा मयंककिरणा महुमासो कामिणीण उल्लावो ।
पंचमसरस्स गेओ तलवग्गो कामदेवस्स ।। ६ ।।
मदिरा मृगाङ्ककिरणा मधुमासः कामिनीनामुल्लापः ।
पञ्चमस्वरस्य गेयः सेवकवर्गः कामदेवस्य ।।

३९६. वम्मह पसंसणिज्जो सि वंदणिज्जो सि गुणमहग्घो सि ।
गोरी हरस्स देहद्धवासिणी जेण निम्मविया ।। ७ ।।
मन्मथ प्रशंसनीयोऽसि वन्दनीयोऽसि गुणमहार्घोऽसि ।
गौरी हरस्य देहार्धवासिनी येन निर्मिता ।।

३९७. *सच्चं अणंग कोयंडवावडो सरपहुत्तलक्खो सि ।
तरुणीचलंतलोयणपुरओ जइ कुणसि संधाणं ।। ८ ।।
सत्यमनङ्ग कोदण्डव्यापृतः शरप्रभूतलक्ष्योऽसि ।
तरुणीचलल्लोचनपुरतो यदि करोषि संधानम् ।।

४१. पुरिसुल्लाववज्जा [पुरुषोल्लापपद्धति.]

३९८. कह सा न संभलिज्जइ जत्थ वि निवसंति पंच वत्थूणि ।
वीणावंसालावणिपारावयकोइलालवियं ।। १ ।।
कथं सा न संस्मर्यते यत्रापि निवसन्ति पञ्च वस्तूनी ।
वीणावंशालापिनीपारावतकोकिलालपितम् ।।

३९९. कह सा न संभलिज्जइ जा सा अत्तत्तकणयतणुसोहा ।
तिवलीतरंगमज्झा हरइ मणं वरमइंदाणं ।। २ ।।
कथं सा न संस्मर्यते या सातप्तकनकतनुशोभा ।
त्रिवलीतरङ्गमध्या हरति मनो वरमतीन्द्राणाम् ।।

*३९४. हे मदन ! तुम मुझ से मत बोलो (वैर मत करो), क्या मैंने तुम को बताया नहीं कि मेरे प्रिय-वियोग-संतप्त हृदय पर यदि पुष्प-बाण छोड़ोगे, तो वे भस्म हो जायँगे ॥ ५ ॥

३९५. मदिरा, चन्द्र-किरण, मधुमास, कामनियों का संभाषण और पंचमस्वर का गीत—ये काम के परिकर हैं ॥ ६ ॥

३९६. मन्मथ ! तुम प्रशंसनीय हो, वन्दनीय हो और तुम्हारे गुण बहुमूल्य है क्योंकि तुमने गौरी को शिव की अर्धांगिनी बना दिया ॥ ७ ॥

३९७. *अरे अनंग ! यदि तरुणियों के चपल नयनों के समक्ष बाण सन्धान करो, तो जाने कि तुम सच्चे धनुर्धर हो और तुम्हारा लक्ष्य कभी चूकता नही है ॥ ८ ॥

४१—पुरिसालावबज्जा (पुरुषालाप-पद्धति)

३९८. जिसमे वीणा, वंश (बाँसुरी), आलापिनी (वीणा विशेष), पारावत और कोकिल के शब्द—ये पाँच वस्तुयें बसती हैं, उसका स्मरण क्यों न हो ? ॥ १ ॥

३९९. जिसके शरीर की शोभा तप्त कांचन के समान है, जिसका मध्य भाग त्रिवली तरंगों से विभूषित है और जो श्रेष्ठ ज्ञानियों के मन को भी मोह लेती है, उसका स्मरण क्यों न किया जाय ? ॥ २ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

*४००. कह सा न संभलिज्जइ जा सा नवणलिणिकोमला बाला ।
करुरुह तणु छिप्पंती अकाल घणभद्दवं कुणइ ॥ ३ ॥
कथं सा न संस्मर्यते या सा नवनलिनीकोमला बाला ।
कररुहैः तनुं स्पृशन्ती अकाले घनभाद्रपदं करोति ॥

४०१. कह सा न सभलिज्जइ जा सा घरबारतोरणणिसण्णा ।
हरिणि व्व जूहभट्ठा अच्छइ मग्गं पलोयंती ॥ ४ ॥
कथं सा न संस्मर्यते या सा गृहद्वारतोरणनिषण्णा ।
हरिणीव यूथभ्रष्टा आस्ते मार्गं प्रलोकयन्ती ॥

*४०२. कह सा न संभलिज्जइ जा सा नीसाससोसियसरीरा ।
आसासिज्जइ सासा जाव न सासा समप्पंति ॥ ५ ॥
कथं सा न संस्मर्यते या सा निःश्वासशोषितशरीरा ।
आश्वास्यते श्वासा यावन्न श्वासाः समाप्यन्ते ॥

४२. पियाणुरायवज्जा [प्रियानुरागपद्धति.]

४०३. मुहराओ च्चिय पयडइ जो जस्स पिओ किमेत्थ भणिएण ।
साहेइ अंगणं चिय घरस्स अब्भंतरे लच्छि ॥ १ ॥
मुखराग एव प्रकटयति यो यस्य प्रियः किमत्र भणितेन ।
कथयत्यङ्गणमेव गृहस्याभ्यन्तरे लक्ष्मीम् ॥

४०४. डज्झंति कढंति समूससति ओ माइ सिमिसिमायति ।
जीवंति जीवसेसा जे रमिया पोढमहिलाहि ॥ २ ॥
दह्यन्ते कथ्यन्ते समुच्छ्वसन्त्यहो सिमिसिमायन्ते ।
जीवन्ति जीवशेषा ये रमिताः प्रौढमहिलाभिः ॥

४०५. कंपंति वलंति समूससंति ओ माइ सिमिसिमायंति ।
अंगाइ तस्स पुरओ न याणिमो कह धरिज्जंति ॥ ३ ॥
कम्पन्ते वलन्ते समुच्छ्वसन्त्यहो मातः सिमिसिमायन्ते ।
अङ्गानि नस्य पुरतो न जानीमः कथं धार्यन्ते ॥

*४००. उस नव नलिन कोमलांगी प्रिया का स्मरण क्यों न किया जाय जो नखों से तनिक भर छूट जाने पर अकाल में ही घना भादों उपस्थित कर देती है (या कृष्ण मेघों के बिना ही रो-रो कर भादों कर डालती है) ॥ ३ ॥

४०१ जो गृह-द्वार के तोरण (द्वार का अंग विशेष) पर बैठी यूथ-भ्रष्ट हरिणी के समान मार्ग निहारती रहती है, वह कैसे याद न रहे ? ॥ ४ ॥

*४०२ निःश्वासों से शरीर सुखा देने पर भी जो आशावती है, उसका स्मरण क्यों न किया जाय। जब तक साँसें समाप्त नहीं हो जाती तब तक आश्वासन दिया जाता है ॥ ५ ॥

४२—पियाणुरायवज्जा (प्रियानुराग-पद्धति)

४०३. मुख का रंग ही प्रकट कर देता है कि कौन किस का प्रिय है—इसमें कहने की आवश्यकता नहीं है। घर का आँगन ही भीतर की समृद्धि बता देता है ॥ १ ॥

४०४. अरी माँ, जिन्होने प्रौढ़ महिलाओं (विदग्ध स्त्रियो) के साथ रमण किया है, उनके शरीर मे केवल जीव शेष रह जाते है। वे जलते है, उबलते रहते है, आहें भरते रहते है और सिमसिमाते रहते हे ॥ २ ॥

४०५ उस (प्रेमी) के अंगों को कैसे धारण किया जाता है—यह हमे ज्ञात नहीं है। अरी माँ ! वे तो काँपते है, ऐंठते है, उच्छ्वासित होते है और सिमसिमाने लगते है ॥ ३ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

४०६. नीससिउक्कंपियपुलइएहि जाणंति नच्चिउं धन्ना ।
अम्हारिसीण दिट्ठे पियम्मि अप्पा वि वीसरइ ।। ४ ।।
निःश्वसितोत्कम्पितपुलकितैर्जानन्ति नर्तितुं धन्याः ।
अस्मादृशीनां दृष्टे प्रिय आत्मापि विस्मर्यते ।।

४०७. अच्छउ ता फंससुहं अमयरसाओ वि दूररमणिज्जं ।
दंसणमेत्तेण वि पिययमस्स भण किं न पज्जत्तं ।। ५ ।।
आस्तां तावत्स्पर्शसुखममृतरसादपि दूररमणीयम् ।
दर्शनमात्रेणापि प्रियतमस्य भण कि न पर्याप्तम् ।।

४०८. अच्छउ ता लोयणगोयरम्मि पडिएण तेण जं सोक्खं ।
आयण्णिए वि पियसहि पिए जणे होइ निव्वाणं ।। ६ ।।
आस्ता तावल्लोचनगोचरे पतितेन तेन यत्सुखम् ।
आकर्णितेऽपि प्रियसखि प्रिये जने भवति निर्वाणम् ।।

४०९ हत्थप्फंसेण वि पिययमस्स जा होइ सोक्खसपत्ती ।
सा सरभसगाढालिंगिए वि इयरे जणे कत्तो ।। ७ ।।
हस्तस्पर्शेनापि प्रियतमस्य या भवति सौख्यसंपत्तिः ।
सा सरभसगाढालिङ्गितेऽपीतरस्मिञ्जने कुतः ।।

४१०. ता किं करेमि माए लोयणजुयलस्स हयसहावस्स ।
एक्कं मोत्तूण पिय लक्खेवि न लक्खए लक्खं ।। ८ ।।
तत् किं करोमि मातर्लोचनयुगलस्य हतस्वभावस्य ।
एकं मुक्त्वा प्रियं लक्षयित्वा न लक्षयति लक्षम् ।।

४११. ता किं करेमि पियसहि पियस्स सोहग्गभारभमिरस्स ।
रायंगणं व खुब्भइ जस्स घरं दूइसंघेहि ।। ९ ।।
तत् किं करोमि प्रियसखि प्रियस्य सौभाग्यभारभ्रमणशीलस्य ।
राजाङ्गणमिव क्षुभ्यति यस्य गृहं दूतीसंघैः ।।

४०६. जो लम्बी साँसें लेकर, काँप कर और रोमांचित हो कर नाचना जानती हैं, वे धन्य हैं। हम-जैसी प्रेमिकायें तो प्रियतम के देखने पर अपने आप को भी भूल जाती हैं ॥ ४ ॥

४०७. अमृत-रस से भी अधिक रमणीय प्रियतम का स्पर्श तो दूर रहे, क्या उसको देख लेना भी पर्याप्त नही है ? ॥ ५ ॥

४०८. प्रिय सखि ! आँखो के आगे पड़ने पर जो सुख होता है, उसे कौन कहे, प्रेमी का तो नाम सुनने पर भी निर्वाण-सुख मिल जाता है ॥ ६ ॥

४०९. प्रियतम के हाथों के स्पर्श से भी जो सुख संप्राप्ति (या सुख-संपत्ति) होती है, वह अन्य लोगों के वेगपूर्वक आलिंगन से भी कहाँ मिलती है ? ॥ ७ ॥

४१०. माँ ! इन दोनों दुष्ट स्वभाव वाली आँखों को क्या करूँ ? एक प्रियतम को छोड़कर लाखो लोगों को देखकर भी ये नही देखती हैं ॥ ८ ॥

४११. जिस का गृह राजांगण के समान सदैव दूतियों से परिपूर्ण रहता है, उस सौभाग्य-भार से भ्रमणशील (अनेक नायिकाओं के यहां जाने वाले) प्रियतम का मैं क्या करूँ (क्या कर लूंगी) ॥ ९ ॥

४१२. तह तेण वि सा दिट्ठा तीए तह तस्स पेसिया दिट्ठी ।
जह दोण्ह वि समयं चिय निव्वत्तरयाइ जायाइं ।। १० ।।
तथा तेनापि सा दृष्टा तया तथा तस्य प्रेषिता दृष्टिः ।
यथा द्वयोरपि सममेव निर्वृत्तरतानि जातानि ।।

४३. दूईवज्जा [दूतीपद्धतिः]

४१३. दूइ तुमं चिय कुसला कक्खडमउयाइ जाणसे वोत्तुं ।
कडुइयपंडुरं जह न होइ तह त कुणिज्जासु ।। १ ।।
दूति त्वमेव कुशला कठिनमृदूनि जानासि वक्तुम् ।
कण्डूयितपाण्डुरं यथा न भवति तथा त्वं कुर्याः ।।

४१४. कित्तियमेत्तं एय एसावत्था उ सहि सरीरस्स ।
महिला महिलाण गई जं जाणसि तं कुणिज्जासु ।। २ ।।
कियन्मात्रमेतदेषावस्था तु सखि शरीरस्य ।
महिला महिलानां गतिर्यज्जानासि तत्कुर्याः ।।

४१५. जं तुह कज्जं भण तं मह त्ति जं जाणिउं भणेज्जासु ।
ओ दूइ सच्चवयणेण तं सि पारं गया अज्ज ।। ३ ।।
यत्तव कार्यं भण तन्ममेति यज्ज्ञातुं भणेः ।
हे दूति सत्यवचनेन त्वमसि पारं गताद्य ।।

४१६. *तिलयं विलयं विवरीय कंचुयं सेयभिन्न सव्वंगं ।
पडिवयणं अलहंती दूई कलिऊण सा हसिया ।। ४ ।।
तिलकं विलय विपरीतं कञ्चुकं स्वेदभिन्नं सर्वाङ्गम् ।
प्रतिवचनमलभमाना दूति कलयित्वा सा हसिता ।।

४१७. जइ सो न एइ गेहं ता दूइ अहोमुही तुमं कीस ।
सो होही मज्झ पिओ जो तुज्झ न खंडए वयणं ।। ५ ।।
यसि स नैति गेहं तद् दूति अधोमुखी त्वं कस्मात् ।
स भविष्यति मम प्रियो यस्तव न खण्डयति वचनं (वदनम्) ।।

४१२ नायक ने नायिका को कुछ ऐसे ढंग से देखा और नायिका ने भी उस पर कुछ ऐसी दृष्टि डाली कि दोनों एक समय में ही रति का सुख अनुभव करने लगे ॥ १० ॥

४३—दूईवज्जा (दूती-पद्धति)

४१३ दूती ! तुम्ही कुशल हो, कठोर और कोमल-दोनों प्रकार की बातें कहना जानती हो। उसको कुछ ऐसा करना, जिस से खुजली भी मिट जाय और चमडा भी विरूप न हो ॥ १ ॥

४१४. यह अपराध ही कितना बड़ा है और मेरे शरीर की यह अवस्था है। स्त्रियो की गति स्त्रियाँ है। तुम जो उचित समझना, करना ॥ २ ॥

४१५. (दूती नायिका से प्रायः कहा करती थी कि तुम्हारा जो कार्य हो, उसे बताओ, वह मेरा कार्य है। एक दिन जब वह नायक से स्वय रमण करके लौटी तब नायिका ने कहा) 'तुम्हारा जो कार्य हो उसे बताओ, वह मेरा कार्य है—यह ऐसे कहो जो समझ मे आ सके। अरी दूती ! आज तो तुम सत्य-वचन मे पारंगत हो गई हो (अर्थात् तुम्हारी बातें पहले मेरी समझ मे नही आती थी। आज तुमने अपनी वे बातें सच कर दी क्यो कि नायक से रमण करना मेरा कार्य था, उसे अपना कार्य बना लिया है'[1]) ॥ ३ ॥

*४१६. जिस का तिलक मिट गया था, कंचुकी उलट गई थी और सारे अंग पसीने से भर गये थे, उस दूती को देख कर (नायक का कोई) सन्देश (या उत्तर) न पाती हुई हँस पड़ी ॥ ४ ॥

(नायिका ने समझ लिया कि यह नायक से रमण करके लौटी है, इसी लिए तिलक मिट गया है, कचुकी विपरीत हो गई है, पसीने से तर हो गई है और मुझे नायक ने क्या उत्तर दिया है, इसे भी नही कह पा रही है, अतः उसकी दशा पर हँसी आ गई)

४१७. हे दूती ! यदि वह घर पर नही आता है तो तुमने क्यो अपना मुँह लटका लिया है ? मेरा प्रिय वही होगा जो तुम्हारा वचन (दूसरे पक्ष में वदन = मुँह) न खंडित करे (नायक से रमण करके लौटी हुई

१. अंग्रेजी अनुवादक ने इस को अस्पष्ट बताया है।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

*४१८. दूइ समागमसेउल्लयंगि दरल्हसियसिचयधम्मिल्ले ।
थणजहणकवोलणहक्खएहि नाया सि जह पडिया ।। ६ ।।
दूति समागमस्वेदार्द्राङ्गि ईषत्स्रस्तसिचयकेशपाशे ।
स्तनजघनकपोलनखक्षतैर्ज्ञातासि यथा पतिता ॥

*४१९. इय रक्खसाण वि फुडं दूइ न खज्जंति दूइया लोए ।
अह एरिसी अवत्था गयाण अम्हं वसे जाया ।। ७ ।।
एवं राक्षसानामपि स्फुटं दूति न खाद्यन्ते दूतिका लोके ।
अथेदृश्यवस्था गतानामस्माक वशे जाता ॥

४२०. अच्छउ ताव सविब्भमकडक्खविक्खेवजंपिरी दूई ।
तग्गामकुडिलसुणहिल्लया वि दिट्ठा सुहावेइ ।। ८ ।।
आस्तां तावत्सविभ्रमकटाक्षविक्षेपजल्पनशीला दूती ।
तद्ग्रामकुटिलशुनक्यपि दृष्टा सुखयति ॥

४२१. वेल्लहलालाववियक्खणाउ अडयणपउत्तिहरणाओ ।
सो रण्णो नो गामो जत्थ न दो तिन्नि दूईओ ।। ९ ।।
कोमलालापविचक्षणा असतीप्रवृत्तिहारिण्यः ।
तदरण्यं न ग्रामो यत्र न द्वे तिस्रो दूत्यः ॥

४४. ओलुग्गाविया-वज्जा [अवरुग्णा-पद्धति]

४२२. तुह गोत्तायण्णणवियडरमणपज्झरियरसजलेणं व ।
रइमंदिरम्मि बाला अब्भुक्खंती परिब्भमइ ।। १ ।।
तत्र गोत्राकर्णनविकटरमणप्रस्रुतरसजलेनेव ।
रतिमन्दिरे बालाभ्युक्षन्ती परिभ्रमति ॥

*४२३. तुह संगमदोहलिणीइ तीइ सोहग्गविंभियासाए ।
नवसियसयाइ देंतीइ सुहय देवा वि न हु पत्ता ।। २ ।।
तव सङ्गमदोहदवत्या तया सौभाग्यविजृम्भिताशया ।
उपयाचितकशतानि ददत्या सुभग देवा अपि न प्राप्ताः ॥

दूती अधरों और कपोलों पर लगे दन्त-क्षत को छिपाने के लिए मुँह नीचे करके खड़ी थी। नायिका ताड़ गई। गाथा में दूती के प्रति उसकी श्लेष-गर्भित व्यंग्योक्ति है[1]) ॥ ५ ॥

*४१८. हे दूती ! मेरे निकट तक आने में जो स्वेद उत्पन्न हुआ है, उससे तुम्हारे अंग भीग गये हैं, तुम्हारा कचपाश (जूड़ा) किंचित् खिसक गया है, तुम्हारे स्तनों, जघनों, कपोलों और नखों पर लगे घावों से ज्ञात हो गया है कि तुम कहीं (मार्ग मे) गिर पड़ी हो ॥ ६ ॥

शृंगार-पक्ष—तुम्हारे अंग समागमजनित स्वेद से आर्द्र हो गये हैं, तुम्हारा कचपाश किंचित खिसक गया है, स्तन, जघन और कपोलों पर लगे नखों के क्षतों से ज्ञात हो गया है कि तुम पतित (आचरण से) हो चुकी हो[2]।

४१९. *हे दूती ! राक्षसों के लोक में भी दूतियाँ इस प्रकार स्पष्ट रूप में (स्वामी के हित को) नहीं खा जाती हैं। हमारे वश में रहने वालों (सेवकों) की अब यह अवस्था हो गई है ? ॥ ७ ॥

४२०. विलास एवं कटाक्ष-विक्षेप के साथ बातें करने वाली दूती को छोड़िये, उस गाँव की कुटिल कुतिया भी देखने पर सुख देती है ॥ ८ ॥

४२१. जो कोमल आलाप मे पटु है और व्यभिचारिणी स्त्रियों का सन्देश (या समाचार) ले जाया करती है, वे दो-तीन दूतियां जहां न हों, वह गांव नही, वन है ॥ ९ ॥

४४—ओलुग्गाविया-वज्जा (अवरुग्णा-पद्धति)

४२२. तुम्हारा नाम सुनने पर विस्तृत नितम्बों (या योनि) से क्षरने वाले प्रेम-रस से मानों भीगी हुई वह रति-मन्दिर मे भ्रमण करती है ॥१॥

(आर्द्रता का कारण सात्त्विकभावोद्रेक या चित्त-द्रुति है)

*४२३. हे सुभग ! प्रचुरधन के कारण जिस की आशा बढ गई थी, जिसे तुम्हारे संगम की इच्छा थी और जो सैकड़ों मनौतियां कर रही थी, उसे देवता भी न मिले ॥ २ ॥

---

१. जइ न सु आवइ दूइ घरु, काइँ अहो मुँहु तुज्झु।
बयणु जु खण्डइ तउ सहिए, सो पिउ होइ न मज्झु ॥
—हेमचन्द्र-कृत प्राकृत व्याकरण

२. मूल में धम्मिल्ल की छाया केशपाश की गई है। वस्तुतः वह जूड़े के अर्थ में आने वाला सस्कृत शब्द है।

* विस्तृत विवेचन परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

४२४. तुह अन्नेसणकज्जम्मि सुहय सा हरिसवियसियकवोला ।
जं जत्थ नत्थि तं तत्थ मग्गमाणी चिर भमिया ।। ३ ।।

तवान्वेषणकार्ये सुभग सा हर्षविकसितकपोला ।
यद्यत्र नास्ति तत्तत्र मार्गयन्तो चिरं भ्रान्ता ।।

४२५. अगणियसेसजुवाणा बालय वोलीणलोयमज्जाया ।
अह सा भमइ दिसामुहपसारियच्छी तुह कएण ।। ४ ।।

अगणितशेषयुवजना बालकातिक्रान्तलोकमर्यादा ।
अथ सा भ्रमति दिङ्मुखप्रसारिताक्षी तव कृते ।।

४२६ नयणाइ तुह विओए घोलिरबाहाइ सुहय तणुईए ।
हिययट्ठियसोयहुयासधूमभरियाइ व गलंति ।। ५ ।।

नयने तव वियोगे घूर्णनशीलबाष्पे सुभग तन्व्याः ।
हृदयस्थितशोकहुताशधूमभृते इव गलतः ।।

४२७ वइमग्गपेसियाइ तीए नयणाइ तम्मि वोलीणे ।
अज्ज वि गलति पडिलग्गकंटयाइ व्व ओ सुहय ।। ६ ।।

वृतिमार्गप्रेषिते तस्या नयने तस्मिन्नतिक्रान्ते ।
अद्यापि गलतः प्रतिलग्नकण्टके इव हे सुभग ।।

४२८. संभरिऊण य रुण्ण तोइ तुम तह विमुक्कपुक्कारं ।
निद्दय जह सुहियस्स वि जणस्स ओ निवडिओ बाहो ।। ७ ।।

संस्मृत्य च रुदितं तया त्वा तथा विमुक्तपूत्कारम् ।
निर्दय यथा सुखितस्यापि जनस्याहो निपतितो बाष्पः ।।

४२९. एक्केक्कमवइवेढियविवरंतरतरलदिन्नणयणाए ।
तइ वोलंते बालय पंजरसउणाइयं तीए ।। ८ ।।

एकैकवृतिवेष्टितविवरान्तरतरलदत्तनयनया ।
त्वय्यतिक्रामति बालक पञ्जरशकुनवदाचरितं तया ।।

४२४. हे सुभग ! तुम्हे ढूंढ़ते समय जिस के कपोल हर्ष से खिले हुए थे वह बाला, जो जहां नहीं है उसे वहा खोजती हुई बड़ी देर तक भटकती रही ॥ ३ ॥

४२५. हे बालक ! वह लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर, शेष युवकों की गणना न करके, दिशाओं मे आखें फैलाये, तुम्हारे लिये भटक रही है ॥ ४ ॥

४२६. हे सुभग ! उस तन्वंगी की आखे, जिनमें तुम्हारे वियोग के आंसू छलछलाते रहते हैं, मानों हृदय में स्थित शोकाग्नि के धुँए से भर कर चू रही हैं ॥ ५ ॥

४२७. हे सुभग ! उस (युवक) के ओझल हो जाने पर उस(नायिका) की वे आंखें जो बाड़ के छिद्रों से झांक रही थी, यों बह रही हैं जैसे उनमें कांटे लग गये हों ॥ ६ ॥

४२८. हे सुभग ! वह तुम्हे स्मरण कर यों चिल्ला कर रोई कि सुखी मनुष्यों के भी आंसू गिर पड़े ॥ ७ ॥

४२९. वृति (बाड़) से वेष्टित एक-एक छिद्र में आंखें डाल कर झांकने वाली सुन्दरी, तुम्हारे अदृश्य हो जाने पर ऐसे छटपटाने लगी जैसे पिंजड़े में बन्द पंछी ॥ ८ ॥

४३०. नयणब्भंतरघोलंतबाहभरमंथराइ दिट्ठीए ।
पुणरुत्तपेच्छिरीए बालय ता किं न भणिओ सि ।।९।।

नयनाभ्यन्तरघूर्णद्बाष्पभरमन्थरया दृष्ट्या ।
पुनरुक्तप्रेक्षणशीलया बालक ततः किं न भणितोऽसि ॥

४३१. सुहय गयं तुह विरहे तिस्सा हिययं पवेविर अज्ज ।
करिचलणचंपणुच्छलियतुच्छतोयं मिव दिसासु ।।१०।।

सुभग गतं तव विरहे तस्या हृदय प्रवेपनशीलमद्य ।
करिचरणाक्रमणोच्छलिततुच्छतोयमिव दिक्षु ॥

४३२. सा तइ सहत्थदिन्नं अज्ज वि ओ सुहय गंधरहियं पि ।
उव्वसियणयरघरदेवय व्व ओमालयं वहइ ।। ११ ।।

सा त्वया स्वहस्तदत्तामद्याप्यहो सुभग गन्धरहितामपि ।
उद्वासितनगरगृहदेवतेवावमालिकां वहति ॥

४३३. तह झीणा तुह विरहे अणुदियहं सुंदरंग तणुयंगी ।
जह सिढिलवलयणिवडणभएण उब्भियकरा भमइ ।।१२।।

तथा क्षीणा तव विरहेऽनुदिवसं सुन्दराङ्ग तन्वङ्गी ।
यथा शिथिलवलयनिपतनभयेनोर्ध्वीकृतकरा भ्राम्यति ॥

४३४. तुह विरहतावियाए तिस्सा बालाइ थणहरुच्छंगे ।
दिज्जंती अणुदियहं मुणालमाला छमच्छमइ ।। १३ ।।

तव विरहतापितायास्तस्या बालायाः स्तनभरोत्संगे ।
दीयमानानुदिवसं मृणालमाला छमच्छमायते ॥

४३५. सा तुज्झ कए गयमयविलेवणा तह वणेक्कसाहारा ।
जाया निद्दय जाया मासाहारा पुलिंदि व्व ।। १४ ।।

सा तव कृते गतमदविलेपना (गजमदविलेपना) तथा
पानीयैकस्वाहारा (वनैकस्वाधारा)
जाया निर्दय जाता मासाहारा (मांसाहारा) पुलिन्दीव ॥

४३०. बार-बार तुम्हें देखने वाली सुन्दरी की दृष्टि ने, जो नयनों के भीतर छलकते आंसुओं के भार से मन्थर हो गई थी, क्या नहीं कह दिया ? ॥ ९ ॥

४३१. सुभग ! हाथी के चरण रखने पर उच्छलित होने वाले चंचल स्वल्प-जल के समान उस का कंपनशील हृदय तुम्हारे विरह में चारों दिशाओं में छिटक गया ॥ १० ॥

४३२. अरे सुभग ! तुम ने जिसे अपने हाथों से दिया था उस पुष्प-माला को गन्ध-हीन होने पर भी, वह ऐसे धारण कर रही है, जैसे नगर से बाहर निकाली गई गृह-देवी ॥ ११ ॥

४३३. हे सुन्दर अंगों वाले ! वह तन्वंगी तुम्हारे वियोग में इतनी क्षीण हो गई है कि प्रतिदिन ढोले-ढोले कंकणों के गिर पड़ने के भय से हाथ [1]उठाये चलती है ॥ १२ ॥

४३४. तुम्हारे विरह-ताप से संतप्त उस बाला के स्तनों पर प्रतिदिन (शीतोपचार में) दी जाती हुई मृणालमाला छनछनानें लगती है ॥ १३ ॥

४३५. हे निर्दय ! (विरह में) जिसने मद (मदिरा) और विलेपन का परित्याग कर दिया है, केवल जल ही जिसका आहार है और जो मास में एक बार ही भोजन करती है, वह तुम्हारी प्रिया उस भीलनी के समान हो गई है, जो गजों के मद का विलेपन लगाती है, वन में ही रहती है और मांस का भोजन करती है ॥ १४ ॥

---

१. वलयावलि-निवडण भएँण, धण उद्धब्भुय जाइ ।
वल्लह-विरह-महादहहो, थाह गवेसइ नाइ ॥

—हेमचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण

४३६. हत्थट्ठियं कवालं न मुयइ नूणं खणं पि खट्टंगं ।
सा तुह विरहे बालय बाला कावालिणी जाया ।। १५ ।।
हस्तस्थितं कपालं न मुञ्चति नूनं क्षणमपि खट्वाङ्गम् ।
सा तव विरहे बालक बाला कापालिनी जाता ।।

४३७. तह झीणा जह मउलियलोयणउडविहडणे वि असमत्था ।
सक्किहिइ दुक्करं घरगयं पि दट्ठु तुमं बाला ।। १६ ।।
तथा क्षीणा यथा मुकुलितलोचनपुटविघटनेऽप्यसमर्था ।
शक्ष्यति दुष्करं गृहगतमपि द्रष्टुं त्वां बाला ।।

४३८. नाहं दूई न तुमं पिओ त्ति को एत्थ मज्झ वावारो ।
सा मरइ तुज्झ अजसो त्ति तेण धम्मक्खर भणिमो ।। १७ ।।
नाहं दूती न त्वं प्रिय इति कोऽत्र मम व्यापारः ।
मा म्रियते तवायश इति तेन धर्माक्षरं भणाम. ।।

४३९. बहुसो वि कहिज्जंतं तुह वयण मज्झ हत्थसदिट्ठ ।
न सुयं ति जपमाणी पुणरुत्तसयं कुणइ अज्झा ।। १८ ।।
बहुशोऽपि कथ्यमानं तव वचनं मम हस्तसंदिष्टम् ।
न श्रुतमिति जल्पन्ती पुनरुक्तशत करोति प्रौढयुवतिः ।।

४५. पंथियवज्जा [पथिकपद्धतिः]

४४०. मज्झण्हपत्थियस्स वि गिम्हे पहियस्स हरइ सतावं ।
हिययट्ठियजायामुहमयंकजोण्हाजलुप्पीलो ।। १ ।।
मध्याह्नप्रस्थितस्यापि ग्रीष्मे पथिकस्य हरति संतापम् ।
हृदयस्थितजायामुखमृगाङ्कज्योत्स्नाजलोत्पीडः ।।

४४१. मा उण्हं पियसु जलं विरहिणिविरहाणलेण संतत्तं ।
एत्थ सरे ए पंथिय गयवइवहुयाउ मज्जिया ।। २ ।।
मोष्णं पिब जलं विरहिणीविरहानलेन संतप्तम् ।
अत्र सरसि रे पथिक गतपतिवध्वो मज्जिताः ।।

४३६. हे बालक ! जो हथेली पर अपना कपाल (मस्तक) रखे रहती है, जो निश्चित-रूप से क्षण भर भी चारपाई की पाटी नहीं छोड़ती है, वह बाला तुम्हारे विरह मे, क्षण भर भी खट्वांग (शस्त्र विशेष) का त्याग न करने वाली एवं हाथ में कपाल धारण करने वाली कापालिनी बन गई है[1] ॥ १५ ॥

४३७. वह बाला ऐसी क्षीण हो गई है कि बन्द आँखों की पलकें खोलने में भी असमर्थ है। जब तुम घर जाओगे, तो तुम्हें भी कठिनाई से देख सकेगी ॥ १६ ॥

४३८. मै दूती नही हूँ, न तुम उसे प्रिय हो। इस में मेरा क्या स्वार्थ है ? वह मर रही है। तुम्हे अपयश होगा—इसलिये धर्म की बातें कह रही हूँ ॥ १७ ॥

४३९. मेरे हाथों से (द्वारा) संदिष्ट तुम्हारे वचनों को बहुत बार कहने पर भी—'मैने नही सुना'—इस प्रकार कहती हुई प्रौढ़ नायिका ने सैकड़ों बार कहलाया ॥ १८ ॥

४५—पंथिय-वज्जा (पथिक-पद्धति)

४४०. हृदय मे प्रतिबिम्बित प्रियतमा के मुख-चन्द्र की चाँदनी का जल-प्रवाह ग्रीष्म के मध्याह्न मे यात्रा करने वाले पथिक का ताप हर लेता है ॥ १ ॥

४४१. अरे पथिक ! विरहिणियों के विरहानल से तप्त जल मत पीना, इस सरोवर में प्रोषित-पतिकाओं (त्यक्तपति स्त्रियों) ने स्नान किया है ॥ २ ॥

---

१. तुय समरंत समाहि मोहु विसमट्ठियउ,
तहि खणि खुवेइ कवालु न वाम-करट्ठियउ,
सिज्जासणउण मिल्हउ खण खट्टंगलय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय ॥
—सन्देश रासक, ८६

४४२. को देसो उव्वसिओ को वसिओ सुहअ जत्थ चलिओ सि ।
ओ पहिय पंथदीवय पुणो तुमं कत्थ दीसिहिसि ॥ ३ ॥
को देश उद्वासितः को वासितः सुभग यत्र चलितोऽसि ।
हे पथिक पान्थदीपक पुनस्त्वं कुत्र द्रक्ष्यसे ॥

४४३. दिट्ठो सि जेहि पंथिय जेहि न दिट्ठो सि बे वि ते मुसिया ।
एक्काण हिययहरणं अन्नाण वि निप्फलं जम्मं ॥ ४ ॥
दृष्टोऽसि यै पथिक यैर्न दृष्टोऽसि उभयेऽपि ते मुषिताः ।
एकेषां हृदयहरणमन्येषामपि निष्फलं जन्म ॥

४४४. खरपवणचाडुचालिरवठट्ठियदिन्नकप्पडो पहिओ ।
दइयादंसणतुरिओ अद्धुड्डीणो व्व पडिहाइ ॥ ५ ॥
खरपवनचाटुचलनशीलकण्ठस्थितदत्तकर्पटः पथिकः ।
दयितादर्शनत्वरितोऽर्धोड्डीन इव प्रतिभाति ॥

४४५. दइयादसणतिण्हालुयस्स पहियस्स चिरणियत्तस्स ।
नयरासन्ने धुक्कोडिया वि हियए न मायति ॥ ६ ॥
दयितादर्शनतृष्णालोः पथिकस्य चिरनिवृत्तस्य ।
नगरासन्ने संशया अपि हृदये न मान्ति ॥

४६. धन्नवज्जा [धन्यपद्धति]

४४६. ते धन्ना गरुयणियंबबिंबभारालसाहि तरुणीहि ।
फुरियाहरदरगग्गरगिराहि जे सभरिज्जंति ॥ १ ॥
ते धन्या गुरुनितम्बबिम्बभारालसाभिस्तरुणीभिः ।
स्फुरिताधरगद्गदगीर्भिर्ये सस्मर्यन्ते ॥

४४७. ते धन्ना कढिणुत्तुंगथोरथणवीढभारियंगीहि ।
सब्भावणेहउक्कंठिरीहि जे संभरिज्जंति ॥ २ ॥
ते धन्याः कठिनोत्तुङ्गविस्तीर्णस्तनपीठभारिताङ्गीभि. ।
सद्भावस्नेहोत्कण्ठनशीलाभिर्ये संस्मर्यन्ते ॥

४४२. अरे पथिक! (तुम्हारे चले आने से) कौन सा देश आज उजड़ गया? जहाँ इस समय जा रहे हो ऐसा कौन-सा देश आज बस गया है? हे पन्थ के दीपक! इसके पश्चात् फिर कहाँ दर्शन दोगे?॥ ३॥

४४३. पथिक! जिन्होंने तुम्हें देखा है और जिन्होंने नहीं देखा है—वे दोनों ही लुट चुके हैं। (क्योंकि) एक का हृदय हर लिया गया है, तो दूसरे का जन्म लेना ही व्यर्थ है॥ ४॥

४४४. जिसके कंठ में लिपटे वस्त्र तीव्र पवन मे इधर-उधर उड़ रहे है, वह पथिक प्रिया के दर्शन की शीघ्रता में आधा[1] उड़ता हुआ सा जा रहा है॥ ५॥

४४५. जो चिरकाल बीतने पर घर लौटा है, वह प्रिया के दर्शन का प्यासा पथिक आज जब गाँव के निकट पहुँचा, तो उसके हृदय की धड़कन (टीकाकार के अनुसार सन्देह) ही नहीं समाप्त हो रही है॥ ६॥

४६—धन्न-वज्जा (धन्य-पद्धति)

४४६. गुरुनितम्बों के भार से अलसायी तरुणियाँ जिसे काँपते अधरो और गद्गद् वचनों से स्मरण करती है, वे धन्य हैं॥ १॥

४४७. कठिन, उत्तुंग एवं विस्तीर्ण उरोजों से जिनके अंग भरे रहते है, वे सद्भाव, स्नेह और उत्कंठा से युक्त रमणियाँ जिन्हें स्मरण रखती हैं, वे धन्य हैं॥ २॥

---

१. अद्धुड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु।

—सन्देशरासक

४४८. ते धन्ना ताण नमो ते च्चिय जीवंति वम्महपसाया ।
ईसिल्हसंतणीवीउलाहि जे संभरिज्जंति ॥ ३ ॥
ते धन्यास्तेभ्यो नमस्त एव जीवन्ति मन्मथप्रसादात् ।
ईषत्स्रंसमाननीवीव्याकुलाभिर्ये संस्मर्यन्ते ॥

४४९. ते धन्ना समयगइंदलीललीलायरीहि अणवरयं ।
छणवासरससहरवयणियाहि जे संभरिज्जंति ॥ ४ ॥
ते धन्याः समदगजेन्द्रलीलालीलाचरीभिरनवरतम् ।
क्षणवासरशशधरवदनाभिर्ये संस्मर्यन्ते ॥

४७. हिययसवरणवज्जा [हृदयसंवरणपद्धतिः]

४५०. झिज्जउ हिययं फुट्टंतु लोयणा होउ अज्ज मरणं पि ।
मयणाणलो वियंभउ मा माणं मुंच रे हियय ॥ १ ॥
क्षीयतां हृदयं स्फुटतां लोचने भवत्वद्य मरणमपि ।
मदनानलो विजृम्भतां मा मानं मुञ्च रे हृदय ॥

४५१. हा हियय झीणसाहस वियलियमाहप्पचिंत भज्जेसि ।
जत्थ गओ न गणिज्जसि तत्थ तुमं बधसे नेहं ॥ २ ॥
हा हृदय क्षीणसाहस विगलितमाहात्म्यचिन्त भज्यसे ।
यत्र गतं न गण्यसे तत्र त्वं बध्नासि स्नेहम् ॥

४५२. हा हियय किं किलम्मसि दुल्लहजणगरुयसंगमासाए ।
अघडंतजुत्तिकज्जाणुबंधकरणे मुहं कत्तो ॥ ३ ॥
हा हृदय किं क्लाम्यसि दुर्लभजनगुरुसंगमाशया ।
अघटमानयुक्तिकार्यानुबन्धकरणे सुखं कुतः ॥

४५३. अप्पच्छंदपहाविर दुल्लहलाहं जणं विमग्गंतो ।
आयासं व भमंतो मुह व्व केणावि खज्जिहिसि ॥ ४ ॥
आत्मच्छन्दप्रधावनशील दुर्लभलाभं जनं विमार्गयत् ।
आकाशमिव भ्रमन्मुधैव केनापि खादिष्यसे ॥

४४८. नीवी के स्खलित हो जाने से किंचित् विह्वल तरुणियाँ जिसे स्मरण रखती हैं, वे धन्य हैं, उन्हे नमस्कार है और कामदेव की कृपा से वे ही वास्तव में जीवित हैं ॥ ३ ॥

४४९. जो मत्त गजराजों के समान चलती है, वे पूर्णचन्द्रवदना रमणियाँ जिन्हें अनवरत स्मरण रखती हैं, वे धन्य हैं ॥ ४ ॥

४७—हिययसंवरण वज्जा (हृदयसंवरण-पद्धति)

४५०. हृदय भले ही क्षीण हो जाय, आँखें भले ही फूट जायँ और भले ही आज मृत्यु हो जाय, अरे मन ! कायाग्नि कितनी भी धधके, मान मत छोड़ना ॥ १ ॥

४५१. अरे मन ! तुम्हारा साहस क्षीण हो चुका है, तुम्हे अपने गौरव की भी चिन्ता नहीं है। जहाँ जाने पर कोई गणना नहीं होती, वहाँ नेह जोड़ते हो, टूट जाओगे ॥ २ ॥

४५२. अरे हृदय ! दुर्लभजन के संगम की बड़ी आशा से क्यों कष्ट भोगते हो ? जिसके पूर्ण होने का कोई उपाय नही है, उस कार्य के लिये क्यों हठ करते हो ? ॥ ३ ॥

४५३. रे हृदय ! तुम अपनी इच्छा से दौड़ रहे हो, दुर्लभजन को ढूंढ रहे हो। ऐसा लगता है जैसे आकाश में उड़ते हो, व्यर्थ ही तुम्हें कोई खा जायेगा ॥ ४ ॥

४५४. डज्झसि डज्झसु कड्ढसि कड्ढसु अह फुडसि हियय ता फुडसु ।
जेण पुणो न कयाइ य अन्नासत्ते मइं कुणसि ॥ ५ ॥
दह्यसे दह्यस्व, कथ्यसे कथ्यस्व, अथ स्फुटसि हृदय तत्स्फुट ।
येन पुनर्न कदापि चान्यासक्ते मतिं करोषि ॥

४८. सुघरिणीवज्जा [सुगृहिणीपद्धतिः]

४५५. भुंजइ भुंजियसेसं सुप्पइ सुत्तम्मि परियणे सयले ।
पढमं चेय विबुज्झइ घरस्स लच्छी न सा घरिणी ॥ १ ॥
भुङ्क्ते भुक्तशेषं स्वपिति सुप्ते परिजने सकले ।
प्रथममेव विबुध्यते गृहस्य लक्ष्मीर्न सा गृहिणी ॥

४५६. तुच्छं तवणि पि घरे घरिणी तह कह वि नेइ वित्थारं ।
जह ते वि बंधवा जलणिहि व्व थाहं न याणंति ॥ २ ॥
तुच्छं भक्ष्यकणमपि गृहे गृहिणी तथा कथमपि नयति विस्तारम् ।
यथा तेऽपि बान्धवा जलनिधेरिव तलं न जानन्ति ॥

४५७. दुग्गयघरम्मि घरिणी रक्खंती आउलत्तणं पइणो ।
पुच्छियदोहलसद्धा उयय चिय दोहलं कहइ ॥ ३ ॥
दुर्गतगृहे गृहिणी रक्षन्त्याकुलत्वं पत्युः ।
पृष्टदोहश्रद्धोदकमेव दोहदं कथयति ॥

४५८. पत्ते पियपाहुणए मंगलवलयाइ विक्किणंतीए ।
दुग्गयघरिणीकुलवालियाइ रोवाविओ गामो ॥ ४ ॥
प्राप्ते प्रियप्राघूर्णके मङ्गलवलयानि विक्रीणत्या ।
दुर्गतगृहिणीकुलबालिकया रोदितो ग्रामः ॥

४५९. बंधवमरणे वि हहा दुग्गयघरिणीइ वि न तदा रुण्णं ।
अप्पत्तबलिविलक्खे वल्लहकाए समुड्डीणे ॥ ५ ॥
बान्धवमरणेऽपि हहा दुर्गतगृहिण्यापि न तथा रुदितम् ।
अप्राप्तबलिविलक्षे वल्लभकाके समुड्डीने ॥

४५४. जलते हो, जलो, खौलते हो, खौलो; अरे हृदय ! टूटते हो तो टूट जाओ। जिससे फिर कभी अन्य से प्रेम करने वाले की कामना न करो ॥ ५ ॥

४८—सुघरिणी-वज्जा (सुगृहिणी-पद्धति)

४५५. जो सबके खा चुकने पर बचे हुए अन्न का भोजन करती है, जो सम्पूर्ण परिवार के सो जाने पर सोती है और पहले ही जग जाती है, वह गृहिणी नही, घर की लक्ष्मी है ॥ १ ॥

४५६. गृहिणी घर मे थोड़े से भक्ष्य-कणों को भी कुछ इस प्रकार बढ़ा देती थी कि वे बान्धव भी समुद्र के समान थाह नही पाते थे ॥ २ ॥

४५७. गर्भावस्था मे 'तुम्हारी क्या इच्छा है' यह पति के पूछने पर पति को आकुलता (कष्ट) से बचाती हुई दरिद्र-गृहिणी ने केवल जल की इच्छा प्रकट की ॥ ३ ॥

४५८. प्यारे पाहुन के आने पर जिसने अपने सुहाग के कंकण बेंच दिये, उस दरिद्र घर की बहू और कुटुम्ब का पालन करने वाली (या उच्च कुल की बालिका) सुन्दरी ने उस गाँव को रुला दिया[1] ॥ ४ ॥

४५९. जब प्रिय के आगमन का सगुन बताने वाला कौआ बलि न पाने के कारण लज्जित होकर उड़ गया, तब दरिद्र गृहिणी इतना रोई कि जितना भाईयों के मरने पर भी न रोती ॥ ५ ॥

---

१. नैहर की कुल बालिका एक, अभाग से गेह दरिद्र के आई।
साँझ को पाहुन आ गया द्वार, करे किससे उसकी पहुनाई।
होकर लाजवती निरुपाय, सुहाग का कंगन बेंचने लाई।
आ गई दीनता से दु:खी गाँव में, देख उसे किसको न रुलाई॥

*४६०. अमुणियपियमरणाए वायसमुड्डाविरीइ घरिणीए ।
रोवाविज्जइ गामो अणुदियहं बद्धवेणीए ॥ ६ ॥
अज्ञातप्रियमरणया वायसमुड्डायिन्या गृहिण्या ।
रोद्यते ग्रामोऽनुदिवसं बद्धवेण्या ॥

४६१. डिंभाण भुत्तसेसं छुहाकिलंता वि देइ दुहियाणं ।
कुलगोरवेण वरईउ रोरघरिणीउ झिज्जंति ॥ ७ ॥
डिम्भानां भुक्तशेषं क्षुधाक्लान्तापि ददाति दुःखितेभ्यः ।
कुलगौरवेण वरावयो दरिद्रगृहिण्यः क्षीयन्ते ॥

४६२. अहियाइमाणिणो दुग्गयस्स छाहि पइस्स रक्खती ।
नियबंधवाण जूरइ घरिणी विहवेण पत्ताणं ॥ ८ ॥
अभिजातिमानिनो दुर्गतस्य च्छायां पत्यू रक्षन्ती ।
निजबान्धवेभ्यः क्रुध्यति गृहिणी विभवेन प्राप्तेभ्यः ॥

४९. सईवज्जा [सतीपद्धतिः]

४६३. उब्भेउ अंगुलिं सा विलया जा मह पइं न कामेइ ।
सो को वि जंपउ जुवा जस्स मए पेसिया दिट्ठी ॥ १ ॥
ऊर्ध्वीकरोत्वङ्गुलिं सा वनिता या मम पतिं न कामयते ।
स कोऽपि कथयतु युवा यस्य मया प्रेषिता दृष्टिः ॥

४६४. चच्चरघरिणी पियदंसणा वि तरुणी पउत्थवइया वि ।
असईसइज्झिया दुग्गया वि न हु खंडियं सीलं ॥ २ ॥
चत्वरगृहिणी प्रियदर्शनापि तरुणी प्रोषितपतिकापि ।
असतीप्रातिवेश्मिका दुर्गतापि न खलु खण्डितं शीलम् ॥

४६५. असरिसचित्ते दियरे सुद्धमणा पिययमे विसमसीले ।
न कहइ कुडुंबविहडणभएण तणुयायए मुद्धा ॥ ३ ॥
असदृशचित्ते देवरे शुद्धमनाः प्रियतमे विषमशीले ।
न कथयति कुटुम्बविघटनभयेन तनूभवति मुग्धा ॥

*४६०. जो परदेशी प्रिय की मृत्यु का समाचार नहीं जानती थी वह गृहिणी जब प्रतिदिन वेणी बाँधकर कौआ उड़ाने लगती, तब सारे गाँव को रुला देती थी[1] ॥ ६ ॥

४६१. (वह) बालकों के खाने से जो बचता, उसे स्वयं भूख से पीड़ित होने पर भी दुःखियों को दे देती थी। बेचारी दरिद्र गृहिणियाँ कुल गौरव से क्षीण होती रहती हैं ॥ ७ ॥

४६२. अपने आभिजात्य पर गर्व करने वाले पति की मर्यादा की रक्षा करती हुई गृहिणी ठाट-बाट से आने वाले नैहर के लोगों पर क्रुद्ध हो जाती थी ॥ ८ ॥

४९—सई-वज्जा (सती-पद्धति)

४६३. जो मेरे पति की कामना न करती हो वह स्त्री उँगली ऊपर उठाये और वह युवक बोले, जिस की ओर मैंने दृष्टि भी डाली हो ॥ १ ॥

४६४. गृहिणी चौराहे पर रहती है, देखने में सुन्दर है, तरुणी है, पति-प्रवास मे है, पड़ोसिन व्यभिचारिणी है, दरिद्र भी है, फिर भी शील अखंडित है ॥ २ ॥

४६५. देवर का मन दूषित हो जाने पर भी वह मुग्धा कुटुम्ब-विघटन के भय से अपने क्रोधी पति को नहीं बताती थी, दुर्बल होती जा रही थी ॥ ३ ॥

---

१. जिस का पति दूर प्रवास में था, युग बीत गये फिर भी नहीं आया।
विधवा अब हो चुकी थी जो परन्तु, जो कुटुम्बियों ने उससे था छिपाया।
जिसने बर वेणी सजा कर भाल में, आज सुहाग का बिन्दु बनाया।
गृह भाग से काग उड़ाती हुई, उस कामिनी ने किस को न रुलाया ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

४६६. घरवावारे घरिणी वेसा सुरयम्मि कुलवहू सुयणे ।
परिणइमज्झम्मि सही विहुरे मंति व्व भिच्चो व्व ।। ४ ।।

गृहव्यापारे गृहिणी वेश्या सुरते कुलवधू सुजने ।
परिणतिमध्ये सखो विधुरे मन्त्रीव भृत्य इव ।।

४६७. कुलवालियाइ पेच्छह जोव्वणलावण्णविब्भमविलासा ।
सव्वे वि अग्गचलिया पियम्मि कयणिच्छए गंतुं ।। ५ ।।

कुलबालिकाया प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः ।
सर्वेऽप्यग्रचलिताः प्रिये कृतनिश्चये गन्तुम् ।।

४६८. पुरिसविसेसेण सइत्तणाइ न कुलक्कमेण महिलाणं ।
सग्गं गए वि हाले न मुयइ गोला पइट्ठाणं ।। ६ ।।

पुरुषविशेषेण सतीत्वादि न कुलक्रमेण महिलानाम् ।
स्वर्ग गतेऽपि हाले न मुञ्चति गोदा प्रतिष्ठानम् ।।

४६९. इहपरलोयविरुद्धेण कण्णकडुएण गरहणिज्जेण ।
उभयकुलदूसणिज्जेण दूइ किं तेण भणिएण ।। ७ ।।

इहपरलोकविरुद्धेन कर्णकटुकेन गर्हणीयेन ।
उभयकुलदूषणीयेन दूति किं तेन भणितेन ।।

४७०. जइ सो गुणाणुराई गुणन्नुओ मह गुणे पसंसेइ ।
पढम चिय जइ असई गुणगणणा का तह च्चेय ।। ८ ।।

यदि स गुणानुरागी गुणज्ञो मम गुणान् प्रशंसति ।
प्रथममेव यद्यसती गुणगणना का तथा चैव ।।

४७१. जइ उत्तमो वि भण्णइ मह पुरओ सो वि सुयणु अणुदियहं ।
मामि न उत्तम पुरिसा परस्स दाराइ पेच्छंति ।। ९ ।।

यद्युत्तमोऽपि भण्यते मम पुरतः सोऽपि सुतन्वनुदिवसम् ।
मामि नोत्तमपुरुषाः परस्य दारान् प्रेक्षन्ते ।।

४६६. वह गृह-कार्य में गृहिणी, सुरत में वेश्या, सुजनों में कुलवधू, वृद्धावस्था में सखी, संकट में मन्त्री और सेवक के समान है ॥ ४ ॥

४६७. देखो, प्रियतम के प्रवास का निश्चय करते ही उस कुलबालिका (या कुल-पालिका) का यौवन, सौन्दर्य, शृंगार-क्रियायें (विभ्रम) और आकर्षक चेष्टायें (विलास)—ये सभी पहले ही चले गये ॥ ५ ॥

४६८. महिलाओं का सतीत्व कुल-परम्परा से नहीं, पुरुष की विशेषता के कारण होता है। हाल (प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन) के स्वर्ग चले जाने पर भी गोदावरी प्रतिष्ठान नामक नगर को नहीं छोड़ रही है, जैसे कोई सती विधवा होने पर पति के स्थान को नहीं छोड़ती ॥ ६ ॥

४६९. जो इहलोक और परलोक में विरुद्ध है, कर्णकटु है, निन्दनीय है, दोनों कुलों को दूषित करने वाला है, अरी दूती! उसके कहने से क्या लाभ? ॥ ७ ॥

४७०. यदि वह गुणवान् एवं गुणानुरागी मेरे गुणों की प्रशंसा करता है, तो जब मैं पहले ही व्यभिचारिणी बन जाऊँगी, तब गुणों की क्या गिनती रह जायगी ॥ ८ ॥

४७१. अयि सुन्दरि! यदि तुम प्रतिदिन मेरे आगे उसेउत्तम पुरुष कहती हो तो सखि! उत्तम पुरुष पर-स्त्रियों को नहीं देखते हैं ॥ ९ ॥

५०. असईवज्जा [असतीपद्धतिः]

४७२. नियडकुडगं पच्छन्नदेउलं बहुजुवाणसंकिण्णं ।
थेरो पइ त्ति मा रुवसु पुत्ति दिन्ना सि सुग्गामे ॥ १ ॥
निकटनिकुञ्जं प्रच्छन्नदेवकुलं बहुयुवसंकीर्णम् ।
स्थविरः पतिरिति मा रुदिहि पुत्रि दत्तासि सुग्रामे ॥

४७३. मा रुवसु ओणयमुही धवलायंतेसु सालिछेत्तेसु ।
हरियालमंडियमुहा नड व्व सणवाडया जाया ॥ २ ॥
मा रुदिह्यवनतमुखी धवलीभवत्सु शालिक्षेत्रेषु ।
हरितालमण्डितमुखा नटा इव शणवाटका जाताः ॥

४७४. पुव्वेण सणं पच्छेण वंजुला दाहिणेण वडविडवो ।
पुत्तिइ पुण्णेहि विणा न लब्भए एरिसो गामो ॥ ३ ॥
पूर्वेण शणः पश्चाद् वञ्जुला दक्षिणेन वटविटपः ।
पुत्रिके पुण्यैर्विना न लभ्यत ईदृशो ग्रामः ॥

४७५. पेक्खह महाणुचोज्जं काणाघरिणीइ जं कयं कज्जं ।
चुंबेवि न लहु नयणं झडत्ति नीसारिओ जारो ॥ ४ ॥
प्रेक्षध्वं महाश्चर्यं काणगृहिण्या यत् कृतं कार्यम् ।
चुम्बित्वा न लघु नयन झटिति निःसारितो जारः ॥

४७६ पउरजुवाणो गामो महुमासो जोव्वणं पई थेरो ।
जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ किं मरउ ॥ ५ ॥
प्रचुरयुवको ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः ।
जीर्णसुरा स्वाधीनासती मा भवतु किं म्रियताम् ॥

४७७. देवाण बंभणाण य पुत्ति पसाएण एत्तियं कालं ।
न हु जाओ अम्ह घरे कइया वि सइत्तणकलंको ॥ ६ ॥
देवाना ब्राह्मणानां च पुत्रि प्रसादेनैतावन्तं कालम् ।
न खलु जातोऽस्माकं गृहे कदाचिदपि सतीत्वकलङ्कः ॥

५०—असई-वज्जा (असती-पद्धति)

४७२. निकट ही कुंज है, सूना देव मन्दिर है, बहुत से युवकों से पूर्ण है, बेटी ! पति वृद्ध है—इस लिए रोओ मत, अच्छे गॉव में दी गई हो (ब्याही गई हो) ॥ १ ॥

४७३. शालि-क्षेत्रों के श्वेत हो जाने (सूख जाने) पर सिर झुकाये मत रोओ, हरिताल से विभूषित मुख वाले नट के समान शणवाटक (सन के खेत) तैयार हो गये है[१] ॥ २ ॥

४७४. पूर्व में सन, पश्चिम मे बेंत और दक्षिण में बरगद का पेड़ है, बेटी ! बिना पुण्य के ऐसा गॉव नही मिलता ॥ ३ ॥

४७५. काने की घरनी ने जो कार्य किया, उस महान् आश्चर्य को देखो। उसने पति की आँख को देर तक चूम कर जार (प्रेमी) को घर से बाहर निकाल दिया ॥ ४ ॥

४७६. गॉव में प्रचुर युवक है, वसन्त का महीना है, युवावस्था है, पति वृद्ध है, अपने पास (अधिकार मे) पुरानी मदिरा है—वह कुलटा न हो तो क्या मर जाय ? ॥ ५ ॥

४७७. बेटी ! देवों और ब्राह्मणों के प्रसाद से इतने दिनों तक हमारे घर मे कभी सतीत्व का कलंक नहीं लगा है ॥ ६ ॥

---

१. सन सूक्यौ बीत्यौ बन्यौ, ईखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौ, धरु धरहरि हिय नारि ॥
—बिहारी

४७८. सट्ठीइ होइ सुहवा सएण रंभत्तणं च पावेइ ।
पुण्णे जारसहस्से इंदो अद्धासणं देइ ॥ ७ ॥
षष्ट्या भवति सुभगा शतेन रम्भात्वं च प्राप्नोति ।
पूर्णे जारसहस्रे इन्द्रोऽर्धासनं ददाति ॥

४७९. जइ फुडु एत्थ मुयाणं जम्मफलं होइ किं पि अम्हाणं ।
ता तेसु कुडंगेसु ह तेण समं तह नु कीलेज्जा ॥ ८ ॥
यदि स्फुटमत्र मृतानां जन्मफलं भवति किमप्यस्माकम् ।
तत्तेषु निकुञ्जेषु हा तेन समं तथा खलु क्रीडेयम् ॥

४८०. जो जं करेइ पावइ सो तं सोऊण निग्गया असई ।
रमियव्वं तेण समं तत्थ जइच्छाइ ता एण्हि ॥ ९ ॥
यो यत्करोति प्राप्नोति स तच्छ्रुत्वा निर्गतासती ।
रन्तव्यं तेन समं तत्र यदृच्छया तद् इदानीम् ॥

४८१. असईहि सई भणिया निहुयं होऊण कण्णमूलम्मि ।
नरयं वच्चसि पावे परपुरिसरसं अयाणंती ॥ १० ॥
असतीभिः सती भणिता निभृतं भूत्वा कर्णमूले ।
नरकं व्रजसि पापे परपुरुषरसमजानाना ॥

४८२. जत्थ न खुज्जयविडवो न नई न वणं न उज्जडो गेहो ।
तत्थ भण कह वसिज्जइ सुविसत्थविवज्जिए गामे ॥ ११ ॥
यत्र न कुब्जकविटपो न नदी न वनं न निर्जनं गेहं ।
तत्र भण कथमुष्यते सुविश्वस्तविवर्जिते ग्रामे ॥

४८३. रे रे विडप्प मा मुयसु दुज्जणं गिलसु पुण्णिमायंदं ।
अमयमयं भुंजंतो हयास दीहाउओ होसि ॥ १२ ॥
रे रे राहो मा मुञ्च दुर्जनं गिल पूर्णिमाचन्द्रम् ।
अमृतमयं भुञ्जानो हताश दीर्घायुर्भविष्यसि ॥

४७८. साठ से सुभगा होती है, सौ से रंभा पद पाती है और हजार जारों (उपपतियों) के पूर्ण होने पर इन्द्र अपना आधा आसन दे देता है ॥ ७ ॥

४७९. यदि यहाँ मरने पर हमारे जीवन के पुण्यों का सचमुच कुछ फल है तो वह उन्ही निकुंजों में उसके साथ उसी प्रकार क्रीड़ा करता रहे ॥ ८ ॥

४८०. मनुष्य जो करता है, उसे पाता है—यह सुनकर व्यभिचारिणी महिला, को इस समय उसके साथ इच्छा भर रमण करना चाहिये—इस विचार से निकल पड़ी ॥ ९ ॥

४८१. व्यभिचारिणियो ने सती के कानों के पास लग कर धीरे से कहा—अरी पापिन! पर-पुरुष का रस न जानती हुई नरक जा रही हो ॥ १० ॥

४८२. जहाँ न कुबड़े पेड़ हैं, न नदी है, न वन है, न उजड़ा घर है, उस निश्चिन्त स्थान से रहित गाँव में बताओ, कैसे रहा जाय? ॥११॥

४८३. अरे राहु! पूर्णिमा के चन्द्र को निगल जाओ। उस दुष्ट को छोड़ना मत। अरे दुष्ट! जो अमृतमय है, उसे खाकर दीर्घायु हो जाओगे ॥ १२ ॥

४८४. छिन्नं पुणो वि छिज्जउ महुमहचक्केण राहुणो सीसं ।
गिलिओ जेण विमुक्को असईणं दूसओ चंदो ।। १३ ।।
छिन्नं पुनरपि च्छिद्यतां मधुमथनचक्रेण राहोः शिरः ।
गिलितो येन विमुक्तोऽसतीना दूषकश्चन्द्र. ।।

४८५. त कि पि कह वि होहिइ लब्भइ पुहवि वि हिडमाणेहि ।
जेणोसहेण चंदो जीरिज्जइ पुण्णिमासहिओ ।। १४ ।।
तत्किमपि कथमपि भविष्यति लभ्यते पृथ्वीमपि हिण्डमानैः ।
येनौषधेन चन्द्रो जीर्यते पूर्णिमासहितः ।।

४८६. किं विहिणा सुरलोए एक्का वि न पुंसलि त्ति निम्मविया ।
साहीणो जेण ससी न बोलिओ नीलरंगम्मि ।। १५ ।।
किं विधिना सुरलोक एकापि न पुंश्चलीति निर्मापिता ।
स्वाधीनो येन शशी न निमज्जितो नीलरङ्गे ।।

४८७. पसरइ जेण तमोहो फिट्टइ चंदस्स चंदिमा जेण ।
तं सिद्ध सुमरि सिरिपव्वयाउ आणोसहं किं पि ।। १६ ।।
प्रसरति येन तमओघो भ्रश्यति चन्द्रस्य चन्द्रिका येन ।
तत्सिद्ध स्मृत्वा श्रीपर्वतादानयौषधं किमपि ।।

४८८. मा पत्तिय पि दिज्जसु पुसलि सिविणे वि कामडहणस्स ।
जो अम्हाण अमित्तं चदं सीसे समुव्वहइ ।। १७ ।।
मा पत्रिकामपि दद्याः पुंश्चलि स्वप्नेऽपि कामदहनस्य ।
योऽस्माकममित्रं चन्द्रं शीर्षे समुद्वहति ।।

४८९. असईणं विप्पिय रे गव्वं मा वहसु पुण्णिमायंद ।
दीसिहिसि तुमं कइया जह भग्गो वलयखंडो व्व ।।१८।।
असतीनां विप्रिय रे गर्वं मा वह पूर्णिमाचन्द्र ।
द्रक्ष्यसे त्वं कदापि यथा भग्नो वलयखण्ड इव ।।

४८४. जिसने असतियों को कलंकित करने वाले चन्द्रमा को निगल कर छोड़ दिया, उस राहु का सिर विष्णु के चक्र से एक बार कट जाने पर भी फिर से काटा जाय ॥ १३ ॥

४८५. क्या भूमण्डल में भी भ्रमण कर के वह औषधि किसी प्रकार मिलेगी, जिससे पूर्णिमा-सहित चन्द्रमा को पचाया जा सके ॥ १४ ॥

४८६. क्या विधाता ने स्वर्ग में एक भी व्यभिचारिणी नहीं बनायी, जिसने अपने निकटवर्ती चन्द्रमा को नीले रंग में नही डुबो दिया ? ॥ १५॥

४८७. हे सिद्ध ! स्मरण करके श्री-पर्वत से वह औषधि ले आओ, जिससे अन्धकार का समूह फैलता है और चन्द्रमा की चाँदनी नष्ट हो जाती है ? ॥ १६ ॥

४८८. हे पुंश्चलि (कुलटे) ! जो हमारे वैरी चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करता है, उस शिव को स्वप्न में भी एक पत्ती मत चढ़ाना ॥ १७ ॥

४८९. अरे व्यभिचारिणियों के अप्रिय पूर्णचन्द्र ! गर्व मत करो । तुम कभी टूटे कंकण के टुकड़े के समान दिखाई दोगे ॥ १८ ॥

४९०. अव्वो धावसु तुरियं कज्जल भरिऊण बे वि हत्थाइं ।
दिट्ठो कूवावडिओ असईणं दूसओ चंदो ।। १९ ।।
अहो धाव त्वरितं कज्जलेन भृत्वा द्वावपि हस्तौ ।
दृष्टः कूपापतितोऽसतीना दूषकश्चन्द्रः ।।

४९१. मह एसि कीस पंथिय जइ हरसि नियंसणं नियंबाओ ।
साहेमि कस्स पुरओ गामो दूरे अहं एक्का ।। २० ।।
मामेषि कस्मात्पथिक यदि हरसि निवसनं नितम्बात् ।
कथयामि कस्य पुरतो ग्रामो दूरेऽहमेका ।।

४९२. अत्ता बहिरंधलिया बहुविहवीवाहसंकुलो गामो ।
मज्झ पई य विएसे को तुज्झ वसेरयं देइ ।। २१ ।।
श्वश्रूर्बधिरान्धा बहुविधविवाहसकुलो ग्रामः ।
मम पतिश्च विदेशे कस्तव वासं ददाति ।।

४९३. जणसंकुलं न सुन्नं रूसइ अत्ता न देइ ओआसं ।
ता वच्च पहिय मा मग्ग वासय एत्थ मज्झ घरे ।। २२ ।।
जनसंकुलं न शून्यं रुष्यति श्वश्रूर्न ददात्यवकाशम् ।
तद्व्रज पथिक मा मार्गयः वासकमत्र मम गृहे ।।

४९४. कह लब्भइ सत्थरयं अम्हाणं पहिय पामरघरम्मि ।
उन्नयपओहरे पेच्छिऊण जइ वससि ता वससु ।। २३ ।।
कथं लभ्यते स्रस्तरकं (स्वस्थरत) अस्माकं पथिक पामरगृहे ।
उन्नतपयोधरान् (उन्नतपयोधरौ) प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ।।

४९५. वस पहिय अंगण च्चिय फिट्टउ ता तुज्झ वसणदोहलओ ।
इह गामे हेमंतो नवर गिम्हस्स सारिच्छो ।। २४ ।।
वस पथिकाङ्गण एव भ्रश्यतु तावत्तव वसनदोहदः ।
इह ग्रामे हेमन्तः केवलं ग्रीष्मस्य सदृक्षः ।।

४९०. अरे दोनों हाथों में कालिख भरकर शीघ्र दौड़ो। व्यभिचारिणियों का दूषक चन्द्रमा कूएँ में गिरा हुआ दिखाई पड़ा है ॥ १९ ॥

४९१. अरे पथिक ! मेरे निकट क्यों आते हो ? यदि मेरे नितम्बों से वस्त्र उतार लोगे, तो मैं किससे कहूँगी ? क्यों कि गाँव दूर है और मैं अकेली हूँ ॥ २० ॥

४९२. सास अन्धी-बहरी है, गाँव नाना प्रकार से विवाह में व्यस्त है, मेरा पति परदेश मे है। तुम्हे रैन-बसेरा कौन दे ? ॥ २० ॥

४९३. पथिक ! यह स्थान जन-संकुल है, सुनसान नही है। सास रुष्ट होती है, सोने का स्थान नही देती। अतः चले जाओ, यहाँ मेरे घर मे रैन-बसेरा मत माँगों ॥ २२ ॥

२९४. पथिक ! हम ग्रामीणो के घर में बिछौना कैसे मिल पायेगा ? (पक्ष मे स्वस्थ-रत कैसे मिल पायेगा)। उठे हुए पयोधरों (मेघों) को देखकर यदि रहते हो तो रहो[1] (पक्ष में—उठे हुए उरोजों के देख कर यदि रुकना चाहते हो तो रुक जाओ) ॥ २३ ॥

४९५. अरे बटोही ! आँगन (बाह्य प्रांगण) मे ही टिक जाओ[2]। तुम्हे ओढने की चिन्ता नही करनी है। केवल इसी एक गाँव में हेमन्त ग्रीष्म के समान है ॥ २४ ॥

---

१. इस गाथा का पाठ गाहा-सत्तसई मे कुछ भिन्न है जिसका भावानुवाद मैंने इस प्रकार किया है—

थके होगे बटोही मैं जानती हूँ, बढ़ के किसी ठौर थकान मिटाओ।
इन पत्थरों से भरे बीहड़ गाँव में, वास की आस न लेकर आओ।
यहाँ है न बिछोने का कोई प्रबन्ध, रसोई का भी न प्रसंग चलाओ।
उठते हुये देख पयोधरों को यदि, चाहो तो रात भले टिक जाओ ॥

२. आँगन में ही मिला यदि ठौर, तो क्या परवाह वहीं टिक जाओ।
छोड़ दो कंबल की चरचा, न बटोही अलाव का नाम सुनाओ।
दूसरे गाँव की बात ही और है, सोच उसे न खड़े पछताओ।
जेठ-समान है पूस यहाँ, न डरो तुम चैन से रैन बिताओ ॥

४९६. इत्तो निवसइ अत्ता एत्थ अहं एत्थ परियणो सयलो ।
ए पहिय रत्तिअंधय मा मह सयणे निमज्जिहिसि ।। २५ ।।

इतो निवसति श्वश्रूरत्राहमत्र परिजनः सकलः ।
हे पथिकः राश्यन्ध मा मम शयने निमंक्ष्यसि ।।

५१. जोइसियवज्जा [ज्योतिषिकपद्धतिः]

४९७. दीहरखडियाहत्थो जोइसिओ भमइ नयरमज्झम्मि ।
जाणइ सुक्कस्स गइं गणइ जइ गणावए को वि ।। १ ।।

दीर्घखटिकाहस्तो ज्यौतिषिको भ्राम्यति नगरमध्ये ।
जानाति शुक्रस्य गतिं गणयति कोऽपि ।।

४९८. जोइसिय मा विलंबसु खडियं घेत्तूण गणसु मह तुरियं ।
अंगारए पणट्ठे सुक्कस्स गई तह च्चेय ।। २ ।।

ज्यौतिषिक मा विलम्बस्व खटिकां गृहीत्वा गणय मम त्वरितम् ।
अङ्गारके (अङ्करते) प्रनष्टे शुक्रस्य गतिस्तथैव ।।

४९९. अत्थि घर च्चिय गणओ विचित्तकरणेहि निट्ठुरं गणइ ।
न हु जाणइ सुक्कगइं तेणाहं तुह घरे पत्ता ।। ३ ।।

अस्ति गृह एव गणको विचित्रकरणैर्निष्ठुरं गणयति ।
न खलु जानाति शुक्रगतिं तेनाहं तव गृहे प्राप्ता ।।

४९६. यहाँ सास सोती है, यहाँ मैं और यहाँ सब परिजन सोते हैं। अरे पथिक! तुम्हें रतौंधी होती है, कहीं मेरी शय्या पर न सो जाओ[1] ॥ २५ ॥

५१—जोइसियवज्जा (ज्योतिषिक-पद्धति)

इस प्रकरण में प्रयुक्त प्रतीकों के शृङ्गारिक अर्थ इस प्रकार है—

ज्योतिषिक = मैथुन कर्ता
खटिका = लिंग
गणना = मैथुन
करण = रति का आसन
फलक = भग
गणक = मैथुन कर्ता
शलाका = लिंग

(पाठकों को यथा-स्थान इस अर्थ का उपयोग कर लेना चाहिये।)

४९७. हाथ में लम्बी खटिका (खड़िया मिट्टी का लम्बा टुकड़ा) लेकर नगर के बीच ज्योतिषी भ्रमण कर रहा है। यदि कोई गणना कराये तो वह शुक्र (पक्ष में-वीर्य) की गति को जानता है ॥ १ ॥

४९८. ज्योतिषी! विलम्ब मत करो। खड़िया लेकर शीघ्र मेरी गणना कर डालो। मंगल के न रहने पर शुक्र की गति (दशा) वैसी ही है (शारीरिक मैथुन समाप्त हो जाने पर भी वीर्य की गति वैसी ही है) ॥ २ ॥

४९९. मेरे घर में ही ज्योतिषी है। वह विचित्र करणों (गणना के साधनों या दिन के ज्योतिष प्रसिद्ध भाग विशेषों) से निष्ठुरतापूर्वक गणना करता है, परन्तु शुक्र (ग्रह विशेष) की गति को नहीं जानता है (पक्ष में—वीर्य का प्रवेश कराना नही जानता) इसी से तुम्हारे घर पहुँची हूँ ॥ ३ ॥

---

१. रहती है पड़ी यहाँ साँझ से सास, अचेत हो पेट में जाते ही दाना।
उस ओर अकेली ही सोती हूँ मैं, चुपचाप बिछा कर टाट पुराना।
दिन में सब देख लो दूसरी बार, जिस से न पड़े मुझे समझाना।
अरे रात के अन्धे बटोही! कहो, तुम मेरी ही सेज पे लेट न जाना॥

*५००. जोइसिय कीस चुक्कसि विचित्तकरणाइ जाणमाणो वि ।
तह कह वि कुणसु सिग्घं जह सुक्कं निच्चलं होइ ।। ४ ।।

ज्यौतिषिक किं प्रमाद्यसि विचित्रकरणानि जानानोऽपि ।
तथा कुरु कथमपि शीघ्रं यथा शुक्रो (शुक्रं) निश्चलो (निश्चलं) भवति ।।

५०१. *विवरीए रइबिंबे नक्खत्ताण य ठाणगहियाण ।
न पडइ जलस्स बिंदू सुंदरि चित्तट्ठिए सुक्के ।। ५ ।।

विपरीते रविबिम्बे(रतिबिम्बे)नक्षत्राणा (नखक्षतानां) च स्थानगृहीतानाम् ।
न पतति जलस्य (बीजस्य) बिन्दुः सुन्दरि चित्रास्थे (चित्तस्थे) शुक्रे ।।

५०२. विउलं फलयं थोरा सलायया तुं पि गणय कुसलो सि ।
तह वि न आओ सुक्को सच्चं चिय सुन्नहियओ सि ।। ६ ।।

विपुलं फलकं दीर्घा शलाका त्वमपि गणक कुशलोऽसि ।
तथापि नागतः शुक्रः सत्यमेव शून्यहृदयोऽसि ।।

५०३. *डज्झउ सो जोइसिओ विचित्तकरणाइ जाणमाणो वि ।
गणिउं सयवारं मे उट्ठइ धूमो गणंतस्स ।। ७ ।।

दह्यतां स ज्यौतिषिको विचित्रकरणानि जानानोऽपि ।
गणयित्वा शतवारं ममोत्तिष्ठति धूमो गणयतः ।।

*५०४. जइ गणसि पुणो वि तुमं विचित्तकरणेहि गणय सविसेसं ।
सुक्कक्कमेण रहियं न हु लग्गं सोहणं होइ ।। ८ ।।

यदि गणयसि पुनरपि त्वं विचित्रकरणैर्गणय सविशेषम् ।
शुक्रक्रमेण रहितं न खलु लग्नं शोभनं भवति ।।

*५००. ज्योतिषी ! विशेष रूप से चित्रा नक्षत्र का प्रभाव जानते हुए (या दिन के करण संज्ञक भागों को जानते हुए) भी क्यों चूकते हो ? शीघ्र ही कुछ ऐसा करो जिससे शुक्र की स्थिति का निर्णय हो जाय ॥ ४ ॥
शृङ्गारपक्ष—रति के विविध आसनो को जानते हुए भी क्यों चूकते हो। ऐसा करो कि वीर्य स्थिर हो जाय (गर्भ रह जाय)।

*५०१. हे सुन्दरि ! जब रविमण्डल अपने स्थान पर स्थित नक्षत्रों के प्रतिकूल रहता है तब शुक्र के चित्रा नक्षत्र में स्थित होने पर भी जल की बूँद नही पड़ती ॥ ५ ॥

शृङ्गार पक्ष—सुन्दरि ! पुरुषेन्द्रिय के निकट पहुँची हुई एवं सम्मान पूर्वक ग्रहण करने योग्य युवतियों की विवृत योनि में प्रणय (या काम विकार) के शुष्क हो जाने को दशा मे वीर्य की एक बूँद भी नही पड़ती है।

५०२ फलक (गणना करने के लिये निर्मित काष्ठ या धातु की तख्ती) विस्तृत है, शलाका (खड़िया) मोटी है, गणक ! तुम भी कुशल हो, तब भी शुक्र ग्रह की गणना नही आई। सचमुच तुम्हारा मन नही लग रहा है (पक्ष मे—वीर्यपात नही हुआ, तुम हृदय-हीन हो) ॥ ५ ॥

*५०३. विचित्र करणों (दिन-विभागो) को जानता हुआ भी वह ज्योतिषी भस्म हो जाय, अनेक बार गणना करके पुनः गणना करते हुये उसके द्वारा केतु ही निकलता है (या उसे केतु ही आता है) ॥ ६ ॥

शृंगार पक्ष—उसके बार-बार मैथुन से मुझे क्रोध आ जाता है।

*५०४. यदि गिनते हो तो बिचित्र करणों से तुम विशेष गणना करो। शुक्र की गति के बिना (विवाहादि का) लग्न शुभ नही होता है (वीर्य प्रवेश अर्थात् मैथुन के बिना प्रेम शुभ नहीं होता है) ॥ ७ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

५०५. मोत्तूण करणगणियं अंगुलिमेत्तेण जइ वि सो गणइ ।
अइणिउणो जोइसिओ कड्ढइ नाडीगयं मुक्कं ।। ९ ।।

मुक्त्वा करणगणितमङ्गुलिमात्रेण यद्यपि स गणयति ।
अतिनिपुणो ज्यौतिषिकः कर्षति नाडीगतं शुक्रम् ।।

५०६. भणिओ वि जइ न कुप्पसि जइ न तुमं होसि कूडजोइसिओ ।
ता कीस तुज्झ जाया अन्नेहि गणावए दियहं ।। १० ।।

भणितोऽपि यदि न कुप्यसि यदि न त्वं भवसि कूटज्यौतिषिकः ।
तत् किं तव जायान्यैर्गणयति दिवसम् ।।

*५०७. अंगारयं न याणइ न हु बुज्झइ हत्थचित्तसंचारं ।
इय माइ कूडगणओ कह जाणइ सुक्कसंचारं ।। ११ ।।

अङ्गारकं न जानाति न खलु बुध्यति हस्तचित्रासंचारम्(हस्तचित्रसंचारम्) ।
इति मात कूटगणकः कथं जानाति शुक्रसंचारम् ।।

५०५. यद्यपि करणों (गणना के साधनों) की गणना को छोड़कर वह अंगुलिमात्र से गणना करता है, फिर भी अति निपुण ज्योतिषी है, नाड़ी में स्थित शुक्र (ग्रह) को निकाल लेता[1] है (गणना करके बता देता है ॥ ८ ॥

शृङ्गार पक्ष—लिग से मैथुन करना छोड़ कर अङ्गुलियों का योनि में प्रवेश कराता है, फिर भी नाडियों (नसों) में स्थित वीर्य को खीच लाता है।

५०६. कुछ कहने पर यदि क्रोध नही करते हो और यदि पाखडी ज्योतिषी नही हो, तो तुम्हारी पत्नी क्यों दिन भर दूसरों से गिनवाती रहती है ?

*५०७. अरी माँ ! यह कूट गणक न तो मंगल ग्रह को जानता है और न उस का हस्त और चित्रा नक्षत्रों मे प्रवेश (संक्रमण) ही समझता है। शुक्रग्रह का (हस्त और चित्रा में) संचार कैसे जानेगा ? ॥ ११ ॥

शृङ्गार पक्ष—यह कूट मैथुनकारी रति-क्रिया नहीं जानता और न हाथों का विचित्र संचार ही समझता है। अरी माँ ! यह कैसे योनि मे वीर्य का प्रवेश कराना जानेगा।

५२—लेहयवज्जा (लेखक-पद्धति)

प्रतीक परिचय—लेखक = मैथुन कर्ता
स्खलन = वीर्य पात
लेखनी = लिंग
मसि-मर्दन = वीर्य प्रवेश
लेखन = मैथुन
मसि = वीर्य
सुललित-पात्र = भग (श्लेष से मसिपात्र)
ललित-पात्र = भग
ताल-पत्र = भग
मसि-भाजन = वृषण

१. अयोध्या के मान्य ज्योतिषी प० गोपीकान्त झा के अनुसार शुक्र, शनि, भौम आदि नाड़ियाँ ज्योतिषशास्त्र मे कही गई हैं, जिनसे वर्षा के न्यूनाधिक्य का ज्ञान होता है।

५२. लेहयवज्जा [लेखकपद्धतिः]

५०८. मसि मलिऊण न याणसि लेहणि गहिऊण मूढ खलिओ सि ।
ओसरसु कूडलेहय सुललियपत्तं विणासिहिसि ॥ १ ॥
मषी मर्दितुं न जानासि लेखनी गृहीत्वा मूढ स्खलितोऽसि ।
अपसर कूटलेखक सुललितपत्रं विनाशयिष्यसि ॥

५०९. ढलिया य मसी भग्गा य लेहणी खरडियं च तलवट्टं ।
धिद्धित्ति कूडलेहय अज्ज वि लेहत्तणे तण्हा ॥ २ ॥
स्खलिता च मषी भग्ना च लेखनी भग्नं च तालपत्रम् (तलपट्टम्) ।
धिग्धिगिति कूटलेखकाद्यापि लेखकत्वे तृष्णा ॥

५१०. पिहुलं मसिभायणयं अत्थि मसी वित्थरं च तलवट्टं ।
अम्हारिसाण कज्जे हयलेहय लेहणी भग्गा ॥ ३ ॥
पृथुलं मषीभाजनमस्ति मषी विस्तृतं च तालपत्रम् (वराङ्गम्) ।
अस्मादृशीना कार्ये हतलेखक लेखनी भग्ना ॥

५३. विज्जवज्जा [वैद्यपद्धतिः]

५११. विज्ज न एसो जरओ न य वाही एस को वि संभूओ ।
उवसमइ सलोणेणं विडंगजोयामयरसेणं ॥ १ ॥
वैद्य नैष ज्वरो न च व्याधिरेष कोऽपि संभूतः ।
उपशाम्यति सलवणेन विडङ्ग (विटाङ्ग) योगामृतरसेन ॥

*५१२. सच्चं जरए कुसलो सरसुप्पन्नं य लक्खसे वाहिं ।
एयं पुणो वि अंगं विज्ज विडंगेहि पन्नत्तं ॥ २ ॥
सत्यं ज्वरे कुशलः स्वरसोत्पन्नं च लक्षसे व्याधिम् ।
इदं पुनरप्यङ्गं वैद्य विडङ्गैः प्रज्ञप्तम् ॥

५१३. पुक्कारयं पउंजसु बालाइ रसुब्भवाइ वाहीए ।
अज्जं अणज्ज निल्लज्ज विज्ज पेज्जाइ न हु कज्जं ॥ ३ ॥
पुक्कारयं (पुंस्कारकं) प्रयुङ्क्ष्व बालाया रसोद्भवस्य व्याधेः ।
अद्यानार्य निर्लज्ज वैद्य पेयया न खलु कार्यम् ॥

५०८. मसि मिलाना नहीं जानते, लेखनी लेकर स्खलित हो गये (भूल कर बैठे), अरे कूट-लेखक ! तुमने तो मेरा बढ़िया ताल-पत्र नष्ट कर दिया ॥ १ ॥

५०९. मसि गिर पड़ी, लेखनी टूट गई, ताल-पत्र भी फट गया। अरे अनाड़ी लेखक ! तुम्हें धिक्कार है। अब भी लिखना चाहते हो ॥ २ ॥

५१०. बड़ा सा मसिपात्र है, मसि है और विस्तृत ताल-पत्र है, अरे दुष्ट लेखक ! हम-जैसो का काम पड़ने पर तुम्हारी लेखनी ही टूट गई ॥ ३ ॥

५३—विज्जवज्जा (वैद्य-पद्धति)

५११. वैद्य ! यह न कोई ज्वर है, न कोई व्याधि है। यह तो ऐसा कोई रोग उत्पन्न हो गया है, जो लवण और विडंग (बाय भिड़ग नामक दवा) के योग से (मिश्रण से) बनने वाले अमृत तुल्य रसायन से उपशान्त होता है (श्रृङ्गार पक्ष—जो लावण्य युक्त विट के अंगों के अमृतोपम संयोग से शान्त होता है या जो विट (उपपति या जार-पुरुष) के लिंग का संयोग होने पर सुन्दर एवं निर्दोष वीर्य-निष्यन्द से शान्त होता है) ॥ १ ॥

*५१२. वैद्य ! तुम ज्वर का निदान करने में सचमुच कुशल हो और स्वभावतः उत्पन्न हो जाने वाले रोग को देख रहे हो (लक्षित कर रहे हो) क्योंकि इस (रोग) को पुनः बायभिड़ंग से खण्डनीय (विनाश्य) बताया है ॥ २ ॥

श्रृङ्गार पक्ष—तुम ज्वर का निदान करने मे कुशल हो और अपने स्वभाव से उत्पन्न रोग को देख रहे हो, क्योंकि इसको पुनः विट (उपपति या जार) के अंग (लिंग) से खण्डनीय बताया[1] है ॥

५१३. अशुद्ध पारे या विष के कारण उत्पन्न हो जाने वाली इस बाला की व्याधि में पुक्कारय नामक जड़ी का प्रयोग करो। अरे अनार्य, 'निर्लज्ज वैद्य ! आज माँड़ (या लपसी) का काम नही है ॥ ३ ॥
श्रृङ्गार पक्ष—प्रेम से उत्पन्न इस रोग में पुरुषलिंग का प्रयोग करो। शुष्क प्रेम (पिज्जा = प्रेम का स्त्रीरूप) का काम नहीं है।

१. विस्तृत विवेचन परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

५१४. सामा खामा न सहेइ मद्दणं विज्ज किं वियप्पेणं ।
अग्गंगुलीइ दिज्जउ अवलेहो माउलिंगस्स ।। ४ ।।

श्यामा क्षामा न सहते मर्दनं वैद्य किं विकल्पेन ।
अग्राङ्गुल्या दीयतामवलेहो मातुलिंगस्य (मातुलिंगस्य) ।।

५१५. पुक्कारएण विज्जय निव्विण्णा तुह य दीहसासेण ।
मा वारिज्जउ बाला भुंजउ अन्नं जहिच्छाए ।। ५ ।।

पुक्कारयेण वैद्य निर्विण्णा तव च दीर्घश्वासेन ।
मा वार्यतां बाला भुङ्क्तामन्नं (अन्यं) यथेच्छम् ।।

*५१६. गहवइसुएण भणियं अउव्वविज्जत्तणं हयासेणं ।
जेण पउंजइ पुक्कारयं पि पन्नत्तियाणं पि ।। ६ ।।

गृहपतिसुतेन भणितमपूर्ववैद्यक हताशेन ।
येन प्रयुङ्क्ते पुक्कारयं (पूत्काररतम्) अपि प्रज्ञप्तिकानामपि ।।

५१७. विज्ज तुहागमण च्चिय मुक्का जरएण किं न परिमुणसि ।
ता नियसु मज्झ अंगे संपइ सेओ समुप्पन्नो ।। ७ ।।

वैद्य तवागमन एव मुक्ता ज्वरेण किं न जानासि ।
तत् पश्य ममाङ्गे सप्रति स्वेदः समुत्पन्नः ।।

*५१८. विज्जय अन्नं वारं मह जरओ सयरएण पन्नत्तो ।
जइ तं नेच्छसि दाउं ता किं छासी वि मा होउ ।। ८ ।।

वैद्यान्यं वारं मम ज्वरः शतरयेण (शतरतेन) प्रज्ञप्तः ।
यदि तत् नेच्छसि दातुं तत् किं तक्रमपि(षडशीतिरपि)मा भवतु ।।

५१९. बालं जराविलंगि कलमहुरपलाविणि नियंतस्स ।
विज्जस्स सूसुओ सूसुओ वि सहसत्ति पन्नट्ठो ।। ९ ।।

बालां ज्वराविलाङ्गी कलमधुरप्रलापिनीं पश्यतः ।
वैद्यस्य सुश्रुतः सुश्रुतोऽपि सहसा प्रनष्टः ।।

५१४. वैद्य ! यह कृशांगी श्यामा स्वयं निचोड़ नहीं सकती है, अतः क्यों सोच-विचार में पड़े हो ? इसे अंगुली के अग्र-भाग से बिजौरे नीबू का अवलेह (चटनी) दो। (यह इतनी दुर्बल हो गई है कि रतिक्रिया मे अंगों का मर्दन नही सह सकती। अत. मध्यमांगुलि से इसके भग का अवलेखन करो)

५१५. अरे वैद्य ! यह पुक्कारय नामक जड़ी और तुम्हारी (दुःख के कारण उत्पन्न) लम्बी साँसों से ऊब चुकी है (या जिसके कारण साँसें लम्बी हो गई है, उस पुक्कारय से ऊब चुकी है)। इसे रोकिये मत, इच्छा भर अन्न खाने दीजिये।

शृंगार पक्ष—तुम्हारे लिंग और तुम्हारी लम्बी साँसों (हाँफने से) से ऊब चुकी है। इसे अन्य पुरुष का उपभोग करने दीजिये।

*५१६. दुष्ट गृहपति कुमार ने अपूर्व वैद्यक शास्त्र बताया है, जिससे वह झाड़-फूँक का भी प्रयोग करता है और उपदेश-दान का भी ॥ ६ ॥
शृङ्गार पक्ष—दुष्ट गृहपति कुमार ने अपूर्व विद्या बताई है, जिससे वह पचास (या पाँच) स्त्रियों के लिए भी पुरुषेन्द्रिय का प्रयोग करता है।

५१७. वैद्य ! तुम्हारे आते ही मैं ज्वर-मुक्त हो गई हूँ। क्या जानते नही ? तो देखो, इस समय मेरे अंग मे पसीना उत्पन्न हो गया है ॥ ७ ॥
(प्रस्वेद का कारण द्रवी भाव या सात्त्विक-भावोद्रेक)

*५१८. वैद्य ! अन्य बार मेरा ज्वर तुम्हारे हाथों की भभूत से मारा गया था (नष्ट हो गया था)। यदि उसे नही देना चाहते, तो क्या मट्ठा भी न होगा ? ॥ ८ ॥

शृङ्गार पक्ष—अन्य बार मेरा विरह-ताप सौ सभोगो से दूर हो गया था। यदि उतना नही देना चाहते तो क्या छियासो सभोग भी नही दोगे ?

५१९. जिसके अंग ज्वर से मलिन हो चुके थे, उस कल और मधुर भाषण करने वाली बाला को देखते हुए वैद्य को अच्छी तरह अभ्यस्त सुश्रुतसंहिता भी भूल गई ॥ ९ ॥

---

* विशेष विवेचन परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

*५२०. मोत्तूण बालतंतं तह य वसीकरणमंततंतेहिं ।
सिद्धत्थेहि महम्मइ तरुणी तरुणेण विज्जेण ।। १० ।।

मुक्त्वा बालतन्त्रं तथा च वशीकरणमन्त्रतन्त्रैः ।
सिद्धार्थैः प्रहृण्यते तरुणी तरुणेन वैद्येन ।।

*५२१. अन्नं न रुच्चइ च्चिय मज्झ पियासाइ पूरियं हिययं ।
नेहसुरयल्लयंगे तुह सुरयं विज्ज पडिहाइ ।। ११ ।।

अन्नं (अन्यत्) न रोचत एव, मम पिपासया (प्रियाशया) पूरितं हृदयम् ।
स्नेहसुरतार्द्राङ्गे तव सुरतं वैद्य प्रतिभाति ।।

५२२. जो धम्मिओ न पावइ कुरयं मंदारयं च मुग्गरयं ।
सो गहियकरंडो च्चिय कत्तो धुत्तीरयं' लहइ ।। १ ।।
यो धार्मिको न प्राप्नोति कुरवकं (कुरतं) मन्दारकं (मन्दारत)
च मुद्गरकम् (मुग्धारतम्) ।
स गृहीतकरण्ड एव (गृहीतकराण्डक एव) कुतो धत्तूरकं
(धूर्तारतं) लभते ।।

५२३. धुत्तीरएण धम्मिय जइ इच्छसि लिंगपूरणं काउं ।
ता एज्जसु मज्झ परोहडम्मि सूरम्मि अत्थमिए ।। २ ।।

धत्तूरेकण (धूर्तारतेन) धार्मिक यदीच्छसि लिङ्गपूरणं कर्तुम् ।
तत आगच्छ मम गृहपश्चाद्भागे सूर्येऽस्तमिते ।।

*५२४. धुत्तीरयस्स कज्जे गहिराणि परोहडाइ वच्चंतो ।
धम्मिय सुरंगकाओ कुग्याण वि नवरि चुक्किहिसि ।। ३ ।।

धत्तूरकस्य (धूर्तारतस्य) कार्ये गभीरान् गृहपश्चाद्भागान् व्रजन् ।
धार्मिक सुरङ्गकात् कुरबकेभ्योऽपि (कुरतेभ्योऽपि) केवलं भ्रंशिष्यसि ।।

५२५. धुत्तीरयाण कज्जेण धम्मिओ परपरोहडे भमइ ।
अन्नेहि विलुप्पंतं निययारामं न लक्खेइ ।। ४ ।।

धत्तूरकाणां (धूर्तारतानां) कार्येण धार्मिको परगृहपश्चाद्भागान् भ्रमति ।
अन्यैर्विलुप्यमानं निजारामं न लक्षयति ।।

*५२०. बालातन्त्र को छोड़कर, तरुण वैद्य के द्वारा यह तरुणी अभिमंत्रित सर्षपों (सरसों) से नहीं मारी जा रही है (अर्थात् जिस उपाय से यह स्वस्थ हो सकती है, वह नही किया जा रहा है) ॥ १० ॥

*५२१. हे वैद्य ! मुझे अन्न नही रुचता, मेरा हृदय प्यास से भरा है। इस मलिन (धूलि भरे) और प्रस्वेद से आर्द्र शरीर में तुम्हारी भभूत (या आयुर्वेदिक भस्म) का पता नहीं लगता ॥ ११ ॥

शृङ्गार पक्ष—अन्य कोई वस्तु रुचती ही नहीं, मेरा हृदय प्रिय की चाह से भरा है। प्रणय के प्रवेग से आर्द्र अंग (योनि) में तुम्हारा मैथुन रुचता है।

५४—धम्मिय-वज्जा (धार्मिक-पद्धति)

५२२ जो पुजारी कुरबक, मन्दार और मुद्गर (मोगरा) नही पाता, वह चंगेरी लेकर कहाँ धतूरा ही पायेगा ॥ १ ॥

शृङ्गार पक्ष—जो कुरत (पृथ्वी पर की जाने वाली रति-क्रीडा), मन्दारत (स्वैरिणी या दुर्बल स्त्री से रमण) और मुग्धारत (मुग्धा स्त्री से रमण) नही पाता, वह भला भारी अंडकोष[1] धारण करने वाला पुजारी धूर्तारत (धूर्ता या विदग्धा स्त्री के साथ रमण) कैसे प्राप्त करेगा ?

५२३. हे पुजारी ! यदि धतूरे से लिंग (शिवलिंग) को परिपूर्ण (आच्छादित) करना चाहते हो, तो सूर्य अस्त हो जाने पर मेरे पिछवाड़े आना ॥ २ ॥

(यदि धूर्तारत के द्वारा अपने लिंग को आच्छादित करना चाहते हो तो सूर्य डूब जाने पर मेरे पिछवाड़े आना)

*५२४. अरे पुजारी ! धतूरे के लिये घर के पीछे के गंभीर भागों मे भटकते हुये तुम केवल कुरबकों (पुष्प विशेष) के सुन्दर वर्ण से भी वंचित रह जाओगे ॥ ३ ॥

शृङ्गार पक्ष—धूर्तारत के लिए कुरत (बिना शय्या के नगी पृथ्वी पर की जाने वाली कुत्सित रति) के आनन्द से भी वंचित रह जाओगे।

५२५. वह पुजारी धतूरे के लिये दूसरे के पिछवाड़े चक्कर काटता है। अन्य लोगो द्वारा बरबाद किये जाते हुए अपने उद्यान को नही देखता ॥ ४ ॥

शृङ्गार पक्ष—धूर्तारत के चक्कर में दूसरी जगह भटकता है, दूसरों द्वारा उपभुक्त अपनी पत्नी को नहीं देखता।

---

१. हाथ में अण्डकोष पकडे हुए—संस्कृत टीका

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

५२६. घेत्तूण करंडं भमइ वावडो परपरोहडे नूणं ।
धुत्तीरएसु रत्तो एक्कं पि न मेल्लए धम्मी ॥ ५ ॥

गृहीत्वा करण्डं भ्राम्यति व्यापृतः परगृहपश्चाद्भागान् नूनम् ।
धत्तूरकेषु (धूर्तारतेषु) रक्त एकमपि (एकामपि) न मुञ्चति धर्मी ॥

५२७. सुलहाइ परोहडसंठियाइ धुत्तीरयाणि मोत्तूणं ।
कुरयाण कए रण्णं पेच्छह कह धम्मिओ भमइ ॥ ६ ॥

सुलभान् गृहपश्चाद्भागसंस्थितान् धत्तूरकान् (धूर्तारतानि) मुक्त्वा ।
कुरबकाणां (कुरतानां) कृतेऽरण्य प्रेक्षध्वं कथं धार्मिको भ्रमति ॥

५२८. कंचीरएहि कणवीरएहि धुत्तीरएहि बहुएहिं ।
जइ इच्छसि देहरयं धम्मिय ता मह घरे एज्ज ॥ ७ ॥

कंचीरकैः (काञ्चीरतैः) करवीरकै (कन्यारतैः) धत्तूरकैः (धूर्तारतैः) बहुभिः ।
यदीच्छसि देवगृहं (देहरतं) धार्मिक तन्मम गृह आगच्छेः ॥

५२९. मंदारयं विवज्जइ कुरयं परिहरइ चयइ भंगरयं ।
धुत्तीरयमलहंतो गहियकरंडो गणो भमइ ॥ ८ ॥

मन्दारकं (मन्दारतं) विवर्जयति, कुरबकं (कुरतं) परिहरति,
त्यजति भृङ्गारकं (भंगरतम्) ।
धत्तूरकं (धूर्तारतम्) अलभमानो गृहीतकरण्डो (गृहीतकराण्डो)
गणो भ्रमति ॥

५३०. वियसियमुहाइ वण्णुज्जलाइ मयरंदपायडिल्लाइं ।
धुत्तीरयाइ धम्मिय पुण्णेहि विणा न लब्भंति ॥ ९ ॥

विकसितमुखानि वर्णोज्ज्वलानि मकरन्दप्रकटानि ।
धत्तूरकाणि (धूर्तारतानि) धार्मिक पुण्यैर्विना न लभ्यन्ते ॥

५३१. एक्केण वि जह धुत्तीरएण लिंगस्स उवरि लग्गेण ।
मदारयाण धम्मिय कोडीइ न तं सुहं होइ ॥ १० ॥

एकेनापि यथा धत्तूरकेण (धूर्तारतेन) लिङ्गस्योपरि लग्नेन ।
मन्दारकाणां (मन्दारतानां) धार्मिक कोट्या न तत्सुखं भवति ॥

५२६. वह पुजारी चंगेरी लेकर, व्यस्त होकर दूसरे के पिछवाड़े भटक रहा है। धतूरे से उस का प्रेम है। निश्चित है, एक भी नहीं छोड़ेगा ॥ ५ ॥

शृङ्गार पक्ष—हाथ में अण्डकोष पकड़े वह कार्यरत पुजारी दूसरे के पिछवाड़े चक्कर काट रहा है। उसे धूर्तारत प्रेम है। निःसन्देह एक को नहीं छोड़ेगा।

५२७ देखो, पिछवाडे स्थित सुलभ धतूरों को छोड़ कर वह पुजारी कुरबको के लिये किस प्रकार वन मे भटक रहा है ॥ ६ ॥
शृङ्गार पक्ष—सुलभ धूर्तारत को छोड़ कर कुरत के लिये भटक रहा है।

५२८ पुजारी! यदि बहुत से कचनार, करवीर (कनेर) और धतूरों के साथ देव मन्दिर (देहरा एवं देहरत) की इच्छा करते हो, तो मेरे घर आ जाओ ॥ ७ ॥

५२९. वह धूर्त साधु धतूरा न पाकर मन्दार, कुरबक और भृंगारक (भँगरैया) को छोड रहा है और हाथ मे चगेरी लिये भटक रहा है ॥ ८ ॥
शृङ्गार पक्ष—धूर्तारत को न पाकर मन्दारत, कुरत और भंगरत (अधूरी रति-क्रिया या पटसन के खेत मे होने वाली रति) को छोड़ रहा है और अण्डकोष को धारण करता हुआ भटक रहा है।

५३०. जिनके अग्र-भाग विकसित है, जिनके वर्ण उज्ज्वल हैं और जिनमे मकरन्द प्रकट हो चुका है, वे धतूरे बिना पुण्य के नही मिलते ॥९॥
शृङ्गार पक्ष—जिन के मुख खिले रहते है, जिनकी कान्ति निर्मल है और जिनमें शृंगार रस (या आनन्द) प्रकट हो चुका है, उन धूर्ताओं का रत पुण्य के बिना नही प्राप्त होता है ॥

५३१. पुजारी! शिवलिंग के ऊपर लगे हुये (संलग्न या रखे हुये) एक ही धतूरे से जो सुख प्राप्त होता है, वह करोड़ो मन्दारों से नहीं ॥१०॥

(लिंग से संलग्न एक ही धूर्ता के रत से जो सुख मिलता है, वह कोटि मन्दा-स्त्रियों के रत से नही)

५३२. सिसिरमयरंदपज्झरणपउरपसरंतपरिमलुल्लाइं ।
कणवीरयाइ गेण्हसु धम्मिय सब्भावरत्ताइं ॥ ११ ॥
शिशिरमकरन्दप्रक्षरणप्रचुरप्रसरत्परिमलयुक्तानि ।
करवीराणि (कन्यकारतानि) गृहाण धार्मिक स्वभावरक्तानि (सद्भावरक्तानि) ॥

५५. जंतियवज्जा [यान्त्रिकपद्धतिः]

५३३. जंतिय गुलं विमग्गसि न य मे इच्छाइ वाहसे जंतं ।
अरसन्न किं न याणसि न रसेण विणा गुलं होइ ॥ १ ॥
यान्त्रिक गुडं विमार्गयसे न च ममेच्छया वहसि यन्त्रम् ।
अरसज्ञ किं न जानासि न रसेन विना गुडो भवति ॥

५३४. वियडा वि जंतवाया मउओ नालो रसाउलो उच्छू ।
लट्ठी वि सुप्पमाणा कि जंतिय ऊणयं वहसि ॥ २ ॥
विकटा अपि यन्त्रपादा मृदुको नालो रसाकुल इक्षुः ।
यष्टिरपि सुप्रमाणा किं यान्त्रिकोनकं वहसि ॥

५३२. पुजारी ! शीतल मकरन्द-प्रस्रवण से जो प्रचुरपरिमलयुक्त हो गये हैं, उन निसर्गतः लाल रंग वाले करवीर (कनेर) के फूलों को ग्रहण कर लो ॥ ११ ॥

शृङ्गार पक्ष—सात्विक-भावोद्रेक से द्रवित होने के कारण जो आकर्षक बन गई है, उन वास्तविक प्रेम से युक्त कन्याओं का रत स्वीकार करो।

५५--जंतियवज्जा (यान्त्रिकपद्धति = कोल्हू प्रकरण)

प्रतीक परिचय—

यान्त्रिक = मैथुन कर्ता

यन्त्र = योनि

गुड = पुत्र

पत्तल = लोम युक्त (यह विशेषण है)

पीडक = मैथुन कर्ता

यन्त्रवाहन, यन्त्रबाधक = मैथुन

रस = वीर्य, आनन्द

वाहसे—यह श्लिष्ट क्रिया-प्रतीक के रूप मे नहीं है। इसका अर्थ व्यथयसि या पीडयसि है। यन्त्र-पक्ष मे यह संस्कृत वह् का प्रेरणार्थक रूप है।

इक्षु = लिंग

नाल = लिंग का अग्रिम वलयाकार भाग, ग्रन्थि या गाँठ

यन्त्र-पाद = जघन या नितम्ब

यष्टि (लट्ठी) = शरीर (यन्त्र पक्ष मे हरसा)

कुण्डी = छिद्र (यन्त्र-पक्ष मे वह पात्र, जिसमे रस चूता है)

(शृगार पक्ष मे पाठको को उपर्युक्त अर्थो का उपयोग स्वयं कर लेना चाहिये)

५३३. यान्त्रिक ! गुड चाहते हो और मेरी इच्छा से यन्त्र नही चलाते (या यन्त्र को प्रेरित नही करते या यन्त्र को नही दबाते)। अरे अरसज्ञ ! क्या तुम नही जानते कि बिना रस के गुड नही होता ॥ १ ॥

५३४. यान्त्रिक ! (कोल्हू चलाने वाले) यन्त्र (कोल्हू) के पैर भी (यन्त्र-पाद) सुदृढ़ है, ईख की गाँठें (नाल) भी कोमल हैं, ईख (इक्षु) भी रस से भरी है और हरसा (कोल्हू का एक अंग) भी उचित प्रमाण का है, फिर क्यों कम रस बहा रहे हो ? ॥ २ ॥

५३५. सद्दालयं सरूवं वित्थिण्णं वररसं सुमद्दसहं ।
जं एरिसयं जंतं तत्थ सुहं जंतिओ लहइ ॥ ३ ॥

शब्दालयं सरूपं विस्तीर्णं वररसं सुमर्दसहम् ।
यद् ईदृशं यन्त्रं तत्र सुखं यान्त्रिको लभते ॥

५३६. तह जंतिएण जंत अक्कंतं नेहणिब्भररसेण ।
जह पढमं चिय कुंडी भरिया एक्केण घाएण ॥ ४ ॥

तथा यान्त्रिकेण यन्त्रमाक्रान्तं स्नेह निर्भररसेन ।
यथा प्रथममेव कुण्डी भृतैकेन घातेन ॥

५३७. तं जंतं सा कुंडी सो उच्छू बहलपत्तलच्छाओ ।
पीलावय तुज्झ गुणो अज्ज वि ऊणो रसो जाओ ॥ ५ ॥

तद्यन्त्रं सा कुण्डी स इक्षुर्बहलपत्रलच्छायः ।
पीडक तव गुणोऽद्याप्यूनो रसो जातः ॥

५६. मुसलवज्जा [मुसलपद्धतिः]

*५३८. चंदणवलियं दिढकंचिबंधणं दीहरं सुपरिमाणं ।
होइ घरे साहीणं मुसलं धन्नाण महिलाणं ॥ १ ॥

चन्दनवलितं दृढकाञ्चीबन्धनं दीर्घं सुपरिमाणम् ।
भवति गृहे स्वाधीनं मुसलं धन्यानां महिलानाम् ॥

*५३९. थोरगरुयाइ सुंदरकंचीजुत्ताइ हुंति नियगेहे ।
धन्नाण महिलियाणं उक्खलसरिसाइ मुसलाइं ॥ २ ॥

स्थूलदीर्घाणि सुन्दरकाञ्चीयुक्तानि भवन्ति निजगेहे ।
धन्यानां महिलानामुदूखलसदृशानि मुसलानि ॥

५४०. मुहभारियाइ सुट्ठु वि सुट्ठु वि कंचीइ दिढनिबद्धाइं ।
अन्नाहि पि हु जुण्णुक्खलम्मि भज्जंति मुसलाइं ॥ ३ ॥

मुखभारिकाणि सुष्ठ्वपि सुष्ठ्वपि काञ्च्या दृढनिबद्धानि ।
अन्याभिरपि खलु जीर्णोदूखले भज्यन्ते मुसलानि ॥

५३५. यदि शब्द वाला, (रति एवं पीडन काल मे) उचित आकार वाला, विस्तीर्ण, रसयुक्त और भली-भाँति मर्दन (इक्षुपीडन और रतिकाल में उपमर्दन) को सहने वाला—ऐसा यन्त्र (कोल्हू) है तो वह यान्त्रिक (कोल्हू का स्वामी) सुख पाता है ॥ ३ ॥

५३६ स्नेह से रस-पूर्ण (आनन्दपूर्ण) यान्त्रिक ने इस प्रकार यन्त्र को आक्रान्त कर लिया (अधिकार मे कर लिया) कि पहले ही एक आघात मे कुण्डी (बर्तन) भर गई ॥ ४ ॥

५३७ पीडक (ईख पेरने वाला) कोल्हू (यन्त्र) वही है, वही पात्र (कुण्डो) है और बहुत से पत्तो की छाया करने वाली वही ईख (इक्षु) है। यह तुम्हारा गुण (विपरीत लक्षणा मे दोष) है कि अब भी रस कम हो गया ॥ ५ ॥

५६—मुसलवज्जा (मुसल-पद्धति)

प्रतीक परिचय—

मुसल = लिंग
उदूखल (ओखली) = भग या योनि
काञ्ची (सेम) = लिंग का वलयाकार अग्रभाग

*५३८. वे महिलाये धन्य है, जिनके घर मे चन्दन की लकड़ी से बना हुआ (पक्षान्तर मे-चन्दनलिप्त), सुदृढ सेम से युक्त, दीर्घ एवं सुन्दर परिमाण (नाप) वाला मुसल स्वाधीन (वश मे) रहता है ॥ १ ॥

*५३९. वे महिलायें धन्य है, जिनके अपने घर में मोटे और लम्बे (या थोड़े वजन वाले) सुन्दर सेम (मुसल के अग्रभाग में लगा लौह-वलय) से युक्त और ओखली के अनुरूप मुसल रहते हैं ॥ २ ॥

५४०. जिनके मुँह (अग्रभाग) खूब भारी भी है और जो अच्छे प्रकार सुदृढ़ सेमों से बँधे भी हैं, वे मुसल भी दूसरों के द्वारा पुरानी ओखली में तोड़ डाले जाते है ॥ ३ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

५४१. भमिओ चिरं असेसो गामो मइ सहियओ सयं वारं ।
गेहुक्खलपरिमाणेण मामि मुसल चिय न दिट्ठं ।। ४ ।।

भ्रान्तश्चिरमशेषो ग्रामो मया सख्यः शतवारम् ।
गेहोदूखलपरिमाणेन सख्यो मुसलमेव न दृष्टम् ।।

५४२. भद्दमुहमंडणं चिय दरपिहुलं तह य कंचिसोहिल्लं ।
अन्नेसि पिय मुसलं पडिछंदं तेण वच्चामो ।। ५ ।।

भद्रमुखमण्डनमेवेषत्पृथुलं तथा च काञ्चीशोभितम् ।
अन्येषामपि मुसलं प्रतिच्छन्दं तेन व्रजामः ।।

५७. बालासंवरणवज्जा [बालासंवरणपद्धतिः]

५४३. जस्स तुमं अणुरत्ता सो तुज्झ य मंदहणेहओ पुत्ति ।
न हु दिज्जइ ताली दीहरच्छि एक्केण हत्थेण ।। १ ।।

यस्य त्वमनुरक्ता स तव च मन्दस्नेहः पुत्रि ।
न खलु दीयते तालिका दीर्घाक्ष्येकेन हस्तेन ।।

५४४. जत्थ गओ तत्थ गओ सामलि सीहो न जुप्पइ हलम्मि ।
सप्पुरिसो वि तह च्चिय पुंमसु नयणाइ मा रुण्णं ।। २ ।।

यत्र गतस्तत्र गतः श्यामले सिंहो न युज्यते हले ।
सत्पुरुषोऽपि तथैव प्रोञ्छ नयने मा रुदितम् ।।

५४५. तइया वारिज्जंती पियसि पइं उल्लिरीहि अच्छीहिं ।
एण्हि विरहावत्थं पुणो वहंती किलामिहिसि ।। ३ ।।

तदा वार्यमाणा पिबसि पतिमार्द्राभ्यामक्षिभ्याम् ।
इदानीं विरहावस्थां पुनर्वहन्ती क्लमिष्यसि ।।

५४६. मा रुवसु पुत्ति छेयाण अग्गए खिज्जिहिंति नयणाइं ।
न हु खिज्जइ ताण मणं सेल्लं मिव सलिलपूरेणं ।। ४ ।।

मा रुदिहि पुत्रि च्छेकानामग्रे खेत्स्येते नयने ।
न खलु खिद्यते (क्षीयते) तेषां मनः शैल इव सलिलपूरेण ।।

५४१. हे सखियों ! मैं सौ बार पूरे गाँव में देर तक भटक चुकी, घर की ओखली के नाप का मुसल ही नहीं दिखायी दिया ॥ ४ ॥

५४२. जिनका अग्रभाग सुन्दर मण्डन से युक्त है, जो थोड़े मोटे है और सुन्दर काञ्ची (सेम) से सुशोभित होते है, वे दूसरों के मुसल भी मुझे पसन्द है। अतः (ढूँढने) जाते हैं ॥ ५ ॥

५७—बाला-संवरण-वज्जा (बाला-संवरण-पद्धति)

५४३. पुत्रि ! जिस पर तुम अनुरक्त हो, वह तुमसे प्रेम नहीं करता। विशालाक्षि ! एक हाथ से ताली नहीं बजती है ॥ १ ॥

५४४. श्यामे ! सिह चाहे जहाँ चला जाय, हल मे नहीं जोता जाता है। सत्पुरुष भी वैसे ही है, आँखे पोंछ लो, मत रोओ ॥ २ ॥

५४५. तू उस समय रोकने पर भोगी आँखों से प्रियतम के सौन्दर्य को पी रही थी। इस समय विरहावस्था को वहन करती हुई क्लेश उठायेगी ॥ ३ ॥

५४६. पुत्रि ! छेकों (विदग्धों या चतुरों) के आगे रोओ मत, तुम्हारी आँखें दुखने लगेंगी, परन्तु उनका मन दुःखी न होगा, जैसे जल-प्लावन से पर्वत क्षीण नहीं होता ॥ ४ ॥

५४७. दाणं न देंति बहुलं नेहं दरिसंति नेय रज्जंति ।
गेण्हंति न देंति मणं पुत्ति च्छेया दुराराहा ॥ ५ ॥

दानं न ददति बहुलं स्नेहं दर्शयन्ति नैव रज्यन्ते ।
गृह्णन्ति न ददति मनः पुत्रि च्छेका दुराराधाः ॥

*५४८. रज्जंति नेय कस्स वि रत्ता पसयच्छि न हु विरज्जंति ।
दिणयरकर व्व छेया अदिट्ठदोसा वि रज्जंति ॥ ६ ॥

रज्यन्ते नैव कस्मिन्नपि रक्ताः प्रसृताक्षि न खलु विरज्यन्ते ।
दिनकरकरा इव च्छेका अदृष्टदोषा अपि रज्यन्ते ॥

५४९. रज्जावंति न रज्जंहि हरंति हियय न देंति नियहियय ।
छेया भुयगसरिसा डसिऊण परम्मुहा होंति ॥ ७ ॥

रञ्जयन्ति न रज्यन्ते हरन्ति हृदयं न ददति निजहृदयम् ।
छेका भुजङ्गसदृशा दष्ट्वा पराङ्मुखा भवन्ति ॥

*५५०. रज्जावंति न रज्जंहि देंति असोक्खं न दुक्खिया हुंति ।
असुयविणय त्ति एण्हि दुक्खाराहा जए छेया ॥ ८ ॥

रञ्जयन्ति न रज्यन्ते ददत्यसौख्यं न दुःखिता भवन्ति ।
अश्रुतविनया इतीदानीं दुःखाराध्या जगति च्छेकाः ॥

५५१. रत्ते रत्ता कसणम्मि कसणया धवलयम्मि तह धवला ।
फलिहमणि व्व छइल्ला हुंति जणे पुत्ति संपुण्णा ॥ ९ ॥

रक्ते रक्ताः कृष्णे कृष्णा धवले तथा धवलाः ।
स्फटिकमणिरिव च्छेका भवन्ति जने पुत्रि संपूर्णाः ॥

५८. कुट्टिणीसिक्खावज्जा [कुट्टिनीशिक्षापद्धतिः]

५५२. दरहसियकडक्खणिरिक्खणाइ सिंगारकम्ममसिणाइं ।
एयाइ पुणो सिक्खसु निरुवमसोहग्गदइयाइं ॥ १ ॥

ईषद्धसितकटाक्षनिरीक्षणानि शृङ्गारकर्ममसृणानि ।
एतानि पुनः शिक्षस्व निरुपमसौभाग्यदायकानि ॥

५४७. पुत्रि! छेक दुराराध्य हैं, वे देते नहीं, प्रेम बहुत दिखाते है, अनुरक्त नहीं होते, मन ले लेते है, पर देते नहीं ॥ ५ ॥

*५४८. मृगलोचने! छेक जन (चतुर पुरुष) किसी पर अनुरक्त नही होते। जैसे रात्रि को न देखने वाली रवि-किरणे भी (मूल में रविकर शब्द पुंल्लिग है) रक्तवर्ण हो जाती है, वैसे ही वे (छेक) कोई दोष देखे बिना विरक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

५४९. प्रेम करवाते हैं, करते नहीं, हृदय हर लेते है, अपना हृदय देते नही। विदग्धजन भुजंग के समान हैं, डँस कर मुँह फेर लेते हैं ॥ ७ ॥

*५५०. प्रेम करवाते है, करते नहीं, दुःख देते है, दुःखी होते नहीं। विदग्धजन उपदेश (या शिक्षा) नही सुनते, अतः इस समय जगत् में दुराराध्य है ॥ ८ ॥

५५१. पुत्रि! सभी विदग्ध स्फटिक मणि के समान होते हैं। वे लोगो के रक्त होने पर रक्त, कृष्ण होने पर कृष्ण और उज्ज्वल होने पर उज्ज्वल बन जाते है ॥ ९ ॥

५८—कुट्टिणी-सिक्खा-वज्जा (कुट्टिनीशिक्षा-पद्धति)

५५२. इन अनुपम सौभाग्य प्रदान करने वाली, हावों और भावों से मसृण (स्निग्ध) किंचित् शुभ्र-कटाक्ष-पूर्ण दृष्टियों को पुनः सीखो ॥ १ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

५५३. मग्गंती मूलियमूलियाइ मा भमसु घरहरं पुत्ति।
छंदाणुवत्तणं पिययमस्स एयं वसीकरणं ॥ २ ॥

मार्गयमाणा मूलिका मूलिका मा भ्रम गृहगृहं पुत्रि।
छन्दानुवर्तनं प्रियतमस्यैतद्वशीकरणम् ॥

५५४. भूसणपसाहणाडंबरेहि मा खिवसु पुत्ति अप्पाणं।
रंजिज्जइ जेण जणो अन्न च्चिय ते अलंकारा ॥ ३ ॥

भूषणप्रसाधनाडम्बरैर्मा क्षिप पुत्र्यात्मानम्।
रज्यते येन जनोऽन्य एव तेऽलङ्काराः ॥

*५५५. अन्नासत्ते वि पिए अहिययरं आयरं कुणिज्जासु।
उद्धच्छि वेयणाइ वि नमंति चरियाइ वि गुणेहि ॥ ४ ॥

अन्यासक्तेऽपि प्रियेऽधिकतरमादरं कुर्वीथाः।
ऊर्ध्वाक्षि वेदना अपि नमन्ति चरिता अपि गुणैः ॥

५५६. न विणा सब्भावेणं घेप्पइ परमत्थजाणओ लोओ।
को जुण्णमंजरं कंजिएण वेयारिउ तरइ ॥ ५ ॥

न विना सद्भावेन गृह्यते परमार्थज्ञो लोकः।
को जीर्णमार्जारं काजिकेन विकारयितुं शक्नोति ॥

५५७. जेण विणा न वलिज्जइ अणुणिज्जइ सो कयावराहो वि।
पत्ते वि नयरदाहे भण कस्स न वल्लहो अग्गी ॥ ६ ॥

येन विना न स्थीयतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि।
प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्निः ॥

५५८. अव्वो जाणामि अहं तुम्ह पसाएण चाडुयसयाइं।
एक्कं नवरि न जाणे निण्णेहे रमणपज्झरणं ॥ ७ ॥

अहो जानाम्यहं तव प्रसादेन चाटुकशतानि।
एकं केवलं न जाने निःस्नेहे रमणप्रक्षरणम् ॥

५५३. बेटी ! 'जड़ी' 'जड़ी' खोजती हुई घर-घर मत भटको। प्रिय की इच्छा के अनुकूल व्यवहार करना—यही वशीकरण है ॥ २ ॥

५५४. बेटी ! भूषण, प्रसाधन और आडम्बर में अपने को मत डालो। जिनसे लोग अनुरक्त होते हैं, वे अलंकरण दूसरे ही है ॥ ३ ॥

*५५५. विशाललोचने ! अन्य रमणी में आसक्त होने पर भी प्रिय का अधिकतर आदर करना। (क्योंकि) लोग ज्ञान से भी झुक जाते हैं (विनम्र हो जाते हैं) और चारित्रिक गुणों से भी ॥ ४ ॥

५५६. सत्यता (यथार्थता) के बिना परमार्थ को जानने वाला व्यक्ति पकड़ मे नही आता। बूढ़े बिलाव को कांजी से कौन धोखे मे डाल सकता है ? ॥ ५ ॥

५५७. जिसके बिना नही रहा जा सकता है, अपराध करने पर भी उसका अनुनय किया ही जाता है। नगर जल कर भस्म हो जाने पर भी अग्नि से किसे प्रेम नही है[१] ? ॥ ६ ॥

५५८. तुम्हारी कृपा से सैकड़ों चाटुकारितायें जानती हूँ, केवल प्रेम-हीन के प्रति योनि का प्रक्षरण करना नही जानती हूँ (प्रणयशून्य व्यक्ति के प्रति द्रवीभूत होना मुझे नही आता है) ॥ ७ ॥

१ जिसके बिना जीवन दूभर है, नही संभव है जग में रह पाना।
यदि लाख करे अपराध कठोर, उसे पड़ता है परन्तु मनाना।
जला डालती गाँव को जो छिन में, नही जानतो जो कभी नेह निभाना।
किसको उस आग से प्यार नहो, किसको पड़ता न उसे अपनाना ॥
—यह भावानुवाद 'गाहासत्तसई' के पाठ पर अवलम्बित है।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

५५९. ताव च्चिय ढलहलया जाव च्चिय नेहपूरियसरीरा ।
सिद्धत्था उण छेया नेहविहूणा खलीहुंति ॥ ८ ॥
तावदेव मृदुका यावदेव स्नेहपूरितशरीराः ।
सिद्धार्थाः पुनश्छेकाः स्नेहविहीना खलीभवन्ति ॥

५९. वेसावज्जा [वेश्यापद्धतिः]

५६०. अहिणि व्व कुडिलगमणा रोरहरे दीवय व्व निण्णेहा ।
सुकइ व्व अत्थलुद्धा वेसं दट्ठूण वंदामि ॥ १ ॥
अहिरिव कुटिलगमना दरिद्रगृहे दीपक इव नि.स्नेहा ।
सुकविरिवार्थलुब्धा वेश्या दृष्ट्वा वन्दे ॥

*५६१. वण्णड्ढा मुहरसिया नेहविहूणा वि लग्गए कंठं ।
पच्छा करइ वियारं बलहट्टुयसारिसा वेसा ॥ २ ॥
वर्णाढ्या मुखरसिका स्नेहविहीनापि लगति कण्ठम् ।
पश्चात् करोति विकारं चणकरोटिकासदृक्षा वेश्या ॥

*५६२. सहइ सलोहा घणघायताडण तह य वाणसबंध ।
कुंटि व्व पउरकुडिला वेसा मुट्ठीइ सवहइ ॥ ३ ॥
सहते सलोभा (सलोहा) घनघातताडनं तथा च वाण सबन्धम् ।
संदंशिकेव प्रचुरकुटिला वेश्या मुष्ट्या संवहति ॥

*५६३. जाओ पिय पियं पइ एक्क विज्झाइ त च्चिय पलित्त ।
होइ अवरट्ठिओ च्चिय वेसासत्थो तिणग्गि व्व ॥ ४ ॥
यातः प्रियं प्रियं प्रति एक निर्वापयति तमेव प्रदीप्तम् ।
भवत्यपरस्थित एव वेश्यासार्थस्तृणाग्निरिव ॥

*५६४. निम्मलपवित्तहारा बहुलोहा पुलइएण अंगेण ।
खग्गलइय व्व वेसा कोसेण विणा न संवहइ ॥ ५ ॥
निर्मलपवित्रहारा (धारा) बहुलोभा (लोहा) पुलकितेनाङ्गेन ।
खड्गलतिकेव वेश्या कोशेन विना न संवहति ॥

५५९. सरसों और विदग्ध—ये दोनों स्नेह (तेल/प्रेम) न रह जाने पर खल (खली/दुष्ट) हो जाते हैं और तभी तक कोमल रहते है, जब तक उनका शरीर स्नेह से पूर्ण रहता है ॥ ८ ॥

५९—वेसावज्जा (वेश्या-पद्धति)

५६०. जिस की गति सर्पिणी के समान कुटिल है, जो दरिद्र-गृह के दीपक के समान स्नेह-शून्य (प्रेम-रहित और तेल-रहित) है और जो सुकवि के समान अर्थ (धन और भाव) का लोभ करती है, उस वेश्या को देख कर नमस्कार करता हूँ (अर्थात् त्याग देता हूँ) ॥ १ ॥

*५६१. जैसे चने की रोटी सुन्दर रंग की होती है, मुँह में स्वाद उत्पन्न करती है, घी (या तेल) के बिना विशेपरूप से गले में लग जाती है (अटक जाती है) और बाद में विकार (अजीर्ण आदि) उत्पन्न करती है, उसी प्रकार वेश्या भी सुन्दर कान्ति से युक्त होती है, प्रारम्भ मे आनन्द प्रदान करती है, प्रेम रहित होकर भी गले से लिपट जाती है और अन्त में दोष (विकार) उत्पन्न करती है (घर से निकाल देती है) ॥ २ ॥

*५६२. जैसे लौहमय प्रचुर कुटिला संदंशिका (सँड़सी) घनों के कठोर आघात एवं बाण के सम्बन्ध को सहन करती है और उस बाण को अपनी पकड़ मे रखती है, वैसे ही लोभ-युक्तएवं पौरजनों से कुटिल व्यवहार करने वाली वेश्या, संभोग-जन्य सुदृढ़ अंग-निष्पीडन एवं नीरस (शुष्क) जनो के संसर्ग को सहन करती है और (वेश्यागामियों की) मुट्ठी से धन ले लेती है ॥ ३ ॥

*५६३. जैसे तृण की आग इष्ट-इष्ट तृण के निकट जाती है और उस प्रज्ज्वलितमात्र तृण को तुरन्त बुझा देती है तथा अन्य तृण में स्थित हो जाती है (लग जाती है), वैसे ही वेश्या-समूह अवांछित प्रेमी के निकट जाता है और उस पूर्णतया आसक्त श्रेष्ठ पुरुष की उपेक्षा करता है तथा अधम जनों में स्थित हो जाता है (प्रेम करने लगता है) ॥ ४ ॥

*५६४. जैसे निर्मल एवं निष्कलंक धारा वाली प्रचुर लौहयुक्त खड्ग-लतिका (कृपाण) कोश (म्यान) के बिना दिखाई पड़ने वाले (नंगे या अनावृत) अंग से (युद्ध में जाने के लिए) सज्जित नहीं होती है, वैसे ही निर्मल एवं पवित्र हारों वाली, प्रचुर लोभयुक्त वेश्या कोश (धन राशि) के बिना पुलकित अंगों से (रमण के लिए) सज्जित (तैयार) नहीं होती है (अथवा द्रव्यराशि के बिना किसी को वहन (धारण या अंगीकार) नही करती) ॥५॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

५६५. धणसंचया सुगुज्झा निबद्धलोहा भुयंगमहणिज्जा ।
मंजूसिय व्व वेसा ठाणं चिय लोहवित्तस्स ।। ६ ।।

धनसंचया सुगुह्या निबद्धलोभा (निबद्धलोहा) भुजंगमहनीया ।
मंजूषिकेव वेश्या स्थानमेव लोभवित्तस्य (लोहवित्तस्य) ।।

*५६६. न गणेइ रूववंतं न कुलीणं नेय रूवसंपन्नं ।
वेसा वाणरिसरिसा जत्थ फलं तत्थ संकमइ ।। ७ ।।

न गणयति रूपवन्तं न कुलीनं नैव रूपसंपन्नम् ।
वेश्या वानरीसदृशी यत्र फलं तत्र संक्रामति ।।

५६७. अन्नन्नरायरसियं आसन्नपओहरं गुणविहूणं ।
ठड्ढं सहाववंकं वेसाहिययं सुरधणु व्व ।। ८ ।।

अन्यान्यरागरसिकमासन्नपयोधरं गुणविहीनम् ।
स्तब्धं स्वभाववक्रं वेश्याहृदयं सुरधनुरिव ।।

५६८. कवडेण रमंति जणं पियं पयंपंति अत्थलोहेण ।
ताण नमो वेसाणं अप्पा वि न वल्लहो जाण ।। ९ ।।

कपटेन रमयन्ति जनं प्रिय प्रजल्पन्त्यर्थलोभेन ।
ताभ्यो नमो वेश्याभ्य आत्मापि न वल्लभो यासाम् ।।

५६९. कुललंछणं अकित्ती अत्थस्स खओ असीलसवासो ।
गतुं चिय वेसहरं न जुज्जए पडियजणस्स ।। १० ।।

कुललाञ्छनमकीर्तिरर्थस्य क्षयोऽशीलसंवासः ।
गन्तुमेव वेश्यागृहं न युज्यते पण्डितजनस्य ।।

*५७०. संपत्तियाइ काल गमेसु सुलहाइ अप्पमुल्लाए ।
देउलवाडयपत्तं तुट्टणसीलं अइमहग्घं ।। ११ ।।

बालया कालं गमय सुलभयाल्पमूल्यया ।
देवकुलवाटकपत्रं त्रुटनशीलमतिमहार्घम् ।।

५६५. जैसे मंजूषा में धन का संचय किया जाता है, उसे गुप्त रखा जाता है, वह लोहे से निर्मित होती है, सर्पों से पूजित होती है और धातु सम्बन्धी धनों का स्थान होती है, उसी प्रकार वेश्या धन-संचय करने वाली होती है, उसका गुह्य अंग सुन्दर होता है, लोभ में बँधी रहती है, विटों से सेवित रहती है और लोभ-रूपी धन का स्थान होती है (या लोभ से उत्पन्न धन का स्थान होती है या लोभाचरण का स्थान होती है) ॥ ६ ॥

*५६६. वेश्या वानरी के समान जहाँ फल (लाभ) होता है, वहाँ जाती है। वह न रूपवान् को गिनती है, न कुलीन को और न कुरूप को ॥ ७ ॥

५६७. जैसे इन्द्रधनुष विभिन्न रंगों से युक्त, मेघों का निकटवर्ती, प्रत्यंचारहित, स्तब्ध (नीरव) और स्वभाव से ही वक्र होता है, वैसे ही वेश्याओं का हृदय अन्य-अन्य लोगों का रसिक, स्तनों का निकटवर्ती, गुण-हीन, स्तब्ध (निश्चल या निष्ठुर) और स्वभाव से कुटिल होता है ॥ ८ ॥

५६८. जो कपटपूर्वक लोगों से रमण करती है, धन के लोभ से प्रिय बोलती है और जिन्हें अपनी आत्मा भी प्रिय नहीं है, उन वेश्याओं को नमस्कार है (अर्थात् उन्हें त्याग ही देना चाहिए) ॥ ९ ॥

५६९. पंडितों को वेश्याओं के घर जाना ही नहीं चाहिए, क्योंकि वहाँ कुल-कलंक, अकीर्ति और धन-क्षय निश्चित है तथा दुश्चरित्र मनुष्यों के साथ रहना पड़ता है ॥ १० ॥

*५७०. सुलभ और अल्प मूल्य वाली थाली से (या पत्ती या पत्तल) अपना समय बिता दो। राज-भवन में प्रयुक्त होने वाले पात्र (बर्तन) टूटने वाले और बहुमूल्य होते हैं ॥ ११ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

५७१. वेसाण कवडसयपूरियाण सब्भावणेहरहियाणं ।
अत्थरहिओ न रुच्चइ पच्चक्खो कामदेवो वि ।। १२ ।।
वेश्याभ्य कपटशतपूरिताभ्यः सद्भावस्नेहरहिताभ्यः ।
अर्थरहितो न रोचते प्रत्यक्षः कामदेवोऽपि ॥

५७२. अत्थस्स कारणेणं चुंबंति मुहाइ वंकविरसाइं ।
अप्पा वि जाण वेसो को ताण परो पिओ होइ ।। १३ ।।
अर्थस्य कारणेन चुम्बन्ति मुखानि वक्रविरसानी ।
आत्मापि यासां द्वेष्यः कस्तासा परः प्रियो भवति ॥

५७३. सुपमाणा य सुमुत्ता बहुरूवा तह य कोमला सिसिरे ।
कत्तो पुण्णेहि विणा वेसा पडिय व्व संपडइ ।। १४ ।।
सुप्रमाणा च सुमूक्ता (सुसूत्रा) बहूरूपा तथा च कोमला शिशिरे ।
कुतः पुण्यैर्विना वेश्या पटिकेव संपतति ॥

५७४. कुडिलत्तणं च वंकत्तणं च वंचत्तणं असच्चं च ।
अन्नाण हुंति दोसा वेसाण पुणो अलंकारा ।। १५ ।।
कुटिलत्वं च वक्रत्वं च वञ्चकत्वमसत्यं च ।
अन्येषा भवन्ति दोषा वेश्याना पुनरलङ्कारा: ॥

५७५. सरसा निहसणसारा गंधड्ढा बहुभुयंगपरिमलिया ।
चंदणलय व्व वेसा भण कस्स न वल्लहा होइ ।। १६ ।।
सरसा निघर्षणसारा गन्धाढ्या बहुभुजङ्गपरिमृदिता ।
चन्दनलतेव वेश्या भण कस्य न वल्लभा भवति ॥

*५७६. मा जाणह मह सुहयं वेसाहियय समम्मणुल्लावं ।
सेवाललित्तपत्थरसरिसं पडणेण जाणिहिसि ।। १७ ।।
मा जानीत मम सुभगं वेश्याहृदयं समन्मनोल्लापं ।
शैवाललिप्तप्रस्तरसदृशं पतनेन ज्ञास्यसि ॥

५७१. जो सैकड़ों कपटों से पूर्ण और जिनका हृदय वास्तविक प्रेम से शून्य होता है, उन वेश्याओं को धन न रहने पर साक्षात् कामदेव भी नहीं रुचता है ॥ १२ ॥

५७२. जो अर्थ के लिये टेढे-मेढे और कुरुचिपूर्ण (घृणित) मुखों को भी चूमती रहती हैं, तथा जिन्हे अपनी आत्मा भी प्रिय नहीं है, उन वेश्याओं को दूसरा कौन प्रिय होगा ? ॥ १३ ॥

५७३. जैसे सुन्दर नाप वाली, अच्छे सूतों से युक्त, (रक्त-पीतादि) बहु-रूपो वाली तथा कोमल साड़ी शिशिर मे पुण्य के बिना नही मिलती, वैसे ही सुन्दर गठन वाली, मृदुभाषिणी, नाना रूपों (वेशो) को धारण करने वाली कोमलांगी वेश्या भी शिशिर मे पुण्य के बिना नही प्राप्त होती है ॥ १४ ॥

५७४. कुटिलता, वक्रता, वञ्चना और असत्य—ये अन्य लोगों के दोष हैं, परन्तु वेश्याओ के आभूषण हैं ॥ १५ ॥

५७५. जेसे चन्दनलता सरस (रसयुक्त) होती है और रगड़ने पर महँकती है, सुगन्ध से पूर्ण रहती है और बहुत से सर्पो (भुजंगों) से वेष्टित रहती है, वैसे ही वेश्या भी प्रेम (रस) से युक्त होती है, संभोग के समय मर्दन करने पर सुख देती है, (गन्ध-द्रव्य लेप के कारण) सुगन्ध से पूर्ण रहती है और बहुत से विटों (वेश्या प्रेमियों = भुजंगो) के द्वारा उपमर्दित होती है ॥ १६ ॥

*५७६ स्वजनों (प्रेमियों) की कामवासना का उपशमन करने वाली, वेश्या की छाती मुझे सुख देगी–यह मत समझो। तुम अपने पतन से जानोगे कि वह शैवाल-लिप्त (काई-लगे हुये) पत्थर के समान है ॥ १७ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

५७७. एक्कं खायइ मडयं अन्नं च कडक्खरक्खियं धरइ ।
अन्नस्स देइ दिट्ठि मसाणसिवसारिसा वेसा ।। १८ ।।
एकं खादति मृतकमन्यं च कटाक्षरक्षितं धारयति ।
अन्यस्य ददाति दृष्टि श्मशानशिवासदृशी वेश्या ।।

५७८. गहिऊण सयलगथं मोक्खं झायंति तग्गयमणाओ ।
वेसा मुणिसारिच्छा निच्चं चिय कवलियाहत्था ।। १९ ।।
गृहीत्वा सकलग्रन्थं मोक्षं ध्यायन्ति तद्गतमनसः ।
वेश्या मुनिसदृक्षा नित्यमेव कवलित (कपालिका) हस्ताः ।।

६०. किविणवज्जा [कृपणपद्धतिः]

*५७९ न हु कस्स वि देंति धणं अन्नं देतं पि तह निवारंति ।
अत्था कि किविणत्था सत्थावत्था सुयंति व्व ।। १ ।।
न खलु कस्यापि ददति धनमन्यं ददतमपि तथा निवारयन्ति ।
अर्थाः किं कृपणस्थाः स्वस्थावस्थाः स्वपन्तीव ।।

५८०. निहणंति धणं धरणीयलम्मि इय जाणिऊण किविणजणा ।
पायाले गतव्व ता गच्छउ अग्गठाण पि ।। २ ।।
निखनन्ति धनं धरणीतल इति ज्ञात्वा कृपणजनाः ।
पाताले गन्तव्यं तद्गच्छत्वग्रस्थानमपि ।।

५८१. करिणो हरिणहरवियारियस्स दीसंति मोत्तिया कुंभे ।
किविणाण नवरि मरणे पयड च्चिय हुंति भंडारा ।। ३ ।।
करिणो हरिनखरविदारितस्य दृश्यन्ते मौक्तिकानि कुम्भे ।
कृपणानां केवलं मरणे प्रकटान्येव भवन्ति भाण्डागाराणि ।।

५८२. परिमुसइ करयलेण वि पेच्छइ अच्छीहि तं सया किविणो ।
आलिहियभित्तिबाउल्लयं व न हु भुंजिउं तरइ ।। ४ ।।
परिमृशति करतलेनापि पश्यत्यक्षिभ्यां तत्सदा कृपणः ।
आलिखितभित्तिपञ्चालिकामिव न खलु भोक्तुं शक्नोति ।।

५७७. वेश्या उस श्मशान की शृगाली के समान है जो एक मृतक को खाती है, दूसरे को कटाक्ष से सुरक्षित रखती है और तीसरे पर दृष्टि रखती है ॥ १८ ॥

५७८. जैसे मुनिजन संपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन कर तल्लीन होकर मोक्ष का ध्यान (चिन्तन) करते है और हाथ मे भिक्षापात्र (या कवलिया = ज्ञानोपकरण विशेष) धारण करते है, वैसे ही वेश्या सम्पूर्ण धन लेकर, निर्धन विट से कब छुट्टी मिलेगी—यह सोचती रहती है और उसके हाथ मे जो कुछ भी ग्रास आ जाय, उसे कवलित करने के लिए ही सदा उद्यत रहती है ॥ १९ ॥

६०—किविण-वज्जा (कृपण-पद्धति)

*५७९. कृपण किसी को धन नही देते और ,अन्य देते हुए मनुष्य को रोक देते है। क्या उनके धन (अर्थ) शास्त्र में अवस्थित ज्ञानतत्त्व (अर्थ = प्रतिपाद्य, अभिधेय) के समान सुने जाते हैं ? ॥ १ ॥

५८०. कृपण-जन यह जान कर पृथ्वी में अपना धन गाड़ देते हैं कि हमे (एक दिन) रसातल मे जाना ही है तो आधारभूत धन भी जाय (या पहले से ही प्रस्थान[1] रख दिया जाय) ॥ २ ॥

५८१. गजराजों के कुभस्थल को जब सिंह विदीर्ण कर देता है, तब उन मे (भी) मुक्ताफल दिखाई पड़ता है, परन्तु कृपणों के भण्डार तो केवल मरने पर ही प्रकट होते है ॥ ३ ॥

५८२. कृपण धन को सदा हाथों से छूता है, आँखों से देखता भी है, परन्तु भित्ति पर अंकित चित्रपुत्तलिका के समान उसका उपभोग नहीं कर सकता है ॥ ४ ॥

---

१ आवश्यक-यात्रा के लिये शुभ मुहूर्त में घर के बाहर रखी हुई वस्तु।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

५८३. पुच्छिज्जंता नियपरियणेण पयडंति नेय तं अत्थं ।
संतं पि धणं नत्थि त्ति जे भणंति ते महाधीरा ।। ५ ।।
पृच्छ्यमाना निजपरिजनेन प्रकटयन्ति नैव तमर्थम् ।
सदपि धनं नास्तीति ये भणन्ति ते महाधीराः ।।

५८४. अत्थं धरंति वियला देंति पूयंति सयलभूयाइं ।
पुण्णक्खएण झिज्जइ न संपया चायभोएण ।। ६ ।।
अर्थं धरन्ति विकला न ददति पूजयन्ति सकलभूतानि ।
पुण्यक्षयेण क्षीयते न संपत् त्यागभोगाभ्याम् ।।

*५८५. देमि न कस्स वि जंपइ उद्दारजणस्स विविहरयणाइं ।
चाएण विणा वि नरो पुणो वि लच्छीइ पम्मुक्को ।। ७ ।।
ददामि न कस्यापि वदति उदारजनस्य विविधरत्नानि ।
त्यागेन विनापि नरः पुनरपि लक्ष्म्या प्रमुक्तः ।।

६१. उड्डवज्जा [कूपखनकपद्धतिः]

५८६. छुहइ दढं कुद्दालं अइगमणे आउलं व पेल्लेइ ।
विलिहइ दो वि तडीओ आणइ हियपाणियं उड्डो ।। १ ।।
क्षिपति दृढं कुद्दालमतिगमन आकुलमिव प्रेरयति ।
विलिखति द्वे अपि तट्यावानयति हृदयेप्सितपानीयं खनकः ।।

*५८७. सिरजाणुए निउत्तो उड्डो हत्थेण खणणकुसलेण ।
कुद्दालेण य रहियं कह उड्डो आणए उययं ।। २ ।।
शिरोजानुके नियुक्तः खनको हस्तेन खननकुशलेन ।
कुद्दालेन च रहितं कथं खनक आनयत्युदकम् ।।

५८८. निद्दयकुद्दालयमज्झ बहुलुच्छलंतजलसोत्तं ।
उड्डो लद्धप्फरिसो भरियं पि न मेल्लए वाविं ।। ३ ।।
निर्दयकुद्दालकमध्यबहुलोच्छलज्जलस्रोतसम् ।
खनको लब्धस्पर्शो भृतामपि न त्यजति वापीम् ।।

५८३. जो अपने परिजनों के पूछने पर धन को प्रकट नहीं करते तथा रहने पर भी 'नहीं है'—कहते हैं, वे महान् धैर्यशाली हैं ? ॥ ५ ॥

५८४. कृपण विकल होकर धन जोड़ते रहते हैं, किसी को देते नहीं हैं। (उसकी रक्षा के लिये) सभी भूतों की पूजा करते रहते हैं। उन की संपत्ति पुण्यक्षीण होने से नष्ट होती है, त्याग और भोग से नही ॥ ६ ॥

*५८५. कृपण कहता है—मै किसी भी उदार (सत्पात्र) व्यक्ति को विविध रत्न नही देता हूँ। परन्तु दान के बिना भी मनुष्य को लक्ष्मी छोड़ देती है ॥ ७ ॥

६१—उड्डु-वज्जा (कूपखनक-पद्धति)

प्रतीक परिचय—

उड्डु (कूप खनक) = मैथुनकर्ता
कुद्दाल (कुदाल) = लिंग
पानी = रस या वीर्य
खनन = संभोग
वापी (बावली) = योनि
वसुधा (भूमि) = सरस महिला
वडवा (घोड़ी) = नीरस नारी

५८६. कूप-खनक (कुआँ खोदने वाला) दृढ़तापूर्वक कुदाल चलाता है, गहराई मे जाने के लिए व्यग्र सा हो कर उसे धँसाता है, दोनों किनारो को काटता है और हितकारक (या गया हुआ) पानी ला देता है[1] ॥ १ ॥

*५८७. खनन कुशल हाथों-द्वारा सिर और जानुओं में जुड़ा हुआ कूपखनक कुदाल से (भूमि मे) अविद्यमान (रहित) जल कैसे लाये (कैसे निकाले) ? ॥ २ ॥

५८८. सुदृढ कुदाल के आघात से जिस के मध्य में प्रचुरजल-स्रोत छलक रहा है, उस भरी हुई बावली को भी, वह खनक (खोदने वाला) स्पर्श पाकर नही छोड़ रहा है ॥ ३ ॥

१. मूल में हियपाणियं शब्द है। संस्कृत टीकाकार रत्नदेव ने उसका अर्थ 'हृदयेप्सितं पानीयम्' लिखा है। मैंने मूल प्राकृत की छाया 'हित-पानीयम्' की है। हित का अर्थ है—गया हुआ या हितकारक। हितं पथ्ये गते धृते। —मेदिनी

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

५८९. कुद्दालघायघणताडणेण पज्झरइ वसुहृ न हु चोज्जं ।
सो उड्डो जस्स वि दसंणेण वडवा जलं देइ ॥ ४ ॥
कुद्दालघातघनताडनेन प्रक्षरति वसुधा न खल्वाश्चर्यम् ।
स खनको यस्य दर्शनेन वडवा जलं ददाति ॥

६२. कण्हवज्जा [कृष्णपद्धतिः]

५९०. 'कुसलं राहे' 'सुहिओ सि कस' 'कंसो कहिं' 'कहिं राहा' ।
इय बालियाइ भणिए विलक्खहसिरं हरिं नमह ॥ १ ॥
'कुशलं राधे' 'सुखितोऽसि कंस' 'कंसः क्व' 'क्व राधा' ।
इति बालिकया भणिते विलक्षहसनशीलं हरिं नमत ॥

५९१. तं नमह जस्स गोट्ठे मयणाणलतावियाउ गोवीओ ।
पायडकंठग्गहमग्गिरीउ रिट्ठं पसंसंति ॥ २ ॥
तं नमन यस्य गोष्ठे मदनानलतापिता गोप्यः ।
प्रकटकण्ठग्रहमार्गणशीला अरिष्टं प्रशंसन्ति ॥

५९२. कण्हो जयइ जुवाणो राहा उम्मत्तजोव्वणा जयइ ।
जउणा बहुलतरंगा ते दियहा तेत्तिय च्चेव ॥ ३ ॥
कृष्णो जयति युवा राधोन्मत्तयौवना जयति ।
यमुना बहुलतरङ्गा ते दिवसस्तावन्त एव ॥

५९३. तिहुयणणमिओ वि हरी निवडइ गोवालियाइ चलणेसु ।
सच्चं चिय नेहणिरंधलेहि दोसा न दीसंति ॥ ४ ॥
त्रिभुवननमितोऽपि हरिर्निपतति गोपालिकायाश्चरणयोः ।
सत्यमेव स्नेहान्धैर्दोषा न दृश्यन्ते ॥

५९४. कण्हो कण्हो निसि चंदवज्जिया निबिडवेडिसा जउणा ।
भमरी होहिसि जइ, लहसि पुत्ति वयणस्स गंधेण ॥ ६ ॥
कृष्णः कृष्णो निशा चन्द्रवर्जिता निबिडवेतसा यमुना ।
भ्रमरी भविष्यसि यदि, लभसे पुत्रि वदनस्य गन्धेन ॥

५८९. कुदाल का भारी आघात करने पर पृथ्वी जल-क्षरण करने लगती है—यह कोई आश्चर्य नही है। खनक वह है, जिसके दर्शन से घोड़ी पानी देने लगती है ॥ ४ ॥

६२—कण्हवज्जा (कृष्ण-पद्धति)

५९०. राधे ! क्या कुशल है ? कंस ! क्या तुम सुखी हो ? कंस कहाँ है ? राधा कहाँ है ? इस प्रकार गोप-बालिका से संवाद होने पर लजा कर हँसने वाले कृष्ण को नमस्कार करो ॥ १ ॥

(गोत्र-स्खलन से कुपित किसी गोपी और कृष्ण का संवाद है)

५९१. गोष्ठ मे सबकी आंखो के सामने जिसका आलिंगन चाहने वाली मदनानलतप्त गोपियाँ अरिष्टासुर की प्रशंसा करती है, उस कृष्ण को प्रणाम करो ॥ २ ॥

५९२. नवयुवक कृष्ण की जय हो (या वे विजयी हों)। उन्मत्त यौवना राधा की जय हो। तरंग बहुला यमुना की जय हो। वे दिन कभी थे, अब नही है ॥ ३ ॥

५९३. कृष्ण त्रिभुवन वन्दित हो कर भी गोपी के चरणों पर गिर पड़ते है। सत्य है, प्रेमान्धों को दोष नही दिखाई देते ॥ ४ ॥

५९४. पुत्रि ! कृष्ण श्याम-वर्ण है। रात अँन्धेरी है (चन्द्र-वर्जित)। यमुना के तट पर घने बेत है। यदि भ्रमरी बन जाओ, तो मुँह की महँक से उन्हें पा जाओगी ॥ ५ ॥

५९५. केसिवियारणरुहिरुल्लकुप्परुग्घसणलंछणग्घवियं ।
न मुएइ कण्ह जुण्णं पि कंचुयं अज्ज वि विसाहा ॥ ६ ॥

केशिविदारणरुधिरार्द्रकूर्परोद्धर्षणलाञ्छनार्घितम् ।
न मुञ्चति कृष्ण जीर्णमपि कञ्चुकमद्यापि विशाखा ॥

५९६. राहाइ कवोलतलुच्छलंतजोण्हाणिवायधवलंगो ।
रइरहसवावडाए धवलो आलिंगिओ कण्हो ॥ ७ ॥

राधया कपोलतलोच्छलज्ज्योत्स्नानिपातधवलाङ्गः ।
रतिरभसव्यापृतया धवल आलिङ्गितः कृष्णः ॥

५९७. धवलं धवलच्छीए महुरं महुराउरीइ मज्झम्मि ।
तक्कं विक्कंतीए कण्हो कण्हो त्ति वाहरिओ ॥ ८ ॥

धवलं धवलाक्ष्या मधुर मथुरापुर्या मध्ये ।
तक्रं विक्रीणत्या कृष्णः कृष्ण इति व्याहृतम् ॥

*५९८. सच्चं चेय भुयंगी विसाहिया कण्ह तण्हहा होइ ।
सते वि विणयतणए जीए धुम्माविओ तं सि ॥ ९ ॥

सत्यमेव भुजङ्गी विशाखा कृष्ण तृष्णका भवति ।
सत्यपि विनतातनये यया घूर्णितस्त्वमसि ॥

५९९. केसव पुराणपुरिसो सच्चं चिय तं सि जं जणो भणइ ।
जेणं विसाहियाए भमसि सया हत्थलग्गाए ॥ १० ॥

केशव पुराणपुरुषः सत्यमेव त्वमसि यज्जनो भणति ।
येन विशाखया भ्रमसि सदा हस्तलग्नया ॥

*६००. किसिओ मि कीस केसव किं न कओ धन्नसंगहो मूढ ।
कत्तो मणपरिओसो विसाहियं भुंजमाणस्स ॥ ११ ॥

कृशितोऽस्मि कस्मात्केशव किं न कृतो धन्यासंग्रहो (धान्यसंग्रहो) मूढ ।
कुतो मनः परितोषो विशाखिकां (विषाधिकं) भुञ्जानस्य ॥

५९५. * हे कृष्ण ! आज भी विशाखा (गोपी विशेष) उस कंचुक को जीर्ण हो जाने पर भी नहीं छोड़ रही है, जो केशी का वध करते समय रुधिरार्द्र कूर्पर (केहुँनी) को पोंछने से उत्पन्न धब्बों के कारण बहुमूल्य बन गया है ॥ ६ ॥

५९६. जिन के अंग (राधा के) कपोलों से छलकते ज्योत्स्ना-प्रवाह से श्वेत हो चुके थे, उन श्वेतांग कृष्ण का, रतिरस मे लीन राधा ने आलिंगन कर लिया ॥ ७ ॥

५९७. मथुरापुरी के मध्य में मधुर और श्वेत मट्ठा बेचती हुई कोई धवलाक्षी कृष्ण-कृष्ण[1] (काला-काला) कह पड़ी ॥ ८ ॥

*५९८. केशव ! जिसने गरुड के रहने पर भी तुम को (स्थान-स्थान पर) घुमा दिया[2] (पक्षान्तर मे, जिस के कारण तुम्हें चक्कर आ गया), वह विशाखा (गोपी विशेष) सचमुच ही अधिक विष वाली तृष्णावती भुजंगी (सर्पिणी और स्वैरिणी) है ॥ ९ ॥

५९९. केशव ! जैसा लोग तुम्हें कहते है, सचमुच (तुम) पुराण-पुरुष (ईश्वर और वृद्ध पुरुष) हो, क्योंकि सदा हाथ मे लगी हुई विशाखा (एक गोपी और लाठी या बैसाखी) के साथ चलते हो ॥ १० ॥

*६००. कृष्ण तुम दुर्बल क्यों हो ? अरे मूढ ! तुमने धान्यसंग्रह क्यों नहीं किया ? जो अपरिपक्व (कच्चा) भोजन करता है, उसके मन को कैसे सन्तोष मिल सकता है ? ॥ ११ ॥

शृङ्गार पक्ष—कृष्ण ! तुम आकर्षित क्यों हो गये ? अरे मूढ ! तुमने सुन्दर रमणी को क्यो नहीं ग्रहण कर लिया ? जो विशाखा के साथ संभोग करता है, उसे सन्तोष कैसे हो सकता है ?

---

१. कृष्ण का अर्थ = कालारंग और श्रीकृष्ण यहाँ दोनों ग्राह्य हैं ।

२. मूल में घुम्माविअ पाठ है । अभिप्राय यह है कि जिसने अपने प्रेम में तुम्हें इधर-उधर घूमने के लिये विवश कर दिया है ।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

६०१. विहडउ मंडलिबंधो भज्जउ रासो न मुच्चए कण्ह ।
नवसियसएहि लद्धो तुह हत्थो मज्झ हत्थेण ॥ १२ ॥
विघटतां मण्डलीबन्धो भज्यतां रासो न मुच्यते कृष्ण ।
उपयाचितकशतैर्लब्धस्तव हस्तो मम हस्तेन ॥

६०२. कण्हो देवो देवा वि पत्थरा सुयणु निम्मविज्जंति ।
अंसूहि न मउइज्जंति पत्थरा किं व रुण्णेण ॥ १३ ॥
कृष्णो देवो देवा अपि प्रस्तराः सुतनु निर्माप्यन्ते ।
अश्रुभिर्न मृदूक्रियन्ते प्रस्तरा किं वा रुदितेन ॥

६०३. महुरारज्जे वि हरी न मुयइ गोवालियाण तं पेम्मं ।
खंडंति न सप्पुरिसा पणयपरूढाइं पेम्माइं ॥ १४ ॥
मथुराराज्येऽपि हरिर्न मुञ्चति गोपालिकानां तत्प्रेम ।
खण्डयन्ति न सत्पुरुषाः प्रणयप्ररूढानि प्रेमाणि ॥

*६०४. सच्चं चिय चवइ जणो अमुणियपरमत्थ नंदगोवालो ।
थणजीवणो सि केसव आभीरो नत्थि संदेहो ॥ १५ ॥
सत्यमेव वदति जनोऽज्ञातपरमार्थो नन्दगोपालः ।
स्तन्यजीवनोऽसि केशवाभीरो नास्ति सदेहः ॥

६०५. संभरसि कण्ह कालिंदिमज्जणे मह कडिल्लपगुरणं ।
एण्हि महुरारज्जे आलवणस्सावि संदेहो ॥ १६ ॥
संस्मरसि कृष्ण कालिन्दीमज्जने मम कटीवस्त्रप्रावरणम् ।
इदानी मथुराराज्य आलपनस्यापि संदेहः ॥

६३. रुद्दवज्जा [रुद्रपद्धतिः]

६०६. रइकलहकुवियगोरीचलणाहयणिवडिए जडाजूडे ।
निवडंतचंदरुंभणविलोलहत्थं हरं नमह ॥ १ ॥
रतिकलहकुपितगौरीचरणाहतनिपतिते जटाजूटे ।
निपतच्चन्द्ररोधनविलोलहस्तं हरं नमत ॥

६०१. भले ही मण्डली विघटित हो जाय, भले ही रासलीला भंग हो जाय, परन्तु कृष्ण ! तुम्हारा हाथ मेरे हाथ में है, छोड़ूंगी नहीं, क्योंकि वह मुझे बहुत मनौतियों से प्राप्त हुआ है ॥ १२ ॥

६०२. सुन्दरि ! कृष्ण देवता हैं, और देवता भी पत्थर से निर्मित होते हैं। पत्थर आँसुओं से नहीं पसीजते (कोमल नहीं होते), तब तुम क्यों रो रही हो ? ॥ १३ ॥

६०३. मथुरा का राज्य पाकर भी कृष्ण गोपियों का वह प्रगाढ प्रेम नही छोड़ते हैं। सत्पुरुष विश्वास से उत्पन्न प्रेम नहीं तोड़ते हैं ॥ १४ ॥

*६०४. केशव ! लोग सत्य ही कहते हैं, उत्कृष्ट धन को न जानने वाले तुम नन्द के चरवाहे (गोपाल) एवं क्षीरजीवी अहीर हो—इसमें सन्देह नही है ॥ १५ ॥

शृंगार पक्ष—केशव ! लोग सत्य ही कहते हैं, अन्तिम प्रयोजन (भोग) को न जाननेवाले तुम नन्द के चरवाहे एवं स्तन से जीवित रहनेवाले (स्तन मर्दन से ही सन्तुष्ट हो जानेवाले) अहीर (मूर्ख) हो—इसमें सन्देह नही है।

६०५. कृष्ण ! यमुना में स्नान के समय तुमने मेरा कटिवस्त्र पहन लिया था—क्या वह याद है ? इस समय मथुरा के राज्य में तो मिलने पर बात भी करने में सन्देह है ॥ १६ ॥

६३—रुद्र-वज्जा (रुद्र-पद्धति)

६०६. रति-कलह में कुपित गौरी के पदाघात से जटाजूट छूट जाने पर जिनका हाथ गिरते हुए चन्द्रमा को सँभालने (रोकने) के लिये चंचल हो उठा था, उन शिव को प्रणाम करो ॥ १ ॥

*विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

६०७. परिहासवासछोडणकरकिसलयरुद्धणयणजुयलस्स ।
रुद्दस्स तइयणयणं पव्वइपरिचुंबियं जयइ ॥ २ ॥
परिहासवासोमोचनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥

६०८. संझासमए परिकुवियगोरियामुद्दविहडणं विउलं ।
अद्धुम्मिल्लपलोयंत लोयण तं हरं नमह ॥ ३ ॥
सन्ध्यासमये परिकुपितगौरीमुद्राविघटनं विपुलम् ।
अर्धोन्मीलप्रलोकयल्लोचनं तं हर नमत ॥

*६०९. चंदाहयपडिबिंबाइ जाइ मुक्कट्टहासभीयाए ।
गोरीइ माणविहडणघडंतदेह हरं नमह ॥ ४ ॥
चन्द्राहतप्रतिबिम्बाया यस्या जातिमुक्ताट्टहासभीतायाः ।
गौर्या मानविघटनघटमानदेहं हरं नमत ॥

*६१०. नमिऊण गोरिवयणस्स पल्लवं ललियकमलसरभमरं ।
कयरइमयरंदकलं ललियमुहं तं हर नमह ॥ ५ ॥
नत्वा गौरीवदनस्य पल्लवं ललितकमलसरोभ्रमरम् ।
कृतरतिमकरन्दकलं ललितमुखं तं हरं नमत ॥

६४. हियालीवज्जा [हृदयवतीपद्धतिः]

६११. विवरीयरया लच्छी बंभं दट्ठूण नाहिकमलत्थं ।
हरिणो दाहिणणयणं रसाउला कीस झपेइ ॥ १ ॥
विपरीतरता लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला कस्मात्पिदधाति ॥

६१२. ढक्कसि हत्थेण मुहं जं जंपसि अणिमिस पलोयंतो ।
हसिरं च वहसि वयणं तुह नाह न निव्वुया दिट्ठी ॥ २ ॥
छादयसि हस्तेन मुखं यज्जल्पस्यनिमिषं प्रलोकयन् ।
हसनशीलं च वहसि वदनं तव नाथ न निर्वृता दृष्टिः ॥

६०७. रति-समय परिहास में वस्त्र उतार लिये जाने पर लज्जावती पार्वती ने अपने पाणि-पल्लवों से शिव के दोनों नेत्रों को ढँक कर तृतीय नेत्र को चूम लिया था, उसे नमस्कार कर लो ॥ २ ॥

६०८. आधी खुली और आधी बन्द आँखों से देखने वाले उन शिव को प्रणाम करो, जिन्होंने सन्ध्या (पूजा) करते समय कुपित गौरी की मुख-मुद्रा (मौन) तोड़ दी थी ॥ ३ ॥

(कोप का कारण सन्ध्या सपत्नी में अनुरक्ति और मौन-भंग का कारण साभिलाष निरीक्षण है)

*६०९ जो चमेली (जाति) के पुष्प के समान (शिव के) उन्मुक्त अट्टहास से भीत हो चुकी थी तथा जिनका प्रतिबिम्ब (ललाटस्थ) चन्द्रमा में पड़ रहा था, उन गौरी के मानापनयन मे जिनका शरीर व्यापृत (संलग्न) है, उन शिव को प्रणाम करो ॥ ४ ॥

*६१० गौरी के अधरों को प्रणाम करके उन ललित मुख (सुन्दर मुखवाले) शिव को प्रणाम करो, जो लावण्य युक्त मुख रूपी कमल के निकट (चुम्बनार्थ) जाने वाले भ्रमर हैं और जिन्होंने रतिरस की कला का अभ्यास किया है ॥ ५ ॥

६४—हियालीवज्जा (हृदयवती-पद्धति)

६११ विपरीत रति के समय सानुरागा लक्ष्मी ने (विष्णु के) नाभि-कमल मे स्थित ब्रह्मा को देख कर विष्णु का दाहिना नेत्र क्यो ढँक दिया ? ॥ १ ॥

(विष्णु का दाहिना नेत्र सूर्य है। उसके ढँक जाने पर रात हो जायगी और नाभिकमल संकुचित हो जायगा, फलतः ब्रह्मा उसी में भँवरे के समान बन्द हो जायँगे। इस प्रकार अन्य पुरुष से लजाने की स्थिति समान हो जायगी और रति-क्रीडा निर्बाध चलती रहेगी)

६१२. नाथ ! तुम्हारी दृष्टि स्वस्थ (या शान्त) नहीं है, क्योंकि हाथ से मुँह ढँक रहे हो, एकटक देखते हुए बातें कर रहे हो और हँसने वाला मुख धारण कर रहे हो, (अर्थात् तुम्हे कोई रोग हो गया है) ॥ २ ॥

(अपराधी नायक दन्त-क्षत को छिपाने के लिए मुँह ढँक रहा है, पलकों में लगी अंजन रेखा या लाक्षारस को छिपाने के लिए एकटक देख रहा है, नायिका को संतुष्ट रखने के लिए हँस रहा है और रात्रि जागरण के कारण दृष्टि स्वस्थ नही है)

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

६१३. जइ सा सहीहि भणिया तुज्झ मुहं पुण्णचंदसारिच्छं ।
ता कीस मुद्धडमुही करेण गंडत्थलं पुसइ ॥ ३ ॥

यदि सा सखीभिर्भणिता तव मुखं पूर्णचन्द्रसदृक्षम् ।
तत् कस्मान्मुग्धमुखी करेण गण्डस्थलं प्रोञ्छति ॥

६१४. अच्छीहि पइं सिहिणेहि दियवरं गुरुयणं नियंबेण ।
तिन्नि वि जूरेइ वहू न याणिमो केण कज्जेण ॥ ४ ॥

अक्षिभ्यां पतिं स्तनाभ्यां द्विजवरं गुरुजनं नितम्बेन ।
त्रीण्यपि निन्दति वधूर्न जानीमः केन कार्येण ॥

६१५. जइ सा पइणा भणिया तिलयं विरएमि अत्तणो
(?अत्तणा) तुज्झ ।
ता कीस मुद्धडमुही हसिऊण परम्मुही ठाइ ॥ ५ ॥

यदि सा पत्या भणिता तिलकं विरचयाम्यात्मनस्तव
(विरचयाम्यात्मना तव) ।
तत् कस्मान्मुग्धमुखी हसित्वा पराङ्मुखी तिष्ठति ॥

६१६. हियए रोसुग्गिण्णं पायपहारं सिरम्मि पत्थंतो ।
तह उ त्ति पिओ माणंसिणीइ थोरंसुअं रुण्णं ॥ ६ ॥

हृदये रोषोद्गीर्णं पादप्रहारं शिरसि प्रार्थयमानः ।
तथैवेति प्रियो मनस्विन्या स्थूलाश्रुकं रुदितम् ॥

६१७. तं दट्ठूण जुवाणं परियणमज्झम्मि पोढमहिलाए ।
उप्फुल्लदलं कमलं करेण मउलाइयं कीस ॥७॥

तं दृष्ट्वा युवानं परिजनमध्ये प्रौढमहिलया ।
उत्फुल्लदलं कमलं करेण मुकुलीकृतं कस्मात् ॥

६१३. यदि सखियों ने कह दिया कि तुम्हारा मुख पूर्णचन्द्र के समान है तो भोले मुख वाली सुन्दरी हाथ से कपोल क्यों पोछ रही है ॥ ३ ॥

नायिका ने समझा कि कही मेरे कपोलों में धब्बा तो नहीं पड़ा है, अन्यथा वह कलकी चन्द्रमा के समान कैसे हो सकता है ?)

६१४. बहू तीनो की निन्दा कर रही है (या तीनों पर क्रोध कर रही है)—आँखों से पति की, स्तनों से पूज्य ब्राह्मण की और नितम्बों से गुरुजन की। किसलिये ? हम नही जानते ॥ ४ ॥

(लज्जाशील पति नवागता वधू के निकट देर तक नहीं ठहरता, अत उसे देर तक जी भर देखने के लिए तरसती आँखो से उसकी निन्दा करती है। स्थूल स्तनों के द्वारा वक्षःस्थल निरुद्ध हो जाने के कारण नमस्कार सूचित करने के लिये भी थोड़ा सा सिर नही झुका सकती, अतः ब्राह्मण की निन्दा करती है। नितम्बों के भारी होने के कारण गुरुजनों की सेवा मे विलम्ब हो जाता था, अतः उनकी भी निन्दा करती है)

६१५ यदि पति ने कहा कि लाओ, मैं तुम्हारे तिलक रच दूँ, तो वह मुग्धा क्यों हँस कर पराङ्मुख हो गई ? ॥ ५ ॥

(ऋतुमती नायिका ने समझा कि तिलक के व्याज से कही प्रिय मेरा मुख न चूम ले। अतः उसने पराङ्मुख होकर अपना रुधिराक्त वस्त्र दिखला दिया)

६१६. जब हृदय पर प्रहार करने के लिये क्रोधपूर्वक चरण उठाया तब पति ने प्रार्थना की—मेरे सिर पर मारो। उस समय 'मैने जैसा समझा था मेरा पति वैसा ही है'—यह कहती हुई वह मनस्विनी बड़े-बड़े आँसू गिराती हुई रो पडी ॥ ६ ॥

(नायिका ने समझ लिया कि अवश्य इसके हृदय में कोई अन्य प्रिया बसी है, जिसे बचाने के लिये मेरे चरण-प्रहार को सिर पर झेलना चाहता है)

६१७. प्रौढ़ महिला ने उस युवक को परिजनों के बीच में देख कर खिली हुई पंखड़ियों वाले कमल को हाथ से मुकुलित क्यों कर दिया ? ॥ ७ ॥

(वह सबके समक्ष अपने प्रेमी से कुछ नहीं कह सकती थी। अतः उसने कमल को मुकुलित करके यह संकेत किया कि सूर्यास्त होने पर तुम आ जाना)

६१८. हंतूण वरगइंदं वाहो एक्केण नवरि बाणेण ।
धुवइ सरं पियइ जलं तं जाणह केण कज्जेण ॥८॥

हत्वा वरगजेन्द्रं व्याध एकेन केवलं बाणेन ।
धावति शरं पिबति जलं तज्जानीत केन कार्येण ॥

६१९. कुंकुमकयंगराय पडिहत्थपओहरी कुरंगच्छी ।
सयणम्मि नावगूहइ रमणं भण केण कज्जेण ॥९॥

कुङ्कुमकृताङ्गरागं परिपूर्णपयोधरा कुरङ्गाक्षी ।
शयने नावगूहति रमण भण केन कार्येण ॥

६२०. सालत्तयं पयं ऊरुएसु तह कज्जलं च चलणेसु ।
पट्ठीइ तिलयमालं वहंत कह से रयं पत्तो ॥१०॥

सालक्तकं पदमूर्वोस्तथा कज्जलं च चरणयोः ।
पृष्ठे तिलकमाला वहन् कथं तस्या रतं प्राप्तः ॥

६२१. अहिणवपेम्मसमागमजोव्वणरिद्धीवसंतमासम्मि ।
पवसंतस्स वि पइणो भण कीस पलोइयं सीसं ॥११॥

अभिनवप्रेमसमागमयौवनर्द्धिवसन्तमासे ।
प्रवसतोऽपि पत्युर्भण कस्मात् प्रलोकितं शीर्षम् ॥

६२२. जइ देवरेण भणिया खग्गं घेत्तूण राउले वच्च ।
ता कीस मुद्धडमुही हसिऊण पलोअए सेज्जं ॥१२॥

यदि देवरेण भणिता, खड्गं गृहीत्वा राजकुले व्रज ।
तत् कस्मान्मुग्धमुखी हसित्वा प्रलोकयति शय्याम् ॥

६१८. व्याध श्रेष्ठ गजेन्द्र को केवल एक बाण से मार डालता है और बाण को धोकर वही पानी पी जाता है। जानते हो, ऐसा वह क्यों करता है ? ॥ ८ ॥
(कही कोई यह न समझ ले कि मेरा बाण विष में डूबोया हुआ था। मैंने गजराज का वध अपने पराक्रम से किया है, विष की सहायता से नही। यदि उसमे विष होता तो मै धोकर पीता क्यों ? और पीकर जीवित ही कैसे रहता ?)

६१९. शय्या पर परिपूर्ण पयोधरा कुरंगाक्षी ने उस पति का—जिसने कुंकुम का अंगराग लगाया था—आलिंगन नही किया। बताओ उसने ऐसा किसलिये किया ? ॥ ९ ॥
(कुंकुम का अंगराग भी हम दोनों के बीच रहने पर स्पर्श-सुख का बाधक[1] है, यह सोचकर नायिका ने आलिंगन नही किया)

६२०. अरे, तुमने उसके साथ कैसा रमण किया है कि जाँघों पर महावर लगे पैरों के चिह्न है, चरणों में कज्जल लगा है और पीठ पर तिलको की पंक्तियाँ पड़ी है ? ॥ १० ॥
(इन चिह्नो से नायक का रति के सभी आसनों मे नैपुण्य सूचित होता है)

६२१. बताओ, नायिका ने अभिनव प्रेम, समागम, यौवन, समृद्धि और वसन्त मास के रहने पर भी प्रवासो होने वाले पति का शिर क्यों देखा ? ॥ ११ ॥
(इन दुर्लभ पदार्थों के रहने पर भी यह परदेश जाना चाहता है। अतएव सचमुच बैल है। कही सीग तो नही निकल आई है—यह सोच कर उसका शिर देखने लगी)

६२२. जब देवर ने कहा कि तलवार लेकर राज-कुल में जाओ, तब मुग्धमुखी भाभी ने हँसकर सेज की ओर क्यों देखा ? ॥ १२ ॥
(जब देवर ने भाभी से कहा कि मेरे भाई के स्थान पर राज-सेवा के लिये तुम जाओ, तब उसने सोचा कि शायद देवर ने सेज पर अंकित लाक्षा-रस-रंजित चरणों के लांछन देखकर गत रात्रि में होने वाली मेरी विपरीत रति को ताड़ लिया है। अतः उसका अभिप्राय है कि तुम रात में मेरे भाई का काम करती हो, तो दिन मे भी करो। भाभी के शय्या की ओर देखने का यही रहस्य है)

१. साध करि हार गले ना परिनू आमि।
हार अन्तराल पाछे रन रघुमनि ॥ —बंगकवि कृत्तिवास

६२३. जइ सासुयाइ भणिया पियवसहि पुत्ति दीवयं देहि ।
ता कीस मुद्धडमुही हसिऊण पलोयए हिययं ॥१३॥
यदि श्वश्वा भणिता प्रियवसतौ पुत्रि दीपकं देहि ।
तत् कस्मान्मुग्धमुखी हसित्वा प्रलोकयति हृदयम् ॥

६२४. जइ सा सहीहि भणिया तुज्झ पई सुन्नदेउलसमाणो ।
ता कीस मुद्धडमुही अहिययरं गव्वमुव्वहइ ॥१४॥
यदि सा सखीभिर्भणिता तव पतिः शून्यदेवकुलसमानः ।
तत् कस्मान्मुग्धमुखी अधिकतरं गर्वमुद्वहति ॥

६५. ससयवज्जा [शशकपद्धतिः]

६२५. ढुण्ढुल्लंतो रच्छामुहेसु वरमहिलियाण हत्थेसु ।
खंधारहारिससओ व्व पुत्ति दइओ न छुट्टिहिइ ॥१॥
परिभ्रमन् रथ्यामुखेषु वरमहिलानां हस्तेषु ।
स्कन्धावारहारिशशक इव पुत्रि दयितो न मोक्ष्यते ॥

६२६. तिलतुसमेत्तेण वि विप्पिएण तह होइ गरुयसंतावो ।
सुहय विवज्जइ ससओ चम्मच्छेएण वि वराओ ॥२॥
तिलतुषमात्रेणापि विप्रियेण तथा भवति गुरुसंतापः ।
सुभग विपद्यते शशकश्चर्मच्छेदेनापि वराकः ॥

६२७. इह इंदधणू इह मेहगज्जियं इह सिहीण उल्लावो ।
पहिओ हारी ससओ व्व पाउसे कह न भालेइ ॥३॥
इहेन्द्रधनुरिह मेघगर्जितमिह शिखिनामुल्लापः ।
पथिको हारी शशक इव प्रावृषि कथं न पश्यति ॥

*६२८. जा इच्छा का वि मणोपियस्स तग्गय मणम्मि पुच्छामो ।
ससय वहिल्लो सि तुमं जीविज्जइ अन्नहा कत्तो ॥४॥
येच्छा कापि मनःप्रियस्य तद्गतं मनसि पृच्छामः ।
शशक शीघ्रोऽसि त्वं जीव्यतेऽन्यथा कुतः ॥

६२३. जब मास ने कहा कि पुत्रि ! प्रिय के घर में दीपक जला दो, तब भोले मुँह वाली बहू हँस कर अपना हृदय क्यों देखने लगी ? ॥ १३ ॥
(उत्तर—उसके हृदय में ही पति का घर था, वहाँ दीपक कैसे जलाये यह सोचकर उसे हँसी आ गई और अपना हृदय देखने लगी)

६२४ जब सखियों ने कहा—'तुम्हारा प्रिय शून्य देवमन्दिर के समान है, तब मुग्धमुखी नायिका क्यो अधिक गर्ववती हो गई ? ॥ १४ ॥
(उत्तर—उसने समझ लिया कि इन सखियो ने उससे प्रणय-याचना की होगी और उसने सुनी न होगी। अतः उसे अपने प्रिय पर गर्व हो आया)

६५—ससय-वज्जा (शशक-पद्धति[1])

६२५ बेटो ! तुम्हारा प्रिय गलियो के अगले छोर पर सुन्दर महिलाओं के हाथो मे पड़ कर सेना को छावनी मे प्रविष्ट शशक (खरगोश) के समान बच नही पायेगा (छूट नही पायेगा) ॥ १ ॥

६२६ तिल-तुप (तिल का छिलका या भूसी) के बराबर भी (अर्थात् थोड़ा सा भी) अप्रिय (अपराध) हो जाने पर सन्ताप होता है। सुभग ! बेचारा खरगोश चर्मच्छेदन से भी मर जाता है ॥ २ ॥
(खरगोश चर्मछेदन से (चमड़ा कट जाने से) मर जाता है, यह लोक विश्वास है)

६२७ यहाँ इन्द्र-धनुष है, यहाँ मेघ-गर्जना है और यहाँ मयूरों का कोलाहल है। पावस में पथिक, मनोहर शशक के समान (भीत होकर) क्यों नही देखता है ? ॥ ३ ॥
(पावस मे इन्द्र-धनुष मेघ-गर्जन आदि से भीत खरगोश अपना स्थान नही छोडता है)

*६२८. जब प्रिय मन मे आते है (या जब मन प्रिय के निकट जाता है) तब उसी मन मे, उनकी जो कुछ भी इच्छा रहती है, मै पूछ लेती हूँ। (अर्थात् पूर्ण कर देती हूँ) शशक ! (प्रियतम या मन) तुम द्रुतगामी हो, अन्य किस ढंग से जीवित रहा जाय ? (या जीवित रहा जाता है) ॥ ४ ॥

१. इस प्रकरण मे शशक का वर्णन प्रमुख नही है। प्रमुखता प्रणय की है। शशक शब्द प्रिय के प्रतीक के रूप में बार-बार गाथाओं मे आया है।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

६२९. अलिएण व सच्चेण व गेण्हसि नामं पि दड्ढगमणस्स ।
सुहय विवज्जइ ससओ चम्मच्छेएण वि वराओ ॥५॥

अलीकेन वा सत्येन वा गृह्णासि नामापि दग्धगमनस्य ।
सुभग विपद्यते शशकश्चर्मच्छेदेनापि वराकः ॥

६६. वसंतवज्जा [वसन्तपद्धतिः]

६३०. वणयतुरयाहिरूढो अलिउलझंकारतूरणिग्घोसो ।
पत्तो वसंतराओ परहुयवरघुट्ठजयसद्दो ॥१॥

वनकतुरगाधिरूढोऽलिकुलझङ्कारतूर्यनिर्घोष ।
प्राप्तो वसन्तराजः परभृतवरघुष्टजयशब्दः ॥

६३१. परिधूसरा वि सहयारमजरी वहउ मंजरीणामं ।
नीसेसपसूणपरम्मुहं कयं जीइ भमरउलं ॥२॥

परिधूसरापि सहकारमञ्जरी वहतु मञ्जरीनाम् ।
निःशेषप्रसूनपराङ्मुखं कृतं यया भ्रमरकुलम् ॥

६३२. उब्भिज्जइ सहयारो वियसइ कुंदो य वियसइ असोओ ।
सिसिरपरिणामसुहियं उम्मीलं पंकयं सहसा ॥३॥

उद्भिद्यते सहकारो विकसति कुन्दश्च विकसत्यशोकः ।
शिशिरपरिणामसुखितम् उन्मीलितं पङ्कजं सहसा ॥

६३३. रुंदारविंदमंदिरमयरंदाणंदियालिरिंछोली ।
रणझणइ कसणमणिमेहल व्व महुमासलच्छीए ॥४॥

विशालारविन्दमन्दिरमकरन्दानन्दितालिपङ्क्तिः ।
रणझणति कृष्णमणिमेखलेव मधुमासलक्ष्म्याः ॥

*६३४. संधुक्किज्जइ हियए परिमलआणंदियालिमालाहिं ।
उल्लाहि वि दिसिमणिमंजरीहि लोयस्स मयणग्गी ॥५॥

संधुक्ष्यते हृदये परिमलानन्दितालिमालाभिः ।
आर्द्राभिरपि दिङ्मणिमञ्जरीभिर्लोकस्य मदनाग्निः ॥

६२९. झूठ या सच ही मुँहजले प्रवास का भी नाम लेते हो। सुभग ! बेचारा शशक (मन) चमड़ा कट जाने से भी (थोड़े कष्ट से भी) मर जाता है ॥ ५ ॥

६६—वसन्त-वज्जा (वसन्त-पद्धति)

६३०. वन-रूपी तुरंग पर आरूढ होकर वसन्त-रूपी राजा आ गया। भ्रमरों की झंकार तूर्यरव है और कोकिल के शब्दों में जयघोष हो रहा है ॥ १ ॥

६३१. धूसर (मलिन) होने पर भी जिसने भ्रमर-गणों को संपूर्ण प्रसूनों से विमुख कर दिया है, उस सहकार (आम्र) मजरी को (ही) मंजरी नाम धारण करना चाहिये ॥ २ ॥

६३२. सहकार (आम्र) अंकुरित हो गया, अशोक और कुन्द खिल गये और शिशिर के बीतने से सुखी (प्रसन्न) होकर कमल ने सहसा आँखें खोल दी ॥ ३ ॥

६३३. विशाल अरविन्द-मन्दिर में मकरन्द-पान से मुदित भ्रमरों की पंक्ति वसन्त-लक्ष्मी की मरकत-मणि-मेखला के समान झनझना रही है ॥ ४ ॥

*६३४. दिशाओं मे परिमल से भ्रमर-श्रेणियों को आनन्दित करने वाली, (रस से) आर्द्र, मणितुल्य मजरियों से भी लोगों के हृदय में कामाग्नि प्रदीप्त हो उठती है ॥ ५ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

६३५. गहिऊण चूयमंजरि कीरो परिभमइ पत्तलाहत्थो ।
ओसरसु सिसिरणरवर लद्धा पुहवी वसंतेण ॥६॥

गृहीत्वा चूतमञ्जरी कीर परिभ्रमति प्रतीहार ।
अपसर शिशिरनरवर लब्धा पृथिवी वसन्तेन ॥

*६३६. किं करइ तुरियतुरियं अलिउलघणवम्मलो य सहयारो ।
पहियाण विणासासंकिय व्व लच्छी वसंतस्स ॥७॥

किं करोति त्वरितत्वरितमलिकुलघनशब्दश्च सहकार ।
पथिकाना विनाशाशङ्कितेव लक्ष्मीर्वसन्तस्य ॥

६३७. लंकालयाण पुत्तस्य वसतमासम्मि लद्धपसराण ।
आवीयलोहियाणं बीहेइ जणो पलासाणं ॥८॥

लङ्कालयेभ्यः पुत्रक वसन्तमासे (वसान्त्रमासे) लब्धप्रसरेभ्य ।
आपीतलोहितेभ्यो बिभेति जन पलाशेभ्यः ॥

६३८. एक्को च्चिय दुव्विसहो विरहो मारेइ गयवई भीमो ।
कि पुण गहियसिलीमुहसमाहवो फग्गुणो पत्तो ॥९॥

एक एव दुर्विषहो विरहो (विरथो) मारयति गतपतिकाः (गजपतीन्)भीमः।
कि पुनर्गृहीतशिलीमुखसमाधवः फाल्गुन प्राप्तः ॥

६३९. होसइ किल साहारो साहारे अंगणम्मि वड्ढंते ।
पत्ते वसंतमासे वसंतमासाइ सोसेइ ॥१०॥

भविष्यति किल साधारः सहकारेऽङ्गणे वर्धमाने ।
प्राप्ते वसन्तमासे वसान्त्रमासानि शोषयति ॥

*६४०. किंकरि करि म अजुत्तं जणेण जं बालओ त्ति भणिओ सि ।
धवलत्तं देंतो कंटयाण साहाण मलिणत्तं ॥११॥

किंकरि कुरु मायुक्तं जनेन यद्बालक इति भणितोऽसि ।
धवलत्वं ददानः कण्टकाना शाखानां मलिनत्वम् ॥

६३५ आम्रमंजरी को लेकर भ्रमर-रूपी प्रतिहार (द्वारपाल या दरबान) भ्रमण कर रहा है। अरे नरपति शिशिर! हट जाओ, पृथ्वी को वसन्त ने प्राप्त कर लिया है[1] ॥ ६ ॥

*६३६. भ्रमरों के प्रचुर कोलाहल से युक्त (वासन्ती सुषमा का) सहायक (या सहचर) आम्र त्वरित-त्वरित क्या कर रहा है? (अर्थात् निन्दनीय कार्य करने जा रहा है) ऐसा लगता है, मानों पथिकों (विरहियों) के विनाश के लिये वासन्ती सुषमा संभावित है (अर्थात् वसन्त के आने की संभावना है)। ॥ ७ ॥

६३७. पुत्र! जिनका गृह शाखाओं पर है, वसन्त मास मे जिनका प्रसार होता है और जिनका वर्ण पीत और लोहित (लाल) है, उन पलाश-पुष्पों से मनुष्य विरही) डर जाता है ॥ ८ ॥
अन्यार्थ—पुत्र! जिनका गृह लंकापुरी मे है, जो वसा, आँत और मांस से पुष्ट होते हैं और जो रक्त-पान कर चुके है, उन राक्षसों से मनुष्य डर जाता है।

६३८. असह्य एवं भयानक विरह अकेला ही प्रोषितपतिकाओं को मार डालता है। तो फिर क्या भ्रमरों को लेकर चैत के साथ आया हुआ फागुन नहीं मारेगा? ॥ ९ ॥
अन्यार्थ—दुर्निवार्य भीमसेन रथहीन होने पर भी गजपतियो (गजारोहियों या श्रेष्ठ गजों) को अकेले मार डालता है। तो फिर क्या कृष्ण के साथ आया हुआ अर्जुन नही मारेगा?

६३९. (सोचा था) आँगन मे बढता हुआ आम सहारा होगा, परन्तु वसन्त मास आने पर वह वसा, आँत और मास को सुखा रहा है ॥ १० ॥
(आम की मजरियों से विरहोद्दीपन होता है)

*६४०. हे कीकर[2]! कण्टकों को धवलता और शाखाओं को श्यामता (मलिनता) प्रदान करते हुए अनुचित (कार्य) मत करो अर्थात् दुष्टों का हित और सज्जनों का अहित मत करो क्योंकि तुम दोनों कंटकों और शाखाओं के आश्रय (आलय) कहे गये हो ॥ ११ ॥

---

१. यह गाथा कौतूहलकृत लीलावई मे भी पाई जाती है। संभवतः वहीं से संगृहीत हुई हो।
२. बबूल की जाति का वृक्ष।
* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

*६४१. मा रज्ज सुहंजणए सोहंजणए य दिट्ठमत्तम्मि ।
भज्जिहिसिय साहसिया सा हसिया सव्वलोएण॥१२॥
मा रज्य शुभंजनके शोभाञ्जनके च दृष्टमात्रे ।
भङ्क्ष्यस इति साहसिका सा हसिता सर्वलोकेन ॥

६७. गिम्हवज्जा [ग्रीष्मपद्धतिः]

६४२. अवरेण तवइ सूरो सूरेण य ताविया तवइ रेणू ।
सूरेणपरेण पुणो दोहिं पि हु ताविया पुहवी ॥१॥
अपरेण तपति सूर्यः सूर्येण च तापिता तपति रेणुः ।
सूर्येणापरेण पुनर्द्वाभ्यामपि खलु तापिता पृथिवी ॥

६४३. गिम्हे दवग्गिमसिमइलियाइ दीसंति विझसिहराइं ।
आससु पउत्थवइए न हुंति नवपाउसब्भाइं ॥२॥
ग्रीष्मे दवाग्निमषीमलिनीकृतानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि ।
आश्वसिहि प्रोषितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि ॥

६४४. डहिऊण निरवसेसं ससावयं सुक्खरुक्खमारूढो ।
किं सेसं ति दवग्गी पुणो वि रण्णं पलोएइ ॥३॥
दग्ध्वा निरवशेषं सश्वापदं शुष्कवृक्षमारूढः ।
किं शेषमिति दवाग्निः पुनरप्यरण्यं प्रलोकयति ॥

*६४५. मूलाहितो साहाण निग्गमो होइ सयलरुक्खाणं ।
साहाहि मूलबंधो जेहि कओ ते तरू धन्ना ॥४॥
मूलेभ्यः शाखानां निर्गमो भवति सकलवृक्षाणाम् ।
शाखाभिर्मूलबन्धो यैः कृतस्ते तरवो धन्याः ॥

६८. पाउसवज्जा [प्रावृट्पद्धतिः]

६४६. भग्गो गिम्हप्पसरो मेहा गज्जंति लद्धसंमाणा ।
मोरेहि वि उग्घुट्ठं पाउसराया चिरं जयउ ॥१॥
भग्नो ग्रीष्मप्रसरो मेघा गर्जन्ति लब्धसंमानाः ।
मयूरैरप्युद्घुष्टं प्रावृड्राजश्चिरं जयतु ॥

*६४१. सरलता से टूट जाने वाले (या सुख उत्पन्न करने वाले) सहिजन को देखते ही प्रसन्न मत हो जाओ, (गिरकर) टूट जाओगी—इस प्रकार शाखा पर आश्रित (डाल पर चढ़ी) तरुणी सब लोगों के द्वारा हँसी गई ॥ १२ ॥

द्वितीयार्थ—"इस प्रिय दर्शन और अस्थिरप्रणय तरुण को देखते ही अनुरक्त मत हो जाओ, निराश होना पड़ेगा"—इस प्रकार तरुणी लोगों के द्वारा हँसी गई।

६७—गिम्ह-वज्जा (ग्रीष्म-पद्धति)

६४२. ग्रीष्म से सूर्य तप रहा है और सूर्य से रेणु तप रही है। फिर सूर्य और ग्रीष्म (या उत्तरायण) दोनों से पृथ्वी तप गई है ॥ १ ॥

६४३. ग्रीष्म में दवाग्नि की मसि से मलिन विन्ध्य के शिखर दिखाई दे रहे है, प्रोषितपतिके! आश्वस्त हो जाओ, ये वर्षाकाल के नवीन मेघ नही है ॥ २ ॥

६४४. जन्तुओं के साथ सपूर्ण वन को जला कर अग्नि शुष्कवृक्ष पर चढ़ गई। मानो फिर वह देख रही है कि अभी क्या शेष रह गया है ॥ ३ ॥

*६४५. सभी वृक्षों को शाखाएं जड़ो से निकलती हैं, जिन्होंने शाखाओं से ही जड़े पकड़ी है, वे वृक्ष (बरगद) धन्य[1] है ॥ ४ ॥

६८—पाउसवज्जा (प्रावृद्-पद्धति = वर्षा-प्रकरण)

६४६. ग्रीष्म का प्रसार समाप्त हो गया, मेघ सम्मान पाकर गरज रहे हैं, मयूर भी मुखर हो उठे हैं। पावस-रूपी राजा की जय हो ॥ १ ॥

---

१. प्रो० पटवर्धन ने लिखा है (देखिये, भूमिका, पृ० १० की अंग्रेजी पाद-टिप्पणी) कि यह गाथा उचित प्रकरण में नही रखी गई है। इसका उचित स्थान वडवज्जा में है। यदि इसे ग्रीष्मातप-तप्त पथिक की साभिलाषोक्ति मानकर सोचें तो यह अपने ही स्थान पर प्रतीत होगी। ग्रीष्म में बरगद की सघन छाया में पथिको को सुख मिलता है। रत्न-देव ने 'वे वृक्ष' का अर्थ अग्नि किया है। वह भी अपनी शिखाओं (शाखाओं) से दूसरी जगह जड़ बाँध लेती है।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

६४७. कक्खायपिंगलच्छो कसणंगो चडुलविज्जुजीहालो ।
पहियघरिणीइ दिट्ठो मेहो उक्कापिसाओ व्व ।।२।।

कषायपिङ्गलाक्षः कृष्णाङ्गश्चटुलविद्युज्जिह्वः ।
पथिकगृहिण्या दृष्टो मेघ उल्कापिशाच इव ।।

६४८. गज्जंति घणा भग्गा य पंथया पसरियाउ सरियाओ ।
अज्ज वि उज्जुयसीले पियस्स पंथं पलोएसि ।।३।।

गर्जन्ति घना भग्नाश्च पन्थानः प्रसृताः सरितः ।
अद्यापि ऋजुशीले प्रियस्य पन्थानं प्रलोकयसि ।।

६४९. अणुझिज्जिरीउ आलोइऊण पहियस्स पहियजायाओ ।
धारामोक्खणिहेणं मेहाण गलंति अंसूणि ।।४।।

अनुक्षयणशीला आलोक्य पथिकस्य पथिकजायाः ।
धारामोक्षनिभेन मेघाना गलन्त्यश्रूणि ।।

६५० उच्च उच्चावियकधरेण भणियं व पाउसे सिहिणा ।
के के इमे पउत्था मोत्तूण घरेमु घरिणीओ ।।५।।

उच्चैरुच्चीकृतकन्धरेण भणितमिव प्रावृट्काले शिखिना ।
के क इमे प्रोषिता मुक्त्वा गृहेषु गृहिणी ।।

६५१. जा नीलजलहरोदार गज्जिए मरइ नेय तुह जाया ।
ता पहिय तुरियतुरियं वह वह उल्लवइ कलकंठी ।।६।।

यावन्नीलजलधरोदारगर्जिते म्रियते नैव तव जाया ।
तावत्पथिक त्वरितत्वरितं वह वहेत्युल्लपति कलकण्ठी ।।

६५२. अमुणियपयसंचारा दीसंति भयंकरा भुयंग व्व ।
विसविसमा दुल्लंघा मेहा महिमंडले लग्गा ।।७।।

अज्ञातपदसंचारा दृश्यन्ते भयङ्करा भुजङ्गा इव ।
विषविषमा दुर्लङ्घ्या मेघा महीमण्डले लग्नाः ।।

६४७. जिसका वर्ण कषाय, पिंगल और स्वच्छ (उज्ज्वल) था, जिसके अङ्ग कृष्ण थे, और जो जिह्वा के समान चपला से युक्त था, उस मेघ को पथिक प्रिया ने ऐसे उल्का पिशाच के समान देखा, जिसके नेत्र कषाय और पिंगल वर्ण के थे, जिसकी जिह्वा विद्युत् के समान चंचल थी और जिसके अंग कृष्ण थे ॥ २ ॥

६४८. मेघ गरज रहे हैं, मार्ग खण्डित हो चुके हैं, सरितायें दूर-दूर तक फैल गई हैं। अरी सरले! अब भी प्रियतम का पथ देख रही हो! (अब वह कैसे आ पायेगा ?) ॥ ३ ॥

६४९. पथिक के ध्यान में डूबी हुई प्रोषित-पतिकाओं (पति-त्यक्ताओं) को देख कर वर्षा की धारा के व्याज से मेघो के नयनों से भी आँसू टपक रहे है ॥ ४ ॥

६५०. प्रावृट् (वर्षा) में अपनी ग्रीवा उन्नत करके मानों मयूर ने कहा है कि ये कौन-कौन ऐसे लोग है जो अपनी पत्नियो को घर मे छोड़कर प्रवास मे हैं ॥ ५ ॥

६५१. अरे बटोही! कलकण्ठी (कोयल) कह रही है कि जब तक तुम्हारी प्रिया श्यामल मेघों की गम्भीर गर्जना से मर नही जाती, उसके पूर्व ही घर जाओ, जाओ ॥ ६ ॥

६५२. जिनकी जल-संचालन-क्रिया अज्ञात है, जो जल (विष) से विषम (ऊँचे-नीचे या स्थूल) है और जिनके निकट नही पहुँचा जा सकता, वे भूमण्डल के निकट आ गये मेघ, ऐसे भयंकर भुजङ्ग के समान दिखाई देते हैं, जिनका पद-संचालन (पैर चलाना, पैर रखना या पैरों से चलना) अज्ञात है, जो विष के कारण भयानक हैं, जिनका उल्लंघन करना कठिन है और जो पृथ्वी से चिपके रहते हैं ॥ ७ ॥

६९. सरयवज्जा [शरत्पद्धतिः]

६५३. सुसइ व पंकं न वहंति निज्झरा बरहिणो न नच्चंति ।
तणुआयंति नईओ अत्थमिए पाउसणरिंदे ।।१।।
शुष्यतीव पङ्को, न वहन्ति निर्झरा, बर्हिणो न नृत्यन्ति !
तनूभवन्ति नद्योऽस्तमिते प्रावृट्कालनरेन्द्रे ।।

६५४. उयह तरुकोडराओ गच्छंती पूसयाण रिंछोली ।
सरए जरिओ व्व दुमो पित्तं व सलोहियं वमइ ।।२।।
पश्यत तरुकोटराद्गच्छन्ती शुकानां पङ्क्तिः ।
शरदि ज्वरित इव द्रुमः पित्तमिव सलोहितं वमति ।।

७०. हेमंतवज्जा [हेमन्तपद्धतिः]

*६५५. जाणिज्जइ न उ पियमप्पियं पि लोयाण तम्मि हेमंते ।
सुयणसमागम वग्गो निच्च निच्चं सुहावेइ ।।१।।
ज्ञायते न तु प्रियमप्रियमपि लोकाना तस्मिन्हेमन्ते ।
सुजनसमागम इवाग्निर्नित्यं नित्यं सुखयति ।।

७१. सिसिरवज्जा [शिशिरपद्धतिः]

*६५६. डज्झंतु सिसिरदियहा पियमप्पियं जणो वहइ ।
दहवयणस्स व हियए सीयायवणक्खओ जाओ ।।१।।
दह्यन्ता शिशिरदिवसा· प्रियमप्रियं जनो वहति ।
दशवदनस्येव हृदये सीतातपनक्षयो जातः ।।

*६५७. अवधूयअलक्खणधूसराउ दीसंति फरुसलुक्खाओ ।
उय सिसिरवायलइया अलक्खणा दीणपुरिस व्व ।।२।।
अवधूतालक्षणधूसरा दृश्यन्ते परुषरूक्षाः ।
पश्य शिशिरवातगृहीता अलक्षणा दीनपुरुषा इव ।।

६५८. चोराण कामुयाण य पामरपहियाण कुक्कुडो रडइ ।
रे पलह रमह वाहयह वहह तणुइज्जए रयणी ।।३।।
चौराणां कामुकानां पामरपथिकानां च कुक्कुटो रटति ।
रे पलायध्वं, रमध्वं, वाहयत, वहत, तनूभवति रजनी ।।

६९—सरय-वज्जा (शरत्पद्धति)

६५३—पावस-रूपी राजा के अस्त हो जाने पर मानों (शोक से) पंक सूख गया है, झरने नहीं बह रहे हैं, मयूर नृत्य नहीं करते हैं और नदियाँ कृश होती जा रही हैं ॥ १ ॥

६५४. वृक्ष के कोटर से (निकल कर) जाती हुई, नर शुकों की पंक्ति देखो। ऐसा लगता है, जैसे शरद् में वृक्ष ज्वर-ग्रस्त होकर रक्त-मिश्रित पित्त का वमन कर रहा हो ॥ २ ॥

७०—हेमन्त-वज्जा (हेमन्त-पद्धति)

*६५५. उस हेमन्त में लोगों को प्रिय और अप्रिय का भी पता नही रहता है। आग सज्जनों के समागम के समान प्रतिदिन सुख देती है ॥ १ ॥

७१—सिसिरवज्जा (शिशिर-पद्धति)

*६५६. शिशिर के दिन (समय) भस्म हो जायँ। लोग अवांछित पत्नी को भी वहन करते हैं। जैसे रावण के हृदय मे सीता के वियोग से भय उत्पन्न हो गया था, वैसे ही शीत से आतप का विनाश हो गया है ॥ १ ॥

*६५७. देखो, प्रकंपित, स्वरूप-शून्य, धूसर, परुष और रुक्ष हो जाने वाली, शिशिर-शोषित लतिकायें इस प्रकार श्री-हीन दिखाई देती है, जैसे शिशिर-वात-गृहीत (ठण्डी हवा से पीड़ित) दरिद्रपुरुष कँपित, स्वरूप-शून्य, धूसर, परुष और रुक्ष होकर श्री-हीन दिखाई देता है ॥ २ ॥

६५८. चोरों, कामुकों, कृषकों और पथिकों से कुक्कुट कहता है—अरे भागो, रमण करो, खेत जोतो और यात्रा करो, रात बीत रही है।

---

* विस्तृत विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य।

७२. जरावज्जा [जरापद्धतिः]

६५९. ता धणरिद्धी ता सुंदरत्तणं ता वियड्ढिमा लोए।
जा तरुणीयणकडुयत्तणाइ न हु हुंति पलियाइं ॥१॥

तावद्धनऋद्धिस्तावत्सुन्दरत्वं तावद्विदग्धता लोके।
यावत्तरुणीजनकटुकत्वानि न खलु भवन्ति पलितानि॥

६६०. न तहा लोयम्मि कडक्खियम्मि न हु जंपियं तह च्चेय।
जह जह तरुणीयणलोयणेसु सीसे पडंताणं ॥२॥

न तथा लोके कटाक्षिते न खलु जल्पितं तथैव।
यथा यथा तरुणीजनलोचनेषु शीर्षे पतत्सु॥

६६१. रमियं जहिच्छियाए धूलीधवलम्मि गाममज्झम्मि।
डिंभत्तणस्स दियहा य णं कया जरयदियह व्व ॥३॥

रमितं यथेप्सितं धूलीधवले ग्राममध्ये।
डिम्भत्वस्य दिवसाश्च ननु कृता जरादिवसा इव॥

*६६२. संकुइयकंपिरंगो ससंकिरो दिन्नसयलपयमग्गो।
पलियाण लज्जमाणो न गणेइ अइत्तए दिन्नं ॥४॥

संकुचितकम्पनशीलाङ्गः शङ्कनशीलो दत्तसकलपदमार्गः।
पलितेभ्यो लज्जमानो न गणयति अतीते दत्तम्॥

*६६३. वम्महभक्खणदिव्वोसहीइ अंगं च कुणइ जरराओ।
पेच्छह निट्ठुरहियओ एण्हि सेवेइ तं कामो ॥५॥

मन्मथभक्षणदिव्यौषध्याङ्गं च करोति जराराजः।
प्रेक्षध्वं निष्ठुरहृदय इदानीं सेवते तं कामः॥

६६४. उज्झसु विसयं परिहरसु दुक्कयं कुणसु नियमणे धम्मं।
ठाऊण कण्णमूले इट्ठं सिट्ठं व पलिएण ॥६॥

उज्झ विषयं परिहर दुष्कृतं कुरु निजमनसि धर्मम्।
स्थित्वा कर्णमूल इष्टं कथितमिव पलितेन॥

७२—जरावज्जा (जरा-पद्धति)

६५९. तभी तक धन और ऋद्धि है, तभी तक सुन्दरता है और संसार में तभी तक विदग्धता है, जब तक तरुणियों को कटु लगने वाले श्वेत-केश नहीं है ॥ १ ॥

६६०. जब तरुणियों की आँखें श्वेत बालों वाले शिर पर पड़ती हैं, तब जैसा लगता है, वैसा न तो लोगों के कटाक्ष करने पर अनुभव होता है, और न व्यंग्यपूर्ण वचनों से ॥ २ ॥

६६१. धूलि-धवल गाँव के बीच में हम इच्छा भर रमण करते रहे (खेलते रहे) और शैशव के दिनों को बुढ़ापे का दिन बना दिया ॥ ३ ॥

*६६२. नायिका की वृद्धावस्था में उसकी सहेली कह रही है कि अरी! देख, तेरा पुराना प्रणयी तेरे दिये हुए गुणों का अभ्यास कर रहा है। यौवन मे उत्कट प्रणयावेग से तेरे गृह में रमणार्थ आने पर जो सिकुड़ा-सिकुड़ा-सा रहता था एवं जिसके अङ्ग भी कठिन परिस्थिति में काँप उठते थे, जो कुत्तों से डरता रहता था (कि कही भूँकने न लगें) तथा सभी (सुगम या दुर्गम) स्थानों पर मार्ग बनाया करता था (क्योंकि प्रणयी दुर्गम स्थानों मे भी राह ढूँढ लेता है); वही वृद्धावस्था में श्वेत बालों से लजाता हुआ, तेरे दिये हुए (सिखाये हुए) गुणों का अभ्यास कर रहा है, क्योंकि अब अङ्गों मे झुर्रियाँ (सिकुड़न) पड़ गई है और वे काँपने लगे हैं, उसे अपने कुटुम्बियों पर शंका होने लगी है तथा मार्ग में लड़खड़ाता-पैर रखता है ॥ ४ ॥

*६६३. देखो काम ही जिसका दिव्य भोजन है (या जो काम का दिव्य भक्षक है), वह निष्ठुर-हृदय वार्धक्य रूपी ज्वरराज, सखी के अंग को सिकोड़ रहा है (उन में झुर्रियाँ पड़ रही हैं या वे झुकते जा रहे हैं)। इस समय भी कामदेव उस (सखी) की सेवा कर रहा है।

६६४ जरा (वृद्धावस्था) ने कानों के निकट स्थित होकर (श्वेत बालों के रूप में) मानों इष्ट कर्तव्य का उपदेश दिया है—"विषय त्यागो, दुष्कर्म छोड़ो, अपने मन में धर्म धारण करो ॥ ६ ॥

---

* विस्तृत विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

६६५. जीयं जलबिंदुसमं उप्पज्जइ जोव्वणं सह जराए ।
दियहा दियहेहि समा न हुंति किं निट्ठुरो लोओ ॥७॥

जीवितं जलबिन्दुसममुत्पद्यते यौवनं सह जरया ।
दिवसा दिवसैः समा न भवन्ति, किं निष्ठुरो लोकः ॥

६६६. वरिससयं नरआऊ तस्स वि अद्धेण हुंति राईओ ।
अद्धस्स य अद्धयर हरइ जरा बालभावो य ॥८॥

वर्षशतं नरायुस्तस्याप्यर्धेन भवन्ति रात्रयः ।
अर्धस्य चार्धतरं हरति जरा बालभावश्च ॥

६६७. को एत्थ सया सुहिओ कस्स व लच्छी थिराइ पेम्माइं ।
कस्स व न होइ पलियं भण को न हु खडिओ विहिणा ॥९॥

कोऽत्र सदा सुखितः कस्य वा लक्ष्मीः स्थिराणि प्रेमाणि ।
कस्य वा न भवति पलितं भण को न खलु खण्डितो विधिना ॥

७३. महिलावज्जा [महिलापद्धतिः]

६६८. गहचरियं देवचरियंताराचरियं चराचरे चरियं ।
जाणंति सयलचरियं महिलाचरियं न याणंति ॥१॥

ग्रहचरितं देवचरितं ताराचरितं चराचरे चरितम् ।
जानन्ति सकलचरितं महिलाचरितं न जानन्ति ॥

६६९. बहुकूडकवडभरिया मायारूवेण रंजए हिययं ।
महिलाए सब्भावं अज्ज वि बहवो न याणंति ॥२॥

बहुकूटकपटभृता मायारूपेण रञ्जयति हृदयम् ।
महिलायाः सद्भावमद्यापि बहवो न जानन्ति ॥

६७०. घेप्पइ मच्छाण पए आयासे पक्खिणो य पयमग्गो ।
एक्कं नवरि न घेप्पइ दुल्लक्खं कामिणीहिययं ॥३॥

गृह्यते मत्स्यानां पयस्याकाशे पक्षिणश्च पदमार्गः ।
एकं केवलं न गृह्यते दुर्लक्ष्यं कामिनीहृदयम् ॥

६६५. जीवन जलबिन्दु के समान भंगुर है, यौवन जरा के साथ उत्पन्न होता है, सभी दिन समान नही रहते, लोक (संसार-चक्र) कैसा निष्ठुर है ? ॥ ७ ॥

६६६. मनुष्य की आयु सौ वर्ष है। उसके भी आधे भाग में रातें होती हैं। आधे का आधा जरा और शैशव ले लेते हैं॥ ८ ॥

६६७. इस लोक में कौन सदा सुखी रहा अथवा किसके धन और प्रेम स्थिर रहे, किसके बाल नही श्वेत हुये और बताइये विधाता ने किसे नहीं खण्डित किया ॥ ९ ॥

७३—महिलावज्जा (महिला-पद्धति)

६६८. (लोग) ग्रह-चरित्र, देव-चरित्र, तारा-चरित्र और चल तथा अचल सब चरित्र जानते है, परन्तु महिला-चरित्र नही जानते ॥ १ ॥

६६९. महिलायें छलछद्म से भरी रहती है, मोहकरूप से हृदय को रंजित कर देती है, उनके सत्य स्वभाव को आज तक बहुत लोग नहीं जानते हैं ॥ २ ॥

६७०. मत्स्यों का जल में और पक्षियों का आकाश में चरण-चिह्न ग्रहण किया जा सकता है। केवल अकेला कामिनी का दुर्लक्ष्य (जिसे लक्षित करना कठिन है) हृदय पकड़ में नहीं आता है ॥ ३ ॥

७४. पुव्वकयकम्मवज्जा [पूर्वकृतकर्मपद्धतिः]

६७१. इह लोए च्चिय दीसइ सग्गो नरओ य किं परत्तेण ।
धणविलसियाण सग्गो नरओ दालिद्दियजणाणं ॥१॥

इह लोक एव दृश्यते स्वर्गो नरकश्च किं परलोकेन ।
धनविलसितानां स्वर्गो नरको दरिद्रजनानाम् ॥

६७२. विहडंति सुया विहडंति बंधवा विहडेइ संचिओ अत्थो।
एक्कं नवरि न विहडइ नरस्स पुव्वक्कयं कम्मं ॥२॥

विघटन्ते सुता विघटन्ते बान्धवा विघटते संचितोऽर्थः ।
एकं केवलं न विघटते नरस्य पूर्वकृतं कर्म ॥

*६७३. अवहरइ जं न विहियं जं विहियं तं पुणो न नासेइ ।
अइणिउणो नवरि विही सित्थं पि न वड्ढिउं देइ ॥३॥

अपहरति यन्न विहितं यद्विहितं तत्पुनर्न नाशयति ।
अतिनिपुणः केवलं विधिः सिक्थमपि न वर्धितुं ददाति ॥

६७४. जं चिय विहिणा लिहियं तं चिय परिणमइ सयललोयस्स।
इय जाणिऊण धीरा विहुरे वि न कायरा हुंति ॥४॥

यदेव विधिना लिखितं तदेव परिणमति सकललोकस्य ।
इति ज्ञात्वा धीरा विधुरेऽपि न कातरा भवन्ति ॥

६७५. पाविज्जइ जत्थ सुहं पाविज्जइ मरणबंधणं जत्थ ।
तेण तहिं चिय निज्जइ नियकम्मगलत्थिओ जीवो ॥५॥

प्राप्यते यत्र सुखं प्राप्यते मरणबन्धनं यत्र ।
तेन तत्रैव नीयते निजकर्मगलहस्तितो जीवः ॥

६७६. ता किं भएण किं चिंतिएण किं जूरिएण बहुएण ।
जइ सो च्चेव वियंभइ पुव्वकओ पुण्णपरिणामो ॥६॥

तत् किं भयेन किं चिन्तितेन किं खिन्नेन बहुना ।
यदि स एव विजृम्भते पूर्वकृतः पुण्यपरिणामः ॥

७४—पुव्वकयकम्मवज्जा (पूर्वकृत-कर्म-पद्धति)

६७१. इस लोक मे ही स्वर्ग और नरक (दोनों) देखे जाते हैं, पर-लोक से क्या ? धन से सुख भोगने वालों को स्वर्ग है और दरिद्रों को नरक ॥ १ ॥

६७२. पुत्र साथ छोड़ देते हैं, बान्धव साथ छोड़ देते है और संचित धन भी साथ छोड़ देता है। केवल अकेला पूर्वकृत-कर्म ही मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता है ॥ २ ॥

*६७३. जो पूर्व-निर्धारित नही है, उसे हर लेता है (प्राप्त नहीं होने देता), जो निर्धारित है, उसे नष्ट नही करता (सँजोये रहता है), भाग्य ही (मनुष्यों को उनका प्राप्य देने मे) अति निपुण है, एक कण भी बढ़ने नहीं देता ॥ ३ ॥

६७४. विधाता ने जो लिखा है, वही सब लोगों को फलित होता है (प्राप्त होता है)—यह जान कर धीर पुरुष संकट में भी कातर नहीं होते ॥ ४ ॥

६७५. इस जीव को जहाँ सुख मिलना है और जहाँ मरना है—अपना कर्म—उसे गला पकड़ कर वहीं ले जाता है ॥ ५ ॥

६७६. यदि वही पूर्वकृत पुण्यकर्म का परिणाम ही प्रकट होता है, तो भय, चिन्ता, और अधिक सन्ताप करने से क्या लाभ ? ॥ ६ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे द्रष्टव्य ।

६७७. को दाऊण समत्थो को वा हरिऊण जस्स जं विहियं ।
परिणमइ फलं पुत्तय पुव्वक्कम्माणुसारेण ॥७॥

को दातुं समर्थः को वा हर्तुं यस्य यद्विहितम् ।
परिणमति फलं पुत्रक पूर्वकर्मानुसारेण ॥

७५. ठाणवज्जा [स्थानपद्धतिः]

६७८. रायंगणम्मि परिसंठियस्स जह कुंजरस्स माहप्पं ।
विंझसिहरम्मि न तहा ठाणेसु गुणा विसट्टंति ॥१॥

राजाङ्गणे परिसंस्थितस्य यथा कुञ्जरस्य माहात्म्यम् ।
विन्ध्यशिखरे न तथा स्थानेषु गुणाः प्रसरन्ति ॥

६७९. अज्झाकवोलपरिसंठियस्स जह चंदणस्स माहप्पं ।
मलयसिहरे वि न तहा ठाणेसु गुणा विसट्टंति ॥२॥

प्रौढयुवतिकपोलपरिसंस्थितस्य यथा चन्दनस्य माहात्म्यम् ।
मलयशिखरेऽपि न तथा स्थानेषु गुणाः प्रसरन्ति ॥

६८०. वरतरुणिणयणपरिसंठियस्स जह कज्जलस्स माहप्पं ।
दीवसिहरे वि न तहा ठाणेसु गुणा विसट्टंति ॥३॥

वरतरुणीनयनपरिसंस्थितस्य यथा कज्जलस्य माहात्म्यम् ।
दीपशिखरेऽपि न तथा स्थानेषु गुणाः प्रसरन्ति ॥

*६८१. केसाण दंतणहठक्कुराण वहुयाण वहुयणे तह य ।
थणयाण ठाणचुक्काण मामि को आयरं कुणइ ॥४॥

केशानां दन्तनखठक्कुराणां वधूकानां वधूजने तथा च ।
स्तनानां स्थानभ्रष्टानां सखि क आदरं करोति ॥

६८२. ठाणं न मुयइ धीरो ठक्कुरसंघस्स दुट्ठवग्गस्स ।
ठंतं पि देइ जुज्झं ठाणे ठाणे जसं लहइ ॥५॥

स्थानं न मुञ्चति धीरष्ठक्कुरसंघस्य दुष्टवर्गस्य ।
तिष्ठदपि ददाति युद्धं स्थाने स्थाने यशो लभते ॥

६७७. कौन देने में समर्थ है या कौन लेने में। बेटा! पूर्वकर्मानुसार जिसके भाग्य में जो फल विहित है, वही प्राप्त होता है (परिणत होता है) ॥ ७ ॥

७५—ठाणवज्जा (स्थान-पद्धति)

६७८. राजाओं के प्रांगणों में स्थित होने पर गजराजों को जो महत्त्व प्राप्त होता हैं, वह विन्ध्य के शिखर पर नही। गुण उचित स्थानों पर ही विकसित होते हैं ॥ १ ॥

६७९. युवती (या नववधू) के कपोल पर स्थित होने पर चन्दन को जो महत्त्व प्राप्त होता है, वह मलयपर्वत के शिखर पर नहीं। उचित स्थानों पर ही गुण विकसित होते है ॥ २ ॥

६८०. श्रेष्ठतरुणियों के नेत्रों में स्थित होने पर काजल[1] को जो महत्त्व मिलता है, वह दीपक की शिखा पर भी नहीं। गुणो का विस्तार उचित स्थान पर ही होता है ॥ ३ ॥

*६८१. सखि! केश, दाँत, नख, ठाकुर (क्षत्रिय या ग्रामपति) और वधूटियों के स्तन जब स्थान-च्युत हो जाते हैं, तब जनसमूह (बहुजन) में कौन उनका आदर करता ॥ ४ ॥

६८२. धीर पुरुष दुष्ट साथियों वाले राजपूत-समूह को ठहरने[2] नहीं देता है। जब युद्ध छिड़ता है, तब लड़ता है और स्थान-स्थान पर यश प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

---

१. नैना कै सिंगार कजरवा, मुँहु कै कारिख होय।
—सर्वमंगला, द्वितीय सर्ग

२. अथवा अपना स्थान नही समर्पित करता। मूल में 'ठक्कुर संघस्स' में अनादरार्थक षष्ठी मानना बहुत आवश्यक नही है।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

*६८३. गहियविमुक्का तेयं जणति सामाइणो नरिंदाणं ।
दंडो तह च्चिय ट्ठिय आमूलं हणइ टंकारो ॥६॥

गृहीतविमुक्तास्तेजो जनयन्ति सामाजिका नरेन्द्राणाम् ।
दण्डस्तथैव स्थित आमूलं हन्ति टणत्कारः ॥

६८४. उयहिवडवाणलाणं परोप्परुल्हवणसोसणमणाणं ।
अमुणियमज्झपजलणाणवइयरो जिणइ जियलोए ॥७॥

उदधिवडवानलयोः परस्परनिर्वापणशोषणमनसोः ।
अज्ञातमध्यप्रज्वलनयोर्व्यतिकरो जयति जीवलोके ॥

७६. गुणवज्जा [गुणपद्धतिः]

६८५. जइ नत्थि गुणा ता किं कुलेण गुणिणो कुलेण न हु कज्जं ।
कुलमकलंकं गुणवज्जियाण गरुयं चिय कलंकं ॥१॥

यदि न सन्ति गुणास्तत् किं कुलेन, गुणिनः कुलेन न खलु कार्यम् ।
कुलमकलङ्कं गुणवर्जितानां गुरुक एव कलङ्कः ॥

६८६. गुणहीणा जे पुरिसा कुलेण गव्वं वहंति ते मूढा ।
वंसुप्पन्नो वि धणू गुणरहिए नत्थि टंकारो ॥२॥

गुणहीना ये पुरुषाः कुलेन गर्वं वहन्ति ते मूढाः ।
वंशोत्पन्नमपि धनुः गुणरहितं नास्ति टणत्कारः ॥

६८७. जम्मंतर न गरुयं गरुयं पुरिसस्स गुणगणारुहणं ।
मुत्ताहलं हि गरुयं न हु गरुयं सिप्पिसंपुडयं ॥३॥

जन्मान्तरं न गुरु गुरु पुरुषस्य गुणगणारोहणम् ।
मुक्ताफलं हि गुरु न खलु गुरु शुक्तिसंपुटकम् ॥

६८८. खरफरुसं सिप्पिउडं रयणं तं होइ जं अणग्घेयं ।
जाईइ किं व किज्जइ गुणेहि दोसा फुसिज्जंति ॥४॥

खरपरुषं शुक्तिपुटं रत्नं तद्भवति यदनर्घ्यम् ।
जात्या किमिव क्रियते गुणैर्दोषाः प्रोञ्छ्यन्ते ॥

*६८३. (अनुकूल अवसर और उचित स्थान पर) ग्रहण किये गये और छोड़ दिये गये सामादि उपाय राजाओं के प्रभाव को उत्पन्न करते हैं। दण्ड उसी प्रकार स्थित रह जाता है (अर्थात् उसका प्रयोग ही नहीं होता); तेज ही शत्रु को आमूल नष्ट कर देता है, जैसे धनुर्दण्ड अपने स्थान पर ही रहता है, परन्तु उसकी टंकार (ज्या शब्द) ही शत्रुओं को मूलसमेत मार डालती है ॥ ६ ॥

६८४. समुद्र वडवानल को बुझाना चाहता है और वडवानल समुद्र को सुखा डालना चाहता है। वडवानल नहीं समझता कि मै अपार समुद्र में प्रज्वलित हूँ (क्योंकि उसे असीम समुद्र की अपार जल-राशि से कुछ भी भय नहीं है) और समुद्र भी यह ध्यान नही देता कि मेरे मध्य में वडवानल धधक रहा है (क्योंकि उसे अपनी अपार जलराशि के समक्ष वडवानल नगण्य प्रतीत होता है)। अतः उन दोनों का सम्बन्ध संसार मे सभी प्राणियों को जीत लेता है (उनके सम्बन्ध की तुलना नही है) ॥ ७ ॥

७६—गुणवज्जा (गुण-पद्धति)

६८५. यदि गुण नही, तो कुल से क्या ? गुणवान् के कुल से क्या प्रयोजन ? जो गुणहीन है, पवित्र कुल, उसके लिये भारी कलंक ही है ॥ १ ॥

६८६. जो पुरुष गुणहीन होकर भी, कुल पर गर्व करते हैं, वे मूढ हैं। धनुष वंश (उत्तम कुल और बाँस) में उत्पन्न होता है, फिर भी गुण-रहित (प्रत्यंचा और गुण) होने पर टंकार नही होती (उसका तेज नहीं प्रकट होता) ॥ २ ॥

६८७. मनुष्य को उत्तम कुल में जन्म लेने से नहीं, बहुत से गुणों को धारण करने से महत्त्व प्राप्त होता है। मुक्ताहल ही महान् होता है (बहु-मूल्य होता है), सीपी नही ॥ ३ ॥

६८८. शुक्ति-सम्पुट कितना परुष होता है, परन्तु उससे उत्पन्न होने वाला रत्न (मोती) अमूल्य होता है। जन्म से क्या होता है, गुणों से दोष मिट जाते हैं ॥ ४ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

६८९. जं जाणइ भणइ जणो गुणाण विहवाण अंतरं गरुयं।
लब्भइ गुणेहि विहवो विहवेहि गुणा न घेप्पंति ॥५॥

यज्जानाति भणति जनो गुणानां विभवानामन्तरं गुरुकम्।
लभ्यते गुणैर्विभवो विभवैर्गुणा न गृह्यन्ते ॥

६९०. ठाणं गुणेहि लब्भइ ता गुणगहणं अवस्स कायव्वं।
हारो वि नेय पावइ गुणरहिओ तरुणिथणवट्टं ॥६॥

स्थानं गुणैर्लभ्यते तद्गुणग्रहणमवश्यं कर्तव्यम्।
हारोऽपि नैव प्राप्नोति गुणरहितस्तरुणीस्तनपट्टम् ॥

६९१. पासपरिसंठिओ वि हु गुणहीणे किं करेइ गुणवंतो।
जायंधयस्स दीवो हत्थकओ निप्फलो च्चेय ॥७॥

पार्श्वपरिसंस्थितोऽपि खलु गुणहीने किं करोति गुणवान्।
जात्यन्धकस्य दीपो हस्तकृतो निष्फल एव ॥

६९२. परलोयगयाणं पि हु पच्छत्ताओ न ताण पुरिसाणं।
जाण गुणुच्छाहेणं जियंति वंसे समुप्पन्ना ॥८॥

परलोकगतानामपि खलु पश्चात्तापो न तेषां पुरुषाणाम्।
येषां गुणोत्साहेन जीवन्ति वंशे समुत्पन्नाः ॥

७७. गुणणिंदावज्जा [गुणनिन्दापद्धतिः]

*६९३. मुत्ताहलं व पहुणो गुणिणो किं करइ वेहरहियस्स।
जत्थ न पविसइ सूई तत्थ गुणा बाहिर च्चेय ॥१॥

मुक्ताफलमिव प्रभोर्गुणिनः किं करोति वेधरहितस्य।
यत्र न प्रविशति सूची तत्र गुणा बहिरेव ॥

६९४. पियकेलिसंगमोसारिएण हारेण चिंतियं एयं।
अवसररहिया गुणवंतया वि दूरे धरिज्जंति ॥२॥

प्रियकेलिसंगमोत्सारितेन हारेण चिन्तितमेतत्।
अवसररहिता गुणवन्तोऽपि दूरे ध्रियन्ते ॥

६८९. गुणों और वैभवों के बीच के भारी अन्तर को जो लोग जानते हैं, उसे कहते हैं—गुणों से वैभव (ऐश्वर्य या धन) मिल सकता है, परन्तु वैभवों से गुण नहीं मिल सकते ॥ ५ ॥

६९०. स्थान गुणों से मिलता है, अतः गुण अवश्य ग्रहण करना चाहिये। हार भी गुणरहित (सूत्रहीन) होने पर तरुणियों के स्तन-पृष्ठ पर स्थान नही पाता ॥ ६ ॥

६९१. गुणवान् पार्श्व में स्थित होने पर भी गुणहीन का क्या उपकार कर सकता है? जन्मान्ध के हाथ में दिया हुआ दीपक निष्फल ही है ॥ ७ ॥

६९२. जिनके गुणों के बल से वंश में उत्पन्न होने वाले लोग जीवित रहते है, वे सत्पुरुष परलोक चले जाते हैं, तब भी पश्चात्ताप नही होता ॥ ८ ॥

७७—गुणणिंदावज्जा (गुणनिन्दा-पद्धति)

*६९३. सेवक छिद्ररहित मुक्ताहल के समान उस गुणवान् प्रभु का क्या करे (अर्थात् उसकी कौन सी सेवा करे), जो उस (सेवक) के गुणों को भूल गया है (या जानता ही नहीं या जिस पर सेवक के गुणों का कोई प्रभाव ही नही पड़ता है)। जहाँ सूई का प्रवेश नही होता (अर्थात् छिद्र रहित मुक्ताहल मे), वहाँ सूत (गुण) बाहर ही रह जाते हैं। अन्यार्थ—जहाँ तालिका (फेहरिस्त) का प्रवेश नही होता (अर्थात् तालिका नहीं सामने लाई जाती), वहाँ गुण (अच्छाईयाँ) बाहर ही रह जाते हैं (उपेक्षित रह जाते हैं) ॥ १ ॥

६९४. जब प्रिय के साथ संगम-क्रीडा करते समय सुन्दरी ने अपना हार उतार दिया, तब उसने सोचा—अनवसर पर गुणवान् (सूत्रयुक्त और गुणयुक्त) भी दूर हटा दिये जाते हैं ॥ २ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

*६९५. ता निग्गुण च्चिय वरं पहुणवलंभेण जाण परिओसो ।
गुणिणो गुणाणुरूवं फलमलहंता किलिस्संति ॥३॥
तन्निर्गुणा एव वरं प्रभुनवलम्भेन येषां परितोषः ।
गुणिनो गुणानुरूपं फलमलभमानाः क्लिश्यन्ति ॥

६९६. निग्गुण गुणेहि नियणिग्गुणत्तणं देहि अम्ह सड्ढीए ।
कलिकाले किं कीरइ गुणेहि पहुणो न घेप्पंति ॥४॥
निर्गुण गुणैर्निजनिर्गुणत्वं देह्यस्मभ्यं विनिमयेन ।
कलिकाले किं क्रियते गुणैः प्रभवो न गृह्यन्ते ॥

६९७. सव्वत्तो वसइ धरा संति नरिंदा गुणा वि अग्घंति ।
ता किं सहंति गुणिणो अणायरं अत्थवंताणं ॥५॥
सर्वतो वसति धरा सन्ति नरेन्द्रा गुणा अप्यर्घन्ति ।
तत् किं सहन्ते गुणिनोऽनादरमर्थवताम् ॥

७८. गुणसलाहावज्जा [गुणश्लाघापद्धतिः]

६९८. जस्स न गेण्हंति गुणा सुयणा गोट्ठीसु रणमुहे सुहडा ।
नियजणणिजोव्वणुल्लूरणेण किं तेण जाएण ॥१॥
यस्य न गृह्णन्ति गुणान् सुजना गोष्ठीषु रणमुखे सुभटाः ।
निजजननीयौवनोच्छेदकेन किं तेन जातेन ॥

*६९९. किं तेण जाइएण वि पुरिसे पयपूरणे वि असमत्थे ।
जेण न जसेण भरियं सरि व्व भुवणंतरं सयलं ॥२॥
किं तेन जातेनापि पुरुषेण पदपूरणेऽप्यसमर्थेन ।
येन न यशसा भृत सरिद्वद् भुवनान्तरं सकलम् ॥

७००. देसे गामे नयरे रायपहे तियचउक्कमग्गे वा ।
जस्स न पसरइ कित्ती धिरत्थु किं तेण जाएण ॥३॥
देशे ग्रामे नगरे राजपथे त्रिकचतुष्कमार्गे वा ।
यस्य न प्रसरति कीर्तिर्धिगस्तु किं तेन जातेन ॥

*६९५. तो निर्गुण (गुण-हीन) ही श्रेष्ठ हैं, जो प्रभु से नई उपलब्धि होने पर सन्तुष्ट हो जाते हैं। गुणीजन-गुणों के अनुरूप फल (पारितोषिक आदि लाभ) न पाते हुये क्लेश उठाते रहते हैं॥ ३॥

६९६. हे निर्गुण ! मेरे गुणों के बदले अपनी निर्गुणता मुझे दे दो। गुणों से क्या होगा ? कलिकाल में उनसे स्वामी वशीभूत (गृहीत) नहीं होते हैं॥ ४॥

६९७. वसुधा सर्वत्र है (विस्तृत है), राजा भी सर्वत्र हैं और गुण भी सर्वत्र पूज्य हैं, तो गुणीजन धनियों का अनादर क्यों सहते हैं ?॥ ५॥

७८—गुणसलाहावज्जा (गुणश्लाघा-पद्धति)

६९८. जिसके गुणों की प्रशंसा गोष्ठियों में विद्वान् और रण के मोर्चे पर सुभट नही करते, अपनी जननो का यौवन नष्ट करने वाले उस कुपुत्र के जन्म लेने से क्या लाभ ?॥ १॥

*६९९. श्लोक का एक चरण भी पूर्ण करने मे असमर्थ रहने वाले उस पुरुष के उत्पन्न होने से क्या लाभ है, जिसने सरिता के समान जगत् के विभिन्न भागों को यश से भर नही दिया॥ २॥

७००. देश, ग्राम, नगर, राजपथ, तिराहों या चौराहों पर जिसकी कीर्ति नहीं फैलतो, धिक्कार है, उसके जन्म लेने से क्या लाभ है ?॥ ३॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

७०१. किं तेण आइएण व किं वा पसयच्छि तेण व गएण ।
जस्स कए रणरणयं नयरे न घराघरं होइ ।
किं तेनागतेन वा किं वा प्रसृताक्षि तेन वा गतेन ।
यस्य कृते रणरणको नगरे न गृहे गृहे भवति ॥

७९. पुरिसणिदावज्जा [पुरुषनिन्दापद्धतिः]

७०२. उड्ढं वच्चंति अहो वयंति मूलंकुर व्व भुवणम्मि ।
विज्जाहियए कत्तो कुलाहि पुरिसा समुप्पन्ना ॥१॥
ऊर्ध्वं व्रजन्त्यधो व्रजन्ति मूलाङ्कुरा इव भुवने ।
विद्याधिके कुतः कुलात् पुरुषाः समुत्पन्नाः ॥

७०३. नियकम्मेहि वि नीयं उच्चं पुरिसा लहंति संठाणं ।
सुरमंदिरकूवयरा उड्ढद्धमुहा य वच्चंति ॥२॥
निजकर्मभिरपि नीचमुच्चं पुरुषा लभन्ते संस्थानम् ।
सुरमन्दिरकूपकरा ऊर्ध्वाधोमुखाश्च व्रजन्ति ॥

७०४. एक्कम्मि कुले एक्कम्मि मंदिरे एक्ककुक्खिसंभूया ।
एक्को नरसयसामी अन्नो एक्कस्स असमत्थो ॥३॥
एकस्मिन् कुल एकस्मिन् मन्दिर एककुक्षिसंभूतौ ।
एको नरशतस्वाम्यन्य एकस्यासमर्थः ॥

७०५. सज्जणसलाहणिज्जे पयम्मि अप्पा न ठाविओ जेहिं ।
सुसमत्था जे न परोवयारिणो तेहि वि न किं पि ॥४॥
सज्जनश्लाघनीये पद आत्मा न स्थापितो यैः ।
सुसमर्था ये न परोपकारिणस्तैरपि न किमपि ॥

८०. कमलवज्जा [कमलपद्धतिः]

७०६. हिट्ठकयकंटयाणं पयडियकोसाण मित्तसमुहाणं ।
मामि गुणवंतयाणं कह कमले वसउ न हु कमला ॥१॥
अधःकृतकण्टकाना प्रकटितकोशानां मित्रसंमुखानाम् ।
सखि गुणवतां कथं कमले वसतु न खलु कमला ॥

७०१. हे मृगाक्षि ! उसके आने से क्या अथवा उसके चले जाने से ही क्या ? जिसके लिये नगर में घर-घर अधीरता न हो ॥ ४ ॥

७९—पुरिसणिंदा-वज्जा (पुरुष-निन्दा-पद्धति)

७०२. जैसे एक ही बीज से मूल और अंकुर, दोनों उत्पन्न होते हैं, मूल नीचे जाता है और अंकुर ऊपर को, वैसे ही संसार में दो पुरुष एक ही कुल में जन्म लेते हैं, परन्तु एक अधोगामी होता है और दूसरा उन्नति करता है ॥ १ ॥

७०३. अपने कर्म से ही मनुष्य उच्च और निम्न स्थान प्राप्त करता है। मन्दिर और कूप बनाने वाले क्रमशः ऊपर और नीचे मुँह करके चलते है ॥ २ ॥

७०४. एक ही कुल, एक ही गृह और एक ही कोख से उत्पन्न होने पर भी एक तो सैकड़ों मनुष्यों का स्वामी बनता है और अन्य एक व्यक्ति का भी भरण-पोषण करने में असमर्थ रहता है ॥ ३ ॥

७०५. जिन्होंने अपने को सज्जनों के द्वारा श्लाघ्य कर्म में नहीं लगाया, उन्होंने कुछ नहीं किया और समर्थ होकर भी जिन्होंने परोपकार नहीं किया, उनसे भी कुछ न हो पाया ॥ ४ ॥

८०—कमलवज्जा (कमल-पद्धति)

७०६. सखि ! जिन्होंने कंटकों (काँटों और दुर्जनों) को नीचे रखा (तिरस्कृत किया), कोश (कली और भण्डार) को प्रकट किया और जो मित्र (सूर्य और सुहृद्) के सम्मुख रहे, उन गुणवान् (गुणयुक्त और तन्तुयुक्त) कमलों में लक्ष्मी क्यों न बसे ॥ १ ॥

७०७. अन्नन्नलग्गकयपत्तपरियणे निहयगुरुजडाजाले ।
मित्तालोयणसुहिए कह कमले वसउ न हु कमला ॥२॥
अन्योन्यलग्नकृतपत्र(पात्र) परिजने निहतगुरुजटाजाले ।
मित्रालोकनसुखिते कथं कमले वसतु न खलु कमला ॥

७०८. पयडियकोसगुणड्ढे तह य कुलीणे सुपत्तपरिवारे ।
एवंविहे वसंती कमले कमले कयत्था सि ॥३॥
प्रकटितकोशगुणाढ्ये तथा च कुलीने सुपत्रपरिवारे ।
एवंविधे वसन्ती कमले कमले कृतार्थासि ॥

७०९. जडसंवाहियफरुसत्तणस्स निण्हवियणियगुणोहस्स ।
रे कमल तुज्झ कमला निवसइ रत्ताण पत्ताण ॥४॥
जडसंवाहितपरुषत्वस्य निह्नुतगुणौघस्य ।
रे कमल तव कमला निवसति रक्तानां पत्राणाम् ॥

७१०. जह पलहिगुणा परछिद्दछायणे तह नु कमल जइ तुज्झ ।
ता इह सयले लोए का उवमा तव ठविज्जंति ॥५॥
यथा कर्पासगुणाः परिच्छद्रच्छादने तथा नु कमल यदि तव ।
तद् इह सकले लोके का उपमास्तव स्थाप्यन्ते ॥

८१. कमलणिंदावज्जा [कमलनिन्दापद्धतिः]

७११. अलियालावे वियसंत कमल कलिओ सि रायहंसेहिं ।
ता सुंदरं न होही तुज्झ फलं कालपरिणामे ॥१॥
अल्यालापे विकसत् कमल कलितमसि राजहंसैः ।
तद् सुन्दरं न भविष्यति तव फलं कालपरिणामे ॥

७०७ जिसके पत्र (पंखड़ी) रूपी परिजन (पक्षान्तर में, सुपात्र परिजन = सेवक या कुटुम्बी) परस्पर संलग्न (सटे हुये और प्रेम में बँधे हुये) हैं, जिसने जड़ों के भारी जाल (समूह) को भूमि में गाड़ (निखात = णिहय) दिया है (पक्षान्तर में जिसने मूर्खों के कपट को नष्ट (निहत) कर दिया है) तथा जो मित्र (सूर्य और सुहृद्) को देखने से (मित्रों की देख-रेख में) सुखी है, उस कमल में लक्ष्मी क्यों न बसे ? ॥ २ ॥

७०८. जिसका कोश (कली और भंडार) प्रकट है, जो गुणों (विसतन्तु और अच्छाइयों) से समृद्ध है, जो पृथ्वी पर स्थिति (कु + लीन) है (पक्षान्तर में कुलीन है) और जो सुन्दर पत्रों से परिवेष्टित है (पक्षान्तर मे, जिसका परिवार सुपात्र है), ऐसे कमल में रहने वाली लक्ष्मी ! तुम कृतार्थ हो गई हो ॥ ३ ॥

७०९. अरे कमल ! तुम ने अपनी कठोरता (कंटक) जल में डुबो दी है (जड़ों में स्थानान्तरित कर दी है) और गुणों (तन्तुओं और अच्छाइयों) के समूह को छिपा दिया है। तुम्हारे इन रक्त (लाल और प्रेम-भरे) पत्रों (पंखड़ियों) मे लक्ष्मी निवास करती है ॥ ४ ॥

७१०. हे कमल ! यदि कपास के गुणों (तन्तुओं या रेशों)के समान तुम्हारे गुण (तन्तु) भी परछिद्र[1] को छिपा सकते, तो सम्पूर्ण जगत् में तुम्हारी किससे उपमा दी जाती ? ॥ ५ ॥

८१—कमलणिवा-वज्जा (कमलनिन्दा-पद्धति)

७११. अलियों (भ्रमरों) के आलाप (गुजंन) मे खिलने वाले कमल ! राजहंसो ने तुम्हें जान लिया है, तो तुम्हारा फल पकने पर सुन्दर नही होगा ॥ १ ॥

अन्यार्थ—मिथ्या वचनों के बीच प्रसन्न होने वाले कलाकार ! तुम्हें हंसों के समान राजाओं ने ग्रहण कर लिया है, तो भी समय की परिणति होने पर (समय बीतने पर) तुम्हारा शुभ परिणाम नहीं होगा अर्थात् पुरस्कार नही मिलेगा।

---

१. साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू।
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा।
—रामचरित मानस

*७१२. अप्पं परं न याणसि नूणं सउणो सि लच्छिपरियरिओ ।
उज्जलसमुहो पेच्छह ता वयणं पि हु न ठावेइ ।।२।।

आत्मानं परं न जानासि नूनं सगुणोऽसि लक्ष्मीपरिचरित. ।
उज्ज्वलसंमुखः प्रेक्षध्वं तद्वदनमपि खलु न स्थापयति ।।

*७१३. लच्छीए परिगहिया उड्ढमुहा जइ न हुंति ता पेच्छ ।
जेहिं चिय उड्ढविया तं चिय नालं न पेच्छंति ।।३।।

लक्ष्म्या परिगृहीता ऊर्ध्वमुखा यदि न भवन्ति तत्प्रेक्षस्व ।
यैरेवोर्ध्वीकृतानि तान्येव नालानि न प्रेक्षन्ते ।।

७१४. लच्छिणिलयत्तणुत्ताणवयण गुणिणो सयाणुलग्गस्स ।
नियणालस्स वि विमुहो ता पंकय कस्स समुहो सि ।।४।।

लक्ष्मीनिलयनत्वोत्तानवदन गुणिनः सदानुलग्नस्य ।
निजनालस्यापि विमुखं तत् पङ्कज कस्य संमुखमसि ।।

७१५. वड्ढावियकोसो जं सि कमल परिसोसिएहि पत्तेहिं ।
अच्छउ ता लच्छिवओ तं चिय नामं पि हारिहिसि ।।५।।

वर्धितकोशं यदसि कमल परिशोषितैः पत्रैः ।
आस्तां तावल्लक्ष्मीपदं तदेव नामापि हारयिष्यसि ।।

७१६. मित्तो सूरो कयपत्तपरियरो लच्छियालओ कमलो ।
पयहीणस्स सहारो केणावि न सक्किओ निमिसं ।।६।।

मित्रं सूर्यः, कृतपत्रपरिकरं लक्ष्म्यालयः कमलम् ।
पयोहीनस्य (पदहीनस्य) साधारः केनापि न शक्तो निमिषम् ।।

*७१२. (हे कमल !) तुम जल विकार से अधिक[1] (या अन्य) नहीं जानते, निश्चय ही तुम्हारा समूह उज्ज्वल है, तुम तन्तु-रहित (या गुण-रहित) एवं लक्ष्मी से सेवित हो। देखो तो (वह लक्ष्मी) घर (कमल) को भी नहीं रखती अर्थात् उन्हें श्रीहीन करके अन्त में चली जाती है या तुषारादि से रक्षा नही करती है।

अन्यार्थ—तुम अपने से अन्य अर्थात् दूसरों को नही जानते, निश्चय ही लक्ष्मी द्वारा परिकरीकृत (वाहन बनाये गये) पक्षी (अर्थात् उल्लू) हो। तुम सूर्य-सम्मुख होकर देखो तो, वह (सूर्य) तुम्हारे मुख को भी स्थिर नही होने देता है। (उलूक सूर्य को देखने में असमर्थ रहता है)

*७१३. लक्ष्मी के द्वारा गृहीत (लक्ष्मी के कृपापात्र) व्यक्ति यदि ऊर्ध्व-मुख (ऊपर मुख या दृष्टि वाले) नही हो जाते, तो देखो, भला कमलों को जिन्होंने ऊपर उठाया है, उन नालों को ही वे न देखते ॥ ३ ॥

७१४. हे कमल! लक्ष्मी का निवास होने के कारण तुम्हारा मुख उत्तान (ऊपर) हो गया है। यदि तुम गुणी (गुण या तन्तु से युक्त) और सदा साथ लगे रहने वाले अपने नाल से भी विमुख (दूसरी ओर मुख रखने वाला, प्रतिकूल) हो तो फिर किसके सम्मुख (अनुकूल) हो ? ॥ ४ ॥

७१५. कमल! अपने शुष्क पत्रों (पंखड़ियों) के साथ-साथ तुम ने जो अपना कोश बढ़ा लिया है (अर्थात् पत्रों के सूख जाने पर जो तुम्हारा बीज-कोश बढ़ गया है) (पक्षान्तर—सुपात्रों के नष्ट हो जाने पर जो तुम्हारी निधि बढ़ गई है) तो लक्ष्मीपद (शोभा का स्थान, धन का समूह = लक्ष्मी व्रज) दूर रहे, अपना नाम भी खो दोगे ॥ ५ ॥

७१६. कमल का मित्र सूर्य है (पक्षान्तर में शूर), वह पत्रों द्वारा चारों ओर से घिरा रहता है (उसको चारों ओर से सुपात्र याचक घेरे रहते हैं), वह लक्ष्मी (शोभा और धन) का आलय है परन्तु जब जल (पर या पैर) नहीं रह जाता (पक्षान्तर में जब पद-हीन हो जाता है) तथा क्षणभर के लिए कोई सहारा नहीं देता है ॥ ६ ॥

(समासोक्ति से किसी उच्च-पदारूढ़ व्यक्ति का संकेत है)

---

१. यह अर्थ मूल में 'अप्पा परं' पाठ स्वीकार कर किया गया है।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

*७१७. सरसाण सूरपरिसंठियाण कमलाण कीस उवयारो ।
उक्खयमूला सुक्खंतपंकया कह न संठविया ।।७।।

सरसानां सूर्यपरिसंस्थिताना कमलानां कीदृगुपकारः ।
उत्खातमूलानि शुष्यत्पङ्कानि कथं न संस्थापितानि ॥

८२. हंसमाणसवज्जा [हंसमानसपद्धतिः]

७१८. छंडिज्जइ हंस सरं कत्तो वासो परम्मुहे दिव्वे ।
जाव न ठवेइ चलणे कूडबओ मत्थए एण्हिं ।।१।।

त्यज्यते हंस सरः कुतो वासः पराङ्मुखे दैवे ।
यावन्न स्थापयति चरणौ कूटबको मस्तक इदानीम् ॥

७१९. पढमं चिय जे विगया घणागमे साहु ताण हंसाणं ।
जेहि न दिट्ठं उच्चासणट्ठियं खलबयकुडुबं ।।२।।

प्रथममेव ये विगता घनागमे साधु तेषां हंसानाम् ।
यैर्न दृष्टमुच्चासनस्थितं खलबककुटुम्बम् ॥

७२०. इयरविहंगमपयपंतिचित्तला जत्थ पुलिणपेरंता ।
तत्थ सरे न हु जुत्तं वसियव्वं रायहंसाणं ।।३।।

इतरविहङ्गमपदपङ्क्तिचित्रिता यत्र पुलिनपर्यन्ताः ।
तत्र सरसि न खलु युक्तं वसितव्यं राजहंसानाम् ॥

७२१. विविहविहंगमणिवहेण मंडियं पेच्छिऊण कमलवणं ।
मुक्कं माणब्भरिएहि माणसं रायहंसेहिं ।।४।।

विविधविहङ्गमनिवहेन मण्डितं प्रेक्ष्य कमलवनम् ।
मुक्तं मानभृतैर्मानसं राजहंसैः ॥

८३. चक्कवायवज्जा (चक्रवाकपद्धतिः)

७२२. अद्धत्थमिए सूरे जं दुक्खं होइ चक्कवायस्स ।
तं होउ तुह रिऊणं अहवा ताणं पि मा होउ ।।१।।

अर्धास्तमिते सूर्ये यद् दुःखं भवति चक्रवाकस्य ।
तद्भवतु तव रिपूणामथवा तेषामपि मा भवतु ॥

*७१७. जल में रहने वाले कमल यदि सूर्य के भरोसे रहते हैं, तो उनका कौन सा उपकार हो जाता है। जब कमलों की जड़ें उखाड़ दी गईं और सरोवर का पंक भी शुष्क हो गया, तब सूर्य ने उन्हें क्यों नहीं बचा लिया ॥ ७ ॥

८२—हंस-माणस-वज्जा (हंसमानस-पद्धति)

७१८. हे हंस ! जब तक मायावी वक मस्तक पर पैर न रख दे, तभी तक सरोवर को छोड़ दिया जाता है। दैव के विमुख हो जाने पर निवास कैसा ? ॥ २ ॥

७१९ जो वर्षाकाल मे, पहले ही मानसरोवर को चले गये, उच्चासन पर बैठे वक-परिवार को जिन्होंने नही देखा, वे हंस धन्य हैं ॥ २ ॥

७२०. जहाँ पुलिन का पर्यन्त भाग क्षुद्र (उतर) विहंगों के चरण-चिह्नो से चित्रित है, उस सरोवर मे राजहंसों को नहीं रहना चाहिए ॥ ३ ॥

७२१. मनस्वी राजहंसों ने कमल वन को विविध (क्षुद्र) विहंगों से मण्डित देख कर मानस को छोड़ दिया ॥ ४ ॥

८३—चक्कवाय-वज्जा (चक्रवाक-पद्धति)

७२२. सूर्य के अस्त हो जाने पर चक्रवाकों को जो दुःख होता है, वह तुम्हारे शत्रुओं को हो अथवा उन्हें भी न हो ॥ १ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

७२३. भूमीगयं न चत्ता सूरं दट्ठूण चक्कवाएण ।
जीयग्गल व्व दिन्ना मुणालिया विरहभीएण ॥२॥

भूमिगतं न त्यक्ता सूर्यं दृष्ट्वा चक्रवाकेण ।
जीवार्गलेव दत्ता मृणालिका विरहभीतेन ॥

७२४. अग्गि व्व पउमसंडं चिय व्व नलिणी मडो व्व अप्पा णं ।
चक्केण पियाविरहे मसाणसरिसं सरं दिट्ठं ॥३॥

अग्निरिव पद्मषण्डं चितेव नलिनी मृतक इवात्मा खलु ।
चक्रेण प्रियाविरहे श्मशानसदृशं सरो दृष्टम् ॥

७२५. आसासिज्जइ चक्को जलगयपडिबिंबदंसणासाए ।
तं पि हरंति तरंगा पेच्छह निउणत्तणं विहिणो ॥४॥

आश्वास्यते चक्रो जलगतप्रतिबिम्बदर्शनाशया ।
तामपि हरन्ति तरङ्गाः प्रेक्षध्वं निपुणत्वं विधेः ॥

७२६. आसंति संगमासा गमंति रयणिं सुहेण चक्काया ।
दियहा न य हुंति विओयकायरा कह नु वोलंति ॥५॥

आसते संगमाशया गमयन्ति रजनी सुखेन चक्रवाकाः ।
दिवसा न च भवन्ति वियोगकातराः कथं नु व्यतिक्रामन्ति ॥

७२७. अलियं जंपेइ जणो जं पेम्मं होइ अत्थलोहेण ।
सेवालजीवियाणं कओ धणं चक्कवायाणं ॥६॥

अलीकं जल्पति जनो यत् प्रेम भवत्यर्थलोभेन ।
शैवालजीविकाना कुतो धनं चक्रवाकाणाम् ॥

८४. चंदणवज्जा (चन्दनपद्धतिः)

७२८. सुसिएण निहसिएण वि तह कह वि हु चंदणेण महमहियं।
सरसा वि कुसुममाला जह जाया परिमलविलक्खा ॥१॥

शोषितेन निर्घर्षितेनापि तथा कथमपि खलु चन्दनेन प्रसृतम् ।
सरसापि कुसुममाला यथा जाता परिमलविलक्षा ॥

७२३. सूर्य को पृथ्वी के निकट गया हुआ देख कर विरह-भीत चक्रवाक ने मुँह में (चोंच मे) ली हुई मृणाली को गिराया नहीं। निकलते हुए प्राणों को रोकने के लिए मानों कण्ठ मे अर्गला[1] लगा दी ॥ २ ॥

७२४. चक्रवाक ने प्रिया के वियोग में पद्म-वन को अग्नि, नलिनी को चिता, अपने को मृतक और सरोवर को श्मशान के समान देखा ॥ ३ ॥

७२५. वियोगी चक्रवाक जल मे प्रतिबिम्बित अपनी परछाईं देखने की आशा से आश्वस्त हो जाता, परन्तु तरंगें उसे भी मिटा देती हैं। विधाता की निपुणता देखो ! ॥ ४ ॥

७२६. चक्रवाकों को संगम की आशा रहती है, अतः बैठे रहते हैं एवं सुख (प्रतीक्षा-जन्य सुख) से रातें बिता देते हैं। क्या उन्हें दिनों में सन्ध्या तक बिछुड़ने का भय नही रहता ? वे कैसे बीतते होंगे ? ॥ ५ ॥

७२७. लोग असत्य कहते हैं कि प्रेम धन के लोभ से होता है। शैवाल-जीवी चक्रवाकों के पास धन कहाँ है ? ॥ ६ ॥

८४—चंदणवज्जा (चन्दन-पद्धति)

७२८. शुष्क हो जाने और घिस डाले जाने पर भी चन्दन कुछ इस प्रकार महमहा उठा कि जिससे फूलों की सरस-माला भी उसकी सुगन्ध से लजा गई ॥ १ ॥

---

१. मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥
—काव्य प्रकाश, ८

रवि-अत्थमणि समाउलेण कंठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खंडु मुणालिअहे नउ जीअग्गलु दिण्णु ॥
—हेमचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण

७२९. परसुच्छेयपहरणेण निहसणे नेय उज्झिया पयई ।
चंदण संनयसीसो तेण तुमं वंदए लोओ ॥२॥

परशुच्छेदप्रहरणेन निघर्षणेन नैवोज्झिता प्रकृतिः ।
चन्दन सनतशीर्षस्तेन त्वां वन्दते लोकः ॥

*७३०. उत्तमकुलेसु जम्म तुह चंदण तरुवराण मज्झम्मि ।
दुज्जीहाण खलाण य निच्चं चिय तेण अणुरत्तो ॥३॥

उत्तमकुलेषु जन्म तव चन्दन तरुवराणां मध्ये ।
द्विजिह्वाना खलानां च नित्यमेव तेनानुरक्तः ॥

७३१. एक्को चिय दोसो तारिसस्स चंदणदुमस्स विहिघडिओ ।
जीसे दुट्ठभुयंगा खणं पि पास न मेल्लंति ॥४॥

एक एव दोषस्तादृशस्य चन्दनद्रुमस्य विधिघटितः ।
यस्य दुष्टभुजङ्गाः क्षणमपि पार्श्वं न मुञ्चन्ति ॥

७३२. बहुतरुवराण मज्झे चंदणविडवो भुयंगदोसेण ।
छिज्जइ निरावराहो साहु व्व असाहुसंगेण ॥५॥

बहुतरुवराणा मध्ये चन्दनबिटपो भुजङ्गदोषेण ।
छिद्यते निरपराधः साधुरिवासाधुसङ्गेन ॥

८५. वडवज्जा (वटपद्धतिः)

७३३. जाओ सि कीस पंथे अहवा जाओ सि कीस फलिओ सि ।
अह फलिओ सि महादुम ता सउणविडंबणं सहसु ॥१॥

जातोऽसि कस्मात्पथि, अथवा जातोऽसि कस्मात्फलितोऽसि ।
अथ फलितोऽसि महाद्रुम तच्छकुनविडम्बनां सहस्व ॥

७३४. नीरस-करीर-खरखइरसंकुले विसमसमिमरुद्देसे ।
का होज्ज गई पहियाण जं सि वडपायव न होंतो ॥२॥

नीरसकरीर-खर-खदिरसंकुले विषमशमीमरुदेशे ।
का भवेद्गतिः पथिकानां यदसि वटपादप न भवन् ॥

७२९. परशु के छेदन और प्रहार से और पत्थर पर रगड़ने से भी तुमने अपनी प्रकृति नहीं छोड़ी। चन्दन! इसी से संसार मस्तक झुका कर तुम्हारी वन्दना करता है।

*७३०. हे चन्दन! वृक्षों के मध्य में तुम्हारा सुजन्म उत्तम कुल में हुआ है, तभी तो जिनके दो जिह्वायें हैं और जो दुष्ट हैं, उन (सर्पों) पर नित्य अनुरक्त रहते हो?

(यहाँ 'उत्तम कुल' के द्वारा चन्दन पर व्यंग्य किया गया है)

७३१. उस प्रकार के (नाना गुण-मण्डित) चन्दन मे एक ही विधि-विरचित दोष है कि दुष्ट भुजंग क्षणभर भी उसका साथ नही छोड़ते ॥ ४ ॥

७३२. जैसे असाधु के संग से निरपराध साधु कष्ट पाते हैं, वैसे ही भुजंगों के दोष से बहुत से वृक्षों के मध्य में निरपराध चन्दन काटा जाता है ॥ ५ ॥

(सर्पों को देख कर लोग चन्दन को आसानी से पहचान लेते हैं)

८५—वडवज्जा (वट-पद्धति)

७३३. हे महावृक्ष! तुम मार्ग मे क्यों जनमे? यदि जनमे ही तो फले क्यों? और यदि फले तो अब पक्षियों की विडम्बना सहो ॥ १ ॥

७३४. हे वटवृक्ष! यदि तुम न होते, तो शुष्क करील, तीक्ष्ण खैर और विषम शमी से भरे इस मरुस्थल मे पथिकों की क्या गति होती! ॥ २ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

*७३५. भूमीगुणेण वडपायवस्स जइ तु`गिमा इहं होइ ।
तह वि हु फलाण रिद्धी होसइ बीयाणुसारेण ॥३॥
भूमिगुणेन वटपादपस्य यदि तुङ्गत्वमिह भवति ।
तथापि खलु फलानामृद्धिर्भविष्यति बीजानुसारेण ॥

८६. तालवज्जा (तालपद्धतिः)

७३६. किं ताल तुज्झ तुंगत्तणेण गयणद्धरुद्धमग्गेण ।
छुहजलणताविएहि वि उवहेप्पसि जं न पहिएहिं ॥१॥
किं ताल तव तुङ्गत्वेन गगनार्धरुद्धमार्गेण ।
क्षुधाज्वलनतापितैरप्युपगृह्यसे यन्न पथिकैः ॥

७३७. छायारहियस्स निरासयस्स दूरयरदावियफलस्स ।
दोसेहि समा जा का वि तुंगिमा तुज्झ रे ताल ॥२॥
छायारहितस्य निराश्रयस्य दूरतरदर्शितफलस्य ।
दोषैः समं यत् किमपि तुङ्गत्वं तव रे ताल ॥

७३८. जेहिं नीओ वड्ढि तालो सयसलिलदाणसेवाए ।
तस्सेव जो न फलिओ सो फलिओ कह नु अन्नस्स ॥३॥
यैर्नीतो वृद्धिं तालः शतसलिलदानसेवया ।
तस्यैव यो न फलितः स फलितः कथं न्वन्यस्य ॥

८७. पलासवज्जा [पलाशपद्धतिः]

*७३९. मउलंतस्स य मुक्का तुज्झ पलासा पलास सउणेहिं ।
जेण महुमाससमए नियवयणं झत्ति सामलियं ॥१॥
मुकुलयतश्च मुक्तास्तव पलाशाः पलाश शकुनैः ।
येन मधुमाससमये निजवदनं झटिति श्यामलितम् ॥

७४०. अच्छउ ता फलणिवहं फुल्लणदियहम्मि कलुसियं वयणं ।
इय कलिऊण पलासो झड त्ति मुक्को सपत्तेहिं ॥२॥
आस्तां तावत्फलनिवहः पुष्पणदिवसे कलुषितं वदनम् ।
इति कलयित्वा पलाशो झटिति मुक्तः स्वपत्रैः ॥

*७३५. यद्यपि इस लोक में भूमि (मिट्टी और पद विशेष) के गुण (प्रभाव) से वट वृक्ष ऊँचा हो गया (पक्ष में, महान् हो गया), फिर भी फलों की ऋद्धि (फलों की वृद्धि और लाभ की अधिकता) बीज (नन्हें से बीज और पिता का वीर्य) के अनुसार ही होती है ॥ ३ ॥

८६—तालवज्जा (ताल-पद्धति)

७३६. हे ताल वृक्ष ! आधे आकाश-मार्ग को अवरुद्ध कर लेने वाली तुम्हारी ऊँचाई से क्या ? यदि भूख और गर्मी से तपे बटोही भी तुम्हें ग्रहण नही करते ॥ १ ॥

७३७. अरे ताल ! तुम छाया-हीन हो, किसी को आश्रय नहीं देते हो, परन्तु अपना फल बहुत दूर से दिखाते हो। तुम्हारी जो कुछ ऊँचाई भी है, वह दोषों के बराबर है (अथवा तुम्हारी ऊँचाई जितनी अधिक है, ठीक उतने ही अधिक तुम्हारे दोष भी अर्थात् ऊँचाई की उपमा दोषों से दी जा सकती है) ॥ २ ॥

७३८. जिसने स्वयं सैकड़ो बार पानी देकर अपनी सेवा से तालवृक्ष बडा किया, उसी के लिए जो नहीं फला, वह अन्य के लिए क्या फलेगा ? ॥ ३ ॥

(अनुश्रुति के अनुसार तालवृक्ष बहुत दिनों में फल देता है, तब तक प्रायः लगाने वाले व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है)

८७—पलासवज्जा (पलाश-पद्धति)

*७३९. हे पलाश ! जब तुम मुकुलित हो रहे थे, तभी तुम्हारे पत्ते अपने गुणों द्वारा छोड़ दिये गये (अर्थात् पतझड़ से उत्पन्न होने वाली विवर्णता के कारण गुणहीन हो गये), जिससे वसन्त के समय मे तुम ने अपना मुँह काला कर लिया है (पलाश मुकुल काले होते हैं) ॥ १ ॥

७४०. फलों का समूह तो दूर रहे, फूलते समय ही मुँह काला हो गया—यह समझ कर पक्षियों ने झट पलाश को छोड़ दिया (अपने पत्तों ने पलाश को छोड़ दिया अथवा पक्षी (सपत्र) रूपी सत्पात्रों ने छोड़ दिया अथवा सत्पात्रों के समान स्वपत्रों ने छोड़ दिया) ॥ २ ॥

* विस्तृत विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य ।

*७४१. दट्ठूण किंसुया साहा तं बालाइ कीस वेलविओ ।
अहवा न तुज्झ दोसो को न हु छलिओ पलासेहिं ॥३॥
दृष्ट्वा किंशुक शाखास्त्वं बालया कस्माद् वञ्चितः ।
अथवा न तव दोषः को न खलु च्छलितः पलाशैः ॥

७४२. गुरुविहववित्थरुत्थंभिरे वि किविणम्मि अत्थिणो विहला ।
भण फलिए वि पलासे मणोरहा कस्स जायंति ॥४॥
गुरुविभवविस्तरोत्तम्भनशीलेऽपि कृपणेऽर्थिनो विफलाः ।
भण फलितेऽपि पलाशे मनोरथाः कस्य जायन्ते ॥

७४३. सच्चं पलास जं फुल्लिओ सि फलिओ सि रहणिउंजेसु ।
जइ होज्ज सुखज्जफलो मणं पि ता तुज्झ को मुल्लो ॥५॥
सत्यं पलाश यत्पुष्पितोऽसि फलितोऽसि रहोनिकुञ्जेषु ।
यदि भवेः सुखाद्यफलो मनागपि, तत् तव किं मूल्यम् ॥

८८. वडवाणलवज्जा [वडवानलपद्धतिः]

७४४. सोसणमई उ निवससु वडवाणल मुणइ जाव न समुद्दो ।
जाव य जाणिहिइ फुडं ता न तुमं नेय भुवणयलं ॥१॥
शोषणमतिस्तु निवस वडवानल जानाति यावन्न समुद्रः ।
यावत्समुद्रो ज्ञास्यति स्फुट तावन्न त्वं नैव भुवनतलम् ॥

७४५. का समसीसी तियसिंदयाण वडवाणलस्स सरिसम्मि ।
उवसमियसिहिप्पसरो मयरहरो इंधणं जस्स ॥२॥
का समशीर्षिका त्रिदशेन्द्राणा वडवानलस्य सदृशे ।
उपशमितशिखिप्रसरो मकरालय इन्धनं यस्य ॥

८९. रयणायरवज्जा [रत्नाकरपद्धतिः]

७४६. रयणायरेण रयणं परिमुक्कं जइ वि अमुणियगुणेण ।
तह वि हु मरगयखंडं जत्थ गयं तत्थ वि महग्घं ॥१॥
रत्नाकरेण रत्नं परिमुक्तं यद्यप्यज्ञातगुणेन ।
तथापि खलु मरकतखण्डं यत्र गतं तत्रापि महार्घम् ॥

*७४१. (तुम) पलाश पुष्प (किंशुक) को देख कर रक्तवर्ण वाली शाखा (पुष्पों के कारण पलाश की शाखायें लाल हो जाती हैं) के द्वारा कैसे ठग लिये गये ? अथवा तुम्हारा दोष नहीं है, पलाशों (वृक्षों और राक्षसों) ने किसे नहीं छला ? ॥ ३ ॥

७४२. कृपण प्रचुर वैभव से पूर्ण होता है तब भी याचक कुछ नहीं पाते। बताओ, पलाश के फलने पर भी किसके मन में अभिलाषा उत्पन्न होती है (कौन उसके फलों की इच्छा करता है) ॥ ४ ॥

७४३. पलाश ! एकान्त कुंज में फूले हो, फले हो, यह सच है। यदि तुम्हारे फल किंचित् आस्वाद्य (खाने योग्य) होते, तो क्या तुम्हारा मूल्य होता ? (अर्थात् अमूल्य हो जाते) ॥ ५ ॥

८८—वडवानलवज्जा (वडवानल-पद्धति)

७४४. अरे, समुद्र को सुखाने का विचार करने वाले वडवानल ! जब तक समुद्र नहीं जानता, तब तक रह लो। जब वह सचमुच जान जायगा तब न तुम्ही रहोगे और न संसार ही रहेगा ॥ १ ॥

७४५. अग्नि के प्रसार को शान्त कर देने वाला समुद्र जिसका ईंधन है, उस वडवानल जैसे—(व्यक्ति) से श्रेष्ठ देवताओं की क्या स्पर्धा ? ॥ २ ॥

८९—रयणायरवज्जा (रत्नाकर-पद्धति)

७४६. यद्यपि गुणों को न जानने वाले रत्नाकर (समुद्र) ने रत्न को त्याग दिया, फिर भी वह मरकत-खण्ड (मरकत मणि का टुकड़ा) जहाँ गया, वहीं अमूल्य बन गया ॥ १ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य।

७४७. जलणिहिमुक्केण वि कुत्थुहेण पत्तं मुरारिवच्छयलं ।
तेण पुण तस्स ठाणे न याणिमो को परिट्ठविओ ॥२॥

जलनिधिमुक्तेनापि कौस्तुभेन प्राप्तं मुरारिवक्षःस्थलम् ।
तेन पुनस्तस्य स्थाने न जानीमः कः प्रतिष्ठापितः ॥

७४८. मा दोसं चिय गेण्हह विरले वि गुणे पसंसह जणस्स ।
अक्खपउरो वि उवही भण्णइ रयणायरो लोए ॥३॥

मा दोषमेव गृह्णीत विरलानपि गुणान् प्रशंसतः जनस्य ।
अक्षप्रचुरोऽप्युदधिः भण्यते रत्नाकरो लोके ॥

७४९. वेलामहल्लकल्लोलपेल्लियं जइ वि गिरिणइं पत्तं ।
अणुसरइ मग्गलग्गं पुणो वि रयणायरे रयणं ॥४॥

वेलामहाकल्लोलप्रेरितं यद्यपि गिरिनदीं प्राप्तम् ।
अनुसरति मार्गलग्नं पुनरपि रत्नाकरे रत्नम् ॥

७५०. लच्छीइ विणा रयणायरस्स गंभीरिमा तह च्चेव ।
सा लच्छी तेण विणा भण कस्स न मंदिरं पत्ता ॥५॥

लक्ष्म्या विना रत्नाकरस्य गम्भीरता तथैव ।
सा लक्ष्मीस्तेन विना भण कस्य न मन्दिरं प्राप्ता ॥

७५१. वडवाणलेण गहिओ महिओ य सुरासुरेहि सयलेहिं ।
लच्छीइ उवहि मुक्को पेच्छह गंभीरिमा तस्स ॥६॥

वडवानलेन गृहीतो मथितश्च सुरासुरैः सकलैः ।
लक्ष्म्योदधिर्मुक्तः प्रेक्षध्वं गम्भीरता तस्य ॥

७५२. जलणं जलं च, अमियं विसं च, कण्हो सदाणवो च्चेव ।
खीरोयहि तुज्झ तहा परमहिमा अहियअहिययरो ॥७॥

ज्वलनो जलं चामृतं विषं च कृष्णः सदानवश्चैव ।
क्षीरोदधे तव तथा परमहिमाधिकाधिकतरः ॥

७४७. समुद्र ने कौस्तुभ (मणिविशेष) को त्याग दिया, तब भी उसे विष्णु के वक्षःस्थल पर स्थान प्राप्त हो गया, परन्तु उसने पुनः कौस्तुभ के स्थान पर किसे रखा—नहीं जानते ॥ २ ॥

७४८. दोष ही मत ग्रहण करो, गुण कम होने पर भी व्यक्ति की प्रशंसा करो। समुद्र में यद्यपि अक्ष (कपर्दक या कौड़ी का एक प्रकार एवं सोंचर नमक का लक्षण से साधारण नमक) की ही प्रचुरता है, फिर भी वह संसार में रत्नाकर कहलाता है ॥ ३ ॥

७४९. यद्यपि समुद्र-तट पर फैलने वाली तरंगों से प्रेरित होकर रत्न पहाड़ी नदियों मे पहुँच जाता है, परन्तु (उन्हीं तरंगों के) पीछे लगा हुआ वह पुनः रत्नाकर (रत्नों का भण्डार, समुद्र) में चला जाता है ॥ ४ ॥

७५०. लक्ष्मी के अभाव में भो समुद्र की अगाधता जैसी की तैसी रह गई, परन्तु समुद्र के बिना वह लक्ष्मी, कहो, किस-किस के घर नहीं गई ? ॥ ५ ॥

७५१. समुद्र को वडवानल ने सुखाया, सम्पूर्ण सुरों और असुरों ने मथा तथा लक्ष्मी ने भी छोड़ दिया, फिर भी उसका गाम्भीर्य देखो ॥ ६ ॥

७५२. हे समुद्र ! तुम्हारे भीतर अग्नि और जल, अमृत और विष, विष्णु और दानव—ये सब एक साथ रहते हैं, तुम्हारी महिमा बहुत ही बड़ी है ॥ ७ ॥

७५३. रयणेहि निरंतरपूरिएहि रयणायरस्स न हु गव्वो।
करिणो मुत्ताहलसंसए वि मयविब्भला दिट्ठी ॥८॥

रत्नैर्निरन्तरपूरितै रत्नाकरस्य न खलु गर्वः।
करिणो मुक्ताफलसंशयेऽपि मदविह्वला दृष्टिः॥

७५४. अणवरयं देंतस्स वि तुट्टंति न सायरे वि रयणाइं।
पुण्णक्खएण खिज्जइ न हु लच्छी चायभोएहिं ॥९॥

अनवरतं ददतोऽपि न खलु त्रुट्यन्ति सागरेऽपि रत्नानि।
पुण्यक्षयेण क्षीयते न खलु लक्ष्मीस्त्यागभोगाभ्याम्॥

७५५. रयणायरस्स न हु होइ तुच्छिमा निग्गएहि रयणेहिं।
तह वि हु चंदसरिच्छा विरला रयणायरे रयणा ॥१०॥

रत्नाकरस्य न खलु भवति तुच्छत्वं निर्गतै रत्नैः।
तथापि खलु चन्द्रसदृक्षाणि विरलानि रत्नाकरे रत्नानि॥

७५६. रयणायरचत्तेण वि पत्तं चंदेण हरह तिलयत्तं।
तेण उण तस्स ठाणे न याणिमो को परिट्ठविओ ॥११॥

रत्नाकरत्यक्तेनापि प्राप्तं चन्द्रेण हरस्य तिलकत्वम्।
तेन पुनस्तस्य स्थाने न जानीमः कः प्रतिष्ठापितः॥

७५७. जइ वि हु कालवसेणं ससी समुद्दाउ कह वि विच्छुडिओ।
तह वि हु तस्स पयावं(?पयासो)आणंदं कुणइ दूरे वि॥१२॥

यद्यपि खलु कालवशेन शशी समुद्रात् कथमपि वियोजितः।
तथापि खलु तस्य प्रतापः(? प्रकाशः) आनन्दं करोति दूरेऽपि॥

७५८. रयणाइ सुराण समप्पिऊण वडवाणलस्स छुहियस्स।
अप्पा (? अप्पं) देंतेण तए समुद्द मुद्दंकियं भुवणं ॥१३॥

रत्नानि सुरेभ्यः समर्प्य वडवानलाय क्षुधिताय।
आत्मानं ददता त्वया समुद्र मुद्राङ्कितं भुवनम्॥

७५३. निरन्तर भरे रहने वाले रत्नों से भी रत्नाकर को गर्व नहीं है। किन्तु मौक्तिक का सन्देह होने पर ही (सन्देहमात्र से ही) हाथी की दृष्टि मद (द्रव, गर्व) से विह्वल हो जाती है ॥ ८ ॥

७५४. अनवरत देते रहने पर भी सागर के रत्न क्षीण नहीं होते। लक्ष्मी पुण्य-क्षय से क्षीण होती है, त्याग और भोग से नहीं ॥ ९ ॥

७५५. रत्नों के निकल जाने से रत्नाकर लघु नहीं हो जाता, फिर भी उसमें चन्द्र-जैसे रत्न बिरले ही हैं ॥ १० ॥

७५६. रत्नाकर ने चन्द्रमा को त्याग दिया, फिर भी वह शिव के मस्तक का तिलक बन गया। रत्नाकर ने चन्द्रमा के स्थान पर किसे रखा—नही जानते ॥ ११ ॥

७५७. यद्यपि भाग्यवश (काल परिवर्तन से) चन्द्रमा किसी प्रकार समुद्र से बिछुड़ गया, फिर भी उसका प्रताप (प्रकाश) दूर देश में रहने पर भी सुख देता है ॥ १२ ॥

७५८. रत्नाकर! देवताओं को रत्न सौंप कर और स्वयं को (अपने आप को) भूखे वडवानल के लिए समर्पित कर तुम ने संसार पर अपनी मुहर लगा दी (सब के प्रशंसा-पात्र बन गये) ॥ १३ ॥

७५९. अत्थि असंखा संखा धवला रयणायरस्स संभूया ।
न हु ताण सद्दलद्धी जा जाया पंचजन्नस्स ॥१४॥
सन्ति असंख्याः शंखा धवला रत्नाकरस्य संभूताः ।
न खलु तेषां शब्दलब्धिर्या जाता पाञ्चजन्यस्य ॥

७६०. जाएण तेण धवलीकओ सि नूणं समुद्द संखेण ।
अत्थित्तणण हत्थं पसारियं जस्स कण्हेण ॥१५॥
जातेन तेन धवलीकृतोऽसि नूनं समुद्र शंखेन ।
अर्थित्वेन हस्तः प्रसारितो यस्य कृष्णेन ॥

९०. समुद्दणिंदावज्जा (समुद्रनिन्दापद्धतिः)

७६१. साहीणामयरयणो अमरमरोरं च भुवणमकरंतो ।
उल्लसिरीहि न लज्जसि लहरीहि तरंगिणीणाह ॥१॥
स्वाधीनामृतरत्नोऽमरमदरिद्रं च भुवनमकुर्वन् ।
उल्लसनशीलाभिर्न लज्जसे लहरीभिस्तरङ्गिणीनाथ ॥

७६२. रयणायर त्ति नामं वहंत ता उवहि कि न सुसिओ सि ।
मज्झे न जाणवत्ती अत्थत्थी ज गया पारे ॥२॥
रत्नाकर इति नाम वहंस्तद् उदधे किं न शुष्कोऽसि ।
मध्ये न यानवर्तिनोऽर्थार्थिनो यद्गताः पारे ॥

७६३. उवहि लहरीहि गव्विर गज्जंतो किं न दीह सुसिओ सि ।
जीसे गिम्हपिवासा वलंति वि परम्मुहा पहिया ॥३॥
उदधे लहरीभिर्गर्वोद्वहनशील गर्जन् किं न दीर्घं शुष्कोऽसि ॥
यस्माद् ग्रीष्मपिपासा वलन्तेऽपि पराङ्मुखाः पथिकाः ॥

७६४. सायर लज्जाइ कहं न मुओ चिंताइ कह न वीसन्नो ।
पइ हुंते बोहित्थियहि कओ जलसंगहो अन्नो ॥४॥
सागर लज्जया कथं न मृतश्चिन्तया कथं न विषण्णः ।
त्वयि सति प्रवहणस्थितैः कुतो जलसंग्रहोऽन्यः ॥

७५९. समुद्र में असंख्य श्वेत शंख उत्पन्न हुये हैं, परन्तु उनमें वह गम्भीर ध्वनि नहीं, जो पाञ्चजन्य में है ॥ १४ ॥

७६०. हे समुद्र ! जिसके लिये याचक होकर विष्णु ने भी अपना हाथ फैलाया, उस शंख (पाञ्चजन्य) के उत्पन्न होने से तुम यशस्वी हो गये ॥ १५ ॥

९०—समुद्दणिंदावज्जा (समुद्रनिन्दा-पद्धति)

७६१. हे तरंगिणीनाथ (समुद्र) ! अमृत और रत्न तुम्हारे अधिकार में है, फिर भी जगत् को अमर[1] और धनी नही बना देते ! क्या तुम उल्लसित होने वाली इन लहरों से लज्जित नहीं होते ? ॥ १ ॥

७६२. अरे रत्नाकर-नामधारी समुद्र ! तुम सूख क्यों नहीं गये, क्योंकि धन-लोलुप पोतवाही वणिक् तुम्हारे मध्य से होकर उस पार चले गये (तुम्हारे रत्न लेने के लिए क्षण भर भी नही रुके) ॥ २ ॥

७६३. अरे लहरों से गर्वित रहने वाले समुद्र ! बहुत गरजते हुये तुम शुष्क क्यों न हो गये, क्योंकि ग्रीष्म में प्यासे पथिक भी तुम्हारे निकट से मुँह फेर कर लौट जाते हैं ॥ ३ ॥

७६४. सागर ! लाज से मर क्यों न गये ? चिन्ता से उदास क्यों न हो गये ? तुम्हारे रहते पोत-यात्रियों को पानी का अन्य संग्रह करना पड़ा ॥ ४ ॥

---

१. संस्कृत टीकाकार ने यहाँ अमर का अर्थ देवता किया है जो ठीक नहीं है ।

७६५. बद्धो सि तुमं पीओ सि पुव्वयं लंघिओ सि तं उवहि ।
किं गज्जसि अलियजए न लज्जसे उयहि किं भणिमो ।।५।।
बद्धोऽसि त्वं पीतोऽसि पूर्वं लङ्घितोऽसि त्वदमुधे ।
किं गर्जस्यलीकजये न लज्जस उदधे किं भणामः ।।

७६६. निद्धोयउदयकंखिर पंथिय मा वच्च सायरो एस ।
जत्थ नियत्तइ तण्हा अन्न च्चिय ते सरुद्देसा ।।६।।
निर्धौतोदककांक्षणशील पथिक मा व्रज सागर एषः ।
यत्र निवर्तते तृष्णान्य एव ते सरउद्देशाः ।।

९१. सुवण्णवज्जा (सुवर्णपद्धतिः)

७६७. जलणपवेसो चामीयरस्स कह सहि न जुज्जए काउं ।
हद्धी जस्स परिक्खंति पत्थरा नवरि गुणणिवहं ।।१।।
ज्वलनप्रवेशश्चामीकरस्य कथं सखि न युज्यते कर्तुम् ।
हा धिग्यस्य परीक्षन्ते प्रस्तराः केवलं गुणनिवहम् ।।

७६८. जलणडहणेण न तहा पत्थरघसणेण खंडणे तह य ।
गुंजाहलसमतुलणे जं दुक्खं होइ कणयस्स ।।२।।
ज्वलनदहनेन न तथा प्रस्तरघर्षणेन खण्डने तथा च ।
गुञ्जाफलसमतुलने यद् दुःखं भवति कनकस्य ।।

७६९. जूरिज्जइ किं न जए किं न जरा आवए अकालम्मि ।
जह सक्खर तुलइ खली निरक्खरो कंचणं खंडं ।।३।।
खिद्यते किं न जगति किं न जरागच्छत्यकाले । ...
यथा साक्षरस्तुलयति खटिका निरक्षरः काञ्चनं खण्डम् ।।

७७०. नाराय निरक्खर लोहवंत दोमुह य तुज्झ किं भणिमो ।
गुंजाइ समं कणयं तोलंतो कह न लज्जेसि ।।४।।
नाराच निरक्षर लोहवन् द्विमुख च तव किं भणामः ।
गुञ्जाफलेन समं कनकं तोलयन् कथं न लज्जसे ।।

७६५. अरे समुद्र ! पहले तुम्हें राम ने बाँध लिया, अगस्त्य ने पी डाला और बन्दर लाँघ गये। क्यों गरज रहे हो, निर्लज्ज ! लजाते नहीं, क्या कहें ? ॥ ५ ॥

७६६. अरे विशुद्ध जल की इच्छा वाले पथिक ! मत जाओ, यह समुद्र है। जहाँ तृष्णा निवृत्त होती है, वे सरोवर दूसरे हैं ॥ ६ ॥

९१—सुवण्णवज्जा (सुवर्ण-पद्धति)

७६७. हाय री सखी ! धिक्कार है, जिसके गुणों की परीक्षा निरे पत्थर करते है, वह सुवर्ण अग्नि में प्रवेश क्यों न करे ? ॥ १ ॥

७६८. अग्नि में तपाये जाने पर, पत्थर पर घिसने पर और सोनार के द्वारा काटे जाने पर भी सुवर्ण को वह दुःख नहीं हुआ, जो गुंजा (घुमची) के बराबर तौलने पर हुआ[1] ॥ २ ॥

७६९. संसार मे दुःख क्यों न हों ? असमय में जरावस्था क्यों न आये ? जबकि साक्षर (विद्वान्) खड़िया[2] उठता है और निरक्षर (मूर्ख) सोनार स्वर्ण-खण्ड तौलता है (पक्ष अक्षरांकित तुलादंड से खली तौली जाती है और अक्षरांकशून्य तुलादंड से सोना तौला जाता है) ॥ ३ ॥

७७०. नाराच (तौलने का काँटा) ! तुम निरक्षर हो (मूर्ख हो, तुम्हारे ऊपर अक्षर नहीं अंकित है), लौह युक्त हो (लोभ युक्त हो), दो मुँह वाले हो (दो पलड़ों वाले, चुगली करने वाले), तुम्हें क्या कहे, गुंजा के साथ सुवर्ण को तौलते समय क्यों लज्जित नहीं होते ? ॥ ४ ॥

---

१. कभी काटा गया कभी छेदा गया, कभी पीट के पत्र बनाया गया।
घिस डाला गया कभी पाहन पे, कभी पावक में पिघलाया गया।
इतनी बड़ी साधना का, तप का, प्रतिदान यही ठहराया गया।
घुमची के बराबर कंचन को, जब एक तुला पे चढ़ाया गया॥
न वै ताडनात् तापनाद् वह्नि मध्ये
न वै विक्रयात् क्लिश्यमनोऽहमस्मि।
सुवर्णस्य मे मुख्यदुःखं तदेकं
यतो मा जना गुञ्जयातोलयन्ति॥

२. प्रो० पटवर्धन ने खली का अर्थ ईख किया है। उन्होंने मूल में स्थित खली को खड़ी और खड़ी को खटिका मानकर मराठी शब्द खडी साखर तक पहुचने का प्रयत्न किया है।

७७१. जह कणयं तह पडिमाणपत्थरं पेच्छ तुलइ नाराओ ।
अहवा निरक्खराणं गुणदोसवियारणा कत्तो ॥५॥
यथा कनकं तथा प्रतिमानप्रस्तरं पश्य तोलयति नाराचः ।
अथवा निरक्षराणां गुणदोषविचारणा कुतः ॥

९२. आइच्चवज्जा (आदित्यपद्धतिः)

७७२. भमिओ सि भमसि भमिहिसि अणुदिणु पासम्मि मेरुसिहरस्स।
जइ पावसि कंचणमासयं पि ता सूर सूरो सि ॥१॥
भ्रान्तोऽसि भ्रमसि भ्रमिष्यस्यनुदिनं पार्श्वे मेरुशिखरस्य ।
यदि प्राप्नोषि काञ्चनमाषकमपि तत् सूर्य शूरोऽसि ॥

७७३. वियलियतेएण वि ससहरेण जइ दंसिओ दिणे अप्पा ।
तह जइ रयणीइ तुमं ता सच्चं सूर सूरो सि ॥२॥
विगलिततेजसापि शशधरेण यथा दर्शितो दिन आत्मा ।
तथा यदि रजन्यां त्वं तत्सत्यं सूर्य शूरोऽसि ॥

७७४. उयणं भुवणक्कमणं अत्थमणं एक्कदिवसमज्झम्मि ।
सूरस्स वि तिन्नि दसा का गणणा इयरलोयस्स ॥३॥
उदयनं भुवनाक्रमणमस्तमनमेकदिवसमध्ये ।
सूर्यस्यापि तिस्रो दशाः का गणनेतरलोकस्य ॥

९३. दीवयवज्जा (दीपकपद्धतिः)

७७५. सउणो नेहसउण्णो लोइल्लो लोयलोयणाणंदो ।
नासियतमोहपसरो किं सुयणो नेह जोइक्खो ॥१॥
सगुणः स्नेहसंपूर्ण आलोकवाँल्लोकलोचनानन्दः ।
नाशिततमओघप्रसरः किं सुजनो नेह ज्योतिष्कः ॥

७७६. जोइक्खो गिलइ तमं तं चिय उग्गिलइ कज्जलमिसेणं ।
अहवा सुद्धसहावा हियए कलुसं न धारेंति ॥२॥
ज्योतिष्को गिलति तमस्तदेवोद्गिरति कज्जलमिषेण ।
अथवा शुद्धस्वभावा हृदये कलुषं न धारयन्ति ॥

७७१. अरे देखो, काँटा सोने और पत्थर को बराबर तौल रहा है! अथवा निरक्षरों (अक्षरांकशून्य, मूर्ख) को गुण और दोष का विचार ही कहाँ है ॥ ५ ॥

९२—आइच्चवज्जा (आदित्य-पद्धति)

७७२. अरे सूर! (सूर्य) भूतकाल में मेरु-शिखर के चारों ओर चक्कर काटते रहे, वर्तमान में चक्कर काट रहे हो और भविष्य में चक्कर काटते रहोगे, यदि एक माशा भी सोना पा जाओ, तो समझें कि तुम सच्चे शूर हो (या सच्चे सूर्य हो) ॥ १ ॥

७७३. हे सूर (सूर्य) जैसे निस्तेज हो जाने पर भी चन्द्रमा ने अपने को दिन में दिखला दिया है, वैसे ही यदि तुम भी रात में अपने को दिखा सको, तो समझें कि तुम सच्चे शूर हो या (या सच्चे सूर्य हो) ॥ २ ॥

७७४. एक ही दिन में सूर्य की भी—उदय, भुवनाक्रमण (जगत् आक्रान्त करना या तपना) और अस्त हो जाना—ये तीन अवस्थायें होती हैं। अन्य लोगों की क्या गणना? ॥ ३ ॥

९३—दीवयवज्जा (दीपक-पद्धति)

७७५. सगुण (वर्तिकायुक्त, गुणवान्), स्नेह पूर्ण (तैलसहित, प्रेम युक्त,) आलोकवान् (तेजोमय, कान्तियुक्त), तम (अन्धकार, तमोगुण) के समूह को नष्ट करने वाला और लोगों की आँखों को आनन्द देने वाला कौन है? क्या सज्जन? नहीं, दीपक ॥ १ ॥

७७६. दीपक अन्धकार को निगल जाता है और उसे ही कज्जल के व्याज से उगल देता है अथवा जिनका स्वभाव शुद्ध रहता है, वे कालिमा को हृदय में नहीं रखते ॥ २ ॥

७७७. नियमालएसु मलिणा कुणंति मलिणत्तणं जइच्छाए ।
गुणणेहकंतिजुत्तय न जुज्जए तुज्झ जोइक्ख ॥३॥
निजालयेषु मलिनाः कुर्वन्ति मलिनत्वं यथेच्छम् ।
गुणस्नेहकान्तियुक्त न युज्यते तव ज्योतिष्क ॥

७७८. नियगुणणेहखयंकर मलिणं नियमालयं कुणंतस्स
जोइक्ख तुज्झ छाया परिचत्ता तेण सुयणेहिं ॥४॥
निजगुणस्नेहक्षयंकर मलिनं निजालयं कुर्वतः ।
ज्योतिष्क तव च्छाया परित्यक्ता तेन सुजनैः ॥

७७९. किं तुज्झ पहाए किं गुणेण किं दीव तुज्झ नेहेण ।
छायं जस्स विसिट्ठा दूरे वि चयंति निंदंता ॥५॥
किं तव प्रभया किं गुणेन किं दीप तव स्नेहेन ।
छायां यस्य विशिष्टा दूरेऽपि त्यजन्ति निन्दतः ॥

९४. पियोल्लाववज्जा (प्रियोल्लापपद्धतिः)

७८०. एक्केण विणा पियमाणुसेण बहुयाइ हुंति दुक्खाइं ।
आलस्सो रणरणओऽणिद्दा पुलओ ससज्झसओ ॥१॥
एकेन विना प्रियमानुषेण बहूनि भवन्ति दुःखानि ।
आलस्यं रणरणकोऽनिद्रा पुलकः ससाध्वसः ॥

७८१. एक्केण विणा पियमाणुसेण सब्भावणेहभरिएणं ।
जणसंकुला वि पुहवी अव्वो रण्णं व पडिहाइ ॥२॥
एकेन बिना प्रियमानुषेण सद्भावस्नेहभृतेन ।
जनसंकुलापि पृथ्वी, अहो अरण्यमिव प्रतिभाति ॥

७८२. सो कत्थ गओ सो सुयणवल्लहो सो सुहाण सयखाणी ।
सो मयणग्गिविणासो सो सो सोसेइ मह हिययं ॥३॥
स कुत्र गतः स सुजनवल्लभः स सुखानां शतखनिः ।
स मदनाग्निविनाशः स स शोषयति मम हृदयम् ॥

७७७. अरे दीपक ! मलिन लोग ही अपने घर में यथेच्छ मालिन्य उत्पन्न करते हैं। तुम तो गुण (बाती और अच्छाई) और स्नेह (तेल और प्रेम) से युक्त हो, तुम्हे यह उचित नही है ॥ ३ ॥

७७८. दीपक ! तुम अपने गुण (बाती और अच्छाई) और स्नेह (तेल और प्रेम) को नष्ट कर डालते हो और अपने घर को मलिन बना देते हो। इसी लिये सज्जनों ने तुम्हारी छाया का परित्याग कर दिया ॥ ४ ॥

(दीपक, खर और गज की छाया त्याज्य है—संस्कृत टीकाकार)

७७९. दीपक ! तुम्हारे गुण (बाती, अच्छाई), प्रभा और स्नेह (तेल, प्रेम) से क्या ? जिसकी छाया को भी विशिष्ट लोग निन्दा करते हुये दूर से ही त्याग देते हैं ॥ ५ ॥

९४—पियोल्लाव-वज्जा (प्रियोल्लाप-पद्धति)

७८०. एक ही प्रिय मनुष्य के बिना बहुत से दुःख हो जाते हैं—आलस्य, औत्सुक्य, अनिद्रा और पुलक के साथ-साथ भय ॥ १ ॥

७८१. अहो ! सच्चे प्रेम से परिपूर्ण एक ही प्रिय मनुष्य के अभाव में जनसंकुल पृथ्वी भी वन-जैसी लगती है ॥ २ ॥

७८२. वह कहाँ गया ? वह सुजन वल्लभ था, वह सैकड़ों सुखों की खानि था, वह मदनाग्नि-विनाशक था, आज वही मेरे हृदय का शोषण कर रहा है ॥ ३ ॥

७८३. सो होहिइ को वि दिणो जत्थ पिओ बाहुपंजरविलीणो।
रइरहसखेयखिन्नो निज्झरइ पवासदुक्खाइं ॥४॥
तद्भविष्यति किमपि दिनं यत्र प्रियो बाहुपञ्जरविलीनः।
रतिरभसखेदखिन्नो निःक्षरति प्रवासदुःखानि ॥

७८४. आविहिइ पिओ चुंबिहिइ निट्ठुरं चुंबिऊण पुच्छिहिइ।
दइए कुसल त्ति तुमं नमो नमो ताण दिवसाणं ॥५॥
एष्यति प्रियश्चुम्बिष्यति निष्ठुरं चुम्बित्वा प्रक्ष्यति।
दयिते कुशलेति त्वं नमो नमस्तेभ्यो दिवसेभ्यः ॥

७८५. धन्नं तं चेव दिणं सा रयणी सयललक्खणसउण्णा।
अमयं तं पि मुहुत्तं जत्थ पिओ झत्ति दीसिहिइ ॥६॥
धन्यं तदेव दिनं सा रजनी सकललक्षणसंपूर्णा।
अमृतं सोऽपि मुहूर्तो यत्र प्रियो झटिति द्रक्ष्यते ॥

७८६. दूरयरदेसपरिसंठियस्स पियसंगमं महंतस्स।
आसाबंधो च्चिय माणुसस्स अवलंबए जीवं ॥७॥
दूरतरदेशपरिसंस्थितस्य प्रियसंगमं काङ्क्षतः।
आशाबन्ध एव मानुषस्यावलम्बते जीवम् ॥

७८७. हिययट्ठिओ वि सुहवो तह विहु नयणाण होइ दुप्पेच्छो।
पेच्छह विहिणा न कया मह हियए जालयगवक्खा ॥८॥
हृदयस्थितोऽपि सुभगस्तथापि खलु नयनयोर्भवति दुष्प्रेक्षः।
प्रेक्षध्वं विधिना न कृता मम हृदये जालकगवाक्षाः।

९५. दोसियवज्जा (दौषिकपद्धतिः)

७८८. दीहं लण्हं बहुसुत्तरुंदयं कडियलम्मि सुहजणयं।
तह वासं च महग्घं दोसिय कडिलम्ह पडिहाइ ॥१॥
दीर्घं श्लक्ष्णं बहुसूत्रविशालं कटितले सुखजनकम्।
तथा वासश्च महार्घं दौषिक कटिवस्त्रं मम प्रतिभाति ॥

७८३. क्या वह भी कोई दिन होगा, जब प्रियतम बाहु-पाश (आलिंगन) में आयेंगे और रति के आनन्द से खिन्न होकर (थककर) प्रवास के दिनों को भूल से जायेंगे ॥ ४ ॥

७८४. प्रियतम आयेंगे, निर्दयता-पूर्वक चुम्बन करेंगे और चुम्बन करके पूछेंगे—प्रिये ! तुम कुशल से हो न ? उन दिनों को नमस्कार है, नमस्कार ॥ ५ ॥

७८५. वही दिन धन्य है, वह रात सम्पूर्ण लक्षणों से पूर्ण है और वह मुहूर्त भी अमृत है, जब सहसा प्रियतम दिखाई देंगे ॥ ६ ॥

७८६. दूरतर देश में रहने वाले और प्रियतम के संगम की इच्छा रखने वाले मनुष्य के जीवन को आशाबन्धन ही सहारा देता रहता है ॥ ७ ॥

७८७. देखो, प्रियतम हृदय में रहकर भी नयनों को नहीं दिखाई देते। विधाता ने मेरे हृदय में जालीदार झरोखे नहीं रच दिये ! ॥ ८ ॥

९५. दोसिय-वज्जा (दौषिक-पद्धति)

७८८. हे दौषिक ! (वस्त्र-विक्रेता) मुझे ऐसा कटिवस्त्र रुचता है, जो दीर्घ, मृदु, घने सूतों वाला एवं चौड़ा हो तथा जिसका कपड़ा बहु-मूल्य हो। (मुझे ऐसा पति[1] रुचता है, जो लम्बा, कोमल, सुभाषी तथा मोटा हो और जिसकी कटि सुखद हो) ॥ १ ॥

---

१. संस्कृत टीकाकार ने वस्त्र को स्त्री का प्रतीक मानकर व्याख्या की है। मैंने उसे पुरुष का प्रतीक मानकर अनुवाद किया है।

७८९. माणविहूणं रुंदीइ छोडयं सिलघोयगयच्छायं ।
जं वसणं न सुहावइ मुय दूरं नम्मयाडे तं ॥२॥
मानविहीनं विस्तारेण त्यक्तं शिलाधौतगतच्छायम् ।
यद्वसनं न सुखयति मुञ्च दूरं नर्मदातटे तत् ॥

७९०. पम्मुहसुत्तं अट्ठीसुहावहं जणियरायपुलइल्लं ।
दोसिय दिज्जंतं पि हु नारंगं अम्ह पडिहाइ ॥३॥
प्रमुखसूत्रमस्थिसुखावहं जनितरागपुलकवत् ।
दौषिक दीयमानमपि खलु नारङ्गं मम प्रतिभाति ॥

७९१. जं पक्खालियसारं जं गरुयं चेव खममहग्घं च ।
तं दोसिय अम्हाणं दंसिज्जउ किं वियारेण ॥४॥
यत्प्रक्षालितसारं यद् गुरुकं चैव क्षममहार्घं च ।
तद् दौषिकास्माकं दर्श्यतां किं विचारेण ॥

७९२. दोसिय घणगुणसारं सुविणीयं सुट्ठु सोहसंजणयं ।
दंसहि मा कुण खेयं तं अम्ह जणइ परिओसं ॥५॥
दौषिक घनगुणसारं सुविनीतं सुष्ठु शोभासंजनकम् ।
दर्शय मा कुरु खेदं तदस्माकं जनयति परितोषम् ॥

७९३. जह पढमे तह दीसइ अवसाणे साडयस्स निव्वहणं ।
तं फुडु अम्ह नियंबे दोसिय फुट्टं पि पडिहाइ ॥६॥
यथा प्रथमे तथा दृश्यतेऽवसाने शाटकस्य निर्वहणम् ।
तत् स्फुटं मम नितम्बे दौषिक स्फुटितमपि प्रतिभाति ॥

७८९. जिसमें लम्बाई न हो, विस्तार (चौड़ाई) में छोटा हो, शिला पर धोने से जिसका रंग चला गया हो, (फीका हो गया हो) वह वस्त्र मुझे नहीं सुहाता। उसे दूर नर्मदा के तट पर छोड़ दो (जो नाटा हो, दुबला-पतला हो, जो शील एवं कान्ति से शून्य हो, वह पुरुष मुझे नहीं सुहाता) ॥ २ ॥

७९०. दौषिक (वस्त्र-विक्रेता) ! जो श्रेष्ठ सूत्रों से बुना है, अस्थियों को सुखदायक है, हृदय में अनुराग और शरीर में पुलक उत्पन्न करने वाला है, वह वस्त्र दिये जाने पर भी यदि रंग-हीन है, तो मुझे नहीं रुचता (जो पुरुष सुभाषी, शरीर को सुखद, प्रेम एवं पुलक उत्पन्न करने वाला है, वह यदि नीरस है तो मुझे पसन्द नहीं है) ॥ ३ ॥

७९१. दौषिक ! क्यों विचार करते हो ? जो धोने पर चमके, बड़ा हो, टिकाऊ हो और बहुमूल्य हो, वही वस्त्र मुझे दो ! (जिसका मुँह धोने पर सुन्दर लगे, जो महान् हो, जो सुरत में समर्थ एवं दुर्लभ (महार्घ) हो, वह पुरुष मुझे बिना विचारे दो) ॥ ४ ॥

७९२. दौषिक ! कष्ट मत दो (या कष्ट मत करो), जो घने सूतों के कारण श्रेष्ठ हो, अच्छे ढंग से बुना हो, सुन्दर हो, शोभाजनक हो, वही वस्त्र दिखाओ, वही मुझे सन्तोष देता है (जो अनेक गुणों से श्रेष्ठ हो, विनम्र हो, सुन्दर हो और शोभा उत्पन्न करने वाला हो, वही पति मुझे दो ॥ ५ ॥

७९३. जो शाटक (वस्त्र विशेष, साड़ी) पहले दिन पहनने पर जैसा लगता है, वैसा ही अन्त में लगता है, वह सचमुच मेरे नितम्बों पर फट जाने पर भी अच्छा लगता है (सदा एक रस पुरुष ही मुझे पसन्द है) ॥ ६ ॥

९६. पज्जंतगाहाजुयलं (पर्यन्तगाथायुगलम्)

अह पज्जंतगाहाजुयलं भणइ ।

७९४. इय कइयणेहि रइए वज्जालए सयललोयहिट्ठिए ।
पत्थावे गोट्ठिट्ठिय इच्छियगाहा पढिज्जंति ।।१।।

इति कविजनै रचिते व्रज्यालये सकललोकाभीष्टे।
प्रस्तावे गोष्ठीस्थित ईप्सितगाथाः पठ्यन्ते ।।

७९५. एयं वज्जालग्गं ठाणं गहिऊण पढइ जो को वि ।
नियठाणे पत्थावे गुरुत्तणं लहइ सो पुरिसो ।।२।।

एतद् व्रज्यालग्नं स्थानं गृहीत्वा पठति यः कोऽपि ।
निजस्थाने प्रस्तावे गुरुत्वं लभते स पुरुषः ।।

९६. पज्जंतगाहाजुयलं (पर्यन्तगाथायुगलम्)

७९४. कविजनों के द्वारा रचित, सब लोगोंको अभीष्ट 'वज्जालय' में जो प्रिय गाथायें हैं, वे प्रसंगानुसार गोष्ठी में पढ़ी जाती हैं ॥ १ ॥

७९५. जो कोई भी इस वज्जालग्ग को स्थान देख कर पढ़ता है, वह पुरुष अपने स्थान और अवसर पर गुरुत्व प्राप्त करता है ॥ २ ॥

परिशिष्ट 'क'

अतिरिक्त गाथाएँ

गाहावज्जा

१५*१. गाहा रुअइ अणाहा सीसे काऊण दो वि हत्थाओ ।
सुकईहि दुक्खरइया सुहेण मुक्खो विणासेइ ॥१॥
गाथा रोदित्यनाथा शीर्षे कृत्वा द्वावपि हस्तौ ।
सुकविभिर्दुःखरचिता सुखेन मूर्खो विनाशयति ॥

१६*१. कुप्पाढएहि कुल्लेहएहि अत्थं अयाणमाणेहिं ।
नयरि व्व छत्तभंगे लुंच पलुंचीकिया गाहा ॥१॥
कुपाठकैः कुलेखकैरर्थमजानद्भिः ।
नगरीव च्छत्रभङ्गे लुञ्चप्रलुञ्चीकृता गाथा ॥

१६*२. वाससएण वि बद्धा एक्का वि मणोहरा वरं गाहा ।
लक्खणरहिया न उणो कोडी वि खणद्धमेत्तेण ॥२॥
वर्षशतेनापि बद्धा एकापि मनोहरा वरं गाथा ।
लक्षणरहिता न पुनः कोटिरपि क्षणार्धमात्रेण ॥

१८*१. गाहाहि को न हीरइ पियाण मित्ताण को न संभरइ ।
दूमिज्जइ को न वि दूमिएण सुयणेण रयणेण ॥१॥
गाथाभिः को न ह्रियते प्रियाणां मित्राणां को न संस्मरति ।
दूयते को नापि दूनेन सुजनेन रत्नेन ॥

कव्ववज्जा

३१*१. सरसा वि हु कव्वकहा परिओसं जणइ कस्स वि मणम्मि।
वियसंति न सयलतरू वरतरुणीचरणफासेण ॥१॥
सरसापि खलु काव्यकथा परितोषं जनयति कस्यापि मनसि ।
विकसन्ति न सकलतरवो वरतरुणीचरणस्पर्शेन ॥

हस्तप्रति 'स' में उपलब्ध अतिरिक्त गाथायें

(प्रो० पटवर्धन ने इन गाथाओं को परिशिष्ट में दिया है। हमने उन्ही का अनुसरण किया है। बाईं ओर उस गाथा का क्रमांक दिया गया है, जिसके पश्चात् अतिरिक्त गाथा पाई जाती है और तारकांक के पश्चात् अतिरिक्त गाथा का क्रमाक है)

गाहावज्जा

१५*१. अनाथ गाथा शिर पर दोनों हाथ रख कर रोती है—कवियों ने मुझे दुःख से (कष्ट-पूर्वक) रचा है, परन्तु मूर्ख सुख से नष्ट कर रहा है ॥ १ ॥

१६*१. जैसे राजा की मृत्यु हो जाने पर नगरी की दुर्दशा हो जाती है, वैसे ही कुपाठकों, कुलेखकों और अर्थ को न समझने वालों ने गाथा को नोंच-खसोट डाला है ॥ १ ॥

१६*२. सौ वर्षों में रची गई एक भी मनोहर गाथा श्रेष्ठ है, परन्तु आधे क्षण में रची हुई करोड़ों लक्षण-हीन गाथायें श्रेष्ठ नही हैं ॥ २ ॥

१८*१. गाथायें किसे आकृष्ट नही करतीं? प्रिय मित्रों को कौन स्मरण नही करता? सज्जन-शिरोमणि के दुःखी होने पर कौन दुःखी नहीं होता? ॥ १ ॥

कव्ववज्जा

३१*१. सरस गाथा (काव्य-कथा) भी किसी बिरले व्यक्ति के मन में ही परितोष उत्पन्न करती है (सबके नहीं), सुन्दर तरुणियों के चरणों के स्पर्श से सभी वृक्ष नहीं विकसित होते ॥ १ ॥

३१*२. अणुसरइ मग्गलग्गं अज्ज वि कइमहुयराण रिछोली ।
ताण छइल्लाण नमो पाइयकइगंधहत्थीणं ॥२॥
अनुसरति मार्गलग्नमद्यापि कविमधुकराणा पङ्क्तिः ।
तेषां छेकाना नमः प्राकृतकविगन्धहस्तिनाम् ॥

३१*३. डज्झउ सक्कयकव्व सक्कयकव्वं च निम्मियं जेण ।
वसहरम्मि पलित्ते तडयडतट्टत्तणं कुणइ ॥३॥
दह्यतां संस्कृतकाव्यं संस्कृतकाव्यं च निर्मितं येन ।
वंशगृहे प्रदीप्ते तडतडशब्दं करोति ॥

३१*४. पाइयकव्वुल्लावे पडिवयण सक्कएण जो देइ ।
सो कुसुमसत्थरं पत्थरेण दलिउ विणासेइ ॥४॥
प्राकृतकाव्योल्लापे प्रतिवचन सस्कृतेन यो ददाति ।
स कुसुमस्रस्तरं प्रस्तरेण दलित्वा विनाशयति ॥

३१५. छंदेण विणा कव्वं लक्खणरहियम्मि सक्कयालावं ।
रूवं विणा मरट्टो तिण्णि वि मोहं न पावंति ॥५॥
छन्दसा विना काव्यं लक्षणराहित्ये संस्कृतालाप ।
रूप विना गर्वस्त्रीण्यपि शोभा न प्राप्नुवन्ति ॥

३१*६. तं किं वुच्चइ कव्वं तेण कएणावि विणडिओ अप्पा ।
एक्कसुय व्व कुडुंबे हत्था हत्थे न जं भमइ ॥६॥
तत् किमुच्यते काव्यं तेन कृतेनापि विनटित आत्मा ।
एकसुत इव कुटुम्बे हस्ताद्धस्ते न यद् भ्रमति ॥

३१*७. अइचंपियं विणस्सइ दंतच्छेएण होइ विच्छाय ।
ढलहलयं चिय मुच्चइ पाइयकव्व च पेम्मं च ॥७॥
अतिनिपीडितं विनश्यति दन्तच्छेदेन भवति विच्छायम् ।
शिथिलं नैव मुच्यते प्राकृतकाव्यं च प्रेम च ॥

३१*२. जिनके पीछे-पीछे कविरूपी भ्रमरों की पंक्ति आज भी चल रही है, उन प्राकृत के विदग्ध-रूपी गन्धहस्तियों (मद-गन्ध-युक्त हाथियों) को नमस्कार है ॥ २ ॥

३१*३. संस्कृत-काव्य भस्म हो जाय और जिसने संस्कृत काव्य रचा है, वह भी। बाँस के घर में आग लगने पर तड़-तड़ का कटु शब्द होता है ॥ ३ ॥

(संस्कृत काव्य-पाठ वैसा ही कटु लगता है जैसा बाँस के घर में आग लगने पर तड-तड का शब्द)

३१*४. प्राकृत-काव्य पढ़ने पर जो उसका उत्तर संस्कृत में देता है, वह पुष्प-शय्या को पत्थर से पीटकर नष्ट कर देता है ॥ ४ ॥

३१*५ छन्द के बिना काव्य, व्याकरण के बिना संस्कृत-भाषण, और रूप के बिना गर्व—ये तीनों शोभा नही पाते ॥ ५ ॥

३१*६. जो परिवार के इकलौते पुत्र के समान हाथ-हाथ पर नहीं फिरता अर्थात् जन-जन के पास नही पहुँचता, वह काव्य क्यों पढ़ा जाता है ? उसकी रचना भी करके कवि ने अपनी विडम्बना की है ॥ ६ ॥

३१*७. प्राकृत काव्य और प्रेम—ढीले ही छोड़ दिये जाते हैं। दोनों ही दन्तच्छेद (दाँत टूटना और दाँत से काट लेना) से श्रीहीन हो जाते हैं ॥ ७ ॥

सज्जणवज्जा

४८*१. खुहइ न कडुयं जंपइ लेइ न दोसे गुणे पयासेइ ।
रूसंताण न रूसइ दक्खिण्णमहोयही सुयणो ॥१॥
क्षुभ्यति न कटुकं जल्पति लाति न दोषान् गुणान्प्रकाशयति ।
रुष्यतां न रुष्यति दाक्षिण्यमहोदधिः सुजनः ॥

४८*२. सुयणस्स होइ सुक्खं न तेत्तियं जेत्तिय दुहं होइ ।
जं ज पिच्छइ दुहियं त त अणुसोयमाणस्स ॥२॥
सुजनस्य भवति सौख्यं न तावद्यावद् दु खं भवति ।
यं यं प्रेक्षते दु:खितं तं तमनुशोचतः ॥

४८*३. होंति परकज्जणिरया नियकज्जपरंमुहा फुडं सुयणा ।
चदो धवलेइ महि न कलंक अत्तणो फुसइ ॥३॥
भवन्ति परकार्यनिरता निजकार्यपराङ्मुखाः स्फुटं सुजनाः ।
चन्द्रो धवलयति मही न कलङ्कमात्मन. प्रोञ्छति ॥

४८*४. सच्चुच्चरणा पडिवन्नपालणा गरुयभारणिव्वहणा ।
धीरा पसन्नवयणा सुयणा चिरजीवणा होंतु ॥४॥
सत्योच्चरणाः प्रतिपन्नपालना गुरुकभारनिर्वहणा. ।
धीराः प्रसन्नवदनाः सुजनाश्चिरजीवना भवन्तु ॥

४८*५. विहवक्खए वि सुयणो सेवइ रण्णं न जंपए दीणं ।
मरणे वि महग्घयरं न विक्कए माणमाणिक्कं ॥५॥
विभयक्षयेऽपि सुजनः सेवतेऽरण्यं न जल्पति दीनम् ।
मरणेऽपि महार्घतरं न विक्रीणीते मानमाणिक्यम् ॥

दुज्जणवज्जा

६४*१. तं नत्थि घरं तं न नत्थि देउलं राउलं पि तं नत्थि ।
जत्थ अकारणकुविया दो तिन्नि खला न दीसंति ॥१॥
तन्नास्ति गृहं तन्नास्ति देवकुलं राजकुलमपि तन्नास्ति ।
यत्राकारणकुपिता द्वौ त्रयः खला न दृश्यन्ते ॥

सज्जणवज्जा

४८*१. सज्जन दाक्षिण्य का समुद्र है, वह क्षुब्ध होता है, कटु नहीं बोलता, दोष नहीं ग्रहण करता, गुणों को प्रकाशित करता है और रूठने वालों पर भी नही रूठता ॥ १ ॥

४८*२. सज्जन को जितना दुःख होता है, उतना सुख नहीं, क्योंकि वह जिसे-जिसे दुःखी देखता है, उसी-उसी के लिये शोक करने लगता है ॥ २ ॥

४८*३. सज्जन स्पष्टतया (या सचमुच) अपने कार्य से विमुख हो-कर परकार्य में निरत रहते है। चन्द्रमा पृथ्वी को धवलित करता रहता है, अपना कलंक नही पोंछता ॥ ३ ॥

४८*४. जो सत्यवचन का उच्चारण करते हैं, अंगीकृत का पालन करते हैं, जो गुरुभार वहन करते रहते है और प्रसन्न-मुख रहते हैं, वे धैर्यवान् सज्जन चिरायु हों ॥ ४ ॥

४८*५. यह गाथा धीरवज्जा में गाथा क्रमांक ९४ में किंचित् पाठ-भेद के साथ आ चुकी है ॥ ५ ॥

दुज्जणवज्जा

६१*१. वह घर नहीं, वह मन्दिर नहीं और वह राजकुल नहीं, जहाँ अकारण कुपित होने वाले दो-तीन दुष्ट न दिखाई दें ॥ १ ॥

६४*२. खलसंगे परिचत्ते पेच्छह तिल्लेण जं फलं पत्तं ।
मियणाहिसुरहिवासियपहुसीसं उवलहंतेण ॥२॥
खलसङ्गे परित्यक्ते प्रेक्षध्वं तैलेन यत् फलं प्राप्तम् ।
मृगनाभिसुरभिवासितप्रभुशीर्षम् उपलभमानेन ॥

६४*३. धन्ना बहिरंधलिया दो च्चिय जीवंति माणुसे लोए ।
न सुणंति पिसुणवयणं खलस्स रिद्धी न पेच्छंति ॥३॥
धन्यौ बधिरान्धौ द्वावेव जीवतो मानुषे लोके ।
न शृण्वन्ति पिशुनवचनं खलस्य ऋद्धीर्न प्रेक्षन्ते ॥

६४*४. आरंभ च्चिय चडुयारयाण निष्पन्नकज्जविमुहाणं ।
मंडलसुरयाण व दुज्जणाण मग्गो च्चिय अउव्वो ॥४॥
आरम्भ एव चाटुकारकाणा निष्पन्नकार्यविमुखानाम् ।
मण्डलसुरतानामिव दुर्जनाना मार्ग एवापूर्वः ॥

६४*५. पयडियपयावगुणकित्तणेण लज्जंति जे महासत्ता ।
इयरा पुण अलियपसंसणे वि अंगे न मायंति ॥५॥
प्रकटितप्रतापगुणकीर्तनेन लज्जन्ते ये महासत्त्वाः ।
इतरे पुनरलीकप्रशंसनेऽप्यङ्गे न मान्ति ॥

मित्तवज्जा

७२*१. सुरसरिपूरं वडविडवितुंगिमा सुयणलोयपडिवन्नं ।
पढमं चिय ते लहुया पच्छा जायंति गरुयाइं ॥१॥
सुरसरित्पूरं वटविटपितुङ्गता सुजनलोकप्रतिपन्नम् ।
प्रथमं चैव ते लघुका पश्चाद् गुरुकाणि ॥

७२*२. अदिट्ठे रणरणओ दिट्ठे ईसा अदिट्ठए माणो ।
दूरं गए वि दुक्खं पिए जणे सहि सुहं कत्तो ॥२॥
अदृष्टे रणरणको दृष्ट ईर्ष्या अदृष्टे मानः ।
दूरं गतेऽपि दुःखं प्रिये जने सखि सुखं कुतः ॥

६४*२. खल (खली और दुष्ट) का संग छोड़ देने से तेल ने जो फल पाया, उसे देख लो—कस्तूरी की महक से महकते हुये राजा के शिर पर उसे स्थान मिल गया ॥ २ ॥

६४*३. बहरे और अन्धे धन्य हैं, वे ही मनुष्यलोक मे जीवित हैं क्योंकि वे न तो निन्दकों के वचन सुनते हैं और न खलों का वैभव देखते हैं ॥ ३ ॥

६४*४. कुत्तों के मैथुन के समान दुष्टों का मार्ग ही अपूर्व है। वे प्रारम्भ में चाटुवाक्य बोलते है और कार्य पूरा हो जाने पर मुँह फेर लेते हैं (कुत्ते भी मैथुन के पूर्व चाटुकारिता करते हैं और कार्य पूरा हो जाने पर मुँह दूसरी ओर कर लेते है) ॥ ४ ॥

६४*५. जो महासत्त्व (महापुरुष) होते है, वे अपने प्रताप का वर्णन होने पर लज्जित हो जाते है। क्षुद्र लोग तो झूठी प्रशंसा से ही फूले नहीं समाते ॥ ५ ॥

मित्तवज्जा

७२*१. गंगा का प्रवाह, वटवृक्ष की तुंगता, सुजनो का अंगोकार—ये पहले छोटे ही रहते हैं, पश्चात् वृद्धि प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

७२*२. प्रिय के न देखने पर औत्सुक्य, देखने पर ईर्ष्या, अधिक प्रेम होने पर मान और दूर चले जाने पर दुःख होता है। सखि ! प्रिय से सुख कहाँ मिलता है ? ॥ ३ ॥

७२*३. अज्जाहं पुप्फवई तुमं पि रे चुंबणसयण्हो ।
तह चुंब जह न छिप्पसि भणिऊण समप्पिओ अहरो॥३॥

अद्याहं पुष्पवती त्वमपि रे चुम्बनसतृष्णः ।
तथा चुम्ब यथा न स्पृशसि भणित्वा समर्पितोऽधरः ॥

७२*४. हत्थे ठियं कवालं न मुयइ वराई खणं पि खट्टंगं ।
सा निद्दय तुज्झ कए बाला कावालिणी जाया ॥४॥

हस्ते स्थितं कपाल न मुञ्चति वराकी क्षणमपि खट्वाङ्गम् ।
सा निर्दय तव कृते बाला कपालिनी जाता ॥

७२*५. कीरइ समुद्दतरणं पविसिज्जइ हुयवहम्मि पज्जलिए ।
आयामिज्जइ मरणं नत्थि दुलंघ सिणेहस्स ॥५॥

क्रियते समुद्रतरणं प्रविश्यते हुतवहे प्रज्वलिते ।
आकाम्यते मरणं नास्ति दुर्लङ्घ्यं स्नेहस्य ॥

७२*६. मा जाणसि वीसरियं तुह मुहकमलं विदेसगमणम्मि ।
सुन्नं भमइ करंकं जत्थ तुमं जीवियं तत्थ ॥६॥

मा जानासि विस्मृतं तव मुखकमलं विदेशगमने ।
शून्यं भ्रमति करंको यत्र त्वं जीवितं तत्र ॥

७२*७. रणरणइ घर रणरणइ देउलं राउलं पि रणरणइ ।
एक्केण विणा सुंदरि रणरणइससायरा पुहवी ॥७॥

रणरणकं करोति गृहं रणरणकं करोति देवकुल राजकुलमपि
रणरणकं करोति ।
एकेन विना सुन्दरि रणरणकं करोति ससागरा पृथ्वी ॥

७२*८. बहले तमंधयारे विज्जुज्जोएण दीसए मग्गो ।
अहिसारियाण नेहो अत्थि-अणत्थी पयासेइ ॥८॥

बहले तमोऽन्धकारे विद्युदुद्योतेन दृश्यते मार्गः ।
अभिसारि काणां स्नेहोऽस्तिनास्ति प्रकाशयति ॥

७२*३. "अरे आज मैं पुष्पवती (रजस्वला) हूँ और तुम भी चुम्बन के प्यासे हो रहे हो, ऐसा चूमना कि छू न जाय" कहकर नायिका ने अधर उसकी ओर कर दिया ॥ ३ ॥

७२*४. यह गाथा किंचित् पाठ-भेद से ओलुग्गाविया-वज्जा में गाथा क्रमांक ४३६ पर आ चुकी है ॥ ४ ॥

७२*५. समुद्र का संतरण किया जाता है, प्रज्ज्वलित हुताशन में प्रवेश किया जाता है, मृत्यु का वरण किया जाता है—प्रेम के लिये कुछ दुर्लंघ्य नहीं है ॥ ५ ॥

७२*६. विदेश जले जाने पर तुम्हारा मुखपंकज भूल गया होगा—यह मत समझ लेना; रिक्त अस्थिपंजर (करंक) ही डोल रहा है, जीव वही है, जहाँ तुम हो ॥ ६ ॥

७२*७. घर दुःख देता है, देव-मन्दिर दुःख देता है और राजभवन भी दुःख ही देता है। अकेली उसी (प्रेमी) के बिना समुद्र से घिरी सम्पूर्ण पृथ्वी कष्टमय हो गई है ॥ ७ ॥

७२*८. घनान्धकार में बिजली की कौंध से मार्ग दिखाई देता है। अभिसारिकाओं का प्रेम—मार्ग में क्या है, क्या नहीं ? —यह प्रकाशित कर देता है ॥ ८ ॥

(बिजली की जरा-सी कौंध अँधेरे में मार्ग दिखाने के लिये पर्याप्त है, क्योंकि उन्हे अपने प्रेम से ही मार्ग-दर्शन होता है)

नेहवज्जा

८०*१. गुणवज्जिए वि नेहो अह नेहो होइ कस्स वि कहं पि ।
मोत्तूण मणहरदुमे निंबम्मि दिवायरो वसइ ॥१॥
गुणवर्जितेऽपि स्नेहोऽथ स्नेहो भवति कस्यापि कथमपि ।
मुक्त्वा मनोहरद्रुमान् निम्बे दिवाकरो वसति ॥

८०*२. दूरयरदेसपरिसंठियस्स पियसंगमं वहंतस्स ।
आसाबंधो च्चिय माणुसस्स परिरक्खए जीयं ॥२॥
दूरतरदेशपरिसंस्थितस्य प्रियसङ्गमं वहतः ।
आशाबन्ध एव मानुषस्य परिरक्षति जीवितम् ॥

८०*३. एक्केण विणा पियमाणुसेण सब्भावणेहभरिएण ।
जणसंकुला वि पुहवी अव्वो रण्णं व पडिभाइ ॥३॥
एकेन विना प्रियमानुषेण सद्भावस्नेहभृतेन ।
जनसङ्कुलापि पृथ्वी अहो अरण्यमिव प्रतिभाति ॥

नीइवज्जा

९०*१. लवणसमो नत्थि रसो विन्नाणसमो य बंधवो नत्थि ।
धम्मसमो नत्थि निही कोहसमो वेरिओ नत्थि ॥१॥
लवणसमो नास्ति रसो विज्ञानसमो बान्धवो नास्ति ।
धर्मसमो नास्ति निधि क्रोधसमो वैरी नास्ति ॥

९०*२. महिला जत्थ पहाणा डिंभो राया निरक्खरो मंती ।
अच्छउ ता धणरिद्धी जीयं रक्खउ पयत्तेण ॥२॥
महिला यत्र प्रधाना डिभो राजा निरक्षरो मन्त्री ।
आस्तां तावद् धनऋद्धिर्जीवं रक्षतु प्रयत्नेन ॥

९०*३. जस्स न गिण्हंति गुणा सुयणा गोट्ठीसु रणमुहे सुहडा ।
नियजणणिजोव्वणुल्लूरणेण जाएण किं तेण ॥३॥
यस्य न गृह्णन्ति न गुणान् सुजना गोष्ठीषु रणमुखे सुभटाः ।
निजजननीयौवनोच्छेदकेन जातेन किं तेन ॥

नेहवज्जा

८०*१. गुणहीन से भी प्रेम हो जाता है अथवा प्रेम किसी से भी हो जाता है। मनोहर वृक्षों को छोड़कर कौआ नीम पर रहता है ॥ १॥

८०*२. यह गाथा पियोल्लाववज्जा में (गा० ७८६) किंचित् परिवर्तन के साथ संगृहीत है। अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है ॥ २ ॥

८०*३. यह पियोल्लाववज्जा की क्रमांक ७८१ की गाथा है। अर्थ वहीं देखें ॥ ३ ॥

नीइवज्जा

९०*१. नमक के समान रस नहीं, विज्ञान के समान बान्धव नहीं, धर्म के समान निधि नही और क्रोध के समान वैरी नहीं ॥ १ ॥

९०*२. जहाँ महिला की प्रधानता है, राजा बालक है और मन्त्री निरक्षर है, वहाँ धन-सम्पत्ति रहने दो, प्रयत्न-पूर्वक प्राणों की रक्षा करो ॥ २ ॥

९०*३. यह गाथा गुणसलाहावज्जा मे गाथा क्रमांक ६९८ पर है।

९०*४. कुप्पुत्तेहि कुलाइं गामणगराइ पिसुणसीलेहिं ।
नासंति कुमंतीहिं नराहिवा सुट्ठु वि समिद्धा ।।४।।
कुपुत्रैः कुलानि ग्रामनगराणि पिशुनशीलैः ।
नश्यन्ति कुमन्त्रिभिर्नराधिपाः सुष्ठु अपि समृद्धाः ।।

९०*५. नासइ वाएण तुसं नासइ गेयं जणस्स सद्देणं ।
अगुणिज्जंती विज्जा नासइ भज्जा पवासेणं ।।५।।
नश्यति वातेन तुषं नश्यति गेयं जनस्य शब्देन ।
अगुण्यमाना विद्या नश्यति भार्या प्रवासेन ।।

९०*६. कज्जं एव्व पमाणं कह व तुलग्गेण कज्जइत्ताणं ।
जइ तं अवहेरिज्जइ पच्छा उण दुल्लहं होइ ।।६।।
कार्यमेव प्रमाणं कथं वा तुलाग्रेण कार्यकर्तृणाम् ।
यदि तदवहेल्यते पश्चात् पुनर्दुर्लभं भवति ।।

९०*७. मा होसु सुयग्गाही मा पत्तीय जं न दिट्ठ पच्चक्खं ।
पच्चक्खे वि य दिट्ठे जुत्ताजुत्तं वियारेह ।।७।।
मा भव श्रुतग्राही मा प्रत्येहि यन्न दृष्टं प्रत्यक्षम् ।
प्रत्यक्षेऽपि च दृष्टे युक्तायुक्तं विचारयत ।।

९०*८. धम्मो धणाण मूलं जाया मूलं सुहाण सयलाणं ।
विणओ गुणाण मूलं दप्पो मूलं विणासस्स ।।८।।
धर्मो धनानां मूलं जाया मूलं सुखाना सकलानाम् ।
विनयो गुणानां मूलं दर्पो मूलं विनाशस्य ।।

९०*९. नासइ जूएण धणं नासेइ कुलं असीलवंताणं ।
अइरूवेण वि महिला नासइ राया कुमंतीहिं ।।९।।
नश्यति द्यूतेन धनं नश्यति कुलमशीलवताम् ।
अतिरूपेणापि महिला नश्यति राजा कुमन्त्रिभिः ।।

९०*४. कुपुत्र से कुल, पिशुनों (निन्दकों) से ग्राम और नगर तथा कुमन्त्रियों से भली प्रकार समृद्ध राजा भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥

९०*५. हवा से भूसी नष्ट हो जाती है (उड़ जाती है), लोगों के शब्द (कोलाहल) करने से गीत चौपट हो जाता है, विद्या अभ्यास न करने से नष्ट हो जाती है और भार्या प्रवास से नष्ट हो जाती है ॥ ५ ॥

९०*६. कार्य ही (योग्यता का) प्रमाण कैसे हो सकता है? जो लोग काकतालीय न्याय (संयोग) से किसी कार्य में सफल हो जाते हैं, वे यदि उस अवसर की (संयोग की) अवहेलना कर दें, तो फिर कभी भी वह कार्य नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

९०*७. सुनी बात को मत ग्रहण करो। जिसे देखा-सुना नहीं, उस पर विश्वास न करो। अपनी आँखों से देखने पर भी युक्त और अयुक्त का विचार करो ॥ ७ ॥

९०*८. धर्म धनों का मूल है, स्त्री सम्पूर्ण सुखों का मूल है, विनय गुणों का मूल है और दर्प विनाश का मूल है ॥ ८ ॥

९०*९. धन द्यूत से नष्ट होता है, कुल दुराचारियों से नष्ट होता है, स्त्री अति सुन्दरता होने से नष्ट होती है और राजा कुमन्त्रियों से नष्ट होता है ॥ ९ ॥

९०*१०. जम्मंतरं न गरुयं गरुयं पुरिसस्स गुणगणग्गहणं ।
मुत्ताहलं च गरुयं न हु गरुयं सिप्पिसंउडयं ॥१०॥
जन्मान्तरं न गुरु गुरु पुरुषस्य गुणगणग्रहणम् ।
मुक्ताफलं च गुरु न खलु गुरु शुक्तिसंपुटकम् ॥

९०*११. जं जाणइ भणउ जणो गुणाण विहवस्स अंतरं गरुयं ।
लब्भइ गुणेहि विहवो विहवेण गुणा न लब्भंति ॥११॥
यज्जानाति भणतु जनो गुणाना विभवानामन्तरं गुरु ।
लभ्यते गुणैर्विभवो विभवेन गुणा न लभ्यन्ते ॥

९०*१२. बुद्धी सच्चं मित्तं चरत नो महाकव्वं (?) ।
पुव्व सव्वं पि मुहं पच्छा दुक्खेण निव्वहइ ॥१२॥
बुद्धिः सत्यं मित्रं ··(?) नो महाकाव्यम् ।
पूर्वं सर्वमपि सुखं पश्चाद् दुःखेन निर्वहति ॥

९०*१३. किं वा गुणेहि कीरइ किं वा रूवेण किं च सीलेण ।
धणविरहियाण सुंदरि नराण को आयरं कुणइ ॥१३॥
किं वा गुणैः क्रियते किं वा रूपेण किं च शीलेन ।
धनविरहितानां सुन्दरि नराणा क आदरं करोति ॥

९०*१४. ठाणं गुणेहि लब्भइ ता गुणगहणं अवस्स कायव्वं ।
हारो वि गुणविहूणो न पावए तरुणिथणवट्टं ॥१४॥
स्थानं गुणैर्लभ्यते तद् गुणग्रहणमवश्यं कर्तव्यम् ।
हारोऽपि गुणविहीनो न प्राप्नोति तरुणीस्तनपट्टम् ॥

९०*१५. देसे गामे नयरे रायपहे तियचउक्कमग्गे वा ।
जस्स न वियरइ कित्ती धिरत्थु किं तेण जाएण ॥१५॥
देशे ग्रामे नगरे राजपथे त्रिकचतुष्कमार्गे वा ।
यस्य न विचरति कीर्तिर्धिगस्तु किं तेन जातेन ॥

९०*१०. यह गाथा गुणवज्जा में गाथा क्रमांक ६८७ पर है† ॥१०॥

९०*११. यह गाथा भी गुणवज्जा में गाथा क्रमांक ६८९ पर है† ॥ ११ ॥

*९०*१२. बुद्धि, सत्य, मैत्री, सेवारत सेवक और महाकाव्य—ये सभी प्रारम्भ में सरल होते हैं, परन्तु बाद में इनका निर्वाह करना कठिन हो जाता है ॥ १२ ॥

९०*१३. यह गाथा दारिद्दवज्जा में गाथा क्रमांक १४३ पर है† ।

९०*१४. यह गाथा गुणवज्जा में गाथा क्रमांक ६९० पर है† ॥१४॥

९०*१५. यह गाथा गुणसलाहा वज्जा में गाथा क्रमांक ७०० पर है† ॥ १५ ॥

---

† इन गाथाओं के अर्थ सूचित स्थलों पर देखें ।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिए ।

साहसवज्जा

११९*१. विहवक्खए वि दाणं माणं वसणे वि धोरिमा मरणे ।
कज्जसए वि अमोहो पसाहणं धीरपुरिसाणं ॥१॥
विभवक्षयेऽपि दानं मानो व्यसनेऽपि धैर्यं मरणे ।
कार्यशतेऽप्यमोहः प्रसाधनं धीरपुरुषाणाम् ॥

११९*२. धीरा मया वि कज्जं निययं साहंति, पेच्छह हरस्स ।
दड्ढेण वि अवरद्धं अवहरियं कुसुमबाणेण ॥२॥
धीरा मृता अपि कार्यं निजकं साधयन्ति, पश्यत हरस्य ।
दग्धेनापि अपराधम् अपहृतं कुसुमबाणेन ॥

११९*३. जह जह वाएइ विही विसरिसकरणेहि निट्ठुरं पडहं ।
धीरा पहसियवयणा नच्चंति य तह तह च्चेव ॥३॥
यथा यथा वादयति विधिर्विसदृशकरणैर्निष्ठुरं पटहम् ।
धीराः प्रहसितवदना नृत्यन्ति च तथा तथैव ॥

सेवयवज्जा

*१६१*१. अप्पत्थिग्रं न लब्भइ, पत्थिज्जतो वि कुप्पसि नरिंद ।
हद्धी कहं सहिज्जइ कयंतवसहिं गए संते ॥१॥
अप्रार्थितं न लभ्यते प्रार्थ्यमानोऽपि कुप्यसि नरेन्द्र ।
हा धिक् कथं सहिष्यते कृतान्तवसतिं गते सति ॥

सुहडवज्जा

१७८*१. चिरयालसंठियाइं सामियजणियाइ माणदुक्खाइं ।
रिउगयदसणप्पेल्लणविवरेहि भडस्स गलियाइं ॥१॥
चिरकालसंस्थितानि स्वामिजनितानि मानदुःखानि ।
रिपुगजदशनप्रेरणविवरैर्भटस्य गलितानि ॥

१७८.२. कद्दमरुहिरविलित्तो रणंगणे नेय निवडिओ सुहडो ।
अइसाहसेण भीओ इंदो अमएण सिंचेइ ॥२॥
कर्दमरुधिरविलिप्तो रणाङ्गणे नैव निपतितः सुभटः ।
अतिसाहसेन भीत इन्द्रोऽमृतेन सिञ्चति ॥

साहसवज्जा

११९*१. धन क्षीण हो जाने पर भी दान, व्यसन (संकट) में भी मान, मरने पर भी धैर्य और सैकड़ों कार्यों में भी मोह-ग्रस्त न होना—ये धीर-पुरुषों के आभूषण हैं ॥ १ ॥

११९*२. धीर पुरुष मर कर भी अपना निश्चित कार्य सिद्ध कर लेते हैं, देखो भस्म हो जाने पर भी कामदेव ने शिव का आधा शरीर हर लिया ॥ २ ॥

११९*३. जैसे-जैसे विधाता विषमताओं को उत्पन्न करके निष्ठुरता पूर्वक नगाड़ा बजाता है, वैसे-वैसे धीर पुरुष प्रफुल्ल मुख से नाचते रहते हैं ॥ ३ ॥

सेवयवज्जा

*१६१*१. राजन् ! बिना माँगे मिलता नहीं और माँगने पर तुम क्रुद्ध हो जाते हो। हाय ! धिक्कार है, जब यमराज के घर जाओगे, तब वहाँ की यातना तुमसे कैसे सही जायगी ॥ १ ॥

सुहडवज्जा

१७८*१. स्वामी के सम्मान से उत्पन्न होने वाला चिर-काल-संचित दुःख (यह सोच कर कि मैं इतने अधिक सम्मान का पात्र नहीं हूँ)—शत्रु के हाथियों के दाँतों के धँसने से होने वाले विवरों से बह गया ॥ १ ॥

१७८*२. रक्त-पंक से लिप्त होने पर भी वह रणांगण में गिरा नहीं, भयभीत इन्द्र ने (कहीं स्वर्ग में आकर उपद्रव न करे) अमृत से सींचकर जीवित कर दिया ॥ २ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये ।

१७८*३. एक्कत्तो रुयइ पिया अन्नत्तो समरतूरणिग्घोसा ।
पेम्मेण रणरसेण य भडस्स दोलाइयं हिययं ।।३।।
एकतो रोदिति प्रिया, अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषाः ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ।।

गयवज्जा

१९९*१. सिद्धंगणाउरत्थलथणभरुच्छलंतमंथरतरंगं ।
सुमरंतो च्चिय मरिहिसि गइंद रे नम्मयाणीरं ।।१।।
सिद्धाङ्गनाउरःस्थलस्तनभरोच्छलन्मन्थरतरङ्गम् ।
स्मरन्नेव मरिष्यसि गजेन्द्र रे नर्मदानीरम् ।।

*१९९*२. दंतुल्लिहणं सव्वंगमज्जणं हत्थचल्लणायासं ।
पोढगइंदाण मयं पुणो वि जइ नम्मया सहइ ।।२।।
दन्तोल्लिखनं सर्वाङ्गमज्जनं हस्तचालनायासम् ।
प्रौढगजेन्द्राणां मदं पुनरपि यदि नर्मदा सहते ।।

१९९*३. सयलजणपिच्छणिज्जो जो अप्पा आसि सो तए मूढ ।
केसरिभएण भज्जंत अज्ज लहुयत्तणं पत्तो ।।३।।
सकलजनप्रेक्षणीयो य आत्मासीत् स त्वया मूढ ।
केसरिभयेन भज्यमान अद्य लघुत्वं प्राप्तः ।।

*१९९*४. सरला मुहे न जीहा थोवो हत्थो मउब्भडा दिट्ठी ।
रे रयणकोडिगव्विर गइंद न हु सेवणिज्जो सि ।।४।।
सरला मुखे न जिह्वा स्तोको हस्तो मदोद्भटा दृष्टिः ।
रे रत्नकोटिगर्विन् गजेन्द्र न खलु सेवनीयोऽसि ।।

*१९९*५. कुंजर मइंददंसणविमुक्कपुक्कारमयपसंगेण ।
न हु नवरि तए अप्पा वि सो वि लहुयत्तणं पत्तो ।।५।।
कुञ्जर मृगेन्द्रदर्शनविमुक्तपूत्कारमदप्रसङ्गेन ।
न खलु केवलं त्वया आत्मापि सोऽपि लघुत्वं नीतः ।।

१७८*३. एक ओर प्रिया रो रही है, तो दूसरी ओर समर में तूर्य बज रहे हैं—प्रेम और रणोत्साह से वीर का मन सन्देह में पड़ गया ॥ ३ ॥

गयवज्जा

१९९*१. गजेन्द्र ! सिद्धों की रमणियों के वक्षःस्थल में स्थित उरोजों पर उछलती हुई जिस की तरंगें मन्थर गति से बहने लगती हैं, उस नर्मदा जल (नर्मदा नदी के पानी) की स्मृति करते-करते ही मर जाओगे ॥ १ ॥

*१९९*२. यह नर्मदा ही है, जो प्रौढ़गजेन्द्रों की प्रमत्तता की स्थिति मे, दाँतों से तटों का खोदना, सम्पूर्ण शरीर को जल में डुबो देना और सूँड़ों के संचालन का आयास (कष्ट) सह लेती है ॥ २ ॥

द्वितीयार्थ—यह सुन्दरी ही है जो (कपोलादि पर) दाँतों से होने वाला क्षत, सम्पूर्ण लिंग का भग मे प्रविष्ट हो जाना, (कुचादि पर) हस्त संचालन से उत्पन्न आयास और गजेन्द्रों के समान प्रौढ पुरुषों का वीर्य (या रमणोन्माद) सह ले जाती है।

१९९*३. केसरी (सिंह) के भय से भागने वाले, अरे मूढ गजराज ! तुम्हारी जो आकृति सब लोगों के द्वारा प्रेक्षणीय थी, उसे तुम ने आज तुच्छ (लघु) बना दिया है ॥ ३ ॥

*१९९*४. मुँह में सीधी जिह्वा नहीं है, सूँड़ स्वल्पाकृति है, दृष्टि मद से भयानक हो गई है। अरे दाँतों की कोरों पर गर्वशील गजेन्द्र ! तुम आरोहण के योग्य नहीं हो ॥ ४ ॥

द्वितीयार्थ—सीधे मुँह बात नहीं करते हो, हाथ छोटा है (और छोटे हाथ से थोड़ा दान ही सम्भव है), दृष्टि गर्व से भयानक बन गई है। अरे करोड़ों रत्नों पर गर्वित (या रत्नों की श्रेणियों पर गर्वित) नरेन्द्र ! तुम सेवा करने योग्य नहीं हो (क्योंकि धनी होने पर तुम्हारी सेवा से कोई कुछ पा नहीं सकता)।

*१९९*५. अरे गजेन्द्र ! जब सिंह को देख कर मद (हाथी के कुंभ-स्थल से प्रवाहित होने वाला जल) छोड़कर चीत्कार करने लगे, तब तुम ने अपनी श्रेष्ठ आत्मा (या विशाल आकृति) को ही नहीं, उस दुर्धर्ष आक्रामक सिंह को भी लघु बना दिया (अर्थात् ऐसे भीरु एवं निर्बल गज पर आक्रमण करने वाले सिंह में क्या पराक्रम रह गया) ॥ ५ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

वाहवज्जा

*२१४*१. ओ सुयइ विल्लरव्विल्लुलियधम्मिल्लकुंतलकलावो।
अन्नत्थ वच्च वाणिय अम्हं मुत्ताहलं कत्तो ॥१॥
अहो स्वपिति........लुलितधम्मिल्लकुन्तलकलापः।
अन्यत्र व्रज वणिग् अस्माकं मुक्ताफलं कुतः॥

२१४*२. इंतीइ कुलहराओ नायं वाहीइ भत्तुणो मरणं।
गयमयकवोलणिहसणमलमइलकरंजसाहाहि ॥२॥
आयत्या कुलगृहाज ज्ञातं व्याध्या भर्तुर्मरणम्।
गजमदकपोलनिघर्षणमलमलिनकरञ्जशाखाभिः ॥

२१४*३. न तहा पइमरणे वि हु रुण्णं वाहीइ निब्भरक्कंठं।
जह पल्लिसमासन्ने गइंदगलगज्जियं सोउं ॥३॥
न तथा पतिमरणेऽपि खलु रुदितं व्याध्या निर्भरकण्ठम्।
यथा पल्लीसमासन्ने गजेन्द्रगलगर्जितं श्रुत्वा॥

२१४*४. पल्लिपएसे पज्जूसणिग्गय लुलियकुंतलकलाव।
दट्ठूण वाहवंदं दंतक्कइया नियत्तंति ॥४॥
पल्लीप्रदेशे प्रत्यूषनिर्गतं लुलितकुन्तलकलापम्।
दृष्ट्वा व्याधवृन्दं दन्तक्रयिका निवर्तन्ते॥

*२१४*५. अच्छउ ता करिवहणं तुह तणुओ धणुहरं समुल्लिहइ।
थोरथिरथणहराणं किं अम्ह माहप्पं ॥५॥
आस्तां तावत् करिवधनं तव तनुजो धनुर्हरं(?)समुल्लिखति।
स्थूलस्थिरस्तनभराणां किमस्माकं माहात्म्यम्॥

करहवज्जा

२२६*१. दे जं पि तं पि अहिलससु पल्लवं मा कहिं पि रे करह।
उड्डमुहदीहसासो वल्लिं सरंतो विवज्जिहिसि ॥१॥
अहं प्रार्थये, यदपि तदपि अभिलषस्व पल्लवं मा कुत्रापि रे करभ।
ऊर्ध्वमुखदीर्घश्वासो वल्ली स्मरन् विपत्स्यसे॥

वाहवज्जा

*२१४*१. ओह, मेरा पुत्र सो रहा है, उसके बालों की लटें प्रिया कोमल एवं स्वच्छ केश-पाश में मिश्रित हो गई हैं। वणिक्! अन्यत्र जाओ, हमारे पास मुक्ताफल कहाँ ? ॥ १ ॥

२१४*२. पिता के घर से आती हुई व्याधवधू ने मतवाले गजराजों के कपोलों के घर्षण से लगने वाले मैल से मलिन करंज-शाखाओं से जान लिया कि मेरे पति की मृत्यु हो गई है ॥ २ ॥

२१४*३. पति के मरने पर भी व्याधवधू ने वैसा मुक्तकंठ से क्रन्दन नहीं किया जैसा पल्ली (गांव) के निकट हाथियों की गर्जना सुन कर ॥ ३ ॥

२१४*४. गाँवों में बिखरे बालों वाले व्याध-वृन्द को प्रत्यूष में निकला हुआ देखकर हाथी-दाँत खरीदने वाले लौट जाते हैं ॥ ४ ॥

*२१४*५. (हे सास !) हाथियों को मारना तो दूर रहे, तुम्हारा पुत्र भारी धनुष के भार को छील कर हल्का कर रहा है। हमारे पीन एवं सुदृढ़ पयोधरों की क्या महत्ता रह गई ॥ ५ ॥

करह-वज्जा

२२६*१. मेरी प्रार्थना है, कही भी, जिस-किसी पल्लव की इच्छा कर लो। ऊर्ध्व-मुख हो कर दीर्घ श्वास लेने वाले करभ ! (ऊँट) उस वेलि का स्मरण करते हुए कहीं मर न जाओ ॥ १ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

२२६*२. कह वि तुलग्गावडियं महुपडलं चक्खिऊण मा खिज्ज ।
हियइच्छियाइ कत्तो अणुदियहं करह लब्भंति ।।२।।

कथमपि यदृच्छापतितं मधुपटलमास्वाद्य मा खिद्यस्व ।
हृदयेप्सितानि कुतो अनुदिवसं करभ लभ्यन्ते ।।

२२६*३. नीससिसि रुयसि खिज्जसि जूरसि चिंतेसि भमसि उव्विबो ।
सा मरणस्स कए णं करह तए चक्खिया वल्ली ।।३।।

निःश्वसिषि, रोदिषि, खिद्यसे, क्षीयसे, चिन्तयसि भ्रमसि उद्विग्नः ।
सा मरणस्य कृते खलु करभ त्वया आस्वादिता वल्ली ।

इंदिदिरवज्जा

२५२*१. मोत्तूण वियडकेसरमयरंदुद्दामसुरहिसयवत्तं ।
जे महइ महुयरो पाडलाइ तं केण व गुणेण ।।१।।

मुक्त्वा विकटकेसरमकरन्दोद्दामसुरभिशतपत्रम् ।
यत् काङ्क्षति मधुकरः पाटलानि तत् केन वा गुणेन ।।

२५२*२. तं किं पि पएसं पंकयस्स भमिऊण छप्पओ छिवइ ।
नलिणीण जेण कड्ढइ आमूलगयं पि मयरंदं ।।२।।

तं किमपि प्रदेशं पङ्कजस्य भ्रान्त्वा षट्पदः स्पृशति ।
नलिनीनां येन कर्षति आमूलगतमपि मकरन्दम् ।।

२५२*३. इंदिदिर मा खिज्जसु दे निलसु कहिं पि मालईविरहे ।
हियइच्छियाइ न हु संपडंति दिव्वे पराहुत्ते ।।३।।

इन्दिन्दिर मा खिद्यस्व प्रार्थये निलय कुत्रापि मालतीविरहे ।
हृदयेप्सितानि न खलु संपतन्ति दैवे पराग्भूते ।।

२५२*४. बहुगंधलुद्ध महुयर कमलउडणिरुद्ध खिज्जसे कीस ।
अहवा वसणासत्ता अन्ने वि सुहं न पावंति ।।४।।

बहुगन्धलुब्ध मधुकर कमलपुटनिरुद्ध खिद्यसे कस्मात् ।
अथवा व्यसनासक्ता अन्येऽपि सुखं न प्राप्नुवन्ति ।।

२२६*२. हे करभ ! कहीं संयोग से प्राप्त मधु-पटल को चख कर खिन्न मत हो जाओ। मनमाने भोग सर्वदा कहाँ मिलते हैं ? ॥ २ ॥

२२६*३. आह भरते हो, रोते हो, खिन्न होते हो, क्षीण होते हो, चिन्ता करते हो, उद्विग्न हो कर भ्रमण करते हो, अरे करभ ! तुम ने मानों अपनी मृत्यु के लिये उस वल्ली (लता) का आस्वादन किया था ॥ ३ ॥

इंदिंदिर-वज्जा

२५२*१. उत्कृष्ट केसर, मकरन्द और उद्दाम सुरभि वाले शतदल (कमल) को छोड़ कर यदि भ्रमर पाटला को चाहता है, तो वह उसके किस गुण के कारण ? ॥ १ ॥

२५२*२. भ्रमर मँडराकर कमल के कुछ ऐसे स्थान का स्पर्श करता है कि नलिनियों (कमल के पौधों) के मूल में भी स्थित मकरन्द को खींच लेता है ॥ २ ॥

२५२*२. मधुकर ! खेद मत करो, प्रार्थना करता हूँ, मालती के वियोग में कहीं छिप जाओ। भाग्य विमुख होने पर मनोवांछित वस्तु नहीं मिलती ॥ ३ ॥

२५२*४. सुगन्ध-लोभी भ्रमर ! कमल के संपुट में निरुद्ध हो कर क्यों खिन्न होते हो। अन्य संकट में पड़े व्यक्ति भी सुख नहीं पाते हैं ॥ ४ ॥

हंसवज्जा

२६३*१. वच्चिहिसि तुमं पाविहिसि सरवरं रायहंस, किं चोज्जं।
माणससरसारिक्खं पुहवि भमंतो न पाविहिसि ।।१।।
व्रजिष्यसि त्वं प्राप्स्यसि सरोवरं राजहंस, किं चित्रम्।
मानससरःसदृक्षं पृथिवीं भ्रमन् न प्राप्स्यसि ।।

२६३*२. माणससरोरुहाणं मा सायं सरसु रे हंस।
कज्जाइ दिव्ववससंठियाइ दुक्खेहि लब्भंति ।।२।।
मानससरोरुहाणा मा सातं स्मर रे हंस।
कार्याणि दैववशसंस्थितानि दुःखैर्लभ्यन्ते ।।

२६३*३. हंसेहि समं जह रमइ कमलिणी तह य महुयरेणावि।
सियकसिणणिव्विसेसाइ होंति महिलाण हिययाइं ।।३।।
हंसैः समं यथा रमते कमलिनी तथा च मधुकरेणापि।
सितकृष्णनिर्विशेषाणि भवन्ति महिलानां हृदयानि ।।

२६३*४. विउलं पि जलं जलरंकुएहि तह कलुसियं हयासेहिं।
जह अवसरवडियाण वि न हु निलयं रायहंसाणं ।।४।।
विपुलमपि जलं जलरंककैस्तथा कलुषितं हताशैः।
यथा अवसरपतितानामपि न खलु निलयो राजहंसानाम् ।।

छइल्लवज्जा

२८४*१. अक्खंडियउवयारा पुव्वाभावे अभिन्नमुहराया।
सिढिलंता वि सिणेहं छेया दुक्खेहि नज्जंति ।।१।।
अखण्डितोपचाराः पूर्वाभावे अभिन्नमुखरागाः ।।
शिथिलयन्तोऽपि स्नेहं छेका दुःखैर्ज्ञायन्ते ।।

२८४*२. ताव च्चिय ढलहलया जाव च्चिय नेहपूरियसरीरा।
छेया नेहविहूणा तिलसच्छाया खला हुंति ।।२।।
तावदेव अनुकम्पिनो यावदेव स्नेहपूरितशरीराः।
छेकाः स्नेहविहीनास्तिलसदृक्षाः खला भवन्ति ।।

हंस-वज्जा

२६३*१. अरे राजहंस ! तुम जाओगे और सरोवर भी पा जाओगे— इसमें आश्चर्य क्या ? परन्तु पृथ्वी भर में भटक कर भी मानस जैसा सरोवर तो नहीं ही पाओगे ॥ १ ॥

२६३*२. अरे हंस ! मानस के कमलों का सुख मत स्मरण करो। देवाधीन वस्तु दुःख से ही मिलती है ॥ २ ॥

२६३*३. कमलिनी जैसे हंस के साथ क्रीडा करती है, वैसे ही भ्रमर के साथ भी। महिलाओं के हृदय कृष्ण और शुक्ल में अन्तर नहीं रखते ॥ ३ ॥

२६३*४. दुष्ट जलरंकुओं[1] (जल-जन्तुओं) ने सरोवर का विपुल जल ऐसा कलुषित कर दिया कि अवसर पर आने वाले राजहंसों के लिये अब स्थान ही नहीं रह गया ॥ ४ ॥

छइल्ल-वज्जा

२८४*१. जिनका उपचार खंडित नही होता (या जो उपकार करना बन्द नहीं करते), पहले-जैसा प्रेम न रह जाने पर भी जिनके मुँह का रंग परिवर्तित नही होता, वे विदग्ध जन विरक्त होने पर भी कठिनाई से जाने जाते हैं ॥ १ ॥

२८४*२. विदग्ध जन स्नेह-हीन (प्रेमहीन और तेलहीन) हो जाने पर तिलों के समान खल (दुष्ट और खली) बन जाते हैं। वे तभी तक कोमल रहते है, जब तक उनका शरीर स्नेह (प्रेम और तेल) से पूर्ण होता है ॥ २ ॥

---

१. रङ्कु शब्द मृगवाचक है। लक्षणया उसे जीव के अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं। नैषध (२।८३) में यह मृग के अर्थ मे ही प्रयुक्त है।

२८४*३. वंकभणियाइ कत्तो कत्तो अद्धच्छिपेच्छियव्वाइं ।
ऊससियं पि मुणिज्जइ छइल्लजणसंकुले गामे ।।३।।

वक्रभणितानि कुतः कुतो अर्धाक्षिप्रेक्षितव्यानि ।
उच्छ्वसितमपि ज्ञायते छेकजनसङ्कुले ग्रामे ॥

२८४*४. अणुणयकुसलं परिहासपेसलं लडहवाणिसोहिल्लं ।
आलाव च्चिय छेयाण कम्मणं किं च मूलीहिं ।।४।।

अनुनयकुशलं परिहासपेशलं लटभवाणीशोभाढ्यम् ।
आलाप एव च्छेकानां कार्मणं, किं च मूलीभिः ॥

२८४*५. ते धन्ना ताण नमो ते कुसला ताण वम्महपसाओ ।
जे बालतरुणिपरिणयवयाहि हियए धरिज्जंति ।।५।।

ते धन्यास्तेभ्यो नमस्ते कुशलास्तेषां मन्मथप्रसादः ।
ये बालातरुणीपरिणतवयोभिर्हृदये धार्यन्ते ॥

*२८४*६. वंकं ताण न कीरइ किं कज्जं जस्स ते वि याणंति ।
सब्भावेण य छेया पुत्ति देव व्व घेप्पंति ।।६।।

वक्रं तेषां न क्रियते किं कार्यं यस्य तेऽपि जानन्ति ।
सद्भावेन च च्छेकाः पुत्रि देवा इव गृह्यन्ते ॥

२८४*७. दिन्ना पुणो वि दिज्जउ रेहा छेयत्तणम्मि कण्हस्स ।
जो रमइ गोविसत्थं हिययणिहित्ताइ लच्छीए ।।७।।

दत्ता पुनरपि दीयतां रेखा छेकत्वे कृष्णस्य ।
यो रमयति गोपीसार्थं हृदयनिहितया लक्ष्म्या ॥

२८४*८. हियए जं च निहित्तं तं पि हु जाणंति बुद्धीए ।
मा पुत्ति वंकबंधं जंपसि पुरओ छइल्लाणं ।।८।।

हृदये यच्च निहितं तदपि खलु जानन्ति बुद्धया ।
मा पुत्रि वक्रबन्धं जल्पसि पुरतश्छेकानाम् ॥

२८४*३. कहाँ वक्रोक्ति-पूर्ण वचन और कहाँ आधी आँखों से देखना ? विदग्धों से भरे गाँव मे साँस लेने पर लोग जान लेते हैं ॥ ३ ॥

२८४*४. अनुनय में समर्थ, परिहास से पेशल (मनोहर) और वैदग्ध्य-पूर्ण उक्तियों से सुशोभित संभाषण ही चतुरों के लिये वशीकरण है। अन्य मूलों (जड़ियों) से क्या प्रयोजन ? ॥ ४ ॥

२८४*५. वे धन्य हैं, उन्हें नमस्कार है, वे कुशल हैं, उनके ऊपर कामदेव की कृपा है, जो बालाओं, तरुणियों और वृद्धाओं के द्वारा हृदय में धारण किये जाते हैं ॥ ५ ॥

*२८४*६. उन (विदग्धों) से वक्र व्यवहार नहीं किया जा सकता, वे जिसकी (उनके प्रति) सेवा होती है, उसे विशेषतः जानते हैं। बेटी ! विदग्धजन देवताओं के समान सच्चे प्रेम से ही वशीभूत होते हैं ॥ ६ ॥

२८४*७. यद्यपि पहले दी जा चुकी है अर्थात् श्रेष्ठ मान लिया गया है फिर भी उस कृष्ण को विदग्धता में उच्च श्रेणी (कोटि) प्रदान करो, जो हृदय में लक्ष्मी को रख कर भी गोपियों के समूह से रमण करते हैं ॥ ७ ॥

२८४*८. पुत्रि ! छेकों के समक्ष वक्र वचन मत बोलो, वे हृदय में जो रहता है उसे भी बुद्धि से जान लेते हैं ॥ ८ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

नयणवज्जा

३००*१. धणु संधइ भुयवलयं आयड्ढइ नयणबाण कण्णंता ।
विंधइ मणं न जीयं अउव्वधाणुक्किणी बाला ।।१।।

धनुः संदधाति भ्रूवलयम् आकर्षति नयनबाणान् कर्णान्तात् ।
विध्यति मनो न जीवम् अपूर्वधानुष्का बाला ॥

३००*२. पामरवहुयाइ सवम्महाण नयणाण रक्खसाणं व ।
सासंको भमइ जणो जोयइ मग्गं पुलोयंतो ।।२।।

पामरवध्वाः समन्मथाभ्यां नयनाभ्यां राक्षसाभ्यामिव ।
साशङ्को भ्रमति जनो पश्यति मार्गं प्रलोकयन् ॥

३००*३. अज्जं वि य तेण विणा इमीइ एयाइ कसिणधवलाइं ।
जच्चंधगोरुयाइ व दिसासु घोलंति नयणाइं ।।३।।

अद्यापि च तेन विना अस्या एते कृष्णधवले ।
जात्यन्धगोरूपाया इव दिशासु घूर्णतो नयने ॥

३००*४. सियकसिणदीहरुज्जलपम्हलघोलंततारणयणाणं ।
तरुणाण मा हु हयविहि दिट्ठीपसरं पि भंजिहिसि ।।४।।

सितकृष्णदीर्घोज्ज्वलपक्ष्मलघूर्णमानतारनयनानाम् ।
तरुणानां मा खलु हतविधे दृष्टिप्रसरमपि भङ्क्ष्यसि ॥

३००*५. रत्तं रत्तेहि सियं सिएहि कसिणं कुणंति कसिणेहिं ।
सियकसिणच्छीहि तए मयच्छि रत्तो जणो चोज्जं ।।५।।

रक्तं रक्तैः सितं सितैः कृष्णं कुर्वन्ति कृष्णैः ।
सितकृष्णाक्षिभ्यां त्वया मृगाक्षि रक्तो जन आश्चर्यम् ॥

*३००*६. गाढयरचुंबणुप्फुसियबहलणीलंजणाइ रेहंति ।
बप्फब्भितरपसरियगलंतबाहाहि अच्छीइ ।।६।।

गाढतरचुम्बनप्रोञ्छितबहलनीलाञ्जने शोभते ।
बाष्पाभ्यन्तरप्रसृतगलत्....(?) अक्षिणी ॥

नयण-वज्जा

३००*१. वह बाला अपूर्व धनुर्विद्या जानती है। भौंहें टेढ़ी कर धनुष का सन्धान करती है, कानों तक नयन-बाणों को खींचती है, मन को विद्ध कर देती है, परन्तु जीव को नहीं ॥ १ ॥

३००*२. जैसे राक्षसों को देख कर लोग शंकित (भीत) हो जाते हैं और (भागने के लिये) मार्ग देखने लगते हैं, वैसे ही कृषक-वधू के सकाम नेत्रों को देख कर लोग (प्रेम की) आशंका करने लगते हैं और (उसके निकट तक पहुँचने का) मार्ग (उपाय) देखने लगते हैं ॥ २ ॥

३००*३. आज भी उसके बिना इसके कृष्ण-श्वेत नेत्र जन्मान्ध पशुओं के समान दिशाओं में भटकते रहते हैं ॥ ३ ॥

३००*४. हे दुर्दैव ! (दुर्भाग्य) तरुणों और तरुणियों के श्वेत, कृष्ण, दीर्घ, उज्ज्वल, पक्ष्मल और चंचल पुतलियों वाले नयनों की दृष्टियों का प्रसार भी मत तोड़ देना ॥ ४ ॥

३००*५. सब लोग लाल रंग से लाल, श्वेत रंग से श्वेत और काले रंग से काला बनाते हैं। मृगाक्षि ! आश्चर्य है, तुम्हारी कृष्ण और श्वेत आँखों ने लोगों को रक्त (लाल और अनुरक्त) कर दिया है ॥ ५ ॥

*३००*६. प्रगाढ़ चुम्बन से जिनका घना कृष्ण काजल प्रोंछित हो चुका है, वे आँखें अश्रुधारा के भीतर विवर्धमान विरोधों (बाधाओं) के विगलित (नष्ट) हो जाने के कारण सुन्दर लग रही हैं ॥ ६ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

३००*७. न मए रुण्णं न कयममंगलं होंतु सयलसिद्धीओ ।
विरहग्गिधूमकडुयावियाइ पगलंति नयणाइं ॥७॥
न मया रुदितं न कृतमङ्गलं भवन्तु सकलसिद्धयः ।
विरहाग्निधूमकटुकीकृते प्रगलतो नयने ॥

थणवज्जा

३१२*१. नहकुंतग्गयभिन्ना हारावलिसुत्तमंडलग्गठिया ।
रेहंति सुरयरज्जाहिसेयकलस व्व से थणया ॥१॥
नखकुन्ताग्रकभिन्नौ हारावलीसूत्रमण्डलाग्रस्थितौ ।
शोभते सुरतराज्याभिषेककलशाविव तस्याः स्तनौ ॥

*३१२*२. सो तण्हाइयपहिय व्व दूमिओ तीइ दिट्ठमेत्तेहिं ।
पंथपवाकलसेहि व थणेहि उम्मंथियमुहेहिं ॥२॥
स तृषितपथिक इव दूनस्तस्या दृष्टमात्राभ्याम् ।
पथिप्रपाकलशाभ्यामिव स्तनाभ्यां दग्धमुखाभ्याम् ॥

३१२*३. थणकणयकलसजुयलं रोमावलिलोहसंकलाबद्धं ।
कस्स कए णं बाला रयणणिहाणं समुव्वहइ ॥३॥
स्तनकनककलशयुगलं रोमावलीलोहशृंखलाबद्धम् ।
कस्य कृते ननु बाला रत्ननिधानं समुद्वहति ॥

३१२*४. अणुरायरयणभरियं कंचणकलसम्मि तरुणिथणजुयलं ।
ता किं मुहम्मि कालं मसिमुद्दा मयणरायस्स ॥४॥
अनुरागरत्नभृतं काञ्चनकलशं तरुणीस्तनयुगलम् ।
तत् किं मुखे कालं मषीमुद्रा मदनराजस्य ॥

३१२*५. ठाणच्चुयाण सुंदरि मंडलरहियाण विहवचत्ताणं ।
थणयाण सुपुरिसाण य को हत्थं देइ पडियाणं ॥५॥
स्थानच्युतानां सुन्दरि मण्डलरहितानां विभवपरित्यक्तानाम् ।
स्तनानां सुपुरुषाणां च को हस्तं ददाति पतितानाम् ॥

३००*७. मैं न तो रोई हूँ और न मैंने अमंगल ही किया है। तुम्हें सभी सफलतायें मिलें। ये आँखें तो विरहाग्नि के धुएँ से कड़ुवी होने के कारण टपक रही हैं ॥ ७ ॥

थण-वज्जा

३१२*१. जो कुन्त (बर्छी) के समान नखों से भिन्न (घायल) हो चुके हैं, जिनके अग्रभाग हारावलि के सूत्र के मण्डल (घेरे) में स्थित हैं, वे स्तन सुरत-राज्य के उस अभिषेक-कलश से लगते है, जो कुन्ताग्र से भिन्न हैं और सूत्र-मण्डल के आगे स्थित है ॥ १ ॥

*३१२*२. वह युवक उस महिला के अधोमुख (लटके हुए) स्तनों को देख कर ऐसे दुःखी हो गया जैसे कोई तृषित बटोही मार्ग मे प्रपा (प्याऊ) के औधे-मुँह वाले कलशों को देख कर दुःखी होता है ॥ २ ॥

३१२*३. रोमावलि रूपी लौह शृङ्खला मे दो स्तन-रूपी कनक-कलश बँधे हैं। यह बाला किस के लिये रत्नों की निधि ढो रही है ? ॥३॥

३१२*४. कनक-कलश में अनुराग-रूपी रत्न भरा है। प्रश्न—तरुणी के दोनों स्तनों के मुख काले क्यों हैं ? उत्तर—मदन-राज ने मसि की मुद्रा (मुहर) लगा दी है ॥ ४ ॥

३१२*५. जो स्थानच्युत हो चुके है, जो मण्डल-(गोल आकृति या परिवार) रहित हैं, विभव (सौन्दर्य या धन) ने जिनका परित्याग कर दिया है, उन स्तनों और सत्पुरुषों को कौन हाथ देता है (हाथ से मर्दन करता है या सहारा देता है) ? ॥ ५ ॥

---

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' मे देखिए।

३१२*६. नहकुंतग्गयभिन्ना समुहागयकुंभपीलणसमत्था ।
थणया निव्वूढभरा भडु व्व पडिया वि सोहंति ।।६।।

नखकुन्ताग्रकभिन्नौ संमुखागतकुम्भपीडनसमर्थौ ।
स्तनौ निर्व्यूढभरौ भट इव पतितावपि शोभते ।।

३१२*७. आसन्नपडणभयभीरुएहि जमलेहि सामलमुहेहिं ।
दुद्धंसुएहि रुण्णं थणेहि ठाणं मुयंतेहिं ।

आसन्नपतनभयभीरुकाभ्याम् यमलाभ्यां श्यामलमुखाभ्याम् ।
दुग्धाश्रुभिः रुदितं स्तनाभ्यां स्थानं मुञ्चद्भ्या ।।

३१२८*. अलिया खल व्व कुडिला मज्झंसे किविणदाणसारिच्छा ।
थणया उन्नयचिंतिय व तीइ हियए न मायंति ।।८।।

अलीकौ खल इव कुटिलौ मध्याशे कृपणदानसदृक्षौ ।
स्तनौ उन्नतचिन्तितमिव तस्या हृदये न मातः ।।

*३१२*९. थणहारं तीइ समुन्नयं पि दट्ठूण तारिसं पडियं ।
मा कुणउ को वि गव्वं एत्थ असारम्मि संसारे ।।९।।

स्तनभारं तस्याः समुन्नतमपि दृष्ट्वा तादृशं पतितम् ।
मा करोतु कोऽपि गर्वमत्र असारे संसारे ।।

३१२*१०. उच्चट्ठाणा वि सुसंगया वि संपुण्णया वि तुह थणया ।
तरुणमणरयणसारं हरंति जं तं महच्छरियं ।।१०।।

उच्चस्थानावपि सुसंगतावपि संपूर्णावपि तव स्तनौ ।
तरुणमनोरत्नसारं हरतो यत् तत् महाश्चर्यम् ।।

*३१२*११. ठाणयरेहिं एहिं अहोमुहेहिं अणवरयपोढेहिं ।
सिहिणेहि नरिंदेहि व किं किज्जइ पयविमुक्केहिं ।।११।।

स्थानकराभ्यामाभ्यामधोमुखाभ्यामनवरतप्रौढाभ्याम् ।
स्तनाभ्यां नरेन्द्राभ्यामिव किं क्रियते पदविमुक्ताभ्याम् ।।

३१२*६. जो कभी कुन्ताग्र के समान नखों से विद्ध हो चुके हैं, जो कभी सम्मुख (तुलना के लिये) आये हुए कलशों को पीड़ित करने में समर्थ थे, जो अपना बोझ (पीनता) उतार चुके हैं, वे पयोधर गिर जाने पर भी रण-भूमि में गिरे हुए उन वीरों के समान शोभित होते हैं, जो नख-तुल्य कुन्तों के अग्र-भाग से आविद्ध हो चुके हैं, जो अपने सम्मुख आये गजों के कुंभों (मस्तकों) को पीड़ित करने मे समर्थ थे और जो अपना भार (कर्तव्य) वहन कर चुके है ॥ ६ ॥

३१२*७. जो आसन्नवर्ती पतन से भीत थे और जिनका मुँह श्याम हो गया था, वे दोनों सहजात पयोधर स्थान छोड़ते समय (गिरते समय) दुग्ध के आँसुओं से रो पड़े ॥ ७ ॥

३१२*८. खल अलोक (मिथ्या) भाषी है, तो ये स्तन भी (कस्तूरी आदि से) अलिप्त (अलिप्र) हैं। उसका व्यवहार कुटिल है, तो इनकी आकृति कुटिल है। इनका मध्य भाग कृपण के दान के समान बहुत ही कृश है। ये उन्नत विचार के समान हृदय में समाते ही नही हैं ॥ ८ ॥[1]

३१२*९ उस सुन्दरी के समुन्नत स्तन-भार को उस प्रकार गिरता हुआ देख कर इस असार संसार में कोई गर्व न करे ॥ ९ ॥

३१२*१०. तेरे स्तन उन्नत स्थान (वक्षःस्थल) पर स्थित हैं, सुसंगत हैं (उनकी आकृति सुन्दर है, वे सज्जनों के संग रहते हैं) और भरे-पूरे (पीन और सम्पन्न) है, फिर भी जो तरुणों का मन-रूपी रत्न-धन चुरा लेते हैं, यह बहुत बड़ा आश्चर्य है ॥ १० ॥

*३१२*११. जो अपने स्थान पर लटक रहे हैं, जो प्रथमावस्था के संभोगों से परिणत हो चुके हैं, जिनका मुख नीचे हो गया है, वे दुग्धहीन स्तन उन पदच्युत एवं निरन्तर वृद्ध राजाओं के समान क्या कर सकते हैं, जो (निराशा और अनुत्साह से) उद्यम-रहित हो चुके हैं और जिनका मुख (लज्जा से) नीचा हो गया है ॥ ११ ॥

---

१. देखिये गाथा संख्या ३०२

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

लावण्णवज्जा

३१८*१. इह तिवलिरमणे इह वयणकमले इह कढिणविउलथणवट्टे ।
अज्झाए लावण्णं फलियं पिव ढुंगढुंगेहिं ॥१॥
इह त्रिवलिरमण इह वदनकमल इह कठिनविपुलस्तनपट्टे ।
प्रौढयुवत्या लावण्यं फलितमिव स्तबकस्तबकैः ॥

३१८*२. अन्नन्ना मेहलया अन्नन्नो कंचुओ नववहूए ।
परिहेउ न समप्पइ समारुहंतम्मि तारुण्णे ॥२॥
अन्यान्या मेखला अन्यान्य· कंचुको नववध्वाः ।
परिधातुं न समाप्यते समारोहति तारुण्ये ॥

३१८*३. अंतोकढंत मयणग्गितावियं वहइ कणयकंतिल्लं ।
बालाए लावण्णं उप्फिणिय थणभरमिसेण ॥३॥
अन्तःक्थत् मदनाग्नितापितं वहति कनककान्तियुक्तम् ।
बालाया लावण्यं बहिर्निर्गतं, स्तनभरमिषेण ॥

३१८*४. सहस त्ति जं न भज्जइ थणहरभारेण मज्झतणुयंगी ।
भंजणभएण विहिणा दिन्नो रोमावलीखभो ॥४॥
सहसेति यन्न भज्यते स्तनभरभारेण मध्यतनुकाङ्गी ।
भङ्गभयेन विधिना दत्तो रोमावलीस्तम्भो ॥

३१८*५. बालाकवोललावण्णणिज्जिओ चंद खिज्जसे कीस ।
अह माणो न हु कीरउ बहुरयणविभूसिया पुहवी ॥५॥
बालाकपोललावण्यनिर्जितश्चन्द्र खिद्यसे कस्मात् ।
अथ मानो न खलु क्रियतां बहुरत्नविभूषिता पृथ्वी ॥

*३१८*६. बाला लावण्णणिही नवल्लवल्लि व्व माउलिंगस्स ।
चिंचि व्व दूरपक्का करेइ लालाउयं हियय ॥६॥
बाला लावण्यनिधिर्नवोनवल्लीव मातुलिङ्गस्य ।
चिंचेव दूरपका करोति लालाकुलं हृदयम् ॥

लावण्णवज्जा

३१८*१. यहाँ जघनों पर, यहाँ मुखकमल पर और यहाँ कठिन विस्तृत स्तन-पृष्ठ पर मानों युवती का लावण्य गुच्छों-गुच्छों में फला है ॥ १ ॥

३१८*२. नव यौवन पर आरूढ़ होने पर नववधू को दूसरी-दूसरी मेखलायें और दूसरी-दूसरी कंचुकियाँ पहनने के लिये नहीं अँटती थीं ॥ २ ॥

(यौवन की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण कटि सतत क्षीण होती जा रही थी, अतः जो भी मेखला पहनती थी, वही थोड़ी देर के पश्चात् ढीली पड़ जाती थी और पयोधरों की निरन्तर वृद्धि के कारण प्रत्येक कंचुकी कुछ ही क्षणों मे छोटी पड़ जाती थी। संस्कृत टीकाकार के अनुसार सुरत के अन्त में जैसे ही नायिका कंचुकी और मेखला पहनती थी, वैसे ही पति उन्हे उतार देता था।)

३१८*३. मदनाग्नि से संतप्त होकर भीतर ही भीतर खौलता हुआ, उस बाला का सुवर्णच्छवि-लावण्य मानों पयोधर-भार के व्याज से उफन कर बह रहा है ॥ ३ ॥

३१८*४. जिसका मध्य भाग कृश है, वह सुन्दरी स्तनों के भार से सहसा टूट न जाय—इसलिए विधाता ने रोमावलि का स्तम्भ (खंभा) लगा दिया है ॥ ४ ॥

३१८*५. अरे चन्द्र! बाला के कपोल के सौन्दर्य से पराजित होकर खिन्न क्यों होते हो? गर्व मत करो। पृथ्वी बहुत से रत्नों से विभूषित है ॥ ५ ॥

*३१८*६. वह बाला बिजौरे की नवीन लता के समान लावण्य की निधि है। सुदूर डाली पर पकी इमली जैसे दर्शकों के मुँह में लार उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार वह भी हृदय में लोभ (अनुराग) उत्पन्न कर देती है ॥ ६ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

सुरयवज्जा

३२८*१. अन्नोन्नणेहणिज्झरविइण्णहियवाण अलियकुवियाणं ।
पत्तियजणाण सुरए जं सोक्खं तं फुडं अमयं ॥१॥
अन्योन्यस्नेहनिर्झरवितीर्णहृदयानाम् अलीककुपितानाम् ।
विश्वस्तजनानां सुरते यत् सौख्यं तत् स्फुटममृतम् ॥

३२८*२. सुरयावसाणसमए मउलियणयणाणणा य बिंबोट्ठी ।
अलहंती सुरयसुहं पासत्थमुही पियं भणइ ॥२॥
सुरतावसानसमये मुकुलितनयनानना च बिम्बोष्ठी ।
अलभमाना सुरतसुखं पार्श्वस्थमुखी प्रियं भणति ॥

३२८*३. सुरयप्पसुत्त कोवण अप्पंभर मा हु रे निवज्जिहिसि ।
कयकज्ज किं न याणसि असमत्तरयाण जं दुक्खं ॥३॥
सुरतप्रसुप्त कोपन आत्मंभर मा खलु रे निपत्स्यसे ।
कृतकार्य किं न जानासि असमाप्तरतानां यद् दुःखम् ॥

३२८*४. चलवलयमेहलरवं कलकलिरमणोहरं च सोऊण ।
ईसा रोसो महिलत्तणं च मुक्कं सवत्तीहिं ॥४॥
चलवलयमेखलारवं कलकलयुक्तमनोहरं च श्रुत्वा ।
ईर्ष्या रोषो महिलात्वं च मुक्तं सपत्नीभिः ॥

३२८*५. बाला असमत्तरया रयावसाणम्मि पहरिसी भणइ ।
किं सुयसि नाह, हं सुयमि, किं नु पज्जत्तकज्जो सि ॥५॥
बाला असमाप्तरता रतावसाने प्रहृष्टा भणति ।
किं स्वपिषि नाथ, अहं स्वपिमि, किं खलु पर्याप्तकार्योऽसि ॥

पेम्मवज्जा

३४९*१. पढमारंभमणहरं घणलग्गं माणरायरमणिज्जं ।
पेम्मं सुरिंदचावं व चंचलं झत्ति वोलेइ ॥१॥
प्रथमारम्भमनोहरं घनलग्नं मानरागरमणीयम् ।
प्रेम सुरेन्द्रधनुरिव चञ्चलं झटिति अपक्रामति ॥

सुरय-वज्जा

३२८*१. जिनके हृदय पारस्परिक प्रेम के निर्झर में डुबकियाँ लगा रहे हैं और जिनका कोप कृत्रिम है, उन विश्वस्त प्रेमियों को सुरत में जो सुख मिलता है, वह सचमुच अमृत है ॥ १ ॥

३२८*२. मुकुलित नेत्रों से युक्त मुख वाली, बिम्बोष्ठी नायिका रति का अवसान हो जाने पर पुनः सुरत-सुख न पाती हुई मुँह मोड़कर प्रिय से बातें करती है ॥ २ ॥

३२८*३. सुरत के अन्त में सो जाने वाले ! कोपन ! आत्मंभर ! (अपना पोषण करने वाले स्वार्थी) सो मत जाओ। अपना काम निकाल लेने वाले ! जिनकी रति समाप्त नहीं हो पाती, उन्हें जितना दुःख होता है, क्या तुम उसे नही जानते ? ॥ ३ ॥

३२८*४. चंचल वलय और मेखला की मनोहर झंकार सुन कर सपत्नियों ने ईर्ष्या, रोष और स्त्रीत्व का परित्याग कर दिया ॥ ४ ॥

३२८*५. जिसकी रति अभी समाप्त नहीं हुई थी, उस प्रहृष्ट बाला ने रति के अन्त मे कहा—"नाथ ! क्या तुम सो रहे हो ? (नायक ने कहा)—"हाँ मैं सो रहा हूँ"। (नायिका ने कहा)—"क्या तुम्हारा काम पूरा हो गया" ॥ ५ ॥

(आशय यह है कि तुम्हारा कार्य पूर्ण हो गया है, परन्तु मैं तो अभी सन्तुष्ट नही हुई हूँ)

पेम्म-वज्जा

३४९*१. जिसका प्रथम आरम्भ मनोहर होता है, जिसमें बना लगाव हो जाता है तथा जो मान और अनुराग से रमणीय लगता है, वह प्रेम, उस इन्द्रधनुष के समान चंचल है और शीघ्र नष्ट हो जाता है, जिसका प्रथमारंभ मनोहर होता है, जो सीमाबद्ध रंगों से रमणीय होता है और मेघों से संलग्न रहता है ॥ १ ॥

३४९*२. खणभंगुरेण विसमेण हारिणा दुण्णिवारपसरेण।
अणवट्ठियसब्भावेण सव्वहा होउ पेम्मेण ।।२।।
क्षणभंगुरेण विषमेण हारिणा दुर्निवारप्रसरेण।
अनवस्थितस्वभावेन सर्वथा भवतु प्रेम्णा ॥

३४९*३. जइ देव मह पसन्नो मा जम्मं देहि माणुसे लोए ।
अह जम्मं मा पेम्मं, अह पेम्मं मा विओयं च ।।३।।
यदि देव मम प्रसन्नो मा जन्म देहि मानुषे लोके।
अथ जन्म मा प्रेम, अथ प्रेम मा वियोगं च ॥

३४९*४. अन्नं तं सयदलियं पि मिलइ रसगोलिय व्व जं पेम्मं।
अम्हं मयच्छि मुत्ताहलं व फुट्टं न संघडइ ।।४।।
अन्यत् तत् शतदलितमपि मिलति रसगोलिकेव यत् प्रेम।
अस्माकं मृगाक्षि मुक्ताफलमिव स्फुटितं न सघटते ॥

३४९*५. दढणेहणालपसरियसब्भावदलस्स रइसुयंधस्स ।
पेम्मुप्पलस्स मुद्धे माणतुसारो च्चिय विणासो ।।५।।
दृढस्नेहनालप्रसृतसद्भावदलस्य रतिसुगन्धस्य।
प्रेमोत्पलस्य मुग्धे मानतुषार एव विनाशः ॥

*३४९*६. अव्वो जाणामि अहं पेम्मं च हवइ लोय ज्झम्मि ।
थिरआसाए रइयं न पीडियं नवरि दिव्वेण।।६।।
अहो जानाम्यहं प्रेम च भवति लोकमध्ये।
स्थिराशयारचितं न पीडितं केवलं दैवेन ॥

३४९*७. जा न चलइ ता अमयं चलियं पेम्मं विसं विसेसेइ ।
दिट्ठं सुयं व कत्थ वि मयच्छि विसगब्भिणं अमयं ।।७।।
यावन्न चलति तावदमृतं चलितं प्रेम विषं विशेषयति।
दृष्टं श्रुतं वा कुत्रापि मृगाक्षि विषगर्भितम् अमृतम् ॥

३४९*२. जो क्षण-भंगुर है, जो कठिनाइयों से पूर्ण है, जो मन को हर लेता है, जिसका प्रसार रोका नहीं जा सकता तथा जिसका स्वभाव स्थिर नहीं, उस प्रेम को सर्वथा होने दो ॥ २ ॥

३४९*३. यदि देव ! मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मनुष्य लोक में जन्म न दें, यदि जन्म दें, तो प्रेम न हो और यदि प्रेम हो, तो वियोग न हो ॥ ३ ॥

३४९*४. वह प्रेम और ही है, जो पारे की गोली के समान सौ टुकड़े हो जाने पर भी जुड़ जाता है। मृगाक्षि ! हमारा प्रेम तो मुक्ताफल के समान टूटने पर फिर नहीं जुड़ता ॥ ४ ॥

३४९*५. दृढस्नेह ही जिसका नाल है, सद्भाव ही जिसके प्रसृत पत्र (फैली पंखड़ियाँ) हैं तथा रति ही जिसकी सुगन्ध है, उस प्रणयोत्पल का विनाश करने वाला मान-रूपी तुषार ही है ॥ ५ ॥

*३४९*६. अहो ! संसार में प्रेम सुदृढ़ आशा से निर्मित होता है— यह मैं जानती हूँ, परन्तु वह (प्रेम) भाग्य से पीड़ित होता है (भाग्याधीन होता है)—केवल यह नहीं जानती ॥ ६ ॥

३४९*७. प्रेम जब तक स्थिर रहता है, तब तक अमृत है। जब वह स्थिर नहीं रह जाता, तब विष से भी अधिक भयानक बन जाता है। मृगलोचने ! तुमने क्या कहीं भी विष से मिश्रित अमृत देखा या सुना है ? ॥ ७ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

३४९*८. भग्गं न जाइ घडिउं दुज्जणहिययं कुलालभंडं व ।
सयखंडं पि घडिज्जइ कंचणकलसो सुयणचित्तं ॥८॥
भग्नं न याति घटितुं दुर्जनहृदयं कुलालभाण्डमिव ।
शतखण्डमपि घट्यते काञ्चनकलशः सुजनचित्तम् ॥

३४९*९. भग्गं पुणो घडिज्जइ कणयं कंकणयणेउरं नयरं ।
पुण भग्गं न घडिज्जइ पेम्मं मुत्ताहलं जच्चं ॥९॥
भग्नं पुनर्घट्यते कनकं कङ्कणनूपुरं नगरम् ।
पुनर्भग्नं न घट्यते प्रेम मुक्ताफलं जात्यम् ॥

*३४९*१०. सो को वि न दीसइ सामलंगि जो घडइ विघडियं पेम्मं।
घडकप्परं च भग्गं न एइ तेहिं चिय सलेहिं ॥१०॥
स कोऽपि न दृश्यते श्यामलाङ्गि यो घटयति विघटितं प्रेम ।
घटकर्परं च भग्नं नैति तैरेव....(?) ॥

माणवज्जा

३६४*१. दंते तिणाइ कंठे कुवारयं सुंदरं च तुह एय ।
माणमडप्फरणडिए तुह माणो केण निद्दिट्ठो ॥१॥
दन्ते तृणानि कण्ठे कुवारकं (?) सुन्दरं च तवैतद् ।
मानाहङ्कारवञ्चिते तव मानः केन निर्दिष्टः ॥

३६४*२. एमेव कह वि माणंसिणीइ तह महमहाविओ माणो ।
जह खेमकुसलसंभासमेत्त सो पिओ जाओ ॥२॥
एवमेव कथमपि मनस्विन्या तथा प्रसारितो मानः ।
यथा क्षेमकुशलसंभाषमात्रः स प्रियो जात. ॥

पवसियवज्जा

३७३*१. वासारत्ते पावासियाण विरहग्गितावतवियाणं ।
अंगेसु लग्गमाणो पढमासारो छमच्छमइ ॥१॥
वर्षारात्रे प्रवासिनां विरहाग्नितापतप्तानाम् ।
अङ्गेषु लगन् प्रथमासारश्छमच्छमायते ॥

३४९*८. दुर्जन का हृदय कुलाल (कुम्हार) के भाण्ड (बर्तन) के समान टूट जाने पर नही जुड़ता, परन्तु सज्जनों का हृदय कंचन-कलश के समान शतखण्ड हो जाने पर भी जुड़ जाता है ॥ ८ ॥

३४९*९. सोने के कंकण, नूपुर और नगर टूट जाने पर पुनः जुड़ जाते हैं, परन्तु प्रेम और विशुद्ध भुक्ताफल टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ते ॥ ९ ॥

*३४९*१०. श्यामांगि ! ऐसा कोई नहीं दिखाई देता, जो टूटे प्रेम को फिर जोड़ सके। टूटा हुआ घड़ा फिर उन्हीं साँचों में नही आता ॥ १० ॥

माण-वज्जा

३६४*१. दाँतो मे तृण और गले में छोटा सा कलश—यही तुझे उचित है। अरी मान और गर्व से नाचने वाली ! तुझे मान किसने सिखा दिया ? ॥ १ ॥

३६४*२. उस मनस्विनी ने कुछ ऐसा मान का विस्तार कर दिया, कि उसका प्रेमी अब केवल कुशल-क्षेम और संभाषण का पात्र रह गया है ॥ २ ॥

पवसिय-वज्जा

३७३*१. जो विरहाग्नि के ताप मे तप चुके है, इन प्रवासियों के अंगों पर वर्षा की रात्रि मे जब पहली बूँदें पड़ती हैं, तो छनछना कर रह जाती हैं ॥ १ ॥

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

विरहवज्जा

३८९*१. जेहिं सोहग्गणिही दिट्ठो नयणेहि ते च्चिय रुयंतु ।
अंगाइ अपावियसंगमाइ ता कीस खिज्जंति ।।१।।
याभ्यां सौभाग्यनिधिर्दृष्टो नयनाभ्यां ते एव रुदताम् ।
अङ्गान्यप्राप्तसङ्गमानि तत् कस्मात् खिद्यन्ति ।।

३८९*२. तुह सुरयपवरतरुपल्लवग्गकवलाण लद्धमाहप्पो ।
मह मणकरहो मुद्धे दक्खाकवलं पि परिहरइ ।।२।।
तव सुरतप्रवरतरुपल्लवाग्रकवलानां लब्धमाहात्म्यः ।
मम मनःकरभो मुग्धे द्राक्षाकवलमपि परिहरति ।।

३८९*३. विरहग्गिजलणजालाकरालियं कुवलयच्छि मह अंगं ।
तुह रमणमहाणइपाणिएण मुद्धे पविज्झाहि ।।३।।
विरहाग्निज्वलनज्वालाकरालितं कुवलयाक्षि ममाङ्गम् ।
तव रमणमहानदीपानीयेन मुग्धे विध्यापय ।।

३८९*४. रेहइ पियपडिरुंभण पसारियं सुरयमंदिरद्दारे ।
हेलाहल्लावियथोरथणहरं भुयलयाजुयलं ।।४।।
राजते प्रियप्रतिरोधनप्रसारित सुरतमन्दिरद्वारे ।
हेलाचालितस्थूलस्तनभरं भुजलतायुगलम् ।।

३८९*५. ता जाइ ता नियत्तइ ठाणं गंतूण झत्ति वाहुडइ ।
पियविरहो घोडा विग्गहो व्व हियए न संठाइ ।।५।।
तावद्याति तावन्निवर्तते स्थानं गत्वा झटिति व्याघुटति ।
प्रियविरहोऽश्वो विग्रह इव हृदये न संतिष्ठति ।।

३८९*६. न जलंति न धगधगंति न सिमसिमंति न मुयंति धूमवत्तीओ
अंगाइ अणंगपरव्वसाइ एमेव डज्झंति ।।६।।
न ज्वलन्ति, न धगधगन्ति न शमशमन्ति न मुञ्चन्ति धूमवर्तीः ।
अङ्गानि अनङ्गपरवशानि एवमेव दह्यन्ते ।।

विरह-वज्जा

३८९*१. जिन्होंने सौभाग्य-निधि प्रियतम को देखा है, वे आँखें ही रोयें। जिन्हें समागम (संयोग) नही प्राप्त हो सका है, वे अंग क्यों क्षीण होते जा[1] रहे है ? ॥ १ ॥

३८९*२ मेरे मन का ऊँट तुम्हारे सुरत-रूपी श्रेष्ठ वृक्ष के कोमल पल्लवों का स्वाद पाकर द्राक्षा (अंगूर) का कौर भी छोड रहा है ॥ २ ॥

३८९*३. कुवलयलोचने ! विरह-रूपी अग्नि की लपटों में जलते मेरे अंग को अपने संभोग-रूपी महानदी के जल से बुझा दो ॥ ३ ॥

३८९*४. प्रिय को रोकने के लिये रतिमन्दिर के द्वार पर फैली हुई, वे सुन्दरी की लता-जैसी भुजायें, जो लीलापूर्वक पीन पयोधरों को हिला दे रही हैं, सुन्दर लगती हैं ॥ ४ ॥

३८९*५. कभी जाता है फिर मुड़ता है, स्थान पर पहुँच कर लौट पड़ता है। प्रिय का विरह बिना लगाम के घोड़े के समान हृदय में स्थिर नहीं रहता है ॥ ५ ॥

३८९*६. जो काम देव के अधीन हो चुके हैं, वे अंग ऐसे ही दग्ध होते हैं। न जलते हैं, न धकधकाते हैं, न सनसनाते हैं और न धुयें का मण्डल छोड़ते हैं ॥ ६ ॥

---

१. वह पीकर रूप छटा प्रिय की जो अघाते नही थे कभी पहले।
अब रोते हुए उन लोचनों को यह दारुण पीर भले ही खले।
जिन्हें अवसर संगम का न मिला जो अभागे कभी है लगे न गले।
सखि ! वे चिरवंचित कोमल अंग वियोग में हो रहे क्यों दुबले ॥

३८९*७. वढ्डसि विरहे हस्ससि समागमे हा निसे निसंसा सि ।
भद्दे तुमं पि महिला तह वि हु दुक्खं न याणासि ॥७॥
वर्धसे विरहे ह्रससि समागमे हा निशे नृशंसासि ।
भद्रे त्वमपि महिला तथापि खलु दुःखं न जानासि ॥

अणंगवज्जा

३९७*१. ता किं करेमि माए निज्जियरूवस्स कामदेवस्स ।
दढ्डं पि डहइ अगं निद्धूमो संखचुण्णु व्व ॥१॥
तत्किं करोमि मातर्निर्जितरूपस्य कामदेवस्य ।
दग्धमपि दहत्यङ्गं निर्धूमः शंखचूर्ण इव ॥

*३९७*२. हारेण मामि कुसुमच्छडायलुप्पन्नचिच्चिणा दड्ढो ।
वम्मीसणो न मन्नइ उलूविओ तेण मं डहइ ॥२॥
हारेण सखि कुसुमच्छटातलोत्पन्नवह्निना दग्धः ।
वर्मेषणो न मन्यते विध्यापितः तेन मा दहति ॥

पियाणुरायवज्जा

४१२*१. जे के वि रसा दिट्ठीउ जाउ जे भरहभाविया भावा ।
ते नच्चिज्जंति अणच्चिया वि सहसा पिए दिट्ठे ॥१॥
ये केऽपि रसा दृष्ट्यो या ये भरतभाविता भावाः ।
ते ते नर्त्यन्ते अनृत्ता अपि सहसा प्रिये दृष्टे ॥

४१२*२. सो कत्थ गओ सो सुयणवल्लहो सो सुहासियसमुद्दो ।
सो मयणग्गिविणासो जो सो सोसेइ मह हियय ॥२॥
स कुत्र गतः स सुजनवल्लभः स सुभाषितसमुद्रः ।
स मदनाग्निविनाशो यः स शोषयति मम हृदयम् ॥

४१२*३. सो मासो तं पि दिणं सा राई सव्वलक्खणसउण्णा ।
अमयं व तं मुहुत्तं जत्थ पिओ झत्ति दीसिहिइ ॥३॥
स मासस्तदपि दिनं सा रात्रिः सर्वलक्षणसंपूर्णा ।
अमृतमिव स मुहूर्तो यत्र प्रियो झटिति द्रक्ष्यते ॥

३८९*७. प्रिय के विरह में बढ़ जाती हो और समागम में घट जाती हो। हाय री रात्रि ! तुम नृशंस हो (निर्दय हो) । भद्रे ! तुम भी तो महिला हो, तब भी दुःख नहीं समझ पाती[1] ॥ ७ ॥

अणंग-वज्जा

३९७*१. माँ ! जिसका शरीर (शिव द्वारा) भस्म हो चुका है, उस रूपहीन कामदेव के लिए क्या करें ? वह तो जले हुए अंग को निर्धूम शंख चूर्ण के समान जला रहा है ॥ १ ॥

*३९७*२. सखि ! मैं समझती हूँ, जिसके पुष्पों के समूह के नीचे से अग्नि उत्पन्न हो रही थी, उस हार के द्वारा दग्ध होकर कामदेव फिर बुझा नहीं, तभी तो मुझे जला रहा है ॥ २ ॥

पियाणुरायवज्जा

४१२*१. जो भी रस हैं, जो भी दृष्टियाँ हैं और भरतमुनि द्वारा कल्पित जो भी भाव हैं—वे सभी सहसा प्रिय को देखते ही अभिनीत हो जाते हैं (सबका अभिनय होने लगता है) ॥ १ ॥

४१२*२. जो मेरे हृदय का शोषण कर रहा है, वह सुजनों का प्रेमी, सुभाषितों का समुद्र और मदनाग्नि को बुझाने वाला कहाँ गया[2] ? ॥ २ ॥

४१२*३. वह मास, वह दिन और वह रात्रि सब लक्षणों से[3] पूर्ण है और वह मुहूर्त अमृत के समान है, जब प्रिय सहसा दिखाई देगा ॥ ३ ॥

१. घटने का समागम में प्रिय के, अति पाप भरा हठ ठानती है।
बढ़ जाती वियोग में है इतना, कि न बीतना भी झट जानती है।
तरसाने में ही अनुरागियों को, यों बड़प्पन वैरिनि ! मानती है।
अरी यामिनी ! तू भी तो भामिनी है, फिर पीर न क्यों पहचानती है ॥

* विस्तृत विवेचन परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

२. देखिये, गा० ७८२

३. देखिये, गा० ७८५

४१२*४. हिययट्ठिओ वि पिओ तह वि हु नयणाण होइ दुप्पेच्छो ।
पेच्छइ विहिणा न कया मह उयरे जालयगवक्खा ॥४॥
हृदयस्थितोऽपि प्रियस्तथापि खलु नयनयोर्भवति दुष्प्रेक्षः ।
प्रेक्षध्वं विधिना न कृता ममोदरे जालकगवाक्षाः ॥

४१२*५. होही तं किं पि दिणं जत्थ पिओ बाहुपंजरणिबद्धो ।
वित्ते सुरयपसंगे पुच्छिहिइ पवासदुक्खाइं ॥५॥
भविष्यति तत् किमपि दिनं यत्र प्रियो बाहुपञ्जरनिबद्धः ।
वृत्ते सुरतप्रसङ्गे प्रक्ष्यति प्रवासदुःखानि ॥

४१२*६. दिन्नं गेण्हइ, अप्पेइ पत्थियं, असइ, भोयणं देइ ।
अक्खइ गुज्झं पुच्छेइ पडिवयं जाण तं रत्तं ॥६॥
दत्तं गृह्णाति, अर्पयति प्रार्थितम्, अश्नाति, भोजनं ददाति ।
आख्याति गुह्यं पृच्छति प्रतिपदं जानीहि तं रक्तम् ॥

दूईवज्जा

*४२१*१. अहवा तुज्झ न दोसो तस्स उ रूवस्स हियकिलेसस्स ।
अज्जावि न प्पसीयइ ईसायंति व्व गिरितणया ॥१॥
अथवा तव न दोषस्तस्य तु रूपस्य हितक्लेशस्य ।
अद्यापि न प्रसीदति ईर्ष्यायमाणेव गिरितनया ॥

४२१*२. कस्स कहिज्जंति फुडं दूइविणट्ठाइ सहि कज्जाइं ।
अहवा लोयपसिद्धं न फलंति समक्कडारामा ॥२॥
कस्य कथ्यन्ते स्फुटं दूतीविनष्टानि सखि कार्याणि ।
अथवा लोकप्रसिद्धं न फलन्ति समर्कटारामाः ॥

ओलुग्गावियावज्जा

४३८*१. सा दियहं चिय पेच्छइ नयणा पडियाइ दप्पणतलम्मि ।
एएहि तुमं दिट्ठो सि सुहय दोहिं पि अच्छीहिं ॥१॥
सा दिवसमपि प्रेक्षते नयने पतिते दर्पणतले ।
एताभ्यां त्वं दृष्टोऽसि सुभग द्वाभ्यामप्यक्षिभ्याम् ॥

४१२*४. देखो, प्रिय हृदय में रहता है, तब भी नयनों से उसे देख पाना कठिन है। विधाता ने मेरे पेट में जालीदार झरोखे क्यों न किये[1] ? ॥ ४ ॥

४१२*५. वह भी कोई दिन होगा, जब प्रिय के भुजपाश में बद्ध होंगे और रति-क्रीड़ा समाप्त हो जाने पर प्रवास के कष्टों को पूछेंगे[2] ॥ ५ ॥

४१२*६ जो दी हुई वस्तु को ग्रहण करता है, प्रार्थित वस्तु ला कर देता है, खाता है और खिलाता है, गुप्तभेद बताता है और प्रतिक्षण सुख-दुःख पूछता रहता है—उसे अनुरक्त समझो ॥ ६ ॥

दूई-वज्जा

*४२१*१. हे शिव ! तुम्हारा कोई अपराध नहीं है, अपराध तो क्लेश को हर लेने वाले, पार्वती के रूप का है, जिसके कारण अब भी वे प्रसन्न नही हो रही है ॥ १ ॥

४२१*२. सखि ! दूती के द्वारा जो कार्य नष्ट हो चुके हैं, क्या उन्हें स्पष्ट रूप से किसीसे कहा जाता है ? अर्थात् नही। यह लोक प्रसिद्ध है—जिस उपवन में बन्दर रहते है, उनमे फल नही लगते (रहते) हैं ॥ २ ॥

ओलुग्गाविया-वज्जा

४३८*१. सुभग ! वह दिन भर दर्पण मे प्रतिबिम्बित अपने नेत्रों को इसलिए देखती रहती है कि इन्हीं (सौभाग्यशाली) दोनों नेत्रों के द्वारा तुम देखे जा चुके हो ॥ १ ॥

---

१. देखिये, गा० ७८७

२. देखिये, गा० ७८३

* विस्तृत अर्थ के लिए परिशिष्ट 'ख' देखिए।

४३८*२. दुक्खेहि वि तुह विरहे बालय दुक्खं ठियं, अह च्चाए।
अंसूजलेहि रुण्णं नीसासेहिं पि नीससियं ॥२॥
दुःखैरपि तव विरहे बालक दुःखं स्थितम्, अथ त्यागे।
अश्रुजलैरपि रुदितं निःश्वासैरपि (च) निःश्वसितम् ॥

४३८*३. बालय नाहं दूई तीइ पिओ सि त्ति नम्ह वावारो।
सा मरइ तुज्झ अअसो त्ति तेण धम्मक्खरं भणिमो ॥३॥
बालक नाहं दूती तस्याः प्रियोऽसीति नास्माकं व्यापारः।
सा म्रियते तव अयश इति तेन धर्माक्षरं भणाम ॥

४३८*४. सा सुहय सामलंगी जा सा नीसाससं सियसरीरा।
आसासिज्जइ सहसा जाव न सासा समप्पंति ॥४॥
सा सुभग श्यामलाङ्गी या सा निःश्वासशोषितशरीरा।
आश्वास्यते सहसा यावन्न श्वासाः समाप्यन्ते ॥

४३८.५. परपुरपवेसविन्नाणलाहवं सुहय सिक्खियं कत्थ।
जेण पविट्ठो हियए पढम च्चिय दंसणे मज्झ ॥५॥
परपुरप्रवेशविज्ञानलाघव सुभग शिक्षितं कुत्र।
येन प्रविष्टो हृदये प्रथम एव दर्शने मम ॥

पंथियवज्जा

४४५*१. उद्धच्छो पियइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
पावालिया वि तह तह धारं तणुय पि तणुएइ ॥१॥
ऊर्ध्वाक्षः पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिः चिरं पथिकः।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनूकरोति ॥

४४५*२. अहिणवगज्जियसद्दं मोराण य कलयलं निसामंतो।
मा पवस धिट्ठ पंथिय, मरिहिसि, किं ते पउत्थेण ॥२॥
अभिनवगर्जितशब्दं मयूराणां च कलकलं निशाम्यन्।
मा प्रवसद्धृष्ट पथिक, मरिष्यसि, किं ते प्रवासेन ॥

४३८*२. बालक ! तुम्हारे विरह में दुःख को भी दुःख हुआ और जब तुमने त्याग दिया, तब आँसू भी रो पड़े और आहें भी आह भरने लगीं ॥ २ ॥

४३८*३. बालक मैं दूती नहीं हूँ, तुम उसके प्रिय हो, अतः मेरा कोई प्रयत्न नहीं है ! वह मर रही है, तुम्हें अपयश होगा—इसलिए धर्म के वचन कह रही हूँ[1] ॥ ३ ॥

४३८*४. सुभग ! जिसके शरीर को निःश्वासों ने सुखा डाला है, उस श्यामलांगी को तभी तक आश्वासन देना चाहिये, जब तक उसकी साँसें बन्द नहीं हो जाती ॥ ४ ॥

४३८*५. सुभग ! दूसरे के नगर में प्रवेश करने की कला तुमने कहाँ से सीख ली, जो प्रथम दर्शन में ही मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गये ? ॥५॥

पंथियवज्जा

४४५*१. जैसे-जैसे वह तृषित पथिक, जिसकी आँखें ऊपर लगी थीं और जिसकी अंजलि की अंगुलियाँ परस्पर सटी हुई नहीं थी—पानी पीने में देर कर रहा था, वैसे-वैसे पानी पिलाने वाली भी पतली धार को और पतली करती जा रही थी ॥ १ ॥

४४५*२. अरे धृष्ट बटोही ! प्रवास मत करो । तुम्हारे प्रवास से क्या लाभ है ? अभिनव मेघों की गर्जना और मयूरों का कल-कल (कोलाहल) सुन कर तुम मर जाओगे ॥ २ ॥

---

१. देखिये, गा० ४३८

४४५*३. वासारत्ते वाउद्धुएण वासं विमग्गमाणेण ।
पहिएण पहियघरिणी रुयाविया थरहरंतेण ॥३॥
वर्षारात्रे वातोद्धूतेन वासं विमार्गयता ।
पथिकेन पथिकगृहिणी रोदिता कम्पमानेन ॥

४४५*४. सिहिरडियं घणरडिय दूरं पि घरं घणत्थणं रमणिं ।
संभरिऊण सएसं पहिएण घणग्घणं रुण्णं ॥४॥
शिखिरटितं घनरटितं दूरमपि गृह घनस्तनी रमणीम् ।
संस्मृत्य स्वदेशं पथिकेन घनं घनं रुदितम् ॥

४४५*५. तइ वोलंते बालय तिस्सा वलियाइ तह नु अगाइं ।
जह पट्ठिमज्झणिवडतवाहधारा व दीसति ॥५॥
त्वयि अपक्रामति बालक तस्या वलितानि तथा नु अङ्गानि ।
यथा पृष्ठमध्यनिपतद्बाष्पधारा इव दृश्यन्ते ॥

धन्नवज्जा

४४९*१. इय तरुणितरुणसंभरणकारणं तुरगतरणरणुच्छलियं ।
रइयं इय वरकुलयं पाइयसीलेण लीलेण ॥१॥
इति तरुणीतरुणसंस्मरणकारण तुरगतरणरणोच्छलितम् ।
रचितमिति वरकुलकं प्राकृतशीलेन लीलेन ॥

हिययसंवरणवज्जा

४५४*१. हे हियय अव्ववट्ठिय अगणिज्जतो वि तं जणं महसि ।
कंदु व्व सिलावडियं अलद्धपसरं नियत्तिहिसि ॥१॥
हे हृदय अव्यवस्थित अगण्यमानमपि तं जनं काङ्क्षसि ।
कन्दुक इव शिलापतितो अलब्धप्रसरं निर्वर्तिष्यसे ॥

*४५४*२. सातम्मि हियय दुलहम्मि माणुसे अलियसंगमासाए ।
हरिण व्व मूढ मयतण्हियाइ दूरं हरिज्जिहिसि ॥२॥
साते हृदय दुर्लभे मनुष्ये अलीकसङ्गमाशया ।
हरिण इव मूढ मृगतृष्णिकया दूरं हरिष्यसे ॥

४४५*३. वर्षा की रात में वायु से आन्दोलित और थरथराते हुए बटोही ने जब आवास की याचना की, तब प्रोषित-पतिका को रुलाई आ गई ॥ ३ ॥

४४५*४. वह पथिक, मयूरों का शब्द, मेघों की गर्जना, सुदूरवर्ती गृह, पीवर-स्तनी पत्नी और अपने देश को स्मरण करके खूब रोया ॥ ४ ॥

४४५*५. तुम्हारे जाते ही उसके अंग (देखने के लिए) इतने अधिक मुड़ गये कि आँसुओं की धारा पीठ पर गिरती हुई सी दिखाई देने लगी[1] ॥ ५ ॥

धन्न-वज्जा

४४९*१. इस प्रकार प्राकृताभ्यासी लोल (कवि) ने तरुणों और तरुणियों की स्मृति (वियोग) से सम्बद्ध पद्यों के समूह की ऐसी रचना की है, जिसमें रणागण में छलाँगें भरते हुए अश्वों के समान शब्द उछलते हैं ॥ २ ॥[2]

हियय-संवरण-वज्जा

४५४*१. अरे चंचल हृदय ! तुम उपेक्षित होकर भी उस व्यक्ति को चाहते हो। शिला पर गिरे हुए कन्दुक के समान आगे न जाकर तुरन्त वहाँ से लौटोगे ॥ १ ॥

*४५४*२. अरे मूढ़ मन ! मानुष-सुख दुर्लभ हो जाने पर तू उसी प्रकार मिथ्या संगमाशा के द्वारा दूर तक भरमाया जायगा, जैसे हरिण मृगमरीचिका के द्वारा दूर तक दौड़ाया जाता है ॥ २ ॥

---

१. मूल में वाह शब्द है। संस्कृत टीकाकार ने उसका अर्थ अग्नि-ज्वाला किया है।

२. लोल कवि के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। गाथा के अनुसार वह कोई श्रेष्ठ कवि था।

* विशेष विवरण परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

४५४*३. नयणाइ नयंति नयंतु, हियय को एत्थ तुज्झ वावारो ।
होहिंति इमाइ तडे तुह पडिहिइ वम्महचडक्का ॥३॥
नयने नयतो नयतां हृदय कोऽत्र तव व्यापारः ।
भविष्यत इमे तटे तव पतिष्यति मन्मथचपेटा ॥

४५४*४. नयणाइ फुससु मा रुयसु अणुदिणं, मुयसु तस्स अणुबंधं ।
गाइज्जइ किं मरिऊण पंचमं मुद्ध हरिणच्छि ॥४॥
नयने प्रोञ्छ मारोदिहि अनुदिनं, मुञ्च तस्यानुबन्धम् ।
गीयते किं मृत्वा पञ्चमो मुग्धे हरिणाक्षि ॥

४५४*५. इंदीवरच्छि सयवारवारिया कीस तं जण महसि ।
जइ कणयमयच्छुरिया ता किं घाइज्जए अप्पा ॥५॥
इन्दीवराक्षि शतवारवारिता कस्मात् त जनं काङ्क्षसि ।
यदि कनकमयच्छुरिका तत् किं घात्यत आत्मा ॥

सुघरिणीवज्जा

४६२*१. परघरगमणालसिणी परपुरिसविलोयणे य जच्चंधा ।
परआलावे बहिरा घरस्स लच्छी, न सा घरिणी ॥१॥
परगृहगमनालस्यवती परपुरुषविलोकने च जात्यन्धा ।
परालापे बधिरा गृहस्य लक्ष्मीर्न सा गृहिणी ॥

४६२*२. अज्जेव पियपवासो, असई दूरे, विडंबए मयणो ।
चरणुग्गओ वि अग्गी कया वि सीसं समारुहइ ॥२॥
अद्यैव प्रियप्रवासो, असती दूरे, विडम्बयति मदन. ।
चरणोद्गतोऽप्यग्निः कदापि शीर्षं समारोहति ॥

सईवज्जा

४७१*१. भद्दं कुलंगणाणं जासि मणकमलकोसमणुपत्तो ।
मयणभमरो वराओ वच्चइ निहणं तहि चेव ॥१॥
भद्रं कुलाङ्गनानां यासा मनःकमलकोशमनुप्राप्तः ।
मदनभ्रमरो वराको व्रजति निधनं तत्रैव ॥

४५४*३. नेत्र मुझे उस (प्रेमी) के पास ले जाते हैं, तो ले जायँ, अरे हृदय ! तुम्हारा यहाँ क्या काम है ? ये (नेत्र) तो किनारे हो जायँगे, कामदेव के तमाचे (थप्पड़) तो तुम पर पड़ेंगे ॥ ३ ॥

४५४*४. हे मुग्धे ! मृगलोचने ! आँखें पोंछ डालो, प्रतिदिन रोओ मत, उसका अनुराग छोड़ दो, क्या पंचमराग मर कर गाया जाता है ?

४५४*५. इन्दीवर नेत्रे ! सौ बार मना करने पर उस व्यक्ति को क्यों चाहती हो ? यदि सोने की छूरी हो, तो क्या उससे अपनी हत्या की जाती है ? ॥ ५ ॥

सुघरिणीवज्जा

४६२*१. जो दूसरे के घर जाने के लिए आलस करने वाली बन जाती है, जो पर-पुरुष को देखने के लिये जन्मान्ध हो जाती है और जो परायी बात के लिए बहरी हो जाती है, वह घर की लक्ष्मी है, गृहिणी नहीं है ॥ १ ॥

४६२*२. आज ही प्रिय प्रवासी हुए हैं, दूर व्यभिचारिणी स्त्री रहती है और कामदेव उपहास कर रहा है। चरणों से उठी आग कभी भी शिर पर चढ़ सकती है ॥ २ ॥

सईवज्जा

४७१*१. जिनके मन-रूपी कंज-कोष में पहुँच कर बेचारा मदनरूपी भ्रमर वहीं मर जाता है, उन कुलांगनाओं का मंगल हो ॥ १ ॥

४७२*२. सकुलकलंकं नियकंतवंचणं अजसपडहणिग्घोसो ।
सरिसवमेत्ते च सुहे को दूइ विडंबए अप्पं ॥२॥
स्वकुलकलङ्को निजकान्तवञ्चनम् अयशःपटहनिर्घोषः ।
सर्षपमात्रे च सुखे को दूति विडम्बयत्यात्मानम् ॥

असईवज्जा

४९६*१. जेण समं संबंधो गिण्हइ नामं पुणो पुणो तस्स ।
पुच्छेइ मित्तवग्गं भणइ एवंविहा रत्ता ॥१॥
येन समं संबन्धो गृह्णाति नाम पुनः पुनस्तस्य ।
पृच्छति मित्रवर्गं भण्यते एवंविधा रक्ता ॥

४९६*२. असई असमत्तरया सयडं दट्ठूण गाममज्झम्मि ।
धन्ना हु चक्कणाही निच्चं अक्खो हिओ जिस्सा ॥२॥
असती असमाप्तरता शकटं दृष्ट्वा ग्राममध्ये ।
धन्या खलु चक्रनाभिर्नित्यम् अक्षो हितो यस्याः ॥

४९६*३. डिंभत्तणम्मि डिंभेहि रामिया जोव्वणे जुवाणेहिं ।
थेरी वि गयवएहिं मया वि असई पिसाएहिं ॥३॥
डिम्भत्वे डिम्भै रमिता यौवने युवभिः ।
स्थविरापि गतवयोभिर्मृताप्यसती पिशाचैः ॥

४९६*४. भयवं हुयास एक्कम्ह दुक्कयं खमसु जं पई रमिओ ।
निहणइ पावं जाराणुमरणकयणिच्छया असई ॥४॥
भगवन् हुताश एकस्माकं दुष्कृतं क्षमस्व यत् पती रमितः ।
निहन्ति पापं जारानुमरणकृतनिश्चया असती ॥

४९६*५. संकेयकुडंगोड्डीणसउणकोलाहलं सुणंतीए ।
घरकम्मवावडाए वहूइ खिज्जंति अंगाइं ॥५॥
सङ्केतकुञ्जोड्डीनशकुनकोलाहलं शृण्वत्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः खिद्यन्ति अङ्गानि ॥

४७२*२. दूती ! सरसों के बराबर सुख के लिए अपने कुल में कलंक लगा कर, अपने पति को धोखा देकर और अपयश का नगाड़ा पीट कर कौन अपनी विडम्बना करे ? ॥ १ ॥

असई-वज्जा

४९६*१. अनुरक्त महिला इस प्रकार बताई जाती है—जिसके साथ सम्बन्ध (प्रेम) होता है, उसका नाम बार-बार लेती है और मित्रों से उसे पूछती है ॥ १ ॥

४९६*२. जो रति से सन्तुष्ट नही हुई थी, उस व्यभिचारिणी ने गाँव के बीच में छकड़े को देखकर सोचा[1] कि जिसमें धुरा निहित रहता है, वह चक्रनाभि (पहिये का वह छिद्र जिसमें धुरा लगाया जाता है) धन्य है ॥ २ ॥

४९६*३. उस व्यभिचारिणी ने बाल्यकाल में बालकों से, युवावस्था में युवकों से, वृद्धावस्था में वृद्धों से और मर जाने पर भी पिशाचों से रमण किया ॥ ३ ॥

४९६*४. मृत जार (उपपति) की चिता पर सती हो जाने का निश्चय करने वाली व्यभिचारिणी अपना पाप नष्ट कर रही है—भगवन् अग्निदेव ! मैंने जो अपने पति के साथ रमण किया था, वह मेरा एकमात्र दुष्कर्म क्षमा कर दें ॥ ४ ॥

४९६*५. संकेत-कुंज में उड़ते हुए विहंगों का कोलाहल सुनती हुई, गृहकार्य में लगी बहू के अंग टूटने लगे ॥ ५ ॥

---

१. मूल प्राकृत में यहाँ कोई क्रिया नही है ।

४९६*६. जारट्ठविणिम्मियमेहलावलिं जा न बंधइ नियंबे ।
ताव च्चिय नवकामालिणीइ रमणं व पज्झरियं ॥६॥

जारार्थविनिर्मितमेखलावलीं यावन्न बध्नाति नितम्बे ।
तावदेव नवकामातुराया रमणमिव प्रक्षरितम् ॥

४९६*७. जारमसाणसमुब्भवभूईसुहफंससिज्जिरंगीए ।
न समप्पइ नवकामालिणीइ उद्धूलणारंभो ॥७॥

जारश्मशानसमुद्भवभूतिसुखस्पर्शस्वेदनशीलाङ्ग्याः ।
न समाप्यते नवकामातुराया उद्धूलनारम्भः ॥

*४९६*८. बहले तमंधयारे रमियपमुक्काण सासुसुण्हाणं ।
समयं चिय अब्भिडिया दोण्हं पि सरद्दहे हत्था ॥८॥

बहले तमोऽन्धकारे रमितप्रमुक्तयोः श्वश्रूस्नुषयोः ।
सममेव संगतौ (मिलितौ) द्वयोरपि........(?) हस्तौ ॥

४९६*९. संपत्तिया वि खज्जइ पत्तच्छेयम्मि, मामि को दोसो ।
निययवई वि रमिज्जइ परपुरिसविवज्जिए गामे ॥९॥

पिप्पलीपत्रमपि खाद्यते पत्रच्छेदे, सखि को दोषः ।
निजकपतिरपि रम्यते परपुरुषविवर्जिते ग्रामे ॥

४९६*१०. रच्छातुलग्गवडिओ नालत्तो जं जणस्स भीयाए ।
सो चेय विरहडाहो अज्ज वि हियए छमच्छमइ ॥१०॥

रथ्यायदृच्छापतितो नालपितो यज्जनस्य भीतया ।
स चैव विरहदाहो अद्यापि हृदये छमच्छमायते (प्रज्वलति) ॥

४९६*११. अच्छीहि तेण भणियं मए वि हियएण तस्स पडिवन्नं ।
जा पत्तियं पि जायं घुणहुणियं ता हयग्गामे ॥११॥

अक्षिभ्यां तेन भणितं मयापि हृदयेन तस्य प्रतिपन्नम् ।
यावत् प्रतीतमपि जातं कर्णोपकर्णिकया प्रकटितं तावद् हतग्रामे ॥

४९६*६. नवीन कापालिनी अभी उपपति के धन से निर्मित मेखला को नितम्बों पर बाँध भी न पाई थी कि उसका स्खलन हो गया ॥ ६ ॥

४९६*७. जार (उपपति) के मरघट की राख से उत्पन्न होने वाले सुख स्पर्श से जिसके अंगों में पसीना (सात्त्विक भावोद्रेकवश) आ गया था (संस्कृत टीका के अनुसार, जार के मरघट पर उत्पन्न होने वाली राख की सुखस्पर्श शय्या पर जिसे सुखानुभूति हो रही थी) वह नवीन कापालिनी शरीर में भस्म (राख) लगाना बन्द ही नहीं करती थी ॥ ७ ॥

*४९६*८. निविड अन्धकार मे जिसके साथ रमण किया गया था और जिसे (बिना रमण किये ही) छोड़ दिया गया था, उन आँसुओं से युक्त और (रमण-जनित) उष्णता से युक्त, सास और बहू—दोनों के हाथ शरत् सरोवर में एक साथ डाले गये (या छू गये) ॥ ८ ॥

४९६*९. ताम्बूल आदि के पत्तों के अभाव में पिप्पलीपत्र (पीपल का पत्ता) भी खाया जाता है। सखि ! दोष क्या है ? जिस गाँव मे पर-पुरुष नही हैं, वहाँ अपने पति से भी रमण किया जाता है ॥ ९ ॥

४९६*१०. वे गली मे संयोगवश आ मिले, पर उस समय लोगों के के भय से जो मैं उनसे बोली नही, वह विरहाग्नि की तपन आज भी हृदय में सनसनाती हुई सुलग रही है ॥ १० ॥

४९६*११. उन्होंने आँखों से कह दिया और मैंने भी हृदय से स्वीकार कर लिया। जब तक दोनो के मर्मों ने इसे समझा, तब तक दुष्ट गाँव में कानाफूसी होने लगी ॥ ११ ॥

---

१. विस्तृत अर्थ परिशिष्ट 'ख' मे देखिये।

४९६*१२. सिंचंतो वि मियंको जोण्हासलिलेण पंकयवणाइँ ।
तह वि अणिट्ठयरो च्चिय, सकलंको कस्स पडिहाइ ।।१।।
सिञ्चन्नपि मृगाङ्को ज्योत्स्नासलिलेन पङ्कजवनानि ।
तथाप्यनिष्टतर एव, सकलङ्कः कस्य प्रतिभाति ।।

४९६*१३. अत्ता जाणइ सुण्हं सुण्हा जाणेइ अत्तचरियाइं ।
वच्चउ सुहेण कालो मा फुट्टउ बिल्ल बिल्लेण ।।१३।।
श्वश्रूर्जानाति स्नुषा स्नुषा जानाति श्वश्रूचरितानि ।
व्रजतु सुखेन कालो मा स्फुटतु बिल्व बिल्वेन ।।

४९६*१४. पढमं चिय मह रेहा असईमज्झम्मि उब्भिओ हत्थो ।
सरणामि तुज्झ पाया सुरसरि दूयत्तणं कुणइ ।।१४।।
प्रथमं चैव मम रेखा असतीमध्ये ऊर्ध्वितो हस्तः ।
शरणयामि तव पादौ सुरसरिद् दूतत्वं करोति ।।

जोइसियवज्जा

*५०७*१. सीसेण कह न कीरइ निउबण मामि तस्स गणयस्स ।
असमत्तसुक्कसकमणवेयणा जेण मह मुणिया ।।१।।
शीर्षेण कथं न क्रियते निङ्कुबनं(?)सखि तस्य गणकस्य ।
असमाप्तशुक्रसंक्रमणवेदना येन मम ज्ञाता ।।

धम्मियवज्जा

५३२*१. धुत्तीरएण धम्मिय जो होइ चडाविएण एक्केण ।
सो कुरयाण सएण वि न होइ लिंगस्स परिओसो ।।१।।
धत्तूरकेण(धूर्तारतेन)धार्मिक यो भवति उपरिस्थापितेन एकेन ।
स कुरबकाणां शतेनापि न भवति लिङ्गस्य परितोषः ।।

५३२*२. धम्मिय धम्मो सुव्वइ दाणेण तवेण तित्थजत्ताए ।
तरुणतरुपल्लवुल्लूरणेण धम्मो कहिं दिट्ठो ।।२।।
धार्मिक धर्मः श्रूयते दानेन तपसा तीर्थयात्रया ।
तरुणतरुपल्लवोच्छेदनेन धर्मः कुत्र दृष्टः ।।

४९६*१२. चन्द्रमा पंकजवनों को ज्योत्स्ना-जल से सींचता रहता है, फिर भी वह उन्हे अप्रिय ही है। कलंकी किसे भला लगता है ? ॥ १२ ॥

४९६*१३. सास बहू को जानती है और बहू सास की करतूतें जानती है। दिन सुख से इसलिए बीत रहे हैं कि कहीं बेल से लड़ कर बेल फूट न जाय ॥ १३ ॥

४९६*१४. व्यभिचारिणियों के बीच मे मैने अपना हाथ ऊपर उठाया है, उन सबमे मेरा पहला स्थान है। हे प्रिय ! मैं तुम्हारे चरणों के आश्रय मे हूँ। गङ्गा नदी मेरे लिये दूती का कार्य करती है (जब तुम्हारे द्वारा प्रक्षिप्त नागवल्लीपत्र[1] या काष्ठ-मंजूषा मे रखे प्रणयपत्र को अपनी धारा मे बहा कर मेरे निकट तक लाती है) ॥ १४ ॥

जोइसिय-वज्जा

*५०७*१. सखि ! उस गणक का शिर (मस्तक) क्यों न चूम लें (चूमा जाय), जो शुक्र नक्षत्र के संक्रमण के न समाप्त होने के कारण उपस्थित मेरी वेदना को समझ गया है (शुक्रपात क्रिया के अपूर्ण रहने पर होने वाले क्लेश को जान गया है) ॥ १ ॥

धम्मिय-वज्जा

५३२*१. चढ़ाये हुए एक ही धतूरे से जो लिंग (शिवलिंग) को परितोष होता है, वह सैकड़ों कुरबकों से नही (एक धूर्तारत से लिंग को जो आनंद मिलता है, वह सैकड़ो कुरत से नही) ॥ १ ॥

५३२*२. (अपने संकेत-स्थल पर वृक्षों का पल्लव तोड़ने के लिए प्रतिदिन आने वाले पुजारी को रोकने के लिए व्यभिचारिणी की उक्ति) धार्मिक ! दान, तप और तीर्थयात्रा से धर्म होता है, यह तो सुना जाता है, पर तरुण वृक्षों के पत्तों को तोड़ने से उत्पन्न होने वाला धर्म तुमने कहाँ देखा है ? ॥ २ ॥

---

१. पहला व्यंग्यार्थ संस्कृत टीकाकार द्वारा निर्दिष्ट है और दूसरे की कल्पना मैंने की है।

* विशेष अर्थ परिशिष्ट 'ख' में देखिए।

बालासंवरणवज्जा

५५१*१. तोलिज्जंति न केण वि सव्वंगायारगोवणसमत्था ।
अन्नं उण हिययतुलाइ दिट्ठं चिय तुलंति ।।१।।
तोल्यन्ते न केनापि सर्वाङ्गाकारगोपनसमर्थाः ।
अन्यं पुनर्हृदयतुलया दृष्टमेव तोलयन्ति ।।

कुट्टिणीसिक्खावज्जा

५५९*१. पज्झरणं रोमंचो वयणे सच्च सया महादिट्ठी ।
एयं पुणो वि सिक्खसु मुद्धे अत्थक्कविन्नाणं ।।१।।
प्रक्षरणं रोमाञ्चो वदने सत्य सदा महादृष्टिः ।
एतत् पुनरपि शिक्षस्व मुग्धे अश्रान्तविज्ञानम् ।।

*५५९*२. करफंसमलणचुंबणपीलणणिहणाइ हरिसवयणेहिं ।
अत्ता मायंदणिहीण किं पि कुमरीउ सिक्खवइ ।।२।।
करस्पर्शमर्दनचुम्बनपीडननिहननानि हर्षवचनैः ।
आर्या माकन्दनिधीन् किमपि कुमारीः शिक्षयति ।।

वेसावज्जा

५७८*१. अमुणियजम्मुप्पत्ती सव्वगया बहुभुयंगपरिमलिया ।
मयणविणासणसीला हरो व्व वेसा सुहं देउ ।।१।।
अज्ञातजन्मोत्पत्तिः सर्वगता बहुभुजङ्गपरिमृदिता ।
मदनविनाशनशीला हर इव वेश्या सुखं ददातु ।।

५७८*२. सव्वगरागरत्तं दंसइ कणवीरकुसुमसारिच्छं ।
गब्भे कह वि न रत्तं वेसाहिययं तह च्चेव ।।२।।
सर्वाङ्गरागरक्तं दर्शयति करवीरकुसुमसादृश्यम् ।
गर्भे कथमपि न रक्तं वेश्याहृदयं तथा चैव ।।

कण्हवज्जा

६०५*१. उव्वूढभुवणभारो वि केसवो थणहरेण राहाए ।
मालाइदल व्व कलिओ लहुइज्जइ को न पेम्मेण ।।१।।
उद्गूढभुवनभारोऽपि केशवः स्तनभरेण राधायाः ।
मालतीदलमिव कलितो लघूक्रियते को न प्रेम्णा ।।

बालासंवरण-वज्जा

५५१*१. जो सम्पूर्ण अंगों और आकृति की विकृतियों को छिपाने में समर्थ हैं, उन्हें कोई भी तौल नहीं पाता (रहस्य नहीं जान पाता), परन्तु वे ही अन्य व्यक्ति को देखते ही हृदय की तुला पर तौल लेते हैं ॥ १ ॥

कुट्टिणीसिक्खा-वज्जा

५५९*१. मुग्धे ! द्रवीभाव, रोमांच, वाणी की सत्यता और निर्मल दृष्टि—ये कलायें अवसर न रहने पर भी पुनः सीखो ॥ १ ॥

*५५९*२. वेश्या माता आम के भण्डारों (धनियों) के लिए कुमारियों को कुछ सिखा रही है, जैसे—करस्पर्श, मर्दन, चुम्बन, निष्पीडन (निचोड़ना) और निहनन (फेंक देना या छोड़ देना) ॥ २ ॥

वेसावज्जा

५७८*१. जिसका जन्म अज्ञात है (शिव के भी जन्म का पता नहीं है), जो सबके पास जाती है (सर्वगत है) (शिव भी सर्वगत हैं, सर्वत्र विद्यमान रहते हैं), जो बहुत से भुजंगों (वेश्या-प्रेमियों) से सेवित है (शिव भी बहुत से भुजंगों अर्थात् सर्पों से सेवित हैं) और जो (संभोग-द्वारा) मदन (काम) को नष्ट कर देता है (शिव ने भी मदन को नष्ट कर दिया था), वह वेश्या शिव के समान सुख प्रदान करे ॥ १ ॥

५७८*२. वेश्या का हृदय कनेर के पुष्प के समान होता है। कनेर के पुष्प का सम्पूर्ण भाग रक्त (लाल या रंगा) होता है, पर भीतर रंग नहीं रहता है। वेश्या का शरीर रक्त (अनुरक्त) होता है, हृदय[1] नहीं (वह शरीर से प्रणय का अभिनय करती है, वस्तुतः मन से अनुरक्त नहीं होती) ॥ २ ॥

कण्ह-वज्जा

६०५*१. यद्यपि कृष्ण अपने भीतर तीनों लोकों का भार वहन करते हैं, फिर भी राधा के स्तन उन्हें मालती-पुष्प के पत्र के समान धारण कर लेते हैं, प्रेम से कौन नहीं लघु (हल्का) हो जाता ॥ १ ॥

---

* विस्तृत अर्थ परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

१. सा राग सर्वाङ्गे गुञ्जेव न तु मुखे वहति।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव ॥
—आर्या सप्तशती

६०५*२. तह रुण्णं तीइ तडट्ठियाइ राहाइ कण्हविरहम्मि ।
जह से कज्जलमइलं अज्ज वि जउणाजलं वहइ ॥२॥
तथा रुदितं तया तटस्थितया राधया कृष्णविरहे ।
यथास्याः कज्जलमलिनम् अद्यापि यमुनाजलं वहति ॥

हियालीवज्जा

६२४*१. छीए जीव न भणियं परियणमज्झम्मि पोढमहिलाए ।
छोडेइ चिहुरभारं पुण बद्धं केण कज्जेण ॥१॥
क्षुते जीव न भणितं परिजनमध्ये प्रौढमहिलया ।
मोचयति चिकुरभारं पुनर्बद्धं केन कार्येण ॥

६२४*२. कुलबालिया पसूया पुत्तवई सुरयकज्जतत्तिल्ला ।
एरिसगुणसंपन्ना भण कीस न वासिया पइणा ॥२॥
कुलबालिका प्रसूता पुत्रवती सुरतकार्यतत्परा ।
ईदृशगुणसंपन्ना भण कस्मान्न वासिता पत्या ॥

*६२४*३. कस्स कएण किसोयरि वरणयर वहसि उत्तमगेणं ।
कण्णेण कण्णवहणं वाणरसंखं च हत्थेण ॥३॥
कस्य कृते कृशोदरि वरनगरं(वर्णकरं)वहसि उत्तमाङ्गेन ।
कर्णेन कर्णवहनं वानरसंख्यं च हस्तेन ॥

वसंतवज्जा

*६३७*१. लंकालएण रत्तंबरवेसिण दिन्नपुप्फयाणेण ।
दहवयणेणेव कयं सीयाहरणं पलासेण ॥१॥
लङ्कालयेन रक्ताम्बरवेषिणा दत्तपुष्पयानेन ।
दशवदनेनेव कृतं शीताहरणं (सीताहरणं) पलाशेन ॥

६०५*२. कृष्ण के वियोग मे तट पर खड़ी होकर वह राधा इतनी रोई थी कि आज भी यमुना में उसके काजल से मैला जल बह रहा है¹ ॥ २ ॥

हियाली-वज्जा

६२४*१. परिवार के मध्य मे (पति के) छीकने पर सुन्दरी तरुणी ने 'चिरजीवी हों' यह नहीं कहा, बल्कि अपना चिकुर-भार छोड़ दिया और फिर बाँध लिया। उसका प्रयोजन क्या था ? ॥ १ ॥
(उत्तर—शिर पर जितने बाल है, उतने वर्ष जोवित रहो, यह अर्थ प्रकट करने के लिये नायिका ने केशपाश मुक्त कर पुनः बाँध लिया)

६२४*२ जो उच्च कुल मे उत्पन्न हुई थी (या जो परिवार का पालन करने वाली थी), पुत्रवती थी, प्रसव कर चुकी थी एवं सुरत-कार्य मे तत्पर थी, ऐसी गुणसम्पन्ना पत्नी को पति ने अपने घर में ठौर क्यो नही दिया ? बताओ ॥ २ ॥
(उत्तर—पति को नन्हे बालक पर दया आ गई। अपने कक्ष में पत्नी को स्थान देने पर संभोग के पश्चात् वह गर्भवती हो जाती)

*६२४*३. हे कृशोदरि ! तुम किसके लिए मस्तक पर श्रेष्ठ नगर, कानो पर कर्ण का वध और हाथों पर बन्दरों की संख्या ढो रही हो ? ॥ ३ ॥
अन्यार्थ—किसके लिये मस्तक पर चित्रवल्लरी (वर्णकर), कानों में कनफूल और हाथों मे अंगद (आभूषण विशेष) धारण करती हो ?
(उत्तर—पति के लिये)

वसन्त-वज्जा

*६३७*१. जैसे लंकानिवासी, रक्ताम्बरधारी, (कुबेर से) पुष्पक यान प्राप्त करने वाले एवं मासभक्षी रावण ने सीता का हरण किया था, उसी प्रकार शाखाओं के आलय (अर्थात् शाखाओं के आश्रय, शाखायुक्त), (पुष्पों के कारण) लाल वेश धारण करने वाले और पुष्प प्रदान करने वाले पलाश ने शीत (ऋतु) का हरण कर लिया।

१. स्याम सुरति करि राधिका, निकसि तरनिजा तीर।
अँसुवन करति तिरौह कौ, तनिक खिरौहैं नीर ॥
—बिहारी

* विस्तृत अर्थ परिशिष्ट 'ख' में देखिये।

६४१*१. गुरुविरहसंधिविग्गहणिम्मवणो अत्थि को वि जइ मत्तो ।
पढमिक्कमंजरिं अंगुलिं व उब्भेइ सहयारो ॥१॥

गुरुविरहसंधिविग्रहनिर्माता अस्ति कोऽपि यदि मत्तः ।
प्रथमैकमञ्जरीमङ्गुलिमिव ऊर्ध्वयति सहकारः ॥

६४१*२. चंचुपुडकोडिवियलियमायंदरसोहसित्तदेहस्स ।
कीरस्स मग्गलग्गं भमरउलं भमइ गंधड्ढं ॥२॥

चञ्चूपुटकोटिविगलितमाकन्दरसौघसिक्तदेहस्य ।
कीरस्य मार्गलग्नं भ्रमरकुलं भ्रमति गन्धाढ्यम् ॥

*६४१*३. सच्चं चेव पलासो असइ पलं विरहियाण महुमासे ।
तित्तिं अवच्चमाणो जलइ व्व छुहाइ सव्वंगं ॥३॥

सत्यं चैव पलाशोऽश्नाति पलं विरहिणां मधुमासे ।
तृप्तिम् अव्रजन् ज्वलयतीव सुधया सर्वाङ्गम् ॥

६४१*४. सुहियाण सुहंजणया दुक्खंजणया य दुक्खियजणस्स ।
एए सोहंजणया सोहंजणया वसंतस्स ॥४॥

सुखितानां सुखजनका दुःखजनकाश्च दुःखितजनस्य ।
एते शोभंजनकाः शोभाजनका वसन्तस्य ॥

पाउसवज्जा

६५२*१. विज्जुभुयंगमसहियं चवलबलायाकवालकयसोहं ।
गज्जियफुडट्टहासं भइरवरूवं नहं जायं ॥१॥

विद्युद्भुजंगमसहितं चपलबलाकाकपालकृतशोभम् ।
गर्जितस्फुटाट्टहासं भैरवरूपं नभो जातम् ॥

*

६४१*१. आम्रवृक्ष एकमात्र प्रथम मञ्जरी को अंगुली के समान ऊपर उठाकर मानों उद्घोष कर रहा है कि यदि मेरे अतिरिक्त प्रेमियों के दीर्घकालिक वियोग में सन्धि और विग्रह सम्पन्न करने वाला कोई है, तो कहे ॥ १ ॥

६४१*२. चञ्चु के अग्रभाग से विदलित आम्रमंजरी की रसधारा से जिसका शरीर सिक्त हो चुका था, उस कीर (शुक) के मार्ग के पीछे-पीछे सुगन्ध-लुब्ध मधुकर-पुंज मँडरा रहा है ॥ २ ॥

*६४१*३. सत्य ही वसन्त मे पलाश विरहियों का मांस खा जाता है और तृप्त न होने के कारण उसका सर्वांग मानों भूख की ज्वाला से जलता रहता है ॥ ३ ॥

६४१*४. सुखियों को सुख और दु:खियों को दु:ख देने वाले ये सहजन वसन्त की शोभा के जनक है ॥ ४ ॥

पाउस-वज्जा

६५२*१. विद्युत्-रूपी भुजंग से युक्त, चपल बलाका-रूपी कपाल से शोभित, घनगर्जन रूपी अट्टहास को प्रकट करने वाले आकाश ने भैरव का रूप धारण कर लिया है ॥ १ ॥

---

* विस्तृत अर्थ परिशिष्ट 'ख' में देखिए ।

बालासिलोयवज्जा*

तुह तुंगपओहरविसमकोट्टमज्झट्ठिओ कुरंगच्छि ।
काही पुण व्व नूणं हरेण सह विग्गहमणंगो ।। १ ।।

अवहत्थियभयपसरो नूणं पसयच्छि वम्महो इण्हि ।
हरजुज्झसहो वट्टइ तुह तुंगपओहरारूढो ।। २ ।।

पायडियबाहुमूलं ओणमियथोरथणहरुच्छंगं ।
दियहेण मा समप्पिय (?समप्पउ?) तुह
एयं चिहुरसजमणं ।। ३ ।।

सुहिउ त्ति जियइ विद्धो मरइ अविद्धो तुहच्छिबाणेण ।
इय सिक्खविया केण वि अउव्वमेयं धणुव्वेयं ।। ४ ।।

निवडइ जहिं जहिं चिय तुज्झ मणोहरतरलतरलिया दिट्ठी ।
सुंदरि तहिं तहिं चिय अंगेसु वियंभए मयणो ।। ५ ।।

ससिवयणे मा वच्चसु एत्थ तलायंमि मयसिलंबच्छि ।
मउलंताइ न याणसि ससंकसंकाइ कमलाइं ।। ६ ।।

---

* यह अतिरिक्त वज्जा पाण्डुलिपि 'स' में उपलब्ध हुई है ।

बालासिलोय-वज्जा

१. हे कुरंगाक्षि ! निश्चय ही तुम्हारे उत्तुंग पयोधर के विषम कोट (दुर्ग) में स्थित होकर मानों अनंग फिर शिव से युद्ध करेगा ॥ १ ॥

२. हे प्रसृताक्षि (हरिणलोचने, पसर भर की आँखों वाली) ! निश्चय ही यही तुम्हारे उन्नत उरोजों पर आरूढ़ मन्मथ अब निडर होकर शिव से युद्ध करने में समर्थ हो गया है ॥ २ ॥

३ हे शशिवदने ! जिसके कारण भुजमूल दिखाई देने लगते हैं और स्थूल स्तन ऊपर उठ जाते है, वह तुम्हारा केशबन्धन कार्य (ईश्वर करे) एक दिन मे न समाप्त हो ॥ ३ ॥

४. हे मृगाक्षि ! तुम्हें यह अपूर्व धनुर्विद्या किसने सिखाई है—जो नेत्रबाण से विद्ध हो जाता है, वह अपने को सुखी समझ कर जीवित रहता है और जो विद्ध नही होता है, वह मर जाता है ॥ ४ ॥

५. हे सुन्दरि ! जहाँ-जहाँ तुम्हारी मनोहर एवं चंचल दृष्टि पड़ती है, वहीं-वही अंगों में मदन (धतूरे का विष और काम)-विकार हो जाता है ॥ ५ ॥

६. हे मृगशावकलोचने ! हे शशिवदने ! इस सरोवर में मत जाओ, क्या तुम नही जानती हो कि चन्द्रमा की आशंका से कमल मुकुलित हो गये है ? ॥ ६ ॥

★

परिशिष्ट 'ख'

कतिपय गाथाओं के अर्थ पर पुनर्विचार

प्राकृत ग्रन्थ-परिषद् से अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित वज्जालग्ग की भूमिका में विद्वान् सम्पादक श्री माधव वासुदेव पटवर्धन ने अनेक गाथाओ का भाव स्पष्ट करने में असमर्थता व्यक्त की है।[1] संस्कृत टीकाकार रत्नदेवसूरि ने भी बहुत सी गाथाओ की सन्तोषजनक व्याख्या नही की है। इसके अतिरिक्त कुछ गाथायें ऐसी भी हैं, जिनके अर्थ तो दोनो व्याख्याकारों ने दिये है परन्तु वे मुझे जँचे नही या अधूरे लगे। साथ ही कुछ स्थलो पर किया गया आक्षेप भी मुझे उचित नही प्रतीत हुआ। अतः उन समस्त गाथाओ के अर्थतत्त्व का पुनर्निरूपण करना नितान्त आवश्यक समझता हूँ। यहाँ क्रमानुसार कतिपय गाथाये और उनकी विवेचनात्मक विवृत्तियाँ दी जा रही है :—

गाथा क्रमांक (१)

सव्वन्नुवयणपंकयणिवासिणि पणमिऊण सुयदेवि।
धम्माइतिवग्गजुयं सुयणाणं सुहासियं वोच्छं ॥१॥

टीकाकारों ने इस गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार दी है —

सर्वज्ञवदनपङ्कजनिवासिनी प्रणम्यश्रुतदेवीम्।
धर्मादित्रिवर्गयुत सुजनाना सुभाषितं वक्ष्यामि ॥

अर्थात् सर्वज्ञ के मुखाम्बुज मे बसने वाली श्रुतदेवी को प्रणाम करके धर्म, अर्थ और काम से युक्त सज्जनो के सुभाषित कहूँगा।

---

१. I am aware of the fact that inspite of my efforts to unriddle the meanings of a number of obscure stanzas in the text, I have not been able to give a satisfactory rendering and explanation of their exact sense. . I shall be grateful if my readers send their suggestions, if any, in all such cases

—वज्जालग्गं (अंग्रेजी अनुवाद सहित), भूमिका पृ० ८।

इस अर्थ के सम्बन्ध में यह कहना है कि सुभाषित की उपादेयता उसके स्वरूप में ही निहित है। सज्जनों से सुभाषित का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है। दुर्जनों को भी सुभाषित ग्राह्य होते हैं। अतः इस रूप में सुजन शब्द की कोई सार्थकता नहीं रह जाती है।

प्राकृत व्याकरण के अनुसार चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग विहित है—

चतुर्थ्याः षष्ठी—प्राकृत प्रकाश

अतएव यदि हम 'सुयणाण' की छाया 'सुजनेभ्यः' कर लें तो सुजन शब्द सार्थक हो जायगा, क्योंकि सुभाषित सुजनग्राह्य ही होता है, दुर्जनग्राह्य नहीं। साथ ही ग्रन्थारम्भ मे 'सुभाषित' से विषय, 'सुजन' से अधिकारी, 'धर्मादि' पद से प्रयोजन और 'वक्ष्यामि' से प्रतिपादकता की प्रतीति होने लगेगी। अथवा 'सुयणाण' और 'सुहासिय' को समस्तपद मानकर चतुर्थ-पाद की छाया इस प्रकार करे—

श्रुतज्ञानसुभाषितं वक्ष्यामि।

अर्थात् श्रुतज्ञान रूप सुभाषित का वर्णन करूँगा।

इस प्रकार श्रुतज्ञान-रूप सुभाषित के वर्णन के पूर्व श्रुतदेवी को प्रणाम करना अन्वर्थ होगा।

गाथा क्रमांक (३)

विविहकइविरइयाणं गाहाणं वरकुलाणि घेत्तूण।
रइयं वज्जालग्गं विहिणा जयवल्लहं नाम ॥३॥

इस गाथा में प्रयुक्त नाम शब्द को अभिधानार्थक समझकर टीकाकारों ने यह असत्कल्पना की है कि वज्जालग्ग का अन्य नाम 'जयवल्लभ' है। इस कल्पना का उद्गम रत्नदेव का निम्नलिखित वाक्य है—

जयवल्लभं नाम प्राकृतकाव्यमिति—तृतीय गाथा की टीका

उपर्युक्त साक्ष्य पर प्रो० माधव वासुदेव पटवर्धन ने यह स्वीकार किया है कि 'वज्जालग्ग' ग्रन्थ का सामान्य नाम है और 'जयवल्लभ' विशेष[1]। अतः उक्त साक्ष्य की प्रामाणिकता का विवेचन आवश्यक है।

रत्नदेव-प्रणीत छायाटीका के अवलोकन से प्रतीत होता है कि टीकाकार व्याख्येय ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में संशयालु हैं। लगता है, जैसे वे 'वज्जालग्ग'

१. 'वज्जालग्गं' की भूमिका, पृ० १२।

का ठीक-ठीक अर्थ ही नही समझ सके। टीका में उक्त शब्द का जो अर्थ दिया गया है, वह केवल अटकल पर आधारित है, अन्यथा एक ही ग्रन्थ को कभी विद्यालय, कभी पद्यालय और कभी वज्जालय कहने का कोई कारण नही। इस सन्दर्भ में टीका के निम्नलिखित वाक्य द्रष्टव्य है- -

विद्यालयस्यच्छाया लिख्यते।—टीकारम्भ, पृ० ३
वज्जालयं विरचितम्।—तृतीय गा० टीका, पृ० ३
तत्खलु विद्यालयं नाम।—चतुर्थ गा० टीका, पृ० ४
इदं विद्यालयं सर्वं य. पठत्यवसरे सदा····· ।—पंचम गा० टीका, पृ० ४
कविजनैर्विरचिते वज्जालये सकललोकाभीष्टे ।—७९४वी गाथा की टीका
एतद् वज्जालग्गं पद्यालयं स्थानं गृहीत्वा ।—७९५वी गाथा की टीका

उपर्युक्त स्थलों पर टीका वज्जालग्ग शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नही देती साथ ही चतुर्थ गाथा की टीका मे यह स्वीकार किया गया है कि पद्धति वाचक संस्कृत पद्या शब्द प्राकृतवशात् 'वज्जा' हो गया—

एकार्थे प्रस्तावे यत्र प्रचुरा गाथा· पठ्यन्ते तत् खलु विद्यालय नाम। वज्जा इति पद्धतिर्भणिता। अथवा प्राकृतवशात् पद्या पद्धतिः सरणिः ।

परन्तु प्राकृत व्याकरणानुसार पद्या से पज्जा शब्द निष्पन्न होगा, 'वज्जा' नही, क्योंकि आद्य प के स्थान पर व नही होता। यदि व्याकरण के नियमों की बहुलता (विभाषा) के कारण कथञ्चित 'वज्जा' की निरुक्ति पद्या से मान लें, तो भी ग्रन्थ का नाम वज्जालग्ग ही होगा, विद्यालय नही, क्योकि मूल पाठ मे वज्जा के साथ लग्ग शब्द जुड़ा है। फिर भी उसी गाथा की व्याख्या में ग्रन्थ का नाम 'विद्यालय' लिखा है। इस प्रकार टीका 'वज्जालग्ग' का असंदिग्ध अर्थ देने मे असमर्थ है। टीकाकार कदाचित् पद्या से वज्जा और वज्जा से विज्जा (विद्या) का सम्बन्ध जोडना चाहते है, फिर भी लग्ग शब्द अव्याख्यात रह गया है। यह भी सभव है कि 'वज्जालग्ग' के तात्पर्य से अनभिज्ञ संशयग्रस्त टीकाकार ने 'जयवल्लभ' के साथ नाम शब्द का प्रयोग देखकर ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'जयवल्लभ' ही समझ लिया हो। परन्तु ग्रंथ का वास्तविक और एकमात्र नाम 'वज्जालग्ग' है, जयवल्लभ नहीं। इसका प्रमाण मूल ग्रन्थ की निम्नलिखित गाथाओ मे है, जिनमें ग्रन्थ के लिये 'वज्जालग्ग' का प्रयोग किया गया है—

विविह कइविरइयाणं गाहाण वरकुलाणि घेत्तूण।
रइयं वज्जालग्गं ··············· ·········· ····· ॥ गा० ३

एकत्थे पत्थावे जत्थ पढिज्जंति पउर गाहाओ
त खलु वज्जालग्ग वज्ज त्ति य पद्धई भणिया ।। गा० ४

एयं वज्जालग्गं सव्वं जो पढइ अवसरंमि सया ।
पाइय-कव्वकई सो होहिइ तह कित्तिमन्तो य ।। गा० ५

एतं वज्जालग्गं ठाणं गहिऊण पढइ जो को वि ।
नियठाणे पत्थावे गुरुत्तणं लहइ सो पुरिसो ।। पर्यन्त गा० २

उपसहार में केवल एक स्थान पर 'वज्जालय' का प्रयोग मिलता है, जो प्रमादवश भी हो सकता है। प्रो० पटवर्धन के अनुसार वहाँ छन्दोभंग है। उपर्युक्त अन्य गाथाओं में छन्द की गति को बिना तोड़े 'वज्जालग्ग' के स्थान पर 'वज्जालय' का प्रयोग संभव नही है । अतः ग्रन्थ का नाम वज्जालग्ग है । वज्जाओं का आलय होने से उसे 'वज्जालय' तो कह भी सकते हैं, परन्तु विद्यालय या पद्यालय कभी नही ।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि टीकाकार व्याख्येय ग्रन्थ का ठीक-ठीक नाम नही दे सके । विवेच्य गाथा मे 'जयवल्लह' के 'नाम' का प्रयोग देख कर उन्होने ग्रन्थ का नाम ही 'जयवल्लभ' समझ लिया, जिससे आगे चल कर एक बहुत बड़ी भ्रान्ति की परम्परा चल पड़ी । नाम शब्द अनेकार्थक है—

नाम कोपेऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च ।
संभाव्यकुत्सा-प्राकाश्य-विकल्पेऽपि दृश्यते ।।—मेदिनीकोश
नाम प्राकाश्य-संभाव्य-क्रोधोपगम-कुत्सने ।—अमरकोश

'पाइयसद्दमहण्णव' के अनुसार नाम या णाम का प्रयोग वाक्यालंकार या पादपूर्ति के लिये भी होता है। कालिदास ने इस शब्द का प्रयोग निश्चय या स्वीकार के अर्थ में किया है—

विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम ।
—अभिज्ञानशाकुन्तल, प्र० अ०

अत प्रस्तुत गाथा में नाम शब्द या तो पादपूर्ति या वाक्यालंकार के लिये प्रयुक्त है अथवा उपगम या निश्चय के लिये । जब तक रत्नदेव की अविश्वसनीय टीका के अतिरिक्त कोई अन्य प्रबल प्रमाण नही मिल जाता तब तक हम प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त नाम शब्द को अभिधानार्थक मानने के लिये बाध्य नहीं हैं ।

'जयवल्लह' का संस्कृत रूपान्तर, जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है,

'जगद् वल्लभ[1]' होगा। जगद्वल्लभ का अर्थ है—लोकप्रिय (जगतः लोकस्य वल्लभः प्रियः जगद्वल्लभ', प्राकृते जयवल्लहो)। यह शब्द ग्रन्थ का नाम नहीं, वज्जालग्ग का विशेषण है। इसी विशेषण की दृढता या स्वीकृति के लिये नाम का प्रयोग किया गया है। इस आलोक में प्रस्तुत गाथा का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा—

'विविध कवियो द्वारा रची हुई गाथाओं से श्रेष्ठ गाथाओं का समूह चुन कर निश्चय ही लोकप्रिय वज्जालग्ग की रचना विधिपूर्वक की गई है'।

यहाँ एक बात हम स्पष्ट बता देना चाहते है कि ग्रन्थकार ने प्रस्तुत गाथा में मुद्रालकार के माध्यम से अपने नाम की सूचना दी है। कवियो के द्वारा अपने नाम की इस प्रकार सूचना देने की यह कोई नवीन पद्धति नही है। प्राचीन काल में यह साकेतिक पद्धति खूब प्रचलित थी। विमलसूरि ने 'पउमचरिय' की सन्धियो के अन्त मे इसी पद्धति से अपने नाम की ओर इगित किया है—

एवं विहा उहयसेढिगया महन्ता आहार-पाण-सयणासण-सपउत्ता।
विज्जाहरा अणुहवति सुहं ममिद्ध, धम्मं करिंति विमल च जिणोवइट्ठं॥

—तृतीय सन्धि, गा० १६२

इसी प्रकार अपभ्रंश महाकवि स्वयंभूदेव ने भी 'पउमचरिउ' की सन्धियो के अन्त मे अपना नाम सूचित किया है—

रिसउ वि गउ णिव्वाणहो सासयथाणहो, भरहु वि णिव्वुइ पत्तउ।
अक्किति थिउ उज्झहे दणुदुग्गेज्झहे, रज्जु सइभुञ्जन्तउ॥

—विज्जाहरकंड, स० ४

उपर्युक्त उद्धरणों में विमल और सइंभु शब्द प्राकरणिक अर्थ में अन्वित रहने पर भी क्रमशः कवि विमलसूरि और स्वयंभू की सूचना देते हैं। इसी प्रकार 'वज्जालग्ग' की उक्त गाथा में भी जयवल्लह शब्द यद्यपि मुख्यतया विशेषण के रूप में ही प्रतिबद्ध है तथापि उसका प्रयोग ग्रन्थकार ने जान-बूझ कर अपने नाम की सूचना देने के लिये किया है। 'जयवल्लहं नाम' से 'जयवल्लभो नाम कवि.'—यह सूच्यार्थ सूचित होता है। सूचना देना ही मुद्रालंकार का प्रयोजन है—

सूच्यार्थ सूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः

—कुवलयानन्द

१. देखिये प्राकृत ग्रन्थ परिषद् से प्रकाशित वज्जालग्गं की अग्रेजी भूमिका, पृ० १२

गाथा क्रमांक १०

सालंकाराहि सलक्खणाहि अन्नन्नरायरसियाहिं ।
गाहाहि पणइणीहि य खिज्जइ चित्तं अइंतीहिं ॥१०॥

टीकाकारों ने श्लिष्ट पदों के अर्थ इस प्रकार दिये हैं:—

राय = राग, Emotion, अइंतीहिं = In the absence of, (उभयपक्ष)
—श्री पटवर्धन

राय = राग = प्रीति (केवल प्रणयिनी-पक्ष में), अइंतीहिं = अनागच्छन्तीभिः
—श्री रत्नदेवसूरि

'रसिय' का रसिक और रसित अर्थ दोनो टीकाकारों ने समान रूप से किया है। उपर्युक्त व्याख्याओं में उभयपक्षीय श्लेष का निर्वाह नही हो सका है। अतः श्लिष्ट-पदों को इस प्रकार समझें:—

राय = १—संगीतशास्त्र प्रतिपादित राग या स्वर[1] (गाथापक्ष) ।
२—रात[2] (प्रणयिनी-पक्ष)

अइंतीहिं = १—न आती हुई (प्रणयिनी-पक्ष)
२—समझ में न आती हुई (गाथापक्ष)

'रसिय' का अर्थ पूर्ववत् है तथा 'राय' का रत्नदेव-सम्मत अर्थ 'प्रीति' भी नायिका-पक्ष में स्वीकार्य है।

गाथार्थ—जैसे आभूषणों से मंडित, सुलक्षणों वाली (सामुद्रिकशास्त्रवर्णित लक्षणों से युक्त) तथा अन्य-अन्य रातों में रसयुक्त (या प्रेम के रस को समझने वाली) प्रेयसियों के (प्रतीक्षा करने पर भी) न आने पर चित्त दुःखी हो जाता है वैसे ही जब उपमादि अलकारो से अलंकृत, व्याकरणप्रतिपादित लक्षणों से युक्त और विभिन्न रागों (संगीत-स्वरों) में रचित (ध्वनित) होनेवाली गाथायें समझ में नही आती हैं, तब मन दुःखी हो जाता है।

गाथा क्रमांक २०

रयणुज्जल-पय-सोहं तं कव्वं जं तवेइ पडिवक्खं ।
पुरिसायंत-विलासिणि-रसणादामं मिव रसंतं ॥२०॥

---

१. ....रागस्तु मात्सर्ये लोहितादिषु ।
क्लेशादावनुरागे च गान्धारादौ नृपेऽपि च ॥ —मेदिनीकोश

२. पाइयसद्दमहण्णव

रचनोज्ज्वल (रत्नोज्ज्वल)-पदशोभं तत् काव्यं यत् तापयति प्रतिवक्षः (प्रतिपक्षम्) । पुरुषायमाण-विलासिनी-रशनादामेव रसान्तम् (रसत्) ॥

प्रो० पटवर्धन ने 'पडिवक्खं' में श्लेष मानकर काव्य एवं रशनादाम के पक्ष मे निम्नलिखित अर्थ दिये हैं:—

पडिवक्खं = १—प्रतिवक्षः = प्रत्येक हृदय को

२—प्रतिपक्षः = Opponent in the सुरत-संगर । the male partner in coitus.

गाथा मे सुरत पर संगर का आरोप न होने के कारण उक्त अर्थ आयास-जनित है। अकारण प्रेमी (नायक) को प्रतिपक्ष (विरोधी) मानना प्रणय के साथ अन्याय है। ऐसे स्थलों पर उक्त शब्द का अर्थ सपत्नी (Rival wife) ही उचित है। अन्य कवियो ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है —

पियमुहपीउव्वरियं थोव थोवं चिरेण कावि पिया ।
अमयं व पियइ सरसं सरोसपडिवक्खमच्चवियं ॥

—कौतूहलकृत लीलावई, १२७३

उपर्युक्त संस्कृतच्छाया को देखते हुये 'पडिवक्खं' में श्लेष मानना बहुत अधिक आवश्यक नही है क्योंकि काव्यपक्ष में तापयति क्रिया प्रतिवक्ष के साथ उचितरूप से अन्वित नही हो पाती है। यदि 'पडिवक्खं' में श्लेष का रहना अधिक आवश्यक समझें तो 'जं तवेइ पडिवक्ख' की छाया यो करनी होगी.—

१—यत् तापयति प्रतिपक्षम् (रशना दाम पक्ष)

(जो सौतों को सतप्त करता है)

२—यत् स्तौति प्रतिवक्ष (काव्य पक्ष)

(प्रत्येक हृदय जिसकी प्रशसा (स्तुति) करता है)

प्राकृत में स्तव शब्द के दो रूप होते हैं—थव और तव (स्तवे वा—है० सू० २।४६)। प्राकृत सर्वस्व (सूत्र ६७) के अनुसार 'तव' थुण (स्तुतिकरना) के अर्थ में होता है।[1]

गाथा क्रमांक ४६

पडिवज्जंति न सुयणा अह पडिवज्जंति कह वि दुक्खेहिं ।
पत्थर-रेहव्व समा मरणे वि न अन्नहा होइ ॥४६॥

---

१. सम्पूर्ण गाथा का अर्थ हिन्दी अनुवाद में देखिये ।

प्रतिपद्यन्ते न सुजना अथ प्रतिपद्यन्ते कथमपि दुःखैः ।
प्रस्तर-रेखेव समा मरणेऽपि नान्यथा भवति ॥

रत्नदेव ने 'पत्थर रेहव्व समा' की व्याख्या 'प्रस्तररेखासमा' की है ।[3] प्रो० पटवर्धन ने उक्त अंश पर टिप्पणी करते हुए लिखा है :—

"This is a clumsy expression used in the sense of पत्थर-रेहाइ समा (प्रस्तररेखया समा)".

और पूर्वार्ध मे निम्नलिखित संशोधन की सम्मति दी है :—

We should expect न अव्वहा हुंति for न अव्वहा होइ, the subject being सुयणा (Plural).

परन्तु न तो पत्थररेहव्व समा को पत्थररेहाइ समा समझने की आवश्यकता है और न सुयणा से अन्वित करने के लिए अव्वहा होइ को अव्वहा हुंति करने की । गाथा का अर्थ इस प्रकार है :—

सुजन अंगीकार नही करते हैं, यदि किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से (मुँह से) अंगीकार भी कर लेते है तो वह (अंगीकार) पाषाण रेखावत् समान (एक जैसा) रहता है, प्राणो पर संकट आ जाने पर भी कभी अन्यथा (अन्य प्रकार का) नही होता । (जैसे पाषाण-रेखा सभी कालो और सभी परिस्थितियों में एक सी बनी रहती है वैसे ही सज्जनो की प्रतिपत्ति भी सर्वदा अपरिवर्तित होती है) ।

गाथा में समा शब्द औपम्य वाचक नही, धर्म वाचक है ।

गाथा क्रमांक ५०

थद्धो वंकग्गीवो अवंचियो विसमदिट्ठि-दुप्पेच्छो ।
अहिणव-रिद्धि व्व खलो सूलादिन्नु व्व पडिहाइ ॥ ५० ॥

स्तब्धो वक्रग्रीवोऽवाञ्चितो विषमदृष्टिदुष्प्रेक्ष्यः ।
अभिनवर्द्धिरिव खलः शूलादत्त इव प्रतिभाति ॥

गाथा में प्रयुक्त विशेषणों, 'वंकग्गीव' और 'अवंचिय' की आलोचना इन शब्दों में की गई है—

The epithets वक्रग्रीव and अवाञ्चित hold good in the case of a शूलादत्त or शूलाभिन्न person, who hangs down from the pale in a lifeless and limp manner.

But it is difficult to see how they can go with either a खल or an अभिनवऋद्धिक person.

परन्तु ऐसी कोई कठिनाई नहीं है, जिसके कारण उक्त दोनों विशेषणों का अन्वय उक्त दोनों उपमानों से न हो सके। कवि ने तीन वस्तुओं की समानता तुल्य विशेषणों से प्रदर्शित कर अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा एवं भाषा पर अपने असाधारण अधिकार का परिचय दिया है। गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा :—

जिसकी ग्रीवा (गर्व से) वक्र रहती है, (भयानक दृष्टि के कारण) जिसे देखना कठिन है, वंचित न होने वाला (कभी धोखा न खाने वाला) वह अभिमानी (स्तब्ध = थद्ध—दे० पाइयसद्दमहण्णव) खल, शूलप्रोत (शूलीपर चढ़ाये हुए) मनुष्य और अभिनव धनी के समान प्रतीत होता है। शूल-प्रोत निष्प्राण मनुष्य की ग्रीवा स्वभावत अकड़ जाती है। वह निश्चेष्ट (थद्ध = स्तब्ध) हो जाता है और लटकता रहता है (अवञ्चित)। मृत्यु के पश्चात् बाहर निकली हुई आँखों के कारण उसकी दृष्टि विषम हो जाती है और भयानकता के कारण उसे देखना कठिन हो जाता है। नवीन धनी अभिमानी (स्तब्ध) होता है, अकड़ कर चलता है, अत उसकी ग्रीवा भी टेढ़ा रहती है, वह सुन्दर पदार्थों से रहित (वंचित) नहीं रहता, सबको समान दृष्टि से नहीं देखता (विषमदृष्टि) और अदर्शनीय (अभव्य) होता है।

गाथा क्रमांक ५३

निद्धम्मो गुणरहिओठाणविमुक्को य लोहसभूओ।
विंधइ जणस्स हिययं पिसुणो बाणु व्व लग्गंतो ॥ ५३ ॥

निधम्मो—संस्कृत-टीका मे इस शब्द का अर्थ धनुर्मुक्त लिखा है। पउमचरिउ में भी इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है। पाइयसद्दमहण्णव के अनुसार इसका एक अर्थ 'एक दिशा में जानेवाला' भी है।

गाथा क्रमांक ५७

परविवरलद्धलक्खे चित्तलए भीसणे जमलजीहे।
वंकपरिसक्किरे गोणसे व्व पिसुणे सुहं कत्तो ॥ ५७ ॥

परविवरलब्धलक्ष्ये चलचित्ते (चित्रले) भीषणे यमलजिह्वे।
वक्रगमनशीले गोनस इव पिशुने सुखं कुत ॥

प्रो० पटवर्धन ने चित्तल का अर्थ Possessed of a fickle, unsteady mind[1] लिखा है और रत्नदेव ने 'नानाचित्ते आश्चर्य युक्ते ।' यदि पिशुन पक्ष में उक्त शब्द का अर्थ मंडित या सजा-बजा किया जाय तो अधिक उपयुक्त है :—

चच्चिय-चित्तला मंडियंमि ।

—देशीनाममाला, ३।४

(चच्चिय और चित्तल का अर्थ मंडित है)

चित्तलं रमणीयमित्यन्ये ।

—देशीनाममाला, ३।४ की वृत्ति ।

(चित्तल का अर्थ अन्य विद्वान् रमणीय मानते हैं)

गाथार्थ—जिसका ध्यान दूसरों के दोषों (विवर) पर रहता है, जिसकी गति (व्यवहार) कुटिल है, जो चुगली किया करता है उस सजे-धजे (मंडित) एवं भयानक पिशुन (दुष्ट) से सुख कहाँ ? ठीक वैसे ही, जैसे दूसरों के बिलों में प्रविष्ट हो जाना ही जिसका लक्ष्य है, जिसके शरीर पर चित्तियाँ हैं, जिसके दो जिह्वायें हैं और जो कुटिल गति से चलता है, उस भयानक सर्प से ।

सर्प और पिशुन दोनों ही सुख के अधिकरण हो सकते हैं । सर्प अपने तुच्छ जीवन में सुखी रहता है और दुष्ट भी । अतः 'पिशुने सुखं-कुतः' इस कथन की सार्थकता नहीं रह जाती । कदाचित् इसीलिए प्रो० पटवर्धन ने पिशुने का अर्थ 'in the company of a wicked person' और गोनसे का 'in the vicinity of a snake'[2] किया है । परन्तु यह तब संभव था जब उक्त दोनों शब्द बहुवचन होते । वस्तुतः यहाँ सप्तमी को तृतीया के अर्थ में स्वीकार करना चाहिए ।

द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी

—प्रा० व्या०, ३।१३५

'पिशुने सुखम्' का अर्थ पिशुनेन सुखम् है ।

गाथा क्रमांक ५८

असमत्थमंततंताण कुलविमुक्काण भोयहीणाणं ।
दिट्ठाण को न बीहइ वितरसप्पाण व खलाणं ॥ ५८ ॥

---

१. वज्जालग्गं, पृ० ४२४

२. वज्जालग्गं, पृ०, २७९

असमर्थमन्त्रतन्त्रेभ्यः कुलविमुक्तेभ्यो भोगहीनेभ्यः।
दृष्टेभ्यः को न बिभेति व्यन्तरसर्पेभ्यः इव खलेभ्यः॥

जिनके निवारण में उपदेश एवं उपाय (मन्त्रतन्त्र) व्यर्थ हैं, जो परिवार से मुक्त हैं, (परिवार की चिन्ता से मुक्त है या जिन्हें जन समूह ने त्याग दिया है) जो विषय-सेवन से नीच हो चुके हैं, उन खलो को मन्त्रतन्त्र (झाड़-फूंक) से असाध्य, (साँपों के) आठों कुलों से बहिर्भूत एवं फणहीन व्यन्तर सर्पों (प्रेतसर्पों) के समान देखकर कौन नही डरता ?

अवधी के महाकवि जायसी ने भी सर्पों के आठ कुलों की चर्चा की है :—

अस फँदवार केस वै, परा सीस गिव फाँद।
आठौ कुरी नाग सब, भये केसन के बाँद॥

—पद्मावत, १०९

प्रो० पटवर्धन ने यह टिप्पणी की है :—

"व्यन्तरों के उत्तमकुल मे उत्पन्न होने की आशा की जाती है क्योंकि वे पातालवासी देव हैं।[१]" यहाँ 'कुलविमुक्क' शब्द से उनकी अकुलीनता नही, अपितु अष्ठ-प्रथित-कुल-बहिर्भूतता अभिप्रेत है।

अंग्रेजी अनुवाद 'भोयहीण' को 'भोयवन्त' पढ़कर किया गया है।

शब्दार्थ—कुलविमुक्क = कुलविमुक्त = १. गृह या परिवार से मुक्त (स्वतन्त्र) अर्थात परिवार की चिन्ता से मुक्त। अथवा जन-समूह के द्वारा मुक्त (छोड़ दिये गये)।
२. आठों कुलों से मुक्त (स्वतन्त्र या पृथक्)

अंग्रेजी अनुवाद में इस शब्द का अर्थ Devoid of noble birth दिया गया है।

भोयहीण = भोगहीन = १. विषय-सेवन के कारण हीन (अधम)
२. फण (भोग) से रहित

गाथा क्रमांक ६१

मा वच्चह वीसंभं पमुहे बहुकूडकवडभरियाणं।
निव्वत्तियकज्जपरंमुहाण सुणयाण व खलाणं॥ ६१॥

---

१. वज्जालग्ग, पृ० ४२४

गाथा की प्रकृति को देखते हुए कुत्तों और खलों के निम्नलिखित दोनों विशेषणों मे श्लेष का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये :—

१. बहुकूडकवडभरियाणं (बहुकूटकपटभृतानाम्)

२. निव्वत्तियकज्जपरंमुहाण (निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखानाम्)

टीकाकारों ने द्वितीय विशेषण के दोनों पक्षो में दो अर्थ दिये है। प्रथम विशेषण को व्याख्या केवल खल-पक्ष में की है। यदि मूल प्राकृत की वैकल्पिक छाया 'बहुकूटकर्वटभृतानाम्' करे तो यहाँ भी श्वान-पक्षीय अर्थ उभरने के कारण श्लेष झलक उठेगा। इस पद की व्याख्या यों करनी होगी :—

बहुकूटे बहुतुच्छे कर्वटे कुत्सितनगरे भृताना पुष्टानाम् अर्थात् बहुत से तुच्छजनों वाले कुत्सितनगर में पले। कूट का यह अर्थ मेदिनी कोश से इस प्रकार समर्थित है —

कूटोऽस्त्री निश्चले राशौ लौहमुद्गर-दंभयोः।
मायाद्रिशृङ्गयोस्तुच्छे ··· ······· ·· ··· ।।

यदि कूट का अर्थ कूडा करें तो यह अर्थ होगा—अति कूडों वाले क्षुद्र नगर में पले। कुत्ते प्रायः घूरों या कूडों पर घूमते दिखाई देते है। संस्कृत कूट से ही हिन्दी का कूडा शब्द सम्बन्धित है। पालि महावग्ग में जीवक की उत्पत्ति के प्रसग में संकार-कूट शब्द का प्रयोग है। विसुद्धिमग्ग के द्वितीय परिच्छेद मे भी संकार-कूट आया है। उक्त दोनो स्थलों पर सकार का अर्थ है—झाडू लगाने से पुजीभूत धूल या गन्दगी। लगता है, प्रारम्भ में संकार और कूट—दोनों शब्द साथ-साथ प्रयोग मे आते थे। धीरे-धीरे कालान्तर में संकार की सन्निधि में रह कर राशि वाचक कूट शब्द कूडे या बुहारन के अर्थ में रूढ हो गया। इस आलोक में गाथा का यह अर्थ होगा :—

कार्य (मैथुन) समाप्त हो जाने पर जो अपना मुँह फेर लेते है और जिनका पोषण तुच्छजनों से पूर्ण क्षुद्र नगर में होता है (या जो बहुत से कूडों वाले क्षुद्र नगर में पलते हैं) उन कुत्तो के समान बहु छल-छद्म-पूर्ण एवं अपना कार्य समाप्त हो जाने पर मुँह फेर लेने वाले खलों के सम्मुख विश्वासपूर्वक मत जाओ।

गाथा क्रमांक ७०

सगुणाण णिग्गुणाण य गरुया पालंति जंजि पडिवन्नं।
पेच्छह वसहेण समं हरेण वोलाविओ अप्पा ।। ७० ।।

इस गाथा में समं के प्रयोग पर आपत्ति करते हुए संपादक ने लिखा है:—

"The use of समं is not happy"[1]

उन्होंने 'वसहेण वोलाविओ अप्पा' पढ़कर इस प्रकार अर्थ किया है —

"भगवान् शिव ने बैल के द्वारा अपने को ढुलवाया।" परन्तु गाथा के पाठ को खण्डित करने के पश्चात् उपलब्ध होने वाले इस अर्थ में कोई काव्योचित रसानुगुण्य या चमत्कारातिशय नहीं है। यही बात जब इस प्रकार कह दी जाती है कि शिव ने बैल के साथ अपना जीवन बिता दिया, तब स्थिति बदल जाती है। इससे यह प्रकट होता है कि सामर्थ्य रहते हुए भी शिव ने अंगीकृत बैल को नहीं छोड़ा, भले ही उस खूसटवाहन के साथ उनका जीवन चौपट हो गया। अतः समं का प्रयोग निरर्थक नहीं है। उक्त वाक्य का अर्थ है :—

शिव ने बैल के साथ अपना जीवन बिता दिया।

शब्दार्थ—वोलाविय = बिता दिया (पाइयसद्दमहण्णव)

अप्पा = स्वयं को,

वोलाविओ अप्पा = अपने आप को बिता दिया अर्थात् अपना जीवन बिता दिया या चौपट कर दिया।

गाथा क्रमांक ७३

चंदो धवलिज्जइ पुण्णिमाइ अह पुण्णिमा वि चंदेण।
समसुहदुक्खाइ मणे पुण्णेण विणा न लब्भंति॥ ७३॥

पूर्णिमा चन्द्रमा को धवल बना देती है और चन्द्रमा भी पूर्णिमा को धवल बना देता है। मैं समझता हूँ, जिनके सुख और दुःख समान हैं, वे पुण्य के बिना नहीं मिलते हैं। इस अर्थ पर श्री पटवर्धन का यह आक्षेप है :—

"पूर्वार्ध में चन्द्र और पूर्णिमा का परस्पर धवलीकरण यह सूचित करता है कि वे एक दूसरे के सच्चे मित्र हैं। एक का सुख दूसरे का सुख है। परन्तु दुःख के सम्बन्ध में क्या स्थिति है? चन्द्र और पूर्णिमा तो केवल समसुख कहे जा सकते है। लेकिन लेखक ने यह दिखाने के लिए कुछ नहीं कहा है कि वे समदुःख भी है।" अतः गाथा के पूर्वार्ध का उत्तरार्ध द्वारा पूर्ण समर्थन संभव नहीं है। यह आक्षेप अविचारित है। गाथा में ऐसे मित्रों की दुर्लभता का ही प्रधानतया

१. वज्जालग्गं, पृ० ४२७।

वर्णन है जिनके सुख-दुःख सदैव समान रहते हैं, चन्द्रमा और पूर्णिमा का नही। कवि का आशय यह है :—पूर्णिमा चन्द्रमा को धवल बनाती है और चन्द्रमा पूर्णिमा को। दोनों सुख में ही एक दूसरे के सहायक हैं, दुःख में नही। जिनके सुख-दुःख समान होते है, वे सच्चे मित्र तो मैं समझता हूँ, पुण्य के बिना नही मिलते है।

गाथा क्रमांक ९०

छन्नं धम्मं पयडं च पोरिसं परकलत्तवंचणयं।
गजणरहिओ जम्मो राढाइत्ताण संपडइ ॥ ९० ॥

छन्नो धर्मः प्रकट च पौरुष परकलत्रवञ्चनम्।
कलङ्करहितं जन्म भव्यात्मना संपद्यते ॥

यहाँ राढाइत्ताण की छाया भव्यात्मनाम् की गई है। इत्त मतुप् का अर्थ देने वाला प्रत्यय है, आत्मन् शब्द से उसका सम्बन्ध नही है। 'भव्यत्ववताम्' यह छाया होगी।

गाथा क्रमांक १०६

संघडियघडियविघडिय-घडत-विघडत-संघडिज्जतं।
अवहत्थिऊण दिव्वं करेइ धीरो समारद्धं ॥ १०६ ॥

यह पद्य रत्नदेवद्वारा अव्याख्यात है। प्रो० पटवर्धन ने लिखा है कि इसका भाव अस्पष्ट है। उन्होने घटनादि को समारब्ध कार्य का विशेषण मानकर यह अर्थ किया है :—

सघटन = Planning
घटन = Starting

परन्तु उपर्युक्त पद्य मे प्रयुक्त सभी विशेषण दैव (भाग्य) के हैं और उनके अर्थ निम्नलिखित है :—

घडिय = बना हुआ
विघडिय = बिगड़ा हुआ
संघडिय = संयुक्त, साथ लगा हुआ

इस दृष्टि से सम्पूर्ण गाथा का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा :—जो पहले साथ था या बना था या बिगड़ गया था एवं अब जो बन रहा है या बिगड़ रहा है या साथ दे रहा है, उस भाग्य को छोड़कर धीरपुरुष समारब्ध कार्य को कर डालता है।

गाथा क्रमांक ११०

अगणिय-समविसमाणं साहसतुंगे समारुहंताणं ।
रक्खइ धीराण मणं आसन्न भयाउलो दिव्वो ॥ ११० ॥

प्रो० पटवर्धन ने 'रक्खइ धीराण मण' (रक्षति धीराणा मनः) का अर्थ "Preserve the balance of their minds or to steady up their minds" लिखा है, जो ठीक नही है। 'मन रखना' एक मुहाविरा है, जो आज भी हिन्दी में प्रचलित है। इसका अर्थ है—अनुकूल कार्य करना। वैसे संस्कृत में मन का अर्थ संकल्प और रुचि भी होता है। इस दृष्टि से उद्धृत गाथा का अर्थ निम्नलिखित है :—

निकटवर्ती (पराजयजनित) भय से आकुल दैव, सम एवं विषम (अनुकूल एवं प्रतिकूल) अवस्थाओ को न गिनने वाले (परवाह न करने वाले) एवं साहस के समुन्नत शिखर पर आरोहण करने वाले धीर पुरुषो का मन रखता है (अनुकूल कार्य करता है या उनके संकल्प को पूर्ण करता है)।

गाथा क्रमांक १२१

सत्थत्थे पडियस्स वि मज्झेणं एइ कि पि तं कज्जं ।
जं न कहिउं न सहिउं न चेव पच्छाइउं तरइ ॥ १२१ ॥

रत्नदेव ने 'सत्थत्थे' का अर्थ 'स्वस्थार्थे' और प्रो० पटवर्धन ने 'शास्त्रार्थे' लिखा है परन्तु इन दोनो की अपेक्षा 'शस्तार्थे' (शस्ते श्लाघ्येऽर्थे प्रयोजने अर्थात् प्रशसनीय प्रयोजन में) अधिक संगत है। अतः सम्पूर्ण गाथा का अर्थ इस प्रकार है :—

श्लाघ्य प्रयोजन मे लगे हुए (पडे हुए = पडियस्य) व्यक्ति का भी कार्य बीच मे कुछ ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि जिसे वह न कह सकता है, न सह सकता है और न छिपा सकता है।

'तरइ' का अर्थ शक्नोति है, शक्यते नही।

गाथा क्रमांक १२७

को एत्थ सया सुहिओ कस्स व लच्छी विराई पेम्माइं ।
कस्स व न होइ खलणं भण को हु न खंडिओ विहिणा ॥ १२७ ॥

टीकाकारों ने 'बिराइ' की छाया 'स्थिराणि' की है और पूर्वार्ध का यह अर्थ दिया है—

"कौन यहाँ सदा सुखी है, किसकी लक्ष्मी सदा रहती है और किसका प्रेम स्थिर है।"[1] परन्तु स्थिर पर्याय बिर शब्द प्राकृत कोषों में दुर्लभ है। पाइय-सद्महण्णव में रा क्रिया संगृहीत है। कोषकार ने उसे दा का धात्वादेश लिखा है। परन्तु वह क्रिया पाणिनीय धातु पाठ में उसी अर्थ में उपलब्ध है। हम लच्छी वि राइ पेम्माइं (लक्ष्मीरपि राति ददाति प्रेमाणि) पढ़ कर गाथा के पूर्वार्ध का अर्थ करते हैं :—

यहाँ कौन सदा सुखी है और लक्ष्मी भी किसे सदैव प्रेम प्रदान करती है? (अर्थात् लक्ष्मी की कृपा सदैव नहीं रहती।)

गाथा क्रमांक १५४

ओलग्गिओ सि धम्मम्मि होज्ज एण्हि नरिंद वच्चामो।
आलिहियकुंजरस्स व तुह पहु दाणं चिय न दिट्ठं॥ १५४॥

श्री पटवर्धन ने 'सि' को 'ओलग्गिओ' से नहीं अपितु 'होज्ज' से अन्वित कर 'सि होज्ज' का अर्थ 'त्वं भवे या भूयाः' किया है जो प्रामादिक है। 'सि' का अर्थ यहाँ 'त्वम्' नहीं है। वह अपने क्रियार्थ के साथ ही 'ओलग्गिओ' से अन्वित है।

गाथा क्रमांक १५९

भुजंति कसण-डसणा अब्भंतर-संठिया गइंदस्स।
जे उण विहुर-सहाया ते धवला बाहिरच्चेव॥ १५९॥

रत्नदेव ने इसकी ठीक व्याख्या की है। अंग्रेजी अनुवाद क्लिष्ट कल्पना-प्रसूत है। अनुवादक ने विहुरसहाय को सहाय विहुर और पुनः सहाय को साहाय्य (भाव प्रधान निर्देश) मानकर यह अर्थ किया है—

"गजेन्द्र के कृष्णदन्त जो खाने का कार्य करते हैं, वे भीतर रहते हैं तथा जो श्वेतदन्त खाने में कोई सहायता नहीं करते, वे बाहर रहते हैं।"

गाथा का अन्य अर्थ यों दिया गया है—

"जो सेवक कठिन परिश्रम करते हैं वे स्वामी के द्वारा कुरूप होने पर भी

---

१. देखिये, अंग्रेजी अनुवाद और संस्कृत टीका।

घर के भीतर रखे जाते हैं, जो सेवक कोई सहायता नही करते वे चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, बाहर रखे जाते है" ।[1]

हम 'विहुरसहाय' को न तो सहायविहुर मानना ही आवश्यक समझते हैं और न सहाय को साहाय्य पढकर शब्द के साथ खिलवाड़ ही करना चाहते है। 'विहुर-सहाय' का सीधा सा अर्थ है—संकट में सहायक (विहुरंमि आवइ-पाले सहायो) ।

गाथा का अर्थ यह है—

गजेन्द्र के कृष्णदन्त जो खाने का कार्य करते है, वे भीतर रहते है। जो विपत्तियो में सहायक बनते है, वे शुभ्रदन्त बाहर रहते हैं (हाथी अभ्यन्तरवर्ती कृष्णदन्तों से खाता है और बाह्य श्वेत-दन्तो से युद्ध करता है) ।

यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा के माध्यम से यह बताया गया है कि राजा लोग प्राय गुणियो का सम्मान नही करते, चाटुकारो को ही अधिक प्रश्रय देते है। पद्य का अभिप्राय यह है—जो काली-करतूतो वाले चाटुकार केवल बैठे-बैठे खाते हैं, कुछ करते नही, वे तो राजा के अन्तरंग बन जाते है और जो उज्ज्वल चरित वाले सेवक संकट काल मे सहायक बनते है, वे उपेक्षित रह जाते हैं (बाहर रह जाते है) ।

गाथा क्रमांक १६२

जं दिज्जइ पहरपरव्वसेहिं मुच्छागएहिं पयमेक्कं।
तह नेहस्स पयस्स व न याणिमो को समब्भहिओ ॥ १६२ ॥

प्रो० पटवर्धन ने उत्तरार्ध मे प्रयुक्त 'पयस्स' की छाया 'पदस्य' की है, जो असंगत है क्योंकि एक ही छन्द मे और एक ही अर्थ में 'पद' शब्द दो बार प्रयोग होने से पुनरुक्ति दोष होगा। पृ० ४४१ पर व्याख्यात्मक टिप्पणी में उन्होंने अपने अनुवाद को अटकल पर आधारित बताया है और छन्द के उत्तरार्ध की अस्पष्टता का उल्लेख किया है। रत्नदेव ने 'पयस्स' को 'पयस' समझकर उक्त अंश की निम्नलिखित व्याख्या की है—

न जानीमः किमधिकम् स्नेहपानीययोर्मध्ये ।

अर्थात् स्नेह और पानी मे क्या अधिक है—यह नही जानते। इस व्याख्या का आशय स्पष्ट नही है। मेरे विचार में 'पय' का अर्थ न 'पद' है, न 'पानीय'।

१. पृ० २९२ पर मूल अंग्रेजी और पृ० ४४० पर अंग्रेजीटिप्पणी देखिये ।

उसका अर्थ दूध है । इसके अनुसार गाथा का अर्थ निम्नलिखित होगा—

"जब रणभूमि में विपक्ष-प्रहारों से परवश और मूर्च्छितप्राय हो जाने पर भी सुभटगण रणभूमि में एक डग आगे ही रखते है, तब हम यह नही समझ पाते कि प्रेम और दूध में कौन बडा है । अर्थात् उस दारुण दशा में भी वे प्रभु-प्रेम-वश ही आगे बढते जाते है या उनकी माताओं के दूध मे ऐसी अद्भुत शक्ति है जो उन्हें पीछे नही लौटने देती ।" आगे पद रखना दोनों कारणों से सम्भव है, अतः कवि उनके आधिक्य का निश्चय नहीं कर सका । अधिक शब्द यहाँ श्रेष्ठता के अर्थ मे है ।

गाथा क्रमांक १८३

अमुणियगुणो न जुप्पइ न मुणिज्जइ स य गुणो अजुत्तस्स ।
थक्के भरे विसूरइ अउव्ववग्ग गओ धवलो ॥१८३॥

अपूर्ववल्गा गत (अउव्ववग्गं गओ) प्रथम बार गत्यवरोधक रज्जु से रोका गया । श्री पटवर्धन ने 'वल्गा' को गमन के अर्थ मे ग्रहण किया है, परन्तु यहाँ वल्गा का अर्थ रश्मि (प्रग्रह) या गत्यवरोधक रज्जु है । गाडी में जुते बैल की गति को नियन्त्रित करने के लिये उसको नाथ (नासा-रज्जु) में एक रस्सी बँधी रहती है, जिसे खीचकर गाडीवान उसे काबू मे रखता है या अनावश्यक रूप से बढ़ने नही देता । इसी रस्सी को वल्गा कहा गया है । गाथा का भाव यह है—बिना गुणों को समझे कोई बैल जोता नही जाता है और जोते बिना गुण भी नही ज्ञात होता है । सुदृढ और बलवान् बैल को दुःख तब होता है जब भार से लदी गाडी मे उसे पहली बार गत्यवरोधक रज्जु से रोक दिया जाता है ।

गाथा क्रमांक २१०

जह जह न चडइ चावो उम्मिल्लइ करह पल्लिणाहस्स ।
तह तह सुण्हा विप्फुल्लगंडविवरुम्मुही हसइ ॥२१०॥

'विप्फुल्लगंडविवरुम्मुही' में समास इस प्रकार है—विप्फुल्लंमि गंडंमि विवरो जीए सा विप्फुल्लगंडविवरा सा य उम्मुही विप्फुल्लगडविवरुम्मुही त्ति । श्रीपटवर्धन का निम्नलिखित विग्रह-वाक्य भी ठीक है—विप्फुल्लगंडविवरा च उन्मुखी च । परन्तु अंग्रेजी अनुवाद मे विप्फुल्ल को विवर का विशेषण लिखना ठीक नही है क्योंकि उत्फुल्लत्व धर्म विवर मे नही है । हास्य के समय गंड में अवश्य उत्फुल्लता आ जाती है ।

गाथा क्रमांक २२५

जं जीहाइ विलग्गं किंचिवरं मामि तस्स तं दिट्ठं ।
थुक्केइ चक्खिउं वण-सयाइ करहो धुयग्गीवो ॥२२५॥

अर्थ—(वह) ऊँट सैकड़ों वनों को (वृक्ष समूहों को) चख कर, गर्दन हिलाकर थूक देता है। सखि, यह देखा गया है कि जिसकी जिह्वा मे जो लग जाता है (रुच जाता है) उसके लिये वह श्रेष्ठ है।

उपर्युक्त गाथा के "किंचिवरं मामि तस्स तं दिट्टं" का अर्थ प्रो० पटवर्धन ने यों दिया था—

Whatever is seen or found or thought by the camel to be somewhat good at first sight.

यह अर्थ उचित नही है क्योंकि ज पद किंचि से अन्वित है, अतः पूर्वार्ध का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार करना चाहिये—

यत्किञ्चिद जिह्वाया विलग्नं, वरं सखि ! तस्य (तस्मै वा) तद् दृष्टम् ।

जिह्वा मे लगने का अर्थ—जिह्वा से सलग्न होना नही, अपितु अच्छा लगना (रुचना) है।

गाथा क्रमांक २४०

रुणरुणइ वलइ वेल्लइ पक्खउडं धुणइ खिवइ अंगाइं ।
मालइकलियाविरहे पंचावत्थं गओ भमरो ॥२४०॥

इस गाथा में रुणरुणइ (१) वलइ (२) वेल्लइ (३) पक्खउडं धुणइ (४) अंगाइ खिवइ (५)—इन पाँच क्रिया रूप अवस्थाओं का वर्णन है। पंचावत्थ शब्द इन्ही पाँचों अवस्थाओं का अर्थ देता है। पंचत्व या पंचता का अर्थ मृत्यु है। व्यंजना-व्यापार का स्फुरण होने पर पंच शब्द से पचता या पचत्व की स्मृति होगी फिर मरण। पूर्ववर्तिचेष्टासाम्य-द्वारा 'पंचावत्थ' का अर्थ हो जायगा—मरण की अवस्था। साक्षात् पंचावत्थ शब्द से ही उक्त अर्थ ग्रहण करने में बाधा यह है कि पंच शब्द मरण का वाचक नही है। इस अर्थ में पंचत्व का ही प्रयोग होता है, अतः अवाचकत्व दोष भी होगा। यदि पंचावत्थ का ही अर्थ पंचत्व माने तो भी ठीक नही है क्योंकि मृत शरीर मे उक्त क्रियायें असम्भव है।

गाथा क्रमांक २४१

मालइविरहे रे तरुणभसल मा रुवसु निब्भरुक्कंठं ।
वल्लहविओयदुक्खं मरणेण विणा न वीसरइ ॥२४१॥

गाथा में वर्णित 'प्रिय का वियोग बिना मरे नही भूलता' इस तथ्य पर निम्नलिखित टिप्पणी की गई है—

"द्वितीयार्ध में वर्णित तथ्य पूर्णतया ठीक नही है क्योंकि विरहियों की विरह-वेदना केवल मरने पर भूलती हो ऐसी बात नही है, प्रणयी के मिलन से भी भूल जाती है (पृ० ४५४)।" यह टिप्पणी उचित नही है। प्रणय की पराकाष्ठा में जब कभी अकस्मात् असह्य वियोग उपस्थित हो जाता है तब कालान्तर में सयोग होने पर व्यथा तो शान्त हो जाती है परन्तु उस असह्य विरह-क्लेशानुभूति की अभीष्ट स्मृतियाँ आजीवन नही भूलती है। वे तो मरने पर ही भूलती है। गाथा में वीसरइ शब्द है, सम्मइ शब्द नही। संयोग होने पर विरह-वेदना का शमन मात्र सम्भव है, विस्मरण नही।

गाथा क्रमांक २४४

छप्पय गमेसु कालं वासवकुसुमाइ ताव मा मुयसु।
मन्न जियंतो पेच्छसि पउरा रिद्धी वसंतस्स ॥२४४॥

गाथा में प्रयुक्त वासव शब्द पर टिप्पणी करते हुए श्री पटवर्धन ने लिखा है कि यह शब्द-कोशों में नही मिलता है। सम्भवतः इन्द्रवारुणी ही वासव हो। संस्कृत-टीका में वासव का अर्थ आटरूषक दिया गया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने मूनियर विलियम और आप्टे का प्रमाण देते हुए लिखा है कि आटरूषक या अटरूषक एक लाभकारी औषधि का पौधा है। इस प्रकार उन्हें संस्कृत कोशों में वासव शब्द नही मिला। अतः उन्होंने उस शब्द का अर्थ टीका में आये आटरूषक के आधार पर संशय-ग्रस्त मन से लिखा है।

वासव शब्द वस्तुतः संस्कृत वासक का विकृत रूप है। वासक और आटरूषक समानार्थक शब्द हैं। अमरकोश में दोनों का एक साथ उल्लेख है—

वृषोऽटरूषः सिंहास्यो वासको वाजिदन्तकः।

—द्वितीय काण्ड, वनौषधिवर्ग

वासक या आटरूषक को हिन्दी में अरूसा कहते है।

गाथा क्रमांक २४९

वोसट्ट बहल परिमल केयइ मयरंदवासियंगस्स।
हिय इच्छिय पियलंभा चिरा सयाकस्स जायंति ॥ १४९ ॥

एक बार बहुपरिमला प्रफुल्ल केतकी के मकरन्द से जिसके अंग सुवासित हो चुके हैं, ऐसे किस भ्रमर (या युवक) को चिरकाल में मनोवांछित प्रियाओ (कलिकाओं, लताओं या तरुणियों) की उपलब्धियाँ सदा होती हैं ? अर्थात् सदा नही होतीं।

अंग्रेजी अनुवादक ने समुद्धृत गाथा के अन्तिम अंश का अर्थ निम्नलिखित ढंग से समझाया है:—

"चिरात् सदा कस्य जायन्ते Means अचिरादेव जायन्ते।" इसके अनुसार उक्त विशेषण विशिष्ट भ्रमर को शीघ्र ही मनोवाछित प्रियाओ की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु इस व्याख्या से गाथा में वर्णित भ्रमर या युवक के विशेषणों की साभिप्रायता समाप्त हो जाती है, क्योकि केतकी-मकरन्द-वासितांगत्व प्रिया प्राप्ति का हेतु नही है। यदि होता तो किसी भी भ्रमर या युवक को प्रेय का अभाव न रहता। विवेच्य गाथा के चतुर्थपाद के अन्वय-भेद एवं विभिन्न शब्दो पर विवक्षानुसार अधिक बल देने से अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति संभव है:—

१. चिरात् सदा **कस्य** जायन्ते ?

(चिरकाल में सदा **किस** को होती है ? अर्थात् किसी को भी नही होती)

२. कस्य सदा **चिरात्** जायन्ते ?

(किस को सदा **चिरकाल** में होती है ? अर्थात् शीघ्र हो जाती हैं।)

३. कस्य चिरात् **सदा** जायन्ते ?

(किसको चिरकाल में **सदा** होती है ? अर्थात् कभी-कभी ही होती हैं।)

४. कस्य **सदाचिरात्** जायन्ते ?

(किस को **सदाचिरकाल** मे होती है ? अर्थात् कभी-कभी ही **चिरकाल** मे होती है।)

५. **कस्य** चिरात् सदा जायन्ते ?

(**किस** को चिरकाल में सदा होती है ? अर्थात् चिरकाल में सदा सब को नही होती हैं।)

यदि 'प्रियलंभ का अर्थ प्रिय वस्तुओ की प्राप्ति' करें तो भी भावोत्कर्ष में कमी न होगी।

मैंने उपर्युक्त अर्थों के मध्य से तृतीय को ही ग्रहण किया है। उसके अनुसार 'चिरात् सदा कस्य जायन्ते' का अभिप्राय यह है कि यद्यपि चिरकाल में प्रियप्राप्ति संभव है तथापि कौन ऐसा विरही प्राणी है, जिसे बहुत दिन व्यतीत हो जाने पर प्रिय की प्राप्ति सदा हो ही जाती ? किसी-किसी को दुर्भाग्यवश नही भी होती है।

गाथा क्रमांक २५५

भमर भमंतेण तए अणेयवणगहणकाणणुद्देसं ।
दिट्ठो सुओ य कत्थ वि सरिसतरू पारिजायस्स ॥ २५५ ॥

इस गाथा के द्वितीय पाद मे वन, गहन और कानन तीन समानार्थक शब्दों का सह-प्रयोग है । श्री पटवर्धन ने संभावित पुनरुक्ति दोष के मार्जन के लिये वन का अर्थ वृक्ष, कानन का अर्थ जंगल और गहन का अर्थ A thicket (of trees) लिखा है । उसी टिप्पणी मे पुनरुक्ति का दूसरा समाधान इस प्रकार है:—

"वन उपवन के अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है और कानन जंगल के ।" उपर्युक्त दोनों समाधान केवल संभावना पर अवलम्बित होने के कारण निरर्थक और सारहीन है । गाथा के 'वन गहण काणणुद्देस' पद मे पुनरुक्ति दोष नही, पुनरुक्त-वदाभास[1] नामक अलंकार है । वहाँ तीनो शब्द समानार्थक होने के कारण पुनरुक्ति का आभास मात्र कराते हुये प्राकरणिक स्वार्थ में विश्रान्त होकर चमत्कार उत्पन्न करते है । तीनो के अर्थ इस प्रकार है.—

१. वन[2] = गृह, वन
२. गहन[3] = दुष्प्रवेश गह्वर, वन
३. कानन[4] = गृह, वन

गाथा का अर्थ यह होगा —

हे भ्रमर ! अनेक गृहों, गह्वरो और वनप्रान्तों में भ्रमण करते हुये तुमने कही भी पारिजात के समान वृक्ष देखा और सुना है ?

---

१. आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥ —साहित्यदर्पण, १०

२. क्लीवं स्यात् कानने नीरे निवासे निलये वनम् —अमरकोश
वनं नपुंसकं नीरे निवासालयकानने —मेदिनीकोश
वनं प्रस्रवणे गेहे प्रवासेऽम्भसि —अनेकार्थसंग्रह

३. कलिलं गहनं समे । —अमरकोश
....................गहनं कलिले त्रिषु ।
नपुंसकं गह्वरे स्याद् दुःखकाननयोरपि ॥ —मेदिनीकोश
................गहनं वन गुह्ययोः ।
गह्वरे कलिले चापि............॥ —अनेकार्थसंग्रह

४. काननं विपिने गेहे परमेष्ठिमुखेऽपि च —मेदिनीकोश
काननं तु ब्रह्मास्यं विपिने गृहे । —अनेकार्थसंग्रह

गाथा में प्रयुक्त 'सरिसतरु' पद को अशुद्ध बताते हुये श्री पटवर्धन ने सरिस शब्द को लुप्तविभक्तिक माना है परन्तु उक्त पद न तो अशुद्ध है और न लुप्तविभक्तिक। सरिसतरु समस्त पद है।

गाथा क्रमांक २८१

जइ कह वि ताण छप्पन्नयाण तणुयंगि गोयरे पडसि।
ता थोरवसण दाहेक्कमंडिया दुक्करं जियसि॥ २८१॥

अंग्रेजी टिप्पणी मे 'थोरवसण दाहेक्कमंडिया' पाठ स्वीकार किया गया है। इसका आधार एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति है। रत्नदेव ने 'थोर वसह-दाहेक्क-मंडिया' पाठ मान कर उसकी छाया 'उत्सृष्टवृषभदाहैकमण्डिता' की है। परन्तु थोर का अर्थ उत्सृष्ट नही है। टीकाकार ने अर्थ की स्पष्टता के लिए संभवत. वैसा अनुवाद किया होगा। स्थूल होना चाहिए। अंग्रेजी अनुवादक ने लिखा है कि 'थोरवसह दाहेक्क मंडिया' का भाव स्पष्ट नही है। टीकाकार ने इसकी छाया तो दी है पर अर्थ पर प्रकाश नही डाला है। मूल मे वसह (वृषभ) का अर्थ सामान्य बैल नही, साँड है। साँड जब छोडा जाता है तब तपे लोहे से उसका शरीर अंकित कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया को गाँवो मे साँड दागना कहते है। दाहांक से ही साँड़ की पहचान होती है और वह स्वच्छन्द खेतो मे चर कर खूब मोटा हो जाता है। कोई उसे बाँध कर हल में नही जोतता है। गाथा में दाह शब्द श्लिष्ट है—

दाह = १. तप्त लौह शलाका से जलाना या अंकित करना (साँड़पक्ष)
२. जलन पीडा (तन्वंगीपक्ष)

गाथार्थः—हे कृशांगि (दुर्बल अगोंवाली) यदि किसी प्रकार तुम उन चतुर जनों के समक्ष पड गई तो स्थूल साँड के समान एक मात्र दाह (तप्तशलाकाक और पीडा या जलन) से युक्त होकर कठिनाई से जीवित रहोगी। वसह के स्थान पर वसण पाठ स्वीकार करने पर यह अर्थ होगा—

एक मात्र भारी दुःख की जलन से युक्त होकर कठिनाई से दिन काटोगी।

गाथा क्रमांक २८८

अप्पण कज्जेण वि दीहरच्छि थोरयर-दीहरणरणया।
पंचमसरपसरुग्गार गब्भिणा एंति नीसासा॥ २८८॥

यह रत्नदेव द्वारा अव्याख्यात है। प्रो० पटवर्धन ने इसका अनुवाद तो दिया

है परन्तु तात्पर्य अस्पष्ट बताया है —

Exact sense of this stanza is not clear. (पृ० ४६३)

गाथा का रणरणय (रणरण + क) शब्द उद्वेगोत्पादक के अर्थ में है (पाइयसद्दमहण्णव)। उद्गार का अर्थ है—वचन। 'पंचमसर पसरुग्गार-गब्भिण' का अभिप्राय ऐसे मार्मिक वचन से है, जिसके अन्तराल में पंचमस्वर का प्रसार रहता है।

कठिन कार्यरत सेवक को बीच-बीच में लम्बी साँसें लेकर मार्मिक वचनो से युक्त पचमराग गाते देखकर स्वामिनी, जिसे यह पता नही था कि वह मन ही मन छिपकर उससे प्रेम करता है, कुछ ताड जाती है। सेवक अपना अपराध छिपाने के लिये कहता है—

हे विशाल लोचने, जिनके भीतर पंचमस्वर का प्रसार रहता है, उन मार्मिक वचनो से युक्त, दीर्घ, स्थूल (स्पष्ट या गम्भीर) और उद्वेगोत्पादक निःश्वास अपने कार्य से भो आते हैं।

आशय यह है—ऐसे उद्गारपूर्ण पंचमराग और दीर्घ निःश्वास केवल प्रणय-प्रसूत नहीं होते। पराधीन सेवक विवशता की स्थिति में जब सेवा कार्यरत रहते हैं, तब भी कभी-कभी वेदना-भरे गीत गाकर लम्बी साँसें लेते है।

गाथा क्रमांक २९१

नयणाइ समाणियपत्तलाइ परपुरिसजीवहरणाइं।
असियसियाइ य मुद्धे खग्गाइ व कं न मारंति ॥ २९१ ॥

इस पद्य में श्लिष्ट विशेषणो के द्वारा नेत्रो और खड्गों का औपम्य वर्णित है। रत्नदेव ने विशेषण-पदों मे श्लेष का अस्तित्व स्वीकारते हुये भी कोई विशेष व्याख्या नही दी। केवल 'असिय-सियाइ' का रूपान्तर 'असित सितानि' देकर छोड़ दिया है। प्रो० पटवर्धन ने इस पर आपत्ति करते हुये लिखा है कि नेत्रो का विशेषण 'असितसित' (कृष्ण-धवल) हो सकता है परन्तु खड्गों के लिये अनुपयुक्त है, क्योंकि साहित्य में उनका वर्ण कृष्ण बताया गया है। अतः 'असियसिय' का अनुवाद 'असितशित' होना चाहिये[1]। परन्तु यह सुझाव स्वीकार्य नही है, क्योंकि उन्होंने शेष विशेषणों के अथ इस प्रकार दिये हैं—

---

१. वज्जालग्गं, पृ० ४६४

समाणियपत्तलं = तीक्ष्णता को प्राप्त

परपुरिसजीव हरण = अन्य पुरुषों के जीव को हरने वाले

यदि 'सिय' को शित मानकर उसका अर्थ तीक्ष्ण स्वीकार करें तो पूर्ववर्ती विशेषण की पुनरुक्ति होती। सिय शब्द वस्तुतः संस्कृत श्री का अपभ्रंश रूप है। महाकवि स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' में इसका प्रयोग किया है:—

गेय-पणच्चियाइँ वर वज्जइँ।

परियण पिण्डवास सियरज्जइँ॥ —जुज्झ कंड, ६७।१५।६

'भविस्सयत्त कहा' में धनपाल ने भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है:—

सियवंतु वियणु विज्झाय छवि णं विणु णोरि कमलसरु।

—चतुर्थ सन्धि, पृ० २६

वर तरु सिहरग्गि दिट्ठु पडाय मुहावणिय।

हक्कारइ नाइं सन्नइं सिय भविसहो तणिय॥ —षष्ठ सन्धि, पृ० ४५

'पाइयसद्दमहण्णव' में सिय को सिरी (श्री) का पर्याय लिखा है। श्री का अर्थ शोभा या कान्ति भी होता है। शेष शब्दों के अर्थ निम्नलिखित हैं:—

समाणिय = १. सम्मानित या आदृत (नेत्र पक्ष में)

२. साथ में लाये गये या सचालित (खड्ग पक्ष में)

पत्तल = १. पक्ष्मयुक्त (नेत्र पक्ष में, देखिये पाइयसद्दमहण्णव)

२. तीक्ष्ण[1] (खड्ग पक्ष में)

पर = १. अन्य (नेत्र पक्ष में)

२. शत्रु (खड्ग पक्ष में)

परः श्रेष्ठेऽरिदूराग्योत्तरेक्लीवं तु केवले। —मेदिनीकोश

दोनों पक्षों में सम्पूर्ण गाथा का अर्थ इस प्रकार है—अरी मुग्धे, शत्रु के सैनिकों (पुरुषों) का वध करने वाले, कृष्ण कान्तियुक्त एवं साथ में लाये गये (या

१. देवसेनगणिकृत सुलोचनाचरिउ की निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा पत्तल शब्द का उक्त अर्थ समर्थित है—

णयण इंदीहरु कसुणुज्जलाइं।

णं वम्महं कडइं पत्तलाइं॥

—उद्धृत, अपभ्रंश साहित्य, पृ० २१८ (हरिवंश कोछड़ कृत)

संचालित) तीक्ष्ण खड्गों के समान, पराये पुरुषों का जीव लेने वाले (वियोग में) समादृत एवं पक्ष्मयुक्त तथा कृष्ण-धवल कान्ति वाले तेरे नेत्र किस-किस को नहीं मार डालते ? खड्गपक्ष में 'असियसिय' की निम्नलिखित व्याख्या भी संभव है—

असितं कृष्णवर्णं श्रिते आश्रिते कृष्णच्छवि-युक्त इत्यर्थ । इस दृष्टि से भी पूर्वोक्त अर्थ ही होगा ।

गाथा क्रमांक ३०२

अमुहा[1] खलो व्व कुडिला मज्झं से किविणदाण-सारिच्छा ।
थणया सप्पुरिसमणोरह व्व हियए न मायंति ॥ ३०२ ॥

'किविण-दाण-सारिच्छा' पर टिप्पणी करते हुए प्रो० पटवर्धन ने लिखा है कि "इसमे उपमा की उभयपक्षीय संगति स्पष्ट नही है । कृपणों का दान व्यवहार में दिखाई नहो देता क्योंकि वे लोभवश दान देते ही नहीं है, परन्तु स्तनों के मध्य भाग तो स्पष्ट दिखाई देते हैं । दोनों मे एक विद्यमान वस्तु है और अन्य अविद्यमान । अतः उनका साम्य किस आधार पर वर्णित है--यह समझ मे नही आता है[2] ।"

इस सन्दर्भ में यह समझना चाहिये कि उक्त पद में उपमा के अन्तराल में अत्युक्ति है । गाथा के उत्तरार्ध मे भी उपमा-द्वारा स्तनों के परिणाह का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है । अत्युक्ति दूसरो का दूषण भले ही हो पर कवियों का भूषण है । बिहारी ने तो यहाँ तक कह दिया है—

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाडत नीच ।
दीने हू चसमा चखनि, चाहै लखै न मीच ॥

जायसी ने लंक (कटि) को मृणालतन्तु के समान क्षीण बताया है—

मानहुँ नाल खंड दुइ भए ।
दुहूँ बिच लंक-तार रहि गए ॥ —पद्मावत, नखसिख खंड

प्रो० पटवर्धन ने अमुहा का स्तन-पक्षीय अर्थ "जिसके[3] चूचुक विकसित नही

---

१. संदेश-रासक में भी स्तनों को मुखरहित बताकर उनको तुलना खलों से की गई है—
सिहुणा सुयण-खला इव थड्ढा निच्चुन्नया य मुहरहिया ।
संगमि सुयण सरिच्छा आसासहिं बेवि अंगाइं ॥—द्वितीय प्रक्रम, ३६
२. वज्जालग्गं, पृ० ४६६
३. वही, पृ० ४६६

हुये है" लिखा है। परन्तु इसे स्वीकार करने पर 'अज्ज से किविण-दाण-सारिच्छा' यह वर्णन पिष्टपेषण जैसा प्रतीत होने लगता है। जिस मार्ग से नवजात शिशु के लिये दुग्ध-धारा प्रवाहित होती है, वह स्त्रियों के चूचुक में सतानोत्पत्ति के पश्चात् ही स्फुटित होता है। अत. अमुख का अर्थ इस प्रकार है—

अमुख = १. अभद्रमुख[1] (खल पक्ष)
२. जिसमे छिद्र (मुख) नही है।

अर्थ—(अप्रजावतीत्व के कारण) जिसमें दुग्ध-रन्ध्र नही हैं, वे कुटिलाकृति स्तन, अभद्रमुख एवं कुटिल व्यवहार वाले खल के समान हैं। उनका मध्याश कृपणों के दान के समान है और वे वक्षःस्थल में यो नही समा रहे हैं जैसे सत्पुरुषों के मनोरथ उनके मन में नही समाते।

गाथा क्रमांक ३०९

अमया मओव्व समया ससि व्व हरि करि सिरो व्व चक्कलया।
किविणब्भत्थण-विमुहा पसयच्छि पओहरा तुज्झ ॥ १०९॥

अमृतमयाविव समदौ (समृगौ) शशीव हरि करि शिर इव वर्तुलौ।
कृपणाभ्यर्थन विमुखौ प्रसृत्यक्षि पयोधरौ तव ॥

रत्नदेवकृत उपर्युक्त छाया के आधार पर प्रो० पटवर्धन ने 'अमयामओव्व' और 'किविणब्भत्थणविमुहा' का भाव अस्पष्ट घोषित किया है एवं[2] टीकाकार-सम्मत 'अमया-मय (अमृतमयौ) पाठ को, उपमा नही, उत्प्रेक्षा के रूप में मान्यता दी है। परन्तु गाथा की प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर उक्त टिप्पणी असंगत प्रतीत होती है। कवि ने प्रत्येक उपमान के साथ उसका श्लिष्ट सामान्य धर्म उपन्यस्त किया है। अतः 'मअ' का सामान्य धर्म भी उसके साथ रहना चाहिये। गाथा में बार-बार व्व की आवृत्ति समान-क्रम की सूचना देती है। संस्कृत टीका के आधार पर 'अमया मओव्व' को अमृतमयाविव (उत्प्रेक्षा के रूप में) स्वीकार कर लेने पर इस सलोने पद्य में उपमाओं की सुरभित माला प्रारंभ में ही टूट जायगी। अत. गाथा के प्रथम चरण की छाया इस प्रकार होगीः—
निर्विकारौ (अमतौ) मद इव समदौ (समृगौ ....।

---

१ तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

२. वज्जालग्ग पृ० ४६८

शब्दार्थ.—अमय = १. विकार रहित[२], निर्दोष (स्तनपक्ष में)

२. अमत = अनिष्ट, असम्मत (मदिरा-पक्ष में)

मअ = मद = मदिरा

समया = १. समदौ (मदेन कस्तूरिकया सहितौ) = कस्तूरी-सहित (स्तनपक्ष)

२. समृग = मृग-सहित (चन्द्रपक्ष)

चक्कलया = विस्तीर्ण (यहाँ वर्तुल अर्थ उचित नहीं है क्योंकि गजकुंभ में वैसी गोलाई नहीं होती)

किविणब्भत्थण-विमुह = कृपणाभ्यर्थनविमुख = कृपण के समान अभ्यर्थना से विमुख, जैसे कृपण अभ्यर्थना (याचना) करने पर मुह फेर लेता है (विमुख हो जाता है) उसी प्रकार स्तन भी अभ्यर्थना-विमुख है (अर्थात् किसी की अभ्यर्थना नहीं करते) अथवा अभ्यर्थना करने पर मुखहीन (विमुख) हो जाते हैं।

गाथार्थ—जैसे मदिरा अनिष्ट (असम्मत) है (अमत), वैसे ही ये भी निष्कलुष है (दोषहीन) (अमय), जैसे चन्द्रमा मृगयुक्त (समय = समृग) है वैसे ही ये भी कस्तूरीयुक्त (समद) है, जैसे ऐरावत का कुंभ विस्तृत है वैसे ही ये भी विस्तृत है, हे प्रसृताक्षि ! (मृग के समान आँखो वाली या पसर भर की आँखों वाली, प्रसृत = मृग, पसर) जैसे कृपण अभ्यर्थना करने पर मुह फेर लेते है (विमुख हो जाते है) वैसे ही तेरे पयोधर भी अभ्यर्थना-विमुख है (अर्थात् स्वयं किसी की अभ्यर्थना नहीं करते अथवा अभ्यर्थना करने पर मुख-हीन हो जाते है, चुप रह जाते हैं)।

अचिरप्रसूता रमणी के पीन पयोधरों के प्रति कामुक पति का अभिलाष वर्णित है। पयोधर शब्द से जायात्व, अमय से निष्कलुषता और 'किविणब्भत्थणविमुह' से संयम की व्यंजना होती है।

---

१. वज्जालग्गं, (अंग्रेजी संस्करण), पृ० ४६८

२. पाइयसद्दमहण्णव के अनुसार यह देशी शब्द 'विशेषावश्यक भाष्य में यों प्रयुक्त है:—अमयो च होइ जीवोकारणविरहा जहेव आयामं।

गाथा क्रमांक ३२८

२४— रेहइ सुरयवसाणे अद्धुक्खित्तो सणेउरो चलणो ।
जिणिऊण कामदेवं समुब्भिया धयवडाय व्व ॥ ३२८ ॥

श्री पटवर्धन ने इसका यह अर्थ किया है:—

"रति के अन्त में नायिका का नूपुरयुक्त अर्धोत्क्षिप्त (आधा ऊपर उठा हुआ) चरण, ऐसा लगता है जैसे कामदेव को जीतकर ध्वजा फहरा दी गई हो।" गाथा पर यह आक्षेप है—

"विजेता ही ध्वज फहराता है (झंडा ऊपर करता है), विजित नहीं। जो दम्पति स्वयं काम के बाणों से परास्त हो चुके हैं, उन्हें विजयी कैसे कहा जा सकता है। विजयी तो वस्तुत: कामदेव ही है और उसे ही अपना झंडा फहराना चाहिये। उपमा का आशय स्पष्ट नहीं है। अत 'जिणिऊण कामदेवं' के स्थान पर 'जिणिऊण कामदेवे' पाठ रखना उचित है।"[1]

अत्र प्रश्न यह है कि कवियों की भाषा में जिनकी भृकुटिभंगिमा देखते ही कामदेव के हाथ से धनुष गिर पड़ता है,[2] जिन्हें संयोग से रच कर विधाता भी कृतार्थ हो गया, जिनकी अपरिमित मोहक रूपराशि के समक्ष मुनियों की निश्चल समाधियाँ भी टूट जाती हैं, उन त्रैलोक्य विजयिनी, अनुत्तम-लावण्य-मंडित नायिकाओं के पराभव का वर्णन कौन अभागा कवि करेगा ? कामदेव शब्द यहाँ निम्नलिखित अर्थों को प्रकट करता है—

कामदेव = १. काम्यदेव, वाछित देवता अर्थात् पति

(काम = काम्य, काम: स्मरेच्छाकाम्येषु—अनेकार्थ संग्रह)

२. स्मर

अंग्रेजी अनुवादक ने प्रस्तुत गाथा में उपमा का उल्लेख किया है, परन्तु है उत्प्रेक्षा। उत्तरार्ध का अर्थ यह होगा—

---

१. वज्जालग्गं, पृ० ४६१ अंग्रेजी टिप्पणी

२. बारन कै बेनी बान्हें पै,
होइ सिखी कै कूटि।
भृगुटी लखे काम कै धनुहाँ,
परै हाथ से छूटि ॥ सर्वमंगला

मानों सुन्दरी ने पति-रूपी कामदेव को जीत कर ध्वजा फहरा दी है। यह अर्थ न करें तो भी उत्प्रेक्षा में साक्षात् कामदेव को जीत लेने की संभावना पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

कामदेव में रूपकातिशयोक्ति मान कर भी अर्थ कर सकते हैं। इससे नायक का सर्वातिशायी लावण्य सूचित होता है। 'जिणिऊण' से नायिका के रतित्व की व्यंजना सम्भव है क्योंकि उसी के (रति के) द्वारा संभोग-समर में कामदेव का परास्त होना उचित है। इस प्रकार गाथा अध्यवसान द्वारा नायक को कामदेव और नायिका को रति के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

गाथा क्रमांक ३३४

दाडिमफलं व पेम्मं एक्कं पक्खे य होइ सकसायं ।
जाव न बीओ रज्जइ ता कि महुरत्तणं कुणइ ॥ ३३४ ॥

रत्नदेव ने इसकी पूरी व्याख्या की है। प्रो० पटवर्धन कदाचित् उसका भाव नहीं समझ सके, फलतः द्वितीय चरण का अंग्रेजी अनुवाद अधूरा रह गया और गाथा की दुरूहता का उल्लेख भी करना पड़ा।[1] उन्होंने केवल 'बीयं' में श्लेष का अस्तित्व स्वीकार किया है परन्तु 'पक्ख' में भी श्लेष है।

एक्कं मि पक्खं मि = १. एक पक्ष में (एक ओर)
२. एक पाख में (पन्द्रह दिनों में)

पूरा अर्थ इसप्रकार होगा—

जैसे दाडिम फल (अनार) जब पन्द्रह दिनों का होता है तब उसका स्वाद कसैला रहता है।

जब तक बीज लाल नहीं हो जाता तब तक क्या उसमें माधुर्य आता है? उसी प्रकार जब प्रेम एकपक्षीय (नायक और नायिका में से किसी एक में ही स्थित) रहता है तब कटु होता है। जब तक दूसरा प्रेमी अनुरक्त नहीं हो जाता तब तक क्या उसमें आनन्द आता है?

गाथा क्रमांक ३६९

जइ वच्चसि वच्च तुमं अंचल गहिओ य कुप्पसे कीस ।
पढमं चिय सो मुच्चइ जो जीवइ तुह विओएण ॥ ३६९ ॥

---

१. वज्जालग्गं, (अंग्रेजी संस्करण) पृ० ४६२

यदि व्रजसि व्रज त्वमञ्चले गृहीतश्च कुप्यसि कस्मात् ।
प्रथममेव स मुच्यते यो जीवति तव वियोगेन ॥

रत्नदेव ने उत्तरार्ध की व्याख्या इस प्रकार की है —

प्रथममेव स मुच्यते यस्तव वियोगे जीवति । अहं तु न तथेति । अर्थात् जो तुम्हारे वियोग मे जीवित रहता है, वह प्रथम ही छोड दिया जा रहा है । मैं वैसी नही हूँ । इस व्याख्या में स्पष्ट नही है कि नायक के विरह मे कौन जीवित रहता है, जिसका परित्याग प्रथम ही किया जा रहा है और जिसके समान नायिका नही है । अंग्रेजी टिप्पणी में लिखा है कि इस गाथा के द्वितीयार्ध का भाव स्पष्ट नही है । यदि इस गाथा को निम्नलिखित प्रसंग में रखकर व्याख्या करें तो अस्पष्टता नही रह जायगी:—

नायक के प्रवास की अवधि मे उसकी विरह विधुरा प्रेयसी जैसे-तैसे रोते-झंखते दिन काट लेती थी । इस बार जब वह पुन. प्रयाणोद्यत हुआ तब प्रियतमा ने झट से आँचल पकड कर रोक लिया । प्रिया के इस अप्रत्याशित प्रतिरोध से नायक को कुछ रोष आ गया । यह देखकर नायिका ने आँचल छोड दिया और विनीत होकर बोली·—

अर्थ—यदि तुम जाते हो तो जाओ, आँचल पकड़ने पर क्रोध क्यो करते हो ? जो तुम्हारे वियोग में (प्रत्येक बार) जीवित रहता था, उस (शरीर) को मैं पहले ही छोड़ दे रही हूँ ।

गाथा क्रमांक ३७४

अज्जं चेय पउत्थो उज्जागरओ जणस्स अज्जेय ।
अज्जेय हलद्दीपिजराइ गोलाइ तूहाइं ॥ ३७४ ॥

तूह का अर्थ तीर्थ या घाट है । 'गोलाइं तूहाइं' की छाया गोदावर्या तीर्थानि होना चाहिये । आमासय सम तूह मणोहर । (पउमचरिउं, विद्याधर काण्ड)

गाथा क्रमांक ३९४

ए कुसमसरा तुह डज्झिहिंति मा भणसु मयण न हु भणियं ।
पिय विरहतावतविए मह हियए पक्खिवंतस्स ॥ ३९४ ॥

(हे कुसुमशरास्तव धक्ष्यन्ते मा भण मदन न खलु भणितम् ।
प्रिय विरहतापतप्ते ममहृदये प्रक्षिपतः ॥)

इस गाथा के द्वितीय पाद का अनुवाद प्रो० पटवर्धन ने नहीं किया है। उन्होंने लिखा है कि 'मा भणसु मयण न हु भणियं' का कोई संगत अर्थ नहीं निकलता है।[1] संस्कृत टीकाकार ने भी उसे उद्धृत कर अव्याख्यात ही छोड़ दिया है। हम अर्थ-सौकर्य के लिये द्वितीय पाद का निम्नलिखित अन्वय करते हैं—

(हे) मदन ! मा भण, न खलु भणितं मयेति शेषः।

अर्थात् हे मदन, मत बोलो, क्या मैंने तुमसे नही कहा ?

भण का सामान्य अर्थ बोलना है। बोलना झगड़े के लिए भी हो सकता है। खेलता हुआ बालक प्रायः रूठ कर अपने साथी से कहता है—'मुझसे बोलना मत, नही तो बहुत बुरा हो जायेगा'। इस दृष्टि से गाथा का निम्नलिखित अर्थ होगा—

हे मदन ! मुझसे मत बोलो, क्या मैंने तुमको बताया नही कि प्रिय-वियोग से संतप्त मेरे हृदय पर यदि पुष्प-बाण छोड़ोगे तो वे दग्ध हो जायेंगे।

गाथा क्रमांक ३९७

सच्चं अणंग कोयंडवावडो सरपहुत्तलक्खो सि।
तरुणीचलंतलोयणपुरओ जइ कुणसि संधाणं ॥ ३९७ ॥

(सत्यमनङ्ग कोदण्डव्यापृत शरप्रभूतलक्ष्योऽसि।
तरुणीचल्लोचनपुरतो यदि करोषि सन्धानम् ॥)

भावार्थ—अरे अनंग ! यदि तरुणियो के चपल नयनों के सम्मुख बाण-सन्धान करो तो जानें कि तुम सच्चे कोदण्ड-धारी (धनुर्धर) हो और तुम्हारा निशाना कभी नही चूकता।

इस अर्थ पर श्री पटवर्धन का आक्षेप है कि जब सर्वदा तरुण और तरुणी दोनों समान रूप से काम-बाणो के लक्ष्य बनते हैं तब इस कथन का कोई अर्थ नही रह जाता कि 'यदि तरुणियो के चपल नयनो के समक्ष शर-सन्धान करो तो·······' इत्यादि ! कामदेव तो सदैव तरुणों के साथ तरुणियों को लक्ष्य बनाता रहता है।[2]

यह आक्षेप अनुचित है। गाथा में अनंग, पुरतः और कोदण्डव्यापृत शब्द अर्थ-विशेष के अभिव्यंजक हैं। अनंग से काम के निरवयवत्व एवं अदृश्यत्व की प्रतीति के साथ-साथ कोदण्ड-व्यापृति में अश्रद्धा (अविश्वास) ध्वनित होती

१. वज्जालग्गं, अंग्रेजी टिप्पणी, पृ० ४८५।
२. वही, पृ० ४८६-४८७।

है। जो स्वयं निरवयव है, वह कोदण्ड क्या उठायेगा ? 'पुरतो यदि करोषि सन्धानं' से अथतः अनभिगमन व्यक्त होता है। कामदेव प्राय. अनंगता का लाभ उठाता है। वह अदृश्य होकर रमणियों पर पीछे से प्रहार करता है। वह उन के सामने पड़ता ही नही है। अदृश्य होकर पीछे से शर-वृष्टि करने वाला निर्बल शत्रु भी अजेय होता है। अतः काम के शौर्य का रहस्य उसकी अरूपता और अप्रत्यक्षता में निहित है। विश्वविजयिनी तरुणियों के अमोघ नयन-शर उस रूप-हीन पर पड़ते ही कब है ? यदि तरुणियो के समक्ष प्रकट होकर आगे से शर-संधान करने का दुस्साहस करे तो उस रूपवान् को वे कुतूहलवश अवश्य देखेंगी। फलत अपांग-दृष्टियो से आविद्ध होने के कारण उसका लक्ष्य चूक जायगा। अतएव कवि ने उसे सम्मुख प्रत्यक्ष होकर बाण-सन्धान करने की चुनौती दी है। इस मनोहर पद्य में रमणियो के कुटिल कटाक्षो की अमोघता का सहृदय-सवेद्य प्रतिपादन किया गया है। शब्दो में अद्भुत व्यजकता है।

गाथा क्रमांक ४००

कह सा न संभलिज्जइ जा सा नवणलिणिकोमला बाला।
कररुह तणु छिप्पंती अकाल घणभद्दवं कुणइ ॥ ४०० ॥

(कथं सा न संस्मर्यते या सा नवनलिनीकोमला बाला।
कररुहैः तनु स्पृशन्ती अकाले घनभाद्रपदं करोति ॥)

—रत्नदेवसम्मत सस्कृत छाया

प्रो० पटवर्धन ने लिखा है कि इस गाथा के तृतीयपाद 'कररुह तणु छिप्पंती' का भाव स्पष्ट नही है।[1] रत्नदेव की संस्कृत छाया ऊपर दी गई है। यह छाया अशुद्ध एवं भावसंवहन में नितान्त असमर्थ है। 'छिप्पती' वास्तव में कर्मणि प्रयोग है, कर्तरि नही। हेमचन्द्र ने भाव और कर्म में क्य प्रत्यय के लुक् (लोप) के साथ-साथ स्पृश् धातु के 'छिप्प' आदेश का उल्लेख किया है—

स्पृशेश्छिप्पः

—प्रा० व्या०, ४।२५७

कररुह लुप्त विभक्तिक तृतीयान्त पद है। तणु अल्पार्थक है। इस दृष्टि से तृतीय पाद की छाया इस प्रकार होगी—

१. वज्जालग्गं, अंग्रेजी टिप्पणी पृ० ४८७।

करवहैस्तनु स्पृश्यमाना ।
अर्थात् नाखूनो से जरा छुई जाती हुई ।

यदि तणु को लुप्त विभक्तिक सप्तम्यन्त पद मान ले तो छाया का स्वरूप यह हो जायगा—

करवहैस्तनौ स्पृश्यमाना ।

अर्थात् नाखूनो से शरीर में छुई जाती हुई । इस छाया में तणु का अर्थ शरीर होगा । अकाल घण भद्दवं की व्याख्या यो होगी—

१. अकाले घनभाद्रपदम् = अकाल में घना भादौ
२. अकालघन भाद्रपदम् = न कालघना कृष्णमेघा: विद्यन्ते यस्मिन् तादृश भाद्रपदम् अर्थात् बिना काले मेघों का भादौ ।

गाथा में प्रेयसी के अग-मार्दव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है । वह इतनी सुकुमार थी कि नायक अंगुलियो से भी स्पर्श करते डरता था क्योकि यदि कही नाखून छू गये तो रोते-रोते असमय में ही आंखो के आँसुओ से भादौं का प्लावन उपस्थित कर देती थी । विरह के दारुण दिनों में प्रिया की सुकुमारता और मसृणता की स्मृतियां नायक के भावुक हृदय-पटल को बार-बार कुरेद रही हैं । वह कहता है—

गाथार्थ—उस नवीन नलिनी के समान कोमल अगो वाली प्रिया का स्मरण क्यो न करें जो (हाथ के) नाखूनो से तनिक छू जाने पर (छुई जाती हुई) अकाल में ही घना भादौ उपस्थित कर देती थी (अथवा कृष्ण मेघो के बिना ही भादौं उपस्थित कर देती थी) ।

नाखून लग जाने की आशंका कुछ स्वाभाविक भी हो सकती है, बिहारी की नायिका तो जब पुष्पशय्या पर करवटें लेती थी तब उसकी सहेलियो को गुलाब की पंखुरियो से खरोट लगने का भय होने लगता था ।[1]

गाथा क्रमांक ४०२

कह सा न संभलिज्जइ जा सा नीसाससोसियसरीरा ।
आसासिज्जइ सासा जाव न सासा समप्पंति ॥ ४०२ ॥

१. हौ बरजी कै बार तै, उत जनि लेहि करौट ।
पंखुरी लगै गुलाब की, परिहै गात खरौट ॥ —बिहारी सतसई

(कथं सा न संस्मर्यते या सा निःश्वासशोषितशरीरा ।
आश्वास्यते सासा यावन्न सासा. समाप्यन्ते ।।)

—रत्नदेवसम्मत छाया

प्रो॰ पटवर्धन ने तृतीय चरण में सासा के स्थान पर श्वासाः कर दिया है । अंग्रेजी अनुवाद में सासा (श्वासा.) का अर्थ छोड़ दिया गया है । व्याख्यात्मक टिप्पणी में लिखा है—

आसासिज्जइ सासा is obscure.

पुन. 'सासा' को सासाए या श्वासवती के अर्थ में घसीटने का प्रयत्न किया गया है ।[1]

उपर्युक्त दोनों व्याख्याकारों की संस्कृत छायाएँ दोषपूर्ण है । द्वितीयार्ध की छाया इस प्रकार की जानी चाहिये—

आश्वास्यते साशा यावन्न श्वासा· समाप्यन्ते ।

साशा का अर्थ है आशा सहित (आशया सहिता) । यदि साशा पद को पूर्वार्ध स्थित सा का विशेषण मानें तो यह अर्थ होगा—

नि.श्वासों से शरीर (अपना या मेरा) सुखा देने पर भी जो आशावती है, उसका स्मरण क्यों न किया जाय । जब तक साँसें समाप्त नही हो जाती तब तक (अपने या दूसरे को) आश्वासन दिया जाता है ।

यदि साशाः पद को श्वासाः का विशेषण मान लें तो अर्थ यह होगा—

जिसने नि.श्वासों से शरीर सुखा डाला है उसका स्मरण क्यो न किया जाय ? जब तक आशा-सहित साँसें (श्वास) समाप्त नही हो जाती तब तक आश्वासन दिया जाता है ।

इस अर्थ के अनुसार सस्कृत छाया मे साशा के स्थान पर साशाः पद होगा । यदि चाहें तो सासा की छाया सास्रा[2] मान कर यह अर्थ कर लें—

उस सास्रा (अश्रुयुक्त) विरहिणी को तब तक आश्वासन दिया जाता है जब तक साँसें समाप्त नही हो जाती, वह मर नही जाती ।

---

१. वज्जालग्ग, अंग्रेजी टिप्पणी, पृ० ४८८ ।

२. न दीर्घानुस्वारात्—प्रा० व्या० २।९२ से द्वित्वाभाव । सास्रा = अस्रैः अश्रुभिः सहिता अर्थात् अश्रु-सहित ।

गाथा क्रमांक ४१६

तिलयं विलयं विवरीयकंचुयं सेयभिन्नसव्वंगं ।
पडिवयणं अलहंती दूई कलिऊण सा हसिया ॥ ४१६ ॥

(तिलकं विलयं विपरीत कञ्चुकं स्वेदभिन्नं सर्वाङ्गम् ।
प्रतिवचनमलभमाना दूतो कलयित्वा सा हसिता ॥)

—श्रीपटवर्धनसम्मत संस्कृत छाया

अंग्रेजी अनुवाद, विवरीय को विवरीयं तथा सेयभिन्न को सेयभिन्नं मान कर किया गया है। इन पदों को लुप्तविभक्तिक मानना आवश्यक नहीं है। 'विवरीय-कञ्चुयं' और 'सेयभिन्नसव्वंगं' समस्त पद है। 'दूई' अवश्य लुप्तविभक्तिक पद है। संस्कृत छाया में दूती के स्थान पर दूती होना चाहिये। अंग्रेजी अनुवादक ने पूर्वार्ध में प्रश्न की अनावश्यक प्रकल्पना की है। प्रतिवचन शब्द नायिका के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर को ओर नहीं, नायक-द्वारा दिये गये उत्तर या सन्देश की ओर इंगित करता है। विलयं की छाया वेबर ने विलयं गतम् की है, जिससे उक्त पद का अर्थ सूचित होता है। प्रो० पटवर्धन को इस शब्द का प्रयोग कुछ अटपटा सा लगता है।[1] उक्त शब्द की व्याख्या बहुव्रीहि मान कर करें—

विलयः = विगतः लयः संश्लेषो[2] यस्य, संश्लेषोऽत्र संलग्नाता ।

अर्थात् जिसकी संलग्नता नष्ट हो चुकी है, जो मिट चुका है।

गाथार्थ—जिसका तिलक मिट गया था, कंचुकी उलट गयी थी और शरीर पसीने से भर गया था उस दूती को देख कर (नायक का कोई) उत्तर (या सन्देश) न पाती हुई वह (नायिका) हँस पड़ी।

नायिका ने समझ लिया कि दूती नायक से रमण करके लौटी है, इसीलिए तिलक मिट गया है, कंचुकी विपरीत हो गई है, शरीर पसीने से तर हो गया है और मुझे नायक ने क्या सन्देश दिया है—इसे भी उद्विग्नतावश नहीं कह (या सोच) पा रही है। अतः उसकी दशा पर नायिका को किंचित् हँसी आ गई। यह हँसी व्यंग्य की है, प्रसन्नता की नहीं।

---

१. वज्जालग्गं, (अंग्रेजी संस्करण) पृ० ४९० और ३२८

२. लयो विनाशे संश्लेषे साम्ये तौर्य्यत्रिके मतम् । —मेदिनी

गाथा क्रमांक ४१८

दूइसमागमसेउल्लयंगि दरल्हसियसिचयधम्मिल्ले ।
थणजहणकवोलणहक्खएहि नायासि जह पडिया ॥ ४१८ ॥

(दूति समागमस्वेदार्द्राङ्गि ईषत्स्रस्तसिचयकेशपाशे ।
स्तनजघनकपोलनखक्षतैर्ज्ञातासि यथा पतिता ॥)

नायक की अनुनय करने के लिए गई हुई और उसके साथ रमण करके लौटी हुई दूती के प्रति खिन्न नायिका की उक्ति है। टीकाकारों ने इसका निम्नलिखित अर्थ किया है—

हे दूति ! तुम्हारे अंग समागम-जनित स्वेद से आर्द्र हो गये है, तुम्हारा कचपाश किंचित् खिसक गया है, स्तन, जघन, और कपोलों पर लगे नखों के क्षतो से ज्ञात होता है कि तुम (आचरण से) पतित हो चुकी हो।[1]

अटकल की बात तो बहुत दूर है, विदग्ध नायिका प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर भी किसी के चरित्र पर इतना स्पष्ट लांछन नही लगाती है। अत. टीकाकारों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त अर्थतत्त्व का वर्णन अवश्य ही कुछ छिपा कर किया गया होगा। हम इसे सहृदय-संवेद्य एवं निगूढ व्यंग्यार्थ समझते है। प्रकट अर्थ कुछ और ही है। वस्तुतः यहाँ पडिया (पतिता) और समागम शब्दों मे श्लेष है—

पडिया = (पतिता) १. आचरण से पतित।
२ भूमि पर गिरी हुई।

समागम = १ संभोग
२. आगमन, चलन क्रिया (सम्यक् आगमः समागम)

अन्य शब्दों के अर्थ इस प्रकार है—

थणजहणकवोलणहक्खएहि = १. स्तन, जघन और कपोलों पर लगे नखों के क्षतो (घावो) से।

जिस प्रकार स्तन, जघन और कपोलो पर अंकित नखों के क्षतों से रमणी का रमण-व्यापार सूचित होता है, उसी प्रकार स्तन, जघन, कपोलों और नखो पर लगे घावों (चोटो) से यह आशंका भी हो सकती है कि यह

---

१. रत्नदेवकृत संस्कृत टीका और प्रो० पटवर्धनकृत अंग्रेजी अनुवाद
२. स्तन, जघन, कपोल और नखो के घावों से

बेचारी कहीं गिर पड़ी होगी। अतः नायिका के वाग्वैदग्ध्य एवं गाथा के काव्य-गुणोत्कर्ष की रक्षा के लिए विदग्ध वेद्य-उपर्युक्त अर्थ के अतिरिक्त निम्नलिखित सामान्यजन-ग्राह्य, प्रकट अर्थ स्वीकार्य है—

हे दूति ! मेरे निकट तक आने में जो स्वेद उत्पन्न हुआ है, इससे तुम्हारे अंग भीग गये हैं, तुम्हारा केशपाश थोड़ा खिसक गया है, तुम्हारे स्तनों, जघनों, कपोलों और नखों पर लगी चोटों से (क्षत = घाव या चोट) से ज्ञात हो गया है, कि जैसे तुम कहीं गिर पड़ी हो।

गाथा क्रमांक ४१९

इय रक्खसाण वि फुडं दूइ न खज्जंति दूइया लोए।
अह एरिसी अवत्था गयाण अम्हं वसे जाया ॥ ४१९ ॥

(एवं राक्षसानामपि स्फुटं दूति न खाद्यन्ते दूतिका लोके।
अथेदृश्यवस्था गतानामस्माकं वशे जाता ॥)

रत्नदेव ने केवल इसकी संस्कृत छाया दी है, व्याख्या नहीं की है। प्रो० पटवर्धन ने खज्जति का अनुवाद 'खिद्यन्ते' किया है। व्याख्यात्मक टिप्पणी में गाथा के भाव की अस्पष्टता का उल्लेख है और अंग्रेजी अनुवाद को अनुमान पर अवलम्बित बताया गया है।[1] यदि गाथा को निम्नलिखित प्रसङ्ग मे रख दे तो अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जायगा—

नायिका ने नायक को मनाने के लिए जिस दूती को भेजा था, वह उसी के साथ रमण करके लौटी। कपोलों पर अंकित संभोग-सूचक दन्तक्षत स्पष्ट लक्षित हो रहे थे। अतः विदग्ध नायिका सब रहस्य ताड गई। वह कृत्रिम सहानुभूति के स्वर में व्यंग्य करती हुई कहती है—

अर्थ—हे दूति ! राक्षसों के भी लोक में दुतियाँ इस प्रकार स्पष्ट नहीं खाई जाती हैं। हमारे वश में रहने वाली (सेविकाओं, दूतियो) की हाय ! अब यह दशा हो गई। अथवा द्वितीयार्ध का यह अर्थ करें—

हम गये हुए (गये गुजरे, मृततुल्य या नष्टप्राय) लोगों के वश में रह कर तेरी यह दशा हो गई है।

---

१. The sense of the gatha is obscure. The English translation is purely conjectural. वज्जालग्ग पृ० ४९१

आशय यह है कि नायक ने रमण काल में तेरे कपोलो को इस प्रकार काट-खाया है कि राक्षस भी सन्देशवाहिका दूतियों को वैसी निर्दयता से नही काटते। मुझे इसका खेद है कि मेरे अधीन रह कर तेरी यह शोचनीय दशा हो गई है।

शब्दार्थ—खज्जंति = खाद्यन्ते, खाई जाती हैं।

इय = एवम्, इस प्रकार

फुड = स्फुट, स्पष्ट या सचमुच, हिन्दी फुर

अह = अथवा, अब

अम्हं वसे गयाण = अस्माक वशे गतानाम्, हमारे वश में गये हुए लोगों का।

गयाण अम्हं वसे = गतानाम् अस्माकं वशे, हम गये हुए (गये गुजरे, नष्टप्राय) लोगों के अधीन।

गाथा क्रमांक ४२३

तुह संगमदोहलिणीइ तीइ सोहग्गविभियासाए।
नवसियसयाइ देंतीइ सुहय देवा वि न हु पत्ता ॥ ४२३ ॥

इसके चतुर्थपाद का अर्थ अस्पष्ट बताया गया है (पृ० ४२८-४९२)। रत्नदेव भी मौन हैं।

अर्थ—हे सुभग! प्रचुर धन के कारण जिसको आशा बढ़ गई थी, जिसे तुम्हारे संगम की इच्छा थी और जो सैकड़ों मनौतियाँ कर रही थी, उसे देवता भी नही मिले। आशय यह है कि धनवती नायिका धन के बलपर पूजा-पाठ और मनौतियाँ करके देवताओ की कृपा से नायक का समागम प्राप्त करना चाहती थी। परन्तु नायक का समागम देवानुकम्पा से साध्य नही था, अतः नायिका को ऐसे कदम भी नही मिले, जो मनौतियाँ लेकर मनोरथ पूर्ण कर सकते। काम्य नायक-सम्प्राप्ति देवाराधना से भी असाध्य होने के कारण नितान्त दुर्लभ थी। अथवा 'देवा वि न हु पत्ता' का तात्पर्य यह है कि मनौतियाँ करने वाली नायिका को सुराधिक लावण्यशाली नायक का समागम तो दूर रहा, तुच्छ देवता (जो देवन-प्रकाशन-विशिष्ट होने पर भी सौन्दर्यादि में नायक से बहुत घट कर हैं) भी संभोगार्थ नही मिले। इससे नायक का देवाधिक-लावण्य-शालित्व व्यंजित होता है। यदि चतुर्थ-पाद में स्थित 'सुहय देवा' को समस्त पद

मानकर 'सुखद-देवाः अथवा 'सुहृत-देवाः' यह छाया करें तो 'सुख देने वाले देवता भी नहीं मिले' या 'अभागे देवता भी नहीं मिले' ये दो अर्थ होंगे। इन दोनों अर्थों में प्रथम के भीतर यह व्यंग्य निहित है कि नायक के समागमसौख्याभाव में नायिका को देवता भी सुख न दे सके।

शब्दार्थ—सोहग्ग = सौभाग्यम् (सुभगस्य भावः सौभाग्यम्) भग[1] प्राचुर्य, महत्त्व या ऐश्वर्य

णवसिय—उपयाचितक = मनौती[2]

गाथा क्रमांक ४६०

अमुणिय-पियमरणाए वायसमुड्डाविरीइ घरिणीए।
रोवाविज्जइ गामो अणुदियहं बद्धवेणीए ॥ ४६० ॥

'भोः काक', 'उड्डयस्व मम भर्ता गमिष्यति' इस टीका-वाक्य को अन्यथा समझकर प्रो० पटवर्धन ने प्रस्तुत गाथा में निम्नलिखित टिप्पणी की है—

"जिनके पति, भाई और अन्य सम्बन्धी प्रवास में रहते हैं, वे स्त्रियाँ जब कौए को समीप आते देखती हैं तब उसे दूर उड़ा देती हैं।" उन्होंने आगे लिखा है "कौए की उपस्थिति और उसे दूर उड़ा देने का भाव स्पष्ट नहीं है। कदाचित् कौए का आगमन यह सूचित करता है कि प्रेमी नहीं लौटेगा और इसीलिये महिला उसे दूर उड़ा देती है—"हे काक ! दूर उड़ जाओ, ईश्वर करे मेरा प्रेमी लौट आये। क्या काक-दर्शन प्रेमी की मृत्यु का सूचक है और क्या महिला उसे अपशकुन समझकर दूर उड़ा देती है ? परन्तु पूर्ववर्ती गाथाओं में टीकाकार के अनुसार कौआ वल्लभागमन-सूचक है या वल्लभ-कुशल-निवेदक है और इसलिये महिला उसका स्वागत करना चाहती है एवं उसे भोजन प्रदान करती है।"[3]

उपर्युक्त टिप्पणी भ्रम-जनित है। 'भोः काक उड्डयस्व मम भर्ता गमिष्यति' इस कथन में विरहिणी के मनोगत आह्लाद का स्फुरण है। इस कथन का यह

---

१ भगं श्रीयोनिवीर्येच्छा ज्ञानवैराग्यकीर्तिषु।
माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्षे च ना रवौ ॥
—मेदिनी

२. देशीनाममाला, ४।२२।

३. वज्जालग्गं, (अंग्रेजी संस्करण) पृ० ५००

अभिप्राय नहीं है कि कौआ अमंगल की सूचना देता है—इसलिये स्त्रियाँ उसे देखते ही डंडा लेकर उड़ाने लगती हैं। जब कौआ गृह-शिखर पर बैठकर बोलने लगता है तब उसे बड़ा शकुन माना जाता है। परदेशी प्रिय के पथ पर प्रतिक्षण आँखें बिछाये बैठी व्यथातुर विरहिणी तो यही समझती है कि मेरा प्रवासी अब अवश्य घर आ जायगा। वह उसे सादर उड़ाकर प्रिय तक अपना सन्देश पहुँचाती है। प्राचीन काव्यों और लोक-गीतों में पदे-पदे वल्लभागमननिवेदक काक के वर्णन मिलते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के निम्नलिखित पद में कौए को देख कर माता कौशल्या के शकुन मनाने का वर्णन है—

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर, कहहु काग फुरि बाता।
दूध-भात की दोनी दैहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय-सहित विलोकि नयन भरि, राम लखन उर लैहौं।
अवधि समीप जानि जननी जिय, अति आतुर अकुलानी।
गनक बोलाइ पायँ परि पूछति, प्रेम मगन मृदु-बानी॥
तेहि अवसर कोउ भरत निकट तें, समाचार लै आयौ।
प्रभु आगमन सुनत तुलसी, मनो मीन मरत जल पायौ॥

रतनसेन की विरहिणी नागमती ने उसे सन्देश-वाहक के रूप में देखा है—

पिय सौं कहेहु संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग॥ —पद्मावत

अपभ्रंश-कवि ने तो यहाँ तक लिखा है कि इधर वियोगिनी कौआ उड़ा ही रही थी कि उधर से उसका प्रेमी सहसा दिखाई पड़ गया। कौए को मांगलिकता का इतना जीवित प्रमाण और क्या हो सकता है—

वायस उड्डावंतिए, पिय दिट्ठो सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्टि तडत्ति॥

—हेमचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण

गाथा में अवस्थित 'अणुदियहं बद्धवेणीए' की आलोचना में श्रीपटवर्धन लिखते हैं—"यह वर्णन उस कथन के सर्वथा विपरीत है, जिसके अनुसार प्रोषित पतिकाओं को विरह की अवधि में अपना केश-संस्कार नहीं करना चाहिये—

क्रीडा शरीर संस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् ।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका ॥[1]

यहाँ विद्वान् आलोचक ने लोकभाषा-कवि के साथ समुचित न्याय नहीं किया है । उपर्युक्त श्लोक में एक पवित्र आदर्श का निरूपण है और बताया गया है कि प्रोषितपतिकाओं को उस प्रकार जीवन-यापन करना चाहिये । उसमें यह कहाँ कहा गया है कि प्रोषितपतिकायें उक्त प्रकार जीवन-यापन करती थी । गाहा-सत्तसई, आर्यासप्तशती तथा वज्जालग्ग के बहुसंख्य पद्यों में परकीया के जिस उद्दाम प्रणय का उन्मुक्त और कहीं-कहीं बीभत्स चित्रण है, वह किस स्मृति से समर्थित है ? कवि लोकजीवन का यथार्थ द्रष्टा है । उसके चरण ठोस धरातल पर होते हैं । वह समाज को जैसा देखता-सुनता है, वैसा ही चित्रित करता है । लोक-जीवन सर्वतोभावेन धर्म से अनुशासित नहीं होता है । अतः गाथा में अनौचित्य नहीं है । आज भी गाँवों में प्रोषितपतिकायें लगभग सुहागिन स्त्रियों के समान वेश-भूषा धारण करती हैं । शरीर-संस्कार या प्रसाधन का परित्याग केवल विधवायें करती हैं । बहुत सी विधवायें केवल माँग में सिन्दूर डालना बन्द कर देती हैं, शरीर संस्कार पूर्ववत् करती रहती हैं ।

गाथा क्रमांक ५००

जोइसिय कोस चुक्कसि विचित्तकरणाइ जाणमाणो वि ।
तह कह वि कुणसु सिग्घं जह सुक्कं निच्चलं होइ ॥ ५०० ॥

(ज्योतिषिक किं प्रमाद्यसि विचित्रकरणानि जानानोऽपि ।
तथा कुरुकथमपि शीघ्रं यथा शुक्रो (शुक्र) निश्चलो(निश्चलं) भवति ॥)

किसी ज्योतिषी पर आसक्त बन्धकी की उक्ति है । टिप्पणी में शुक्र के निश्चल होने का ज्योतिष-पक्षीय अर्थ अज्ञात बताया गया है (पृ० ५१५) । श्लिष्ट शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

विचित्तकरण = १. विशेष रूप से चित्रा नक्षत्र का कार्य या प्रभाव, दिन के विभिन्न करण संज्ञक भाग ।

२. रति के विचित्र आसन

---

१. वज्जालग्गं, (अंग्रेजी संस्करण) पृ० ५०१

सुक्कं णिच्चलं होइ = १. शुक्र-ग्रह निश्चल हो जाय[1] (पुल्लिंग की नपुंसकलिंग में परिणति), शुक्र-ग्रह की स्थिति का निर्णय हो।

२. वीर्य स्थिर हो या गर्भ रह जाय।

अर्थ—(ज्योतिष-पक्ष) हे ज्योतिषी ! विशेष रूप से चित्रा नक्षत्र का कार्य जानते हुए भी क्यों चूकते हो ? (या दिन के विभिन्नकरण संज्ञक भागों को जानते हुए भी क्यों चूकते हो) शीघ्र ही कुछ ऐसा करो जिससे शुक्र निश्चल हो जाय (या शुक्र की स्थिति कैसी है, इसका निर्णय हो जाय)।

(प्रणय-पक्ष) हे ज्योतिषी ! रति के विचित्र आसनों को जानते हुए भी क्यों चूकते हो ? कुछ ऐसा करो जिससे वीर्य स्थिर हो जाय (गर्भ रह जाय)।

गाथा क्रमांक ५०१

विवरीए रइबिंब नक्खत्ताणं च ठाणगहियाणं।
न पडइ जलस्स बिंदू सुंदरि चित्तट्ठिए सुक्के ॥ ५०१ ॥

(विपरीते रविबिम्बे (रतिबिम्बे) नक्षत्राणा (नखक्षताना) च स्थानगृहीतानाम्।
न पतति जलस्य बिन्दुः सुन्दरि चित्रास्थे (चित्तस्थे) शुक्रे ॥
—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

टीकाकारों ने नक्खत्ताण की प्रणय-पक्षीय छाया नखक्षतानाम् की है, जो अस्वाभाविक लगती है। नख-क्षताना का प्राकृत रूप नहक्खयाणं या णहक्खयाण होना चाहिये। वज्जालग्गं के अंग्रेजी संस्करण के पृ० ५१४ पर इस पद्य के शृङ्गारपक्षीय और ज्योतिष-पक्षीय-दोनों अर्थों की अस्पष्टता का उल्लेख है। संस्कृत टीका में शृङ्गार-पक्ष के कुछ शब्दार्थ इस प्रकार हैं—

जलस्य = वीर्यस्य

शुक्रे = वीर्ये

परन्तु जल का वीर्य अर्थ आरोपित है। जल और शुक्र का एक ही अर्थ ग्रहण करने पर पुनरुक्ति होगी। अतः श्लिष्ट शब्दों की व्याख्या इस प्रकार करें—

१. अयोध्या के वयोवृद्ध ज्योतिषी पं० गोपीकान्त झा के अनुसार चित्रानक्षत्र में जाने पर शुक्र निश्चल एवं जलवृष्टिकारक होता है।

विवरीए रइबिंब १. विपरीते रविबिम्बे = सूर्य-मण्डल के प्रतिकूल होने पर (ज्योतिष-पक्ष)

२. विपरीते रतिबिम्बे = योनि के विपरीत होने पर

३. विवृतेरतिबिम्बे = योनि के विवृत या अनावृत होने पर (ये दोनो अर्थ शृङ्गार-पक्ष मे हैं)

नक्खत्ताणं १. नक्षत्राणाम् = नक्षत्रों का (ज्योतिष-पक्ष)

२ नृखाप्तानाम् = नुः[1] नरस्य खम्[2] इन्द्रियम् आप्तानां प्राप्तानाम् अर्थात् पुरुषेन्द्रिय अथवा लिंग को प्राप्त ।

३. नखार्तानाम्[3] = नखों से आर्त

४. आप्तनखानाम्[4] = नख धारण करने वाली स्त्रियो का

ठाण गहियाणं १. स्थानकहृतानाम् = स्थानकात् (गृहात्) हृतानाम् अपहृतानाम् आनीताना वा अर्थात् अपने घर या स्थान से अपहृत

२. मानेन[5] ग्रहणीयानाम् = सम्मान से ग्रहण करने योग्य

---

१ ऋतोऽत् (प्राकृत व्याकरण, १।१२६) से नर वाचक नृ शब्द में स्थित ऋकार के स्थान पर अकार हो जाने पर न शब्द (ण भी) बनेगा ।

२ ख शब्द अनेकार्थक है—

खमिन्द्रिये पुरे क्षेत्रे शून्ये बिन्दौ विहायसि ।
संवेदने देवलोके शर्मण्यपि नपुंसकम् ॥ —मेदिनी

आप्त का प्राकृत रूप है—अत्त । तीनो का समास होने पर ख का द्वित्व हो जायगा । आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार समास में बहुलाधिकार के कारण शेष और आदेश के अभाव में भी द्वित्व होता है (सूत्र २।९७ की वृत्ति) ।

३. सेवादिषु (प्राकृत प्रकाश, ३।५७) से द्वित्व ।

४. यहाँ प्राकृत के स्वभावानुसार समास मे आप्त शब्द का परनिपात हो गया है ।

५. ठाण देशी शब्द है । देशीनाममाला में इसका अर्थ मान दिया गया है । पाइयसद्दमहण्णवकार ने मान को अभिमान के अर्थ मे ग्रहण किया है, जो ठीक नही है । उक्त शब्द का प्रयोग प्रदर्शित करने के लिए उसके प्रमाण भूत आचार्य हेमचन्द्र ने जो गाथा दी है, उससे पता चलता है कि उक्त शब्द का अर्थ सम्मान है—

३. मानेन गृहीतानाम् = आदर से गृहीत या प्राप्त
४. गृहीत स्थानानाम् = रतिबन्ध (आसन विशेष) को ग्रहण करने वाली
५. रतिबन्ध में वक्र[1]
६. अपने स्थान पर स्थित, अपने स्थान को ग्रहण करने वाले (ज्योतिष-पक्ष)

जल = १. पानी
२. जड, नीरस (जलं गोकलने नीरे ह्रीबेरेऽप्यन्यवज्जडे —मेदिनी)।

बिन्दु = १. एक बूंद
२. वीर्य

चित्तट्ठिय = १. चित्रा में स्थित (ज्योतिष-पक्ष)
२. चित्त में स्थित रहने वाला अर्थात् काम या प्रणय
३. चित्त में रहने पर

सुक्क = १. शुक्र, वीर्य
२. शुष्क

गाथार्थ—(ज्योतिष-पक्ष) हे सुन्दरि ! जब रविमण्डल अपने स्थान पर स्थित नक्षत्रों के प्रतिकूल रहता है, तब शुक्र के चित्रा नक्षत्र में स्थित होने पर भी जल की बूंद नहीं पडती है अर्थात् वर्षा नहीं होती है।

जब सूर्य, मङ्गल, केतु आदि के द्वारा नक्षत्र पीडित होते हैं तब अशुभ फल होता है और वृष्टि नहीं होती है।[2] वराहमिहिर के अनुसार चित्रा नक्षत्र में

टाणो ण ठल्लयाणं ठाणिज्जन्तं ण यावि ठइयाणं।
(मानो न निर्धनानां गौरवितत्वं न चाप्युत्क्षिप्तानाम्)
हिन्दी में आज भी स्थान शब्द सम्मान के अर्थ में प्रचलित है।
गहिय के ग्रहणीय अर्थ का आधार पाइयसद्दमहण्णव है।

१. गहिय का अर्थ है—वक्रित।

—देशीनाममाला, २।८५

२. रविसुतकेतुपीडिते भे क्षितितनयत्रिविधाद्भुताहते च।
भवति च न शिवं न चापि वृष्टिः शुभसहिते निरुपद्रवे शिवं च॥

—बृहत्संहिता, प्रवर्षणाध्याय, १०

शुक्र-संक्रमण वृष्टिकारक है, परन्तु जब वह हस्त नक्षत्र में पदार्पण करता है तब पीडाकारक एवं जलवृष्टि-निरोधक हो जाता है।[1]

द्वितीय अर्थ (शृंगार-पक्ष) १. सुन्दरि ! पुरुषेन्द्रिय के निकट पहुँची (प्राप्त) हुई और सम्मानपूर्वक ग्रहण करने योग्य (अथवा आदर से उपलब्ध) युवतियों की विवृत (अनावृत) योनि में प्रणय (या काम विकार) के शुष्क हो जाने की दिशा में नीरस मनुष्य का वीर्य नही पड़ता है (अथवा जब वीर्य की स्थिति चित्त में होती है तब उक्त योनि में जड पुरुष को एक बूँद भी नहीं पड़ती है)।

२—(विपरीत रति की अवस्था में) पुरुषेन्द्रिय को प्राप्त एवं रतिबन्ध (आसन विशेष) में (पुरुष की अनुत्तमता के कारण उसका) स्थान ग्रहण करने वाली महिलाओ की विपरीत (औंधी) योनि में उस समय नीरस पुरुष को एक बूँद नही पडती, जब वीर्य की स्थिति चित्त में होती है।

३—जो (आघातार्थ) नखों को धारण करती हैं, जो स्थान (शय्या या अन्य स्थान) पर वक्र (गर्हित) हो जाती है, उन महिलाओं की विपरीत योनि मे उस समय पानी की भी एक बूँद नही पडती, जब प्रणय (या काम विकार) शुष्क (रसहीन) हो जाता है (अथवा जब वीर्य चित्त में स्थित हो जाता है)।

आशय यह है कि जो स्त्रियाँ अभिमानवश मुह फेर लेती हैं और छेड़-छाड़ करने पर नखो से घाव कर देती है उनकी योनि में वीर्य की कौन कहे, पानी को भी बूँद नही पडती है।

गाथा क्रमांक ५०३

डज्झउ सो जोइसिओ विचित्तकरणाइ जाणमाणो वि।
गणिउ सयवारं मे उट्ठइ धूमो गणंतस्स ॥ ५०३ ॥

इस गाथा की अस्पष्टता का उल्लेख किया गया है (पृ० ५१५)। अंग्रेजी टिप्पणी में अष्टाध्यायी के 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इस सूत्र को उद्धृत कर कहा गया है "गाथा में 'गणंतस्स' की आवृत्ति के कारण समानकर्तृकता नही रह

१. कौरव चित्रकराणा हस्ते पीडा जलस्य च निरोध।
कूपकृदण्डजपीडा चित्रास्थे शोभना वृष्टि. ॥
—बृहत्संहिता, शुक्राचाराध्याय, ३०

गई है, अतः व्याकरण के नियम का उल्लंघन है।" यह आक्षेप अनुचित है। गाथा के संस्कृत रूपान्तर का अन्वय इस प्रकार कीजिये—

विचित्रकरणानि जानानोऽपि स ज्योतिषिको दह्यताम्। मे शतवारं गणयित्वा गणयतः धूम उत्तिष्ठति अथवा मे गणयित्वा शतवारं गणयतः धूम उत्तिष्ठति। द्वितीयार्ध की अपेक्षा होने पर उत्तरार्ध का अन्वय इस प्रकार करना पड़ेगा—

शतवारं गणयित्वा गणयतः मे धूम उत्तिष्ठति अथवा गणयित्वा शतवारं गणयतः मे धूम उत्तिष्ठति।

अष्टाध्यायी की काशिकावृत्ति में उपर्युक्त सूत्रस्थ समानकर्तृकता का भाव स्पष्ट करते हुये आचार्य वामन ने लिखा है—

समानकर्तृकयोरिति किम्? भुक्तवति ब्राह्मणे गच्छति देवदत्त। अर्थात् समानकर्तृक क्रियाओ में क्त्वा प्रत्यय का विधान क्यों किया गया है।? उत्तर यह है कि यदि ऐसा न होता तो 'भुक्तवति ब्राह्मणे गच्छति देवदत्त'—इस वाक्य में भी, जहाँ भोजन और गमन क्रियाओ के कर्ता पृथक्-पृथक् है, क्त प्रत्यय की प्रसक्ति हो जाती।

अब इस सन्दर्भ में प्रस्तुत गाथा का अवलोकन कीजिये। हम पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को दो स्वतन्त्र वाक्य मानते है, क्योंकि एकवाक्यता की प्रकल्पना में तद् शब्द (स) निराकाङ्क्ष रह जायगा और वाक्य दोष होगा[1]। द्वितीय वाक्य में गणककृत प्रथमगणन-व्यापार शतवारोत्तर-गणन-व्यापार का पूर्ववर्ती है। अथवा शतवार गणन-व्यापार भूयोगणन-व्यापार का पूर्ववर्ती है। इन दोनो व्यापारो का कर्ता एक ही गणक है, अतः समानकर्तृकता का अभाव नही है। यहाँ पूर्वार्ध और और उत्तरार्ध के अर्थ-सम्बन्ध का विवेचन कर लेना भी अपरिहार्य है। विचित्र करणज्ञान ज्योतिषक का उत्कृष्ट गुण है। अभिप्रेत-गुण-विशिष्ट ज्योतिषक के भी भस्मी भवन का कथन विशेष हेतु के बिना असंगत है। अतः व्यंजना-व्यापार-द्वारा भूयोभूयोगणन व्यापार की प्रतीति भस्मीभवन-कथन के हेतु-रूप में होती है। इस प्रतीति से ज्योतिषक और गणक में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इस दृष्टि से भस्मीभवन और भूयोगणन—इस अशेष व्यापार-परम्परा में समान कर्तृकता सिद्ध होती है।

१. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास

शब्दार्थ— धूम = १. धूमकेतु, केतु (आप्टे), ग्रह विशेष (पाइय-सद्दमहण्णव)
२. क्रोध, द्वेष, अप्रीति (पाइयसद्दमहण्णव)
मे = महाम्, मेरे लिये (ज्योतिष-पक्ष)
२. मम, मेरे (शृंगार)
सयवार = शतवार—यहाँ शत शब्द संख्याबोधक नहीं, लक्षणया पौनः पुन्य बोधक है।

'गणतस्स' की षष्ठी तृतीया का भी अर्थ देगी—क्वचिद् द्वितीयादे
—प्रा० व्या० ३।१३४

अर्थ—विचित्र करणों (दिन के ज्योतिष प्रसिद्ध ग्यारह भाग) को जानता हुआ भी वह ज्योतिषी भस्म हो जाय। मेरे लिये अनेक बार गिन कर पुनः गिनने वाले को धूम-केतु ही[1] याद आता है। (अथवा गिनकर अनेक बार गिनने वाले को धूमकेतु ही याद आता है)

आशय यह है कि ज्योतिषी की गणना के अनुसार मेरी कुण्डली में केतु ग्रह ही अरिष्ट है। अनेक बार गिनकर भी वह इस अरिष्ट ग्रह को हटा नही पाया। ऐसे निकम्मे ज्योतिषी को जलकर राख हो जाना चाहिये था।

शृंगार-पक्ष—विचित्र करणों (रति के आसन विशेष) को जानता हुआ भी वह ज्योतिषी भस्म हो जाय। शत बार मैथुन करके पुनः मैथुन करने वाले के लिए मेरे धुआँ उठ जाता है (शरीर में आग लग जाती है, क्रोध आ जाता है)।

प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य है। ज्योतिषी और गणन व्यापार प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होकर उक्त अर्थ की प्रतीति कराते हैं। यह ज्योतिषी के बार-बार रमण से सन्तुष्ट प्रणयिनी की वक्रभणिति है। 'धूमो उट्ठइ विपरीत लक्षणा-द्वारा मानसिक सन्तोष का व्यंजक है। साहित्य दर्पण में उदाहृत निम्नलिखित श्लोक में भी कुछ यही भंगिमा झलकती है—

अस्माकं सखि वाससी न रुचिरे ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं,
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः।

---

१. मूल में उठइ शब्द स्मरण का अर्थ देता है। हिन्दी में उठना का अर्थ स्मरण होना प्रसिद्ध है। व्याकरण के छात्र प्रायः कहते हैं—'सूत्र तो याद है, उसकी वृत्ति नही उठ रही है।

किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्या प्रियो नान्यतो,
दृष्टि निक्षिपतीति विश्वमियतामन्यामहे दु खितम् ।

गाथा क्रमांक ५०४

३९— जइ गणसि पुणोवि तुमं विचित्तकरणेहि गणय सविसेसं ।
सुक्कक्कमेण रहियं न हु लग्गं सोहणं होइ ॥ ५०४ ॥

यदि गणयसि पुनरपि त्वं विचित्रकरणैर्गणय सविशेषम् ।
शुक्रक्रमेण रहितं न खलु लग्न शोभन भवति ॥

प्रो॰ पटवर्धन ने लिखा है "ज्योतिष पक्ष में 'शुक्रक्रमेण रहितम्' का अर्थ स्पष्ट नही है (पृ० ५१२)।" शृंगार पक्ष मे उन्होंने 'लग्ग' (लग्न) का अर्थ मैथुन (Coitus) किया है। मेरे विचार से उभयपक्ष में उक्त दोनों शब्दो के अर्थ इस प्रकार हैं—

सुक्कक्कमेण रहियं = १. शुक्र की गति के बिना (ज्योतिष पक्ष)
२. वीर्य प्रवेश के बिना (शृ गार पक्ष)

लग्ग = १. लग्न, सूर्य का किसी राशि में प्रवेश करने का काल या विवाहादि का मुहूर्त (ज्योतिष पक्ष)
२. लगन या प्रीति (शृङ्गार-पक्ष)

करण = १. ज्योतिष प्रसिद्ध दिन के ११ भाग
२. कामशास्त्र प्रतिपादित आसन या बन्ध

गणय = १. गिनो
२. मैथुन करो। यहाँ गिनने की क्रिया और गणक दोनों मैथुन और मैथुनकर्ता के प्रतीक के रूप में गृहीत है।

गाथार्थ—यदि गिनते हो तो विचित्र करणो से तुम विशेष गणना करो शुक्र की गति के बिना लग्न शुभ नही होता है। (अर्थात् जिस राशि में सूर्य के अवस्थित होने पर शुक्र अस्त रहता है, उसमें विवाहादि का मुहूर्त शुभ नही समझा जाता है)।

शृ गार-पक्ष—यदि मैथुन करते हो तो विचित्र रतिबन्धो से विशेष मैथुन करो। वीर्य-संक्रम (वीर्य-प्रवेश) के बिना (अर्थात् संभोग के बिना) प्रीति (लगन) शुभ नही होती है।

गाथा क्रमांक ५०७

अंगारयं न याणइ न हु बुज्झइ हत्थचित्तसंचारं ।
इय माइ कूडगणओ कह जाणइ सुक्कसंचारं ॥ ५०७ ॥

अङ्गारकं न जानाति न खलु बुध्यति हस्तचित्रासंचारम् (हस्त चित्रसंचारम्) ।
इति मातः कूटगणकः कथं जानाति शुक्रसंचारम् ॥

इस गाथा पर यह टिप्पणी है—

The astrological significance of *अंगारयं न याणइ* is not clear.

वराहमिहिर ने निम्नलिखित नक्षत्रों में मंगल ग्रह के संचार और उदय प्रशस्त बताये है—

चारोदया प्रशस्ताः श्रवणमघादित्यहस्तमूलेषु ।
एकपदाश्विविशाखाप्राजापत्येषु च कुजस्य ॥

बृहत्संहिता, भौमाचाराध्याय, १२

गाथार्थ—अरी माँ, यह कूटगणक न तो मगल ग्रह को जानता है और न यह उसका हस्त एवं चित्रा नक्षत्रों में संक्रमण[1] (गमन) ही समझता है। अत शुक्र ग्रह का (हस्त और चित्रा नक्षत्रों में) संचार कैसे जानेगा ?

शृंगार-पक्ष—यह कूट मैथुनकारी रति-क्रिया (अंगारय = अंगरत) नही जानता है और हाथों का विचित्र संचार (करिहस्त[2] का विचित्र प्रयोग) भी नही समझता । अरी माँ, वह कैसे शुक्र (वीर्य) का (योनि में) सचार (प्रवेश) जानेगा ?

इस सन्दर्भ में काव्यप्रकाश के सप्तमोल्लास में उद्धृत निम्नलिखित श्लोक दर्शनीय है—

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।
उपसर्पन् ध्वजः पुसः साधनान्तर्विराजते ॥

---

१. शुक्र का हस्त और चित्रा में संक्रमण होने पर क्रमशः पीड़ा और जलवृष्टि होती है । —(गाथा ५०१ की टिप्पणी)

२. 'करिहस्त' काम-शास्त्र प्रतिपादित विशेष अगुलि-मुद्रा है, जिसके द्वारा कठिन योनि को शिथिल किया जाता है—

तर्जन्यनामिके युक्ते मध्यमा स्यादहिष्कृता ।
करिहस्तः समुद्दिष्टः कामशास्त्रविशारदैः ॥

गाथा क्रमांक ५१२

सच्चं जरए कुसलो सरसुप्पन्नं य लक्खसे वाहिं ।
एयं पुणो वि अंगं विज्ज विडंगेहि पन्नत्तं[1] ॥ ५१२ ॥

सत्यं ज्वरे कुशल: स्वरसोत्पन्नं च लक्षसे व्याधिम् ।
इदं पुनरप्यङ्गं वैद्य विडङ्गैः प्रज्ञप्तम् ॥
—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

प्रो० पटवर्धनकृत अनुवाद इस प्रकार है—

हे वैद्य ! तुम सचमुच ज्वर का निदान करने में कुशल हो। तुम देखते हो कि मेरा रोग प्रेम के कारण उत्पन्न हुआ है। मेरा यह शरीर (केवल) विडंग (वायविडंग नामक दवा) से स्वस्थ होगा (अन्यार्थ—केवल जार के शरीर का संयोग होने से दूर होगा)।

उपर्युक्त अर्थ नितान्त अनौचित्यपूर्ण है, क्योंकि यह नायक वैद्य के चिकित्सार्थ उपस्थित होने पर रोग शय्या पर पड़ी व्याजरुग्णा परकीया नायिका की श्लेष-गर्भित उक्ति है, और कोई विदग्ध तरुणी परिवार के समक्ष इतनी उन्मुक्त भाषा में अपने प्रच्छन्न प्रणय का उद्घाटन नहीं करती। पूर्वार्ध के ऋजुकथन में भोलापन भले ही हो, वह 'बाँकपन' नहीं है, जो किसी उत्कृष्ट काव्य का प्राण होता है। इस भोले अर्थ में नायिका की विदग्धता नहीं, निर्लज्जता का बीभत्स प्रदर्शन है।

गाथा में निविष्ट 'पन्नत्त' शब्द का जो अर्थ टीकाकारों ने दिया है, वह अनुमान पर अवलम्बित है। श्रीपटवर्धन ने 'पन्नत्त' का अर्थ स्वस्थ या उपचरित लिख कर पुनः उसे संस्कृत प्रणष्ट से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, तो रत्नदेव ने उसका अर्थ 'पुनर्नूतनीसंजातम्' बताया है। वस्तुतः यह शब्द संज्ञानार्थक ज्ञप् से निष्पन्न है। सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका में 'वा दान्तशान्तपूर्णदस्त स्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः'—इस पाणिनीय सूत्र द्वारा निपातित ज्ञप्त शब्द के सन्दर्भ में निम्नलिखित उल्लेख है—

ज्ञपिर्मित्संज्ञाया मारणतोषणनिशामनेष्वित्युक्तः ।
—पूर्व कृदन्त प्रकरण

१. अंग्रेजी टिप्पणी में इस गाथा के द्वितीयार्ध का भाव अस्पष्ट घोषित किया गया है। द्र० पृ० ५१९

अर्थात् मित् संज्ञक ज्ञप् धातु मारण, तोषण और निशामन (श्रवण) में प्रयुक्त होता है। यज्ञीय प्रकरण में सर्वत्र ज्ञप् का मारण अर्थ प्रसिद्ध है। अतः प्रसंगानुसार प्रज्ञप्त (पण्णत्त) का उक्त अर्थों में से कोई भी अर्थ ले सकते है।

श्लिष्ट पदार्थ—सरसुप्पन्न = (स्वरसोत्पन्नम्)—

१—स्वरसेन[1] स्वभावेनोत्पन्नम् अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न (व्याधिपक्ष)

२—स्वकीयेन रसेन[2] रागेण प्रेम्णावोत्पन्नम् अर्थात् अपने प्रेम से उत्पन्न। (प्रणयपक्ष)

विअंग = व्यङ्ग्यम् १—(खण्डनीयम्) खण्डन करने योग्य या नष्ट करने योग्य (पाइयसद्दमहण्णव)

विडंगं = १—विडंग अर्थात् वायभिडंग नामक औषध

२—विटाङ्ग, जार (विट) का अंग

पण्णत्तं = प्रज्ञप्तम्, प्ररूपित, कथित या मारित,

गाथा का चिकित्सा पक्ष में प्रकट अर्थ यह है—

वैद्य ! तुम ज्वर के निदान में सचमुच कुशल हो और स्वभावतः उत्पन्न हो जाने वाले रोग को देख रहे हो, क्योंकि इस (रोग) को पुनः वायभिडंग से खण्डनीय (नाश्य) बताया है।

प्रणयपक्षीय गूढार्थ—वैद्य ! तुम ज्वर के निदान मे सचमुच कुशल हो और अपने प्रेम से उत्पन्न रोग को लक्षित कर रहे हो, क्योंकि इसको पुनः विट (उपपति) के अंग से खण्डनीय (उपशाम्य) बताया है।

उपर्युक्त अर्थ 'विअंग' को एक पद मानकर किये गये है। यदि विडंग में श्लेष न माने तो अर्थ यह होगा—

यद्यपि यह रोग स्वाभाविक है (पक्षान्तर में—तुम्हारे प्रणय से उत्पन्न है) फिर भी इस शरीर को विडंगों (वायभिडंगों) के द्वारा मार डाला गया है (प्रज्ञप्त = मारित)। अर्थात् मैं व्यर्थ ही वायभिडंग खाते-खाते मरी जा रही हूँ।

---

१. पाइयसद्दमहण्णव

२. ……………………रसो गन्धरसे जले।

शृङ्गारादौ विषे वीर्ये तिक्तादौ द्रवरागयोः ॥

—मेदिनी

यह अर्थ 'वि अंग' को समास-रहित पद मानकर किया गया है। अथवा गाथा के उत्तरार्ध का यों अर्थ करें—

चिकित्सा पक्ष—यह अंग फिर भी बायभिडंगों से संतुष्ट हो गया है।

प्रणय पक्ष—यह अंग फिर भी विट (प्रेमी) के अगों से सन्तुष्ट हो गया है। अर्थात् इस समय तुम्हारे अंगो के स्पर्शमात्र से सन्तुष्ट हो गया है। इस अर्थ में 'एय' (एतम्) का अन्वय 'अग' के साथ किया गया है, व्याधि के साथ नही।

गाथा क्रमांक ५१६

गहवइसुएण भणियं अउव्वविज्जत्तणं हयासेणं ।
जेण पउंजइ पुक्कारयं पि पन्नत्तियाणं पि ।। ५१६।।

गृहपतिसुतेन भणितपूर्ववैद्यकं हताशेन ।
येन प्रयुङ्क्ते पुक्कारयं (पूत्काररतम्) अपि प्रज्ञप्तिकानामपि ।।

—रत्नदेवकृत संस्कृत छाया

इसमे किसी विलासी गृहपतिकुमार के विलक्षण वैद्यक-शास्त्रों की करामात का वर्णन है। पद्य के चतुर्थ चरण में प्रयुक्त 'पन्नत्तिया' शब्द की व्याख्या में लिखा है—The meaning of this word is obscure both in the case of the overt and the covert senses of the stanza. आशय यह है कि इस शब्द का न तो प्रकट अर्थ स्पष्ट है और न गुप्त। रत्नदेव मौन है। उन्होंने एक पक्ष में 'पन्नत्तियाण' का अर्थ 'प्राप्तानाम्' दिया है। मेरे विचार से श्लिष्ट शब्दों के अर्थ निम्नलिखित है—

क—पन्नत्तिया (पण्णत्तिया) = पचास स्त्रियाँ, पण्ण = पचास या पाँच (प्रणय पक्ष) ति[1] शब्द का अर्थ पाइयसद्दमहण्णव के अनुसार स्त्री है।

---

१. समासे वा (२।९७) इस हेमसूत्र की वृत्ति के अनुसार त का द्वित्व होने के अनन्तर स्वार्थिक क प्रत्यय जुड़ने पर पण्णत्तिया या पन्नत्तिया शब्द सिद्ध होगा। स्त्र्यर्थक ति शब्द प्राचीन हिन्दी साहित्य में तिय, तीय, तिया और ती के रूप में देखा जा सकता है—

सुर तिय नर तिय नाग तिय, अस चाहति सब कोय।
गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय ।।

ख—पणत्तियाणं (प्रज्ञप्तिदानं प्रज्ञप्तिज्ञानं वा) = प्रज्ञप्ति अर्थात् उपदेश का दान या प्रज्ञप्ति संज्ञक जैनशास्त्र का ज्ञान अथवा मृत्युदान (प्रज्ञप्ति = मृत्यु)

ग—पणत्तियाणं (प्राज्ञप्तिकेभ्यः) = चतुर्थ्याः षष्ठी, ज्ञानिभ्यः अर्थात् ज्ञानियों के लिये या ज्ञान सपन्न श्रमणियों के लिये (प्राज्ञप्तिकाभ्यः)

घ—पण्णत्तियाणं = पनातियो या प्रपौत्रों के लिये।

पुक्कारयं (पुस्कारकम्) = १. पुरुषेन्द्रिय या शिश्न (कारक = इन्द्रिय)
२. औषध विशेष—टीका
३. (फूत्कार) फूंक (फूत्कार + क) यहाँ फूत्कार या फूंक का अभिप्राय जादू-टोने के निमित्त भभूत फूंकने से है।
४. पूत्काररत नामक रत-विशेष
—संस्कृत टीका

विज्जत्तणं = १. वैद्यक शास्त्र
२. पाण्डित्य या विद्या

गाथा में पि (अपि) शब्द दो बार आया है। यहाँ विभिन्न प्रसंगों के अनुसार उस के अर्थ निन्दा, विरोध और अवधारण[1] हैं—

गाथा का वैद्यक पक्षीय अर्थ—दुष्ट गृहपति कुमार ने अपूर्व वैद्यक शास्त्र बताया है जिससे (वह) झाड़-फूंक का भी प्रयोग करता है और उपदेश-दान का भी (अथवा मृत्युदान भी, मार भी डालता है)।

उपदेश दान का तात्पर्य यह भी है कि कानों के समीप फूक मारते समय संकेत स्थल की सूचना भी दे देता है। मृत्युदान से यह सूचित होता है कि प्रणयी वैद्य की एक-एक फूंक पर प्रेमिका के प्राण तड़पने लगते हैं।

अथवा उत्तरार्ध के निम्नलिखित अर्थ करें—

१. पुक्कारय नामक औषध का प्रयोग भी करता है और प्रज्ञप्तिदान (उपदेशदान)

---

१. पाइयसद्दमहण्णव।

भी (अथवा मृत्यु दान का भी) अर्थात् दवा भी देता है और मार भी डालता है।

२ प्रज्ञप्ति-शास्त्रज्ञ मुनियों के लिये भी पुङ्कारय नामक जड़ी का ही प्रयोग करता है (जैनमुनि सचित्त वनस्पतियों के सेवन से विरत रहते हैं)।

शृङ्गार-पक्ष—दुष्ट गृहपति पुत्र ने अपूर्व विद्या बताई है, जिससे वह पचास (या पाँच) स्त्रियों के लिये भी पुरुषेन्द्रिय (लिंग) का प्रयोग करता है।

अथवा द्वितीयार्ध के निम्नलिखित अर्थ करें—

१. प्रपौत्रियों के लिए भी लिंग का प्रयोग करता है।

यह किसी ऐसी वृद्धा की उक्ति है जो गृहपति कुमार की गतिविधियों से असन्तुष्ट है।

२. लिंग का प्रयोग भी करता है (भोग) और उपदेश भी देता है।

गाथा क्रमांक ५१८

विज्जय अन्नं वारं मह जरओ सयरएण पन्नत्तो।
जइ तं नेच्छसि दाउं ता किं छासी वि मा होउ ॥ ५१८ ॥

वैद्यान्य वारं ममज्वरः शतरयेण (शतरतेन) प्रज्ञप्तः।
यदि तन्नेच्छसि दातु तत् किं तक्रमपि (षडशीतिरपि) मा भवतु ॥
—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

चिकित्सार्थ प्रेमी वैद्य के उपस्थित होने पर कामज्वर-पीड़िता नायिका की सव्यंग्योक्ति है। टीकाकार रत्नदेव सूरि के अनुसार श्लिष्ट पदों के अर्थ निम्नलिखित है—

सयरयेण = १. औषधेन
२. शतस्य रतम्

छासी = १. तक्रम्
२. षडशीतिः

पन्नत्त[1] का कुछ भी अर्थ नही दिया है। अंग्रेजी अनुवाद में भी उपर्युक्त अर्थों को स्वीकार किया गया है। प्रो० पटवर्धन रत्नदेव की व्याख्या में 'शतस्यरतम्

---

१. पन्नत्त शब्द के अर्थ के लिये गाथा संख्या ५१२ का अवलोकन कीजिये।

और 'षडशीतिः' में निहित तर्क-शृङ्खला नहीं जोड़ सके हैं। दोनों टीकाकारों ने 'सयरय' को औषध विशेष बताया है परन्तु वह औषध विशेष क्या है—इसका पता नहीं है। अतः मैं उक्त अर्थ की अपेक्षा न करके अन्य व्याख्या दे रहा हूँ—

सयरयेण = १. शयस्य हस्तस्य रयेण रजसा ताम्त्रिक विभूत्या वैद्यक प्रसिद्ध ताम्रादि भस्मना वा (पञ्चशाखः शय. पाणिरित्यमरः) हाथ की धूल, जिसका आशय भभूत या आयुर्वेदीय भस्म से है। यह विदग्ध नायिका की वक्रभणिति है।

२. सौ संभोग। (शृङ्गार-पक्ष)

अथवा सय का अर्थ स्व है (पाइयसद्दमहण्णव)। इस प्रकार 'सयरयेण' का अभिप्राय अपने द्वारा दी हुई भभूत या आयुर्वेदीय भस्म से है। रजत-सुवर्णादि-भस्मों के साथ-साथ झाड-फूंक वाली भभूतों से भी रोगी का उपचार होता है। उपर्युक्त सरणि से उपचार और शृङ्गार—दोनों पक्षों में सम्पूर्ण गाथा के ये अर्थ होंगे—

उपचार-पक्ष—वैद्य ! अन्य बार मेरा ज्वर हाथ की भभूत (या आयुर्वेदीय भस्म या तुम्हारी भभूत या भस्म) से मारा गया था (नष्ट हो गया था) यदि उसे नहीं देना चाहते तो क्या मट्ठा भी नहीं होगा (मिलेगा)।

शृङ्गार-पक्ष—वैद्य, अन्य बार मेरा ज्वर सौ सभोगों से नष्ट हो गया था, यदि उतना नहीं देना चाहते तो क्या छियासी संभोग भी नहीं होंगे ?

भाव यह है कि पहली बार नायिका का कामज्वर नायक (वैद्य) के सौ बार रमण करने से दूर हो गया था, इस बार वह छियासी (चौदह कम) ही चाह रही है।

गाथा क्रमांक ५२०

मोत्तूण बालतंत तह य वसीकरणमंततंतेहिं।
सिद्धत्थेहि महम्मइ तरुणी तरुणेण विज्जेण ॥ ५२० ॥

गाथा में स्थित महम्मइ शब्द को टीका में उद्धृत करके भी रत्नदेव ने कोई अर्थ नहीं दिया है। प्रो० पटवर्धन ने इसकी छाया 'प्रहण्यते' की है। उनके अनुसार हम्महन् का धात्वादेश है और क्रिया के आदि में विद्यमान 'म' प्र उपसर्ग है। परन्तु प्र उपसर्ग के स्थान पर म का प्रयोग अस्वाभाविक और नियम विरुद्ध

है। संभव है, लिपि-कर्ताओं ने 'पहुम्मइ' को महुम्मइ' लिख दिया हो। यहाँ समस्या आदिवर्ती म की है, क्योंकि प्राकृत में हुम्मइ क्रिया ही होती है, महुम्मइ नहीं। गाथा पर अपभ्रंश का प्रभाव मान कर इस समस्या का समाधान अन्य प्रकार से भी हो सकता है। अपभ्रंश में प्रतिषेधार्थक अव्यय मा के स्थान पर प्रायः म हो जाता है। प्रतिलिपिकारों के प्रमाद से 'म हुम्मइ' का 'महुम्मइ' हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। क्रिया का लट लोडर्थक है (व्यत्ययश्च ४।४४७)। अब गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

इस तरुण वैद्य के द्वारा यह तरुणी बालतन्त्र (स्त्रीरोगशास्त्र) को छोड़ कर ऐसे पीतसर्षपों (पीली सरसों) से मत मारी जाय, जो वशीकरण करने वाले मन्त्र-तन्त्रों से युक्त हैं (या वशीकरण करने वाले मन्त्रों-तन्त्रों के साथ पीत सर्षपों से मत मारी जाय)।

क्रिया का लडर्थ (वर्तमानकालिक अर्थ) भी ग्राह्य है। किसी प्रीति-ज्वर-पीड़िता बाला की चिकित्सा बालतन्त्रोक्त उपायों से हो रही थी। न उसका झाड़-फूंक करने वाला तरुण वैद्य-उपचारार्थ बुलाया जाता था और न उसकी व्याधि ही दूर हो रही थी। इस रहस्य को जानने वाली सहेली की उक्ति है—

बालतन्त्रोक्त उपायों को छोड़ कर यह तरुण वैद्य के द्वारा अभिमन्त्रित सर्षपों से नहीं मारी जा रही है (अर्थात् जिस उपाय से व्याधि छोड़ेगी, वह नहीं हो रहा है)।

गाथा क्रमांक ५२१

अन्नं च रुच्चइ च्चिय मज्झ पियासाइ पूरियं हिययं।
नेहसुरयल्लयंगे तुह सुरयं विज्ज पडिहाइ[1] ॥ ५२१ ॥

अन्नं (अन्यत्) न रोचत एव, मम पिपासया (प्रियाशया) पूरितं हृदयम्।
स्नेहसुरतार्द्राङ्गे तव सुरतं वैद्य प्रतिभाति ॥

—रत्नदेव सम्मत संस्कृत छाया

यह भी जार के उपचारार्थ उपस्थित होने पर अनग-ज्वर-पीड़ित कामिनी की उक्ति है। पद्य का उत्तरार्ध रत्नदेव-द्वारा अव्याख्यात है। उन्होंने संस्कृत छाया मात्र दी है। उस छाया में श्लेष की कोई संभावना नहीं सूचित होती है।

१. इस गाथा के उत्तरार्ध का अनुवाद श्री पटवर्धन ने नहीं किया है।

अंग्रेजी अनुवादक भी श्लेष का निर्वाह करने में असमर्थ हैं। उन्होंने उत्तरार्ध की अस्पष्टता की घोषणा करते हुए लिखा है कि 'नेहसुरय' का अर्थ कदाचित् 'स्नेह प्रचुररत' है। प्रणय-पक्ष में अन्न की व्याख्या 'अन्यः' करते हुए उनका अभिमत है कि यहाँ नपुसक लिङ्ग अन्यत् शब्द पुंलिंग अन्य के अर्थ में प्रयुक्त है।[1] इस क्लिष्ट एवं श्लिष्ट गाथा की व्याख्या यह है—

शब्दार्थ (उपचारपक्ष)—अन्न = अन्न (अनाज)

पियासा = पिपासा, प्यास

नेह (न+इह) यहाँ नहीं, यह शब्द संस्कृत से सीधे प्राकृत में ले लिया गया है।

सुरय = सुष्ठु रजांसि यस्मिन् अर्थात् धूलयुक्त या मलिना यह शब्द विरहिणी नायिका के शारीरिक संस्काराभाव-जनित मालिन्य का व्यंजक है।

न पडिहाइ = (न प्रतिभाति) नहीं जान पड़ती अर्थात् उसका पता ही नहीं लगता है।

सुरय = (सु+रजस्) सुन्दर धूल अर्थात् भभूत या आयुर्वेदीय भस्म।

अल्लय (अल्ल+य) यहाँ 'य' स्वार्थिक 'क' का रूप है। अल्लय का अर्थ है, आर्द्र। यह देशी शब्द है।

प्रणय-पक्ष—अन्नं = अन्यत् किमपि वस्तु, अन्य कोई वस्तु।

पियास (प्रियाशा) = प्रिय की आशा (चाह)।

सुरय (सु+रय) = १. अधिक वेग

(सुरत) = २. मैथुन

पडिहाय (प्रतिभाति) = रुचता है, अच्छा लगता है।

नेह (स्नेह) = प्रेम

गाथार्थ—(चिकित्सापक्ष) हे वैद्य, मुझे अन्न नहीं रुचता, मेरा हृदय प्यास से भरा है। इस मलिन (धूल भरे) और प्रस्वेद से आर्द्र शरीर में तुम्हारी भभूत या आयुर्वेदीय भस्म का पता नहीं लगता।

प्रणय-पक्ष—हे वैद्य ! अन्य कोई वस्तु रुचती ही नहीं, मेरा हृदय प्रिय की

---

१. वज्जालग्ग, (अंग्रेजी संस्करण) पृ० ५२१–५२२

चाह (आशा, तृष्णा) से भरा है। प्रणय के प्रवेग से आर्द्र अंग (योनि) में तुम्हारा मैथुन रचता है।

गाथा क्रमांक ५२४

धुत्तीरयस्य कज्जे गहिराणि परोहडाइ वच्चंतो।
धम्मिय सुरंगकाओ कुरयाण वि नवरि चुक्किहिसि।। ५२४ ।।

धत्तूरकस्य (धूर्तारतस्य) कार्ये गभीरान् गृहपश्चाद्भागान् व्रजन्।
धार्मिक सुरङ्गकात् कुरबकेभ्योऽपि (कुरतेभ्योऽपि) केवलं भ्रंशिष्यसि ।।

श्रीपटवर्धन-स्वीकृत संस्कृत छाया

रत्नदेव ने सुरङ्गा, कुरबक और धत्तूर—तीनों को पुष्पवाचक माना है और उत्तरार्ध की व्याख्या में लिखा है—

क—सुरङ्गाकार्ये कुरबकाण्यपि चुक्किहिसि न प्राप्स्यसि।

ख—सुरतकार्ये कुरतान्यपि न प्राप्स्यसि (शृङ्गार-पक्ष)।

टीका का आशय यह है—

अरे धार्मिक, धतूरे के लिये घर के पीछे के भागों में भटकते हुये तुम सुरंगा के लिये कुरबकों से भी वंचित रहोगे (चूक जाओगे)।

शृंगारपक्ष—धूर्ता-रत के लिये भटकते हुए तुम सुरत के लिये कुरतों से भी वंचित रहोगे (सुरंग = सुरत)।

अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

क—तुम सुरंगक और कुरबक से भी वंचित रहोगे।

ख—तुम सुरंगक (सुरत) और कुरत से भी वंचित रहोगे।

प्रथम व्याख्या में दोष यह है कि पूर्वार्ध में जब एक बार धार्मिक की व्रज्या (भ्रमण) का प्रयोजन 'धुत्तीरय' को बताया गया है तब उत्तरार्ध में पुनः सुरगा (जब कि मूल में सुरंगक शब्द है) को प्रयोजन के रूप में उपन्यस्त कर, उसके लिए कुरबक से वंचित रह जाने की चर्चा करना कोई अर्थ नहीं रखता है। साथ ही षष्ठ्यन्त 'धुत्तीरय' से सप्तम्यन्त 'कज्जे' का अन्वय करना तो स्वाभाविक है परन्तु सुरंगकाओं से उसको सम्बद्ध करना व्याकरण की स्पष्ट अवहेलना है।

द्वितीय व्याख्या में दोनो पदों की भिन्न विभक्तियाँ बाधक हैं। इसीलिए अंग्रेजी टिप्पणी में लिखा है—

We should expect सुरंगकाओ कुरयाउ वि. (पृ० ५२३) परन्तु संशोधन अनावश्यक है। 'कुरयाण' और 'सुरंगकाओ' में समानाधिकरण्य न होने से कोई क्षति नहीं है। अर्थ इस प्रकार करे—

सुरंगकाओ (सुरङ्गकात्) = १. सुन्दर वर्ण से (रङ्ग = वर्ण, रंग)
२. सुन्दर आनन्द से (रङ्ग = आनन्द)

गाथा में कुरयाण को षष्ठी पंचमी का अर्थ दे रही है। कुरत शब्द सुरत का विपरीत अर्थ प्रकट करता है। सुरत की सार्थकता तल्पादि की सुलभता में ही है। कुरत (कु = पृथ्वी, रत = रमण) तो नंगी एवं कठोर भूमि पर व्यभिचारियों के द्वारा किसी बीहड़ स्थान पर छिप कर किया जाता है। अब पूरी गाथा का अर्थ इस प्रकार हो जायेगा—

अरे पुजारी, (धार्मिक) धतूरे के लिये घर के पीछे गंभीर (गहरे) भागों में भटकते हुये तुम केवल कुरबकों के सुन्दर वर्ण से भी वंचित रह जाओगे (अर्थात् सुन्दर रंग वाले कुरबक-पुष्प भी तुम्हें नहीं मिल पायेंगे। केवल यही लाभ इस भ्रमण से मिलेगा। यह व्यंग्य है)।

शृङ्गारपक्ष—अरे पुजारी, धूर्तरत (धूर्ता या विदग्ध स्त्री के साथ रमण) के लिये घर के पीछे के गहरे भागों मे भटकते हुये तुम कुरतों (पृथ्वी पर की जाने वाली कुत्सित रति) के आनन्द से भी वंचित रह जाओगे।

गाथा क्रमांक ५३८

चंदणवलियं दिढकंचिबंधणं दोहरं सुपरिमाणं।
होइ घरे साहीणं मुसलं धन्नाण महिलाणं॥ ५३८॥

अंग्रेजी टिप्पणी मे लिखा है—

'चंदणवलियं' The sense of this expression is obscure (पृ० ५२८) अंग्रेजी अनुवाद में (पृ० ३४९) 'चंदणवलिय' और 'दिढकंचिबंधणं' का कुछ भी अर्थ नहीं दिया गया है। व्याख्यात्मक टिप्पणी में यह उल्लेख है-—

"क्या चन्दन का अर्थ लोहा या अन्य कोई धातु है?"

उक्त पदों के अर्थ इस प्रकार है—

चंदणवलियं = १. चंदणेण चंदणकट्ठेण वलियं रइय अर्थात् चन्दन की लकड़ी से निर्मित (रचित) (वल = उत्पन्न होना, देखिये पाइयसद्-

महण्णव) अहवा चंदणणामधिज्जेण रयणेणा वलियं जडियं अर्थात् चन्दन नामक रत्न से जड़ा हुआ।

२. चंदणेण चच्चिय अर्थात् चन्दन से चर्चित। यह अर्थ शृङ्गार-पक्ष में ग्राह्य है। बिलासी तरुण अपने अंगों में चन्दन लगा लेते हैं।

दिढकंचिबंधणं = १. जिसका कांची-बन्धन सुदृढ है। मुसल के सिरे पर लगाया जाने वाला वलयाकार लोहा कांची कहलाता है। हिन्दी में इसे सेम कहते हैं।

२. जिसका गोलाकार अग्रभाग सुदृढ़ है (लिंग के अग्र भाग में गोलाई होती है)।

गाथार्थ—वे महिलायें धन्य है, जिनके घर में चन्दन की लकड़ी से बना हुआ, सुदृढ सेम से युक्त, दीर्घ एवं सुन्दर परिमाण (नाप) वाला मुसल स्वाधीन (वश में) रहता है।

शृङ्गारपक्ष—वे महिलायें धन्य हैं, जिनके घर में चन्दन-चर्चित (अर्थात् सुवासित), सुदृढ वलयाकार अग्रभाग वाला, दीर्घ और सुन्दर परिमाण वाला लिंग स्वाधीन (अपने वश में) रहता है।

इस अर्थ मे मूसल लिंग का प्रतीक है, वाचक नही।

गाथा क्रमांक ५३९

थोरगरुयाइ सुंदरकंचीजुत्ताइ हुंति नियगेहे।
धन्नाण महिलियाण उक्खलसरिसाइ मुसलाइं ॥ ५३९ ॥

रत्नदेव ने 'थोरगरुयाइ' का अर्थ 'स्थूल दीर्घाणि' लिखा है, फिर भी प्रो० पटवर्धन ने पुनरुक्ति दोष (Tautology) का उल्लेख किया है (पृ० ५२९) परन्तु विवक्षा और प्रकरण के अनुसार यहाँ उक्त पद के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं—

थोरगरुय = १. स्थूल (मोटा) और लम्बा (गुरु)

२. थोड़े वजन का अर्थात् हल्का। यहाँ गुरु का अर्थ वजन है। भारी वजन वाला मुसल कष्टप्रद होता है। थोर शब्द अवधी में स्वल्प के अर्थ में खूब प्रचलित है। अपभ्रंश काव्यों में इसी अर्थ में 'थोड' का प्रयोग हुआ है—

कहो वि गईदु तुरंगम कासु वि। थोडउ कहो वि विणार सहासु वि ॥
—पउमचरिउ, जुज्झकंड, ६२।१४।६

पिय हउँ थक्की सयलु दिणु, तुहु बिरहग्गि किलंत।
थोडइ जल जिमि मच्छलिय, तल्लोविल्लि करंति ॥
—कुमारपाल प्रतिबोध

माया मिल्लही थोडिय वि, दूसइ चरिउ विसुद्धु।
कंजिय बिंदुइं वि तुहइ, सुद्धु वि गुलियउ दुद्धु ॥
—सावयधम्म दोहा

मूर्धन्य वर्ण ड के स्थान पर उसके सजातीय र का हो जाना अस्वाभाविक नही है। 'थोर-गरुय' के उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रथम उस स्थिति में ग्राह्य है जब नायिका स्वस्थ एवं बलवती हो। द्वितीय अर्थ कृशकाय महिला के प्रसंग में स्वीकार्य होगा।

गाथार्थ—धन्यमहिलाओं के अपने घर में मोटे और लम्बे (या थोडे वजन वाले) सुन्दर लोह वलय (सैम) से युक्त और उदूखल (ओखली) के अनुरूप मुसल रहते हैं।

शृङ्गारपक्ष—धन्यमहिलाओं के घर में मोटे और लम्बे (या थोडे लम्बे अर्थात् छोटे) सुन्दर वलयाकार अग्रभाग वाले और योनि के अनुरूप लिंग सुलभ रहते हैं।

इस अर्थ में उदूखल और मुसल क्रमशः योनि और लिंग के प्रतीक हैं।

गाथा क्रमांक ५४८

रज्जंति नेय कस्स वि रत्ता पसयच्छि न हु विरज्जंति।
दिणयरकर व्व छेया अदिट्ठदोसा वि रज्जंति ॥ ५४८ ॥

रज्यन्ते नैव कस्मिन्नपि रक्ताः प्रसृताक्षि न खलु विरज्यन्ते
दिनकरकरा इव च्छेका अदृष्टदोषा अपि रज्यन्ते।
—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

श्री पटवर्धन ने यह अर्थ लिखा है—

"चतुर मनुष्य किसी व्यक्ति से प्रेम नहीं करते हैं। यदि वे प्रेम करते हैं तो कभी विरक्त नही होते हैं। मृगलोचने! वे बिना 'दूसरों' का दोष देखे ही प्रेम

करने लगते हैं। इसलिये वे उन सूर्य-किरणों के समान हैं जो रात को न देखकर लाल हो जाती हैं (सायं और प्रातः किरणें प्राय. लाल हो जाती हैं)" उपर्युक्त विशेषतायें चतुर नही बल्कि भोले एवं निष्कपट मनुष्य में पाई जाती है। यह अर्थ 'बालासंवरणवज्जा' में संकलित अन्य गाथाओ में वर्णित छेकों के कुटिल स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है। प्रस्तुत गाथा के पूर्व और समनन्तर संगृहीत पद्यों में छेकों को 'दुराराहा' (दुराराध्य), दुक्खाराहा (दु खाराध्य) कह कर उनकी कुटिलता का इन शब्दों में वर्णन है—

रज्जावति न रज्जहि हरंति हियय न देंति नियहिययं।
छेया भुयंगसरिसा डसिऊण परंमुहा होंति॥

अर्थात् छेक प्रेम कराते हैं, करते नही, हृदय हरते हैं, अपना हृदय देते नही। वे भुजंग के समान डँस कर पराङ्मुख हो जाते हैं। अतः उक्त अंग्रेजी अनुवाद असंगत है। छेक प्रकृति एवं प्रकरण के अनुकूल अर्थ के निमित्त कतिपय श्लिष्ट पदों की व्याख्या मे किंचित् परिवर्तन करना पड़ेगा—विरज्जंति (वि + रज्जंति = वि + रज्यन्ते) = विशेष अनुरक्त होते हैं।

अदिट्ठदोसा (अदृष्टदोषाः) = न दृष्टा नावलोकिता दोषा रात्रिर्यैः अर्थात् जिन्होने रात्रि को नही देखा है। अन्यपक्ष मे इस शब्द की व्याख्या यों हो जायगी—

न दृष्टाः दोषाः दुर्गुणाः यैः अर्थात् जिन्होंने दुर्गुणों को नही देखा है।

विरज्जंति = वि (अपि) = भी, रज्जंति = अनुरक्त या लाल हो जाती है। यहाँ संस्कृत छाया में 'अपि रज्यन्ते' करना होगा। छेक-पक्ष में विरज्जंति का अर्थ है—विरक्त हो जाते है। अत. अर्थ करते समय 'वि रज्जंति' को विरज्जंति पढ़ना होगा।

गाथार्थ—मृगलोचने ! छेकजन किसी पर अनुरक्त नही होते, अनुरक्त होने पर भी विशेष अनुरक्त नही होते। जैसे रात्रि को न देखने वाली भी रवि किरणें (रविकर पुलिंग) रक्त (वर्ण) हो जाती है, वैसे ही छेकजन कोई दोष देखे बिना विरक्त हो जाते हैं।

'अदिट्ठदोसा विरज्जंति' में रविकर और दोषा के लिंगो के आधार पर नायक-नायिका-व्यवहार समारोपात्मक समासोक्ति है। छेक-पक्ष में दोष दर्शनरूप कारणाभाव में भी विरक्ति-रूप-कार्योत्पत्ति के कारण विभावना है।

गाथा क्रमांक ५५०

रज्जावंति न रज्जहि देंति असोक्खं न दुक्खिया होंति ।
असुयविणय त्ति एण्हि दुक्खाराहा जए छेया ॥ ५५० ॥

श्री पटवर्धन ने 'असुयविणय' का ठीक अर्थ देकर भी उस पर अविश्वास प्रकट किया है। उनके अर्थ का समर्थन मेदिनी कोश का यह वाक्य करता है—

विनया तु बलाया स्त्री शिक्षाया प्रणतौ पुमान् ।

संस्कृतटीका में तृतीय चरण का 'अमुणेमि जाण इण्हि' यह पाठ उद्धृत है। अंग्रेजी टिप्पणी में इस पाठ का अर्थ अस्पष्ट बताया गया है। यदि निम्नलिखित ढंग से सोचें तो इसका कुछ अर्थ निकल सकता है—

'अमुणेमि' को 'अमुणे मि' पढ़िये। 'अमुणे' का अर्थ है—हे मूर्खे:। 'मि' अवि या वि (संस्कृत अपि) का अपभ्रंश रूप है (देखिये पाइयसद्दमहण्णव)। अवि या वि का प्रयोग पादपूर्ति के लिये होता है। पउमचरिय के निम्नलिखित पद्य में 'वि' का कोई अर्थ नहीं है, वह केवल पादपूर्ति के लिये ही आया है—

जइ पढम जिणरहो वि हु, भमिहि नयरे सुसंघपरिकिण्णो ।
ता होही आहारो नियमा पुण अणसणं मज्झ ॥ —८।१४९

अब उत्तरार्ध का यह अर्थ कर सकते हैं—

'अरी मूर्खे! इस समय जगत् में छेकजन दुराराध्य है'—(यह) जान लो।

गाथा क्रमांक ५५५

अन्नासत्ते वि पिए अहिययरं आयरं कुणिज्जासु ।
उद्धच्छि वेयणाइ वि नमंति चरियाइ वि गुणेहिं ॥ ५५५ ॥

इसकी संस्कृत छाया यह दी गई है—

अन्यासक्तेऽपि प्रियेऽधिकतरमादरं कुर्वीथाः ।
ऊर्ध्वाक्षि वेदना अपि नमन्ति चरिता अपि गुणैः ॥

परन्तु तृतीयान्त 'वेयणाइ' को वेदना और 'चरियाइ' को चरिता कैसे समझ लिया गया? श्रीपटवर्धन के अनुसार यहाँ लिंग व्यत्यय है और उत्तरार्ध का भाव बिल्कुल स्पष्ट नहीं है (पृ० ५३४)। संस्कृत टीका में उक्त शब्दों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। 'चरियाइ वि गुणेहिं' का पिण्डितार्थ 'चरित्रगुणैः' अवश्य लिखा है। उपर्युक्त गाथा के द्वितीयार्ध की संस्कृत छाया यों होगी—

ऊर्ध्वाक्षि वेदनया अपि नमन्ति चर्याया अपि गुणैः ।

शब्दार्थ—वेदना = ज्ञान (वेदना ज्ञानदुःखयोः—मेदिनी)

चर्या = चरित्र

पूर्ववर्ती टीकाकारों ने वेदना का अर्थ दुःख किया है ।

अर्थ—विशाल लोचने ! अन्य रमणी में आसक्त होने पर भी प्रिय का अधिकतर आदर करना, क्योंकि लोग ज्ञान से भी झुक जाते हैं (विनम्र हो जाते हैं) और चरित्र के गुणों से भी ।

गाथा में किसी को विनम्र बनाने के दो हेतु बताये गये है—ज्ञान और चरित्र । नायिका को चरित्र-गुण (आदर) युक्त होने का सुझाव दिया गया है ।

गाथा क्रमांक ५६१

वण्णड्ढा मुहरसिया नेहविहूणा वि लग्गए कंठं ।
पच्छा करइ वियारं वल्लहट्ठुयसारिसा वेसा ॥ ५६१ ॥

रत्नदेव ने द्वितीय चरण की छाया यों की है—

स्नेह विहीनापि लगति कण्ठम् ।

इसकी संस्कृत टीका यह है = "स्नेह विहीनापि तैलादिरहिता कण्ठे तालुनि लगति, अतिरुक्षत्वात्तस्याः ।" गाथा में वेश्या की तुलना चने की रोटी से की गई है । टीकाकार ने अर्थ तो लगभग ठीक ही दिया है परन्तु संस्कृत छाया दोष-पूर्ण है । 'नेह विहूणा विलग्गए कंठं' में 'वि' विरोध सूचक अव्यय है जो वेश्या पक्ष में सार्थक है, क्योंकि वह प्रेमरहित होने पर भी गले से लिपट जाती है । चने की रोटी की स्थिति भिन्न है । 'स्नेह विहीन (तैलादिरहित) होने पर भी कठ में लग जाती है'—इस वाक्य में 'भी' के द्वारा विहीन स्नेह-हीनता और कण्ठलग्नता का विरोध सूचित हो रहा है । उससे यह अर्थ निकलता है कि यद्यपि स्नेहहीन होने पर चने की रोटी को गले में नही लगना चाहिये (या अटकना चाहिये), फिर भी वह लगती है । यह वर्णन अनुभव विरुद्ध है । तथ्य यह है कि घी या तेल लगा देने पर चने की रोटी सरलता से गले के नीचे उतर जाती है, अटकती नही है । ऊपर उद्धृत टीका-वाक्य से स्पष्ट प्रकट होता है कि उसमें चने की रोटी के अर्थ करते समय 'वि' को बिल्कुल छोड़ ही दिया गया है । चने की रोटी के पक्ष में अर्थ करते समय 'वि लग्गए' को 'विलग्गए' पढ़ना होगा—

विलग्गए = विलगति अर्थात् विशेष रूप से लग जाती है
(या अटक जाती है)

इस अर्थ में 'वि' अपि का प्राकृत रूप नही है। यह वि उपसर्ग है।

गाथा क्रमांक ५६२

सहइ सलोहा घणघायताडणं तह य बाणसंबंधं।
कुठिव्व पउरकुडिला वेस्सा मुट्ठीइ संवहइ ॥ ५६२ ॥

सहते सलोभा (सलोहा) घनघाततानं तथा च बाणसम्बन्धम्।
संदंशिकेव प्रचुरकुटिला वेश्या मुष्ट्या संवहति ॥
—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

यहाँ बाण संरचना के समय कठोर घनाघात सहन करने वाली सँड़सी और वेश्या की तुल्यता का श्लिष्ट शब्दों मे प्रतिपादन है। संस्कृत-टीका में 'सलोहा' की उभयपक्षीय व्याख्या कर शेष पदों को छाया मात्र दे दी गई है। श्रीपटवर्धन ने श्लिष्ट-पदो के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं—

सलोहा = १—सलोभा (वेश्या-पक्ष)
२—सलोहा (संदंशिका-पक्ष)

घणघायताडणं = १—घनों के आघातों की पीड़ा (संदंशिका-पक्ष)
२—सभोगजन्य सुदृढ़ निष्पीडन (वेश्या-पक्ष)

बाणसंबंधं = १—बाण का सम्बन्ध (संदंशिका-पक्ष)
२—लिंग का सम्बन्ध (वेश्या-पक्ष)

पउरकुडिला = १—प्रचुरकुटिला (संदंशिका-पक्ष)
२—व्यवहार में कुटिल (वेश्या-पक्ष)

संवहइ = १—वेश्या केवल घूसा मारती है या घूसे से जोती जाती है। (वेश्या-पक्ष)
२—.................................।

यहाँ मुष्टि का अर्थ न तो घूसा है और न संवहइ का अर्थ विजित होना ही है। लिंग बाण का अभिधेय नही, आहार्य अर्थ है। अंग्रेजी अनुवादक ने कदाचित् आकार सादृश्य के बल पर ही उसका यह अर्थ किया है परन्तु श्लेष-मुख प्रेक्षितया बाण और बाण (वान) की अभेद कल्पना अधिक सुकर एवं समीचीन है।

'पउर कुडिला' का अर्थ अपूर्ण है। अब उपर्युक्त पदों की यथार्थ व्याख्या नीचे दी जा रही है—

बाणससंबंधं = १—बाण (शर) का सम्बन्ध बाणे बाणेषु वा सम्बन्धो यस्य, यह ताडन का विशेषण है जो बाणो से सम्बद्ध है (संदंशिका-पक्ष)

२—वान (शुष्क या नीरस) का संसर्ग (वेश्या-पक्ष)

पउरकुडिला = १—प्रचुर कुटिल (संदंशिका-पक्ष)

२—पौर-कुटिल अर्थात् पौरजनों के प्रति कुटिल व्यवहार करने वाली (वेश्या-पक्ष)

मुट्ठीइ (मुष्ट्या. मुष्टेः वा) = मुट्ठी से

सं (स्वम्) = धन

वहइ = ले लेती है (वेश्या-पक्ष)

मुट्ठइ संवहइ (मुष्ट्यां संवहति) = मुट्ठी में वहन करती है या मुट्ठी मे रखती है (अर्थात् अपनी पकड़ में रखती है) (संदंशिका-पक्ष)

गाथा का अर्थ यह है—

जैसे लोह-युक्त प्रचुर-कुटिला संदंशिका (सँड़सी) बाणो से सम्बन्धित, कठोर घनों का आघात सहती है और उस बाण को अपनी पकड़ (मुट्ठी) मे रखती है, वैसे ही लोभयुक्त एवं पौरजनों से कुटिल व्यवहार करने वाली वेश्या संभोगजन्य सुदृढ अंग-निष्पीडन एवं नीरस (शुष्क) जनों के संसर्ग का सहन करती है और (वेश्यागामियों की) मुट्ठी से धन ले लेती है।

गाथा क्रमांक ५६३

जाओ पियं पियं पइ एक्कं विज्झाइ तं चिय पलित्तं।
होइ अवरट्ठिओ च्चिय वेसासत्थो तिणग्गि व्व ॥ ५६३ ॥

इसमें तृणाग्नि और वेश्यासार्थ के साम्य का वर्णन है। टीकाकारों ने मूल प्राकृत की संस्कृत छाया इस प्रकार दी है—

१. हैम प्राकृत व्याकरण, ३।२९

यातः प्रियं प्रियं प्रति एकं निर्वापयति तमेव प्रदीप्तम् ।
भवत्यपरस्थित एव वेश्यासार्थस्तृणाग्निरिव ॥

इस असमर्थ छाया से वेश्यासार्थ और तृणाग्नि—दोनों पक्षों से सम्बद्ध अर्थ एवं श्लेषजन्य चमत्कारातिशय का सम्यक् स्फुरण संभव नहीं है। प्रो० पटवर्धन को इसकी व्याख्या में पर्याप्त आकर्ष और विकर्ष करना पड़ा है। उन्होंने श्लिष्ट पदों के ये अर्थ दिये हैं—

तं पलित्तं चिय विज्झाइ = १—फूस की आग जैसे ही लगती है वैसे ही एक के बाद दूसरे तृण को बुझा देती है। (अग्निपक्ष)

२—जैसे ही उनमें प्रणय या आसक्ति की आग लगती है वैसे ही एक के बाद दूसरे वेश्या-प्रेमी को नष्ट कर डालती है। (वेश्या-पक्ष)

'विज्झा' क्रिया का वेश्या-पक्ष में कोई संगत अर्थ न बैठने के कारण उन्होंने लिखा है—

The root विज्झा is used here in the metaphorical sense 'to destroy or to ruin' अर्थात् यहाँ विज्झा का आरोपित या ध्वनित अर्थ है, नष्ट कर देना। रत्नदेव ने 'तं चिय पलित्तं' को 'तं चिय अपलित्तं' समझ कर व्याख्या की है। परन्तु ये क्लिष्ट कल्पनाये प्रकृत-पदों में स्थित निगूढ श्लेष को न समझने के कारण की गई हैं। चर्चित गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

यातः प्रियं प्रियं (यातोऽप्रियं प्रियम्[1]) प्रति एकं विध्यापयति (विध्यायाति) तदेव (तमेव) प्रदीप्तम् (प्रलिप्तम्)।

भवत्य परस्थित एव (भवत्यवरस्थित एव) वेश्यासार्थस्तृणाग्निरिव ॥

तृणाग्नि-पक्ष में 'विज्झाइ' की छाया विध्यापयति पाइयसद्दमहण्णव

---

१. प्राकृत व्याकरण में सर्वत्र बहुलाधिकार से यह प्रयोग सिद्ध है। यद्यपि ए और ओ के पश्चात् अ के आने पर प्रायः सन्धि नहीं होती है तथापि संस्कृत से सीधे श्लेषार्थ शब्द निष्पन्न करने में कोई बाधा नहीं है।

के आधार पर दी गई है। वस्तुतः आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वि उपसर्ग पूर्वक इन्ध् धातु के संयुक्त वर्ण 'न्ध' के स्थान पर झ होता है—

इन्धौ झः—हैम सूत्र, २।८

पुनः द्वित्व (अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम्—२।८९) एवं पूर्वावस्थित झकार के स्थान पर जकार हो जाने (द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः—२।९०) के अनन्तर 'ह्रस्वः संयोगे'—इस सूत्र से ह्रस्वादेश करने पर विज्झ तथा 'स्वराणां स्वराः' (४।२३८)—इस सूत्र से दीर्घत्वविधान करने पर विज्झा क्रिया निष्पन्न होगी, जिसका अर्थ है बुझाना। अतः 'विज्झाइ' की (तृणाग्निपक्ष में) हेमचन्द्रसम्मत छाया 'वीन्धे' है। अनेक विद्वान् 'विज्झाइ' की छाया विध्माति' करते हैं, जिसे केवल रूपान्तर कहा जा सकता है। 'तं चिय' की, श्री पटवर्धन कृत छाया 'तमेव' स्वीकार करने पर नपुंसक तृण के साथ उसका अन्वय कठिन हो जायगा।

शब्दार्थ—विध्यापयति (वीन्धे) = बुझा देती है (तृणाग्नि-पक्ष)
विध्यायति = वि + ध्यायति, चिन्तन नहीं करती है, अर्थात् उपेक्षा करती है। यहं वि उपसर्ग अभाव-द्योतक है। (वेश्या-पक्ष)

एकम् = १-केवलम्
२-श्रेष्ठ—एकोऽन्य· केवलः श्रेष्ठ. संख्या कलकोऽद्वयिष्ठयोः —अनेकार्थ संग्रह

पलित्त = १-प्रदीप्त
२-प्रलिप्त, पूर्णतया लिप्त या आसक्त (वेश्या-पक्ष)

अवरट्ठिय = १-अपरस्थित, अन्य में स्थित, (तृणाग्नि-पक्ष)
२-अवरस्थित, अधम जन में स्थित अर्थात् नीच जनों में आसक्त (वेश्या-पक्ष)

जाओ पियं पियं पइ = इष्ट-इष्ट के प्रति गया हुआ (तृणाग्नि-पक्ष)। वेश्या-पक्ष में इसकी संस्कृत छाया 'जातोऽप्रिय प्रियं प्रति' होगी। इसका अर्थ है—अप्रिय प्रेमी के प्रति गया हुआ प्रिय और अप्रिय-दोनों के प्रति गया हुआ।

भावार्थ—जैसे तृण की आग इष्ट-इष्ट (प्रिय) तृण के निकट जाती है एवं उस प्रज्ज्वलित मात्र तृण को तुरन्त बुझा देती है (जलते ही बुझा देती है)

और अन्य तृण में स्थित हो जाती है (लग जाती है) वैसे ही वेश्या-समूह अवांछित प्रेमी के निकट जाता है एवं उसी पूर्णतया आसक्त श्रेष्ठ पुरुष की उपेक्षा (अचिन्तन) करता है तथा अधम नरों में स्थित हो जाता है (अधम मनुष्यों से सम्बन्ध जोड़ लेता है) ।

गाथा क्रमांक ५६४

निम्मलपवित्तहारा बहुलोहा पुलइएण अंगेण ।
खग्गलइय व्व वेसा कोसेण विना न संवहइ ॥ ५६४ ॥

निर्मलपवित्रहारा (धारा) बहुलोभा (लोहा) पुलकितेनाङ्गेन
खड्गलतिकेव वेश्या कोशेन विना न सवहइ

प्रस्तुत गाथा में निविष्ट 'संवहइ' का अर्थ रत्नदेव ने 'वशीभवति' लिखा है। संस्कृत टीका पर अवलम्बित अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

जिसके हार निर्मल और पवित्र हैं, जो प्रचुर लोभयुक्त है, जिसके अंग पुलकों से परिपूर्ण हैं, जो कोश (धन) के बिना वश में नहीं होती, वह वेश्या उस खड्गलतिका के समान है, जिसकी धारा निर्मल एवं पवित्र है, जो प्रचुर लोह-युक्त है, जो पुलकों से परिपूर्ण सी दिखाई देती है (प्रतिफलित किरणों के प्रकाशातिरेक के कारण) और जो कोश (म्यान) के बिना वश में नहीं होती है (या नियंत्रित नहीं होती है) ।

उपर्युक्त अनुवाद में 'संवहइ' क्रिया के साथ बलपूर्वक अत्याचार किया गया है। 'पुलइएण अंगेण' का खड्गपक्षीय अर्थ, जिसमें तृतीया विभक्ति की उपेक्षा कर दी गई है, नितान्त असंगत है।

शब्दार्थ—संवहइ = १. सज्जित होती है या तैयार होती है (पाइयसद्दमहण्णव) ।
२. वहन करती है या धारण करती है।

पुलइएण अंगेण = १. पुलकितेनाङ्गेन, पुलकित अंगों से (वेश्यापक्ष)
२. पुलअ (दृश्) + क्त (अ) = पुलइअ = दृष्ट, अवलोकित, देखे गये या अनावृत अंग से (खड्गपक्ष)

प्राकृत में दृश् धातु को वैकल्पिक पुलअ आदेश हो जाता है (हैम सूत्र, ४।१८१) इस दृष्टि से अर्थ यों होगा—

जैसे निर्मल एवं निष्कलंक धारा वाली, प्रचुर लौहयुक्त खड्गलतिका (तलवार) म्यान के बिना; दिखाई पड़ने वाले (नंगे या अनावृत) अंग से (युद्ध में जाने के लिये) सज्जित नहीं होती है (अर्थात् म्यान के साथ ही जाती है) वैसे ही निर्मल एवं पवित्र हारों वाली, प्रचुर-लोभ-युक्त वेश्या, धन-राशि (कोश) के बिना पुलकित अंगों से (रमण के लिये) सज्जित (तैयार) नहीं होती है (अथवा द्रव्यराशि के बिना किसी को वहन (धारण) नहीं करती अर्थात् अंगीकार नहीं करती है) ।

गाथा क्रमांक ५६६

न गणेइ रूववंतं न कुलीणं नेय रूवसंपन्नं ।
वेस्सा वाणरि-सरिसा जत्थ फलं तत्थ संकमइ ॥ ५६६ ॥

इसके पूर्वार्ध की छाया यों दी गई है—

न गणयति रूपवन्तं न कुलीनं नैव रूपसम्पन्नम् ।

यहाँ समानार्थक 'रूपवन्तम्' और 'रूपसम्पन्नम्' की उपस्थिति के कारण पुनरुक्ति दोष आ जाता है । शुद्ध छाया का स्वरूप यह होगा—

न गणयति रूपवन्त न कुलीनं नैवारूपसम्पन्नम् ।

'नेय अरूवसपन्नं' में सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्[1] —इस वररुचि सूत्र से पूर्वस्वर-लोप के अनन्तर 'नेयरूवसंपन्न' पद निष्पन्न होता है । प्रो० पटवर्धन ने पुनरुक्ति के मार्जन के लिये यह संभावना व्यक्त की है कि 'न गणेइ अरूववंतं' पूर्व सवर्ण सन्धि के परिणामस्वरूप इकारोत्तरवर्ती अकार के लुप्त हो जाने पर 'न गणेइ रूववंतं' हो गया होगा । परन्तु प्राकृत में ऐसे प्रयोग दुर्लभ हैं । पालि में अवश्य ऐसे प्रयोग मिलते हैं ।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि इकार और उकार के पश्चात् यदि क्रमशः इकार और उकार नहीं आता, कोई अन्य स्वर आता है तो सन्धि नहीं होती है—

न युवर्णस्यास्वे—१।६

गाथार्थ—वेश्या वानरी के समान जहाँ फल (लाभ) होता है वहाँ जाती

---

१. प्राकृत प्रकाश, ४।१

२. परो क्वचि

—मोग्गल्लान व्याकरण, १।२६

है। वह न रूपवान् को मिलती है, न कुलीन को और न कुरूप (अरूप सम्पन्न) को।

गाथा क्रमांक ५७०

संपत्तियाइ कालं गमेसु सुलहाइ अप्पमुल्लाए।
देउलवाडयपत्त तुट्टणसीलं अइमहग्घं ॥ ५७० ॥

प्रो० पटवर्धन सम्मत छाया—

बालया काल गमय सुलभयाल्पमूल्यया।
देवकुलवाटकपत्रं त्रुटनशीलमतिमहार्घम् ॥

रत्नदेव ने 'संपत्तिया' का अनुवाद 'संपत्रिका' देकर अन्य शब्दों के साथ उसका भी भाव स्पष्ट नहीं किया है। टीका के 'हे पुत्रि संपत्रिकया त्वं कालं गमय' इस उल्लेख से सूचित होता है कि गाथा में किसी बाला के प्रति उसके हितेच्छु का उपदेश है। परन्तु वेश्या प्रकरण मे इस उपदेश की स्वरूपत. कोई विशेष सार्थकता नही प्रतीत होती है। ऐसी व्याख्या करना अँधेरे में तीर फेंकना है। प्रो० पटवर्धन ने देशीनाममाला के अनुसार 'संपत्तिया' को देशी शब्द घोषित किया है और उसका अर्थ बाला या पिप्पलीपत्र दिया है। अंग्रेजी टिप्पणी में पता नही कि 'देउलवाडयपत्तं' का अर्थ कदाचित् बिल्वपत्र है। श्री पटवर्धनकृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

'अपना समय पीपल के पत्तो (या बाला पत्नी) से बिता दो क्योंकि यह सुलभ एव अल्पमूल्य है। देवमन्दिरोद्यान के वृक्ष का पत्ता टूटने वाला और अति महार्घ होता है'।[1]

यदि गाथा मे निविष्ट दुल्लहं, अप्पमुल्लाए, तुट्टणसीलं और अइमहग्घं विशेषणों पर किंचित् सूक्ष्मता से ध्यान दें तो उपर्युक्त अनुवाद की विसंगतियाँ स्वत. उभर आयेंगी। पिप्पलपत्र की सुलभता में जितना औचित्य है उतना उसकी अल्पमूल्यता में नहीं, क्योंकि इस देश में वह बिना मूल्य भी प्राप्त हो जाता है। जिस 'तुट्टणसीलता' (भगुरता) 'देउलवाडयपत्त' और संपत्तिया मे में धर्म-पार्थक्य प्रतिपादित करना कवि को अभीष्ट है, वह क्या पिप्पलपत्र में नहीं है? देवमन्दिर से सम्बन्ध होने के कारण किसी वाटिका के वृक्ष-पत्रों में अति-

१. वज्जालग्ग (अंग्रेजी सस्करण), पृ० ३५४ पर मूल अंग्रेजी

महार्घता का गुण नहीं आ जाता, अति पवित्रता अवश्य संभव है। यदि कदाचित् कारण विशेष से महार्घता भी आ जाये तो भी अति-महार्घता असंभव है। अतः पत्र-महार्घता का हेतु देवमन्दिरोद्यान-सम्बन्ध अपार्थक है। यदि गाथा में 'पत्त' का अर्थ पत्र (पत्ता) होता तो कवि उसे 'फटने वाला' लिखता 'टूटने वाला' नहीं। यहाँ न तो 'पत्त' का अर्थ पत्र है और न 'संपत्तिया' का अर्थ पिप्पल-पत्र। देशीनाममाला के साक्ष्य पर यदि 'संपत्तिया' का अर्थ बाला सुलभ भले ही हो, प्रायः बाजारों में बिकती नहीं, यदि कभी बिकती भी है तो अल्प मूल्य नहीं होती। अतएव उपर्युक्त व्याख्यायें भ्रामक एवं व्यर्थ हैं। वस्तुतः 'संपत्तिया' एक पद ही नहीं है। भ्रमवश दो भिन्न शब्दों को एक समझ लिया गया है—

१. सं = स्वम् २. पत्तिया = पत्तिया = पात्री, पात्री का प्राकृतरूप 'पत्ती' होगा। स्वार्थिक क (य) जोड़ने पर 'पत्तिया' हो जायगा। स्वम् का अर्थ है—अपना और पात्री का अर्थ है—थाली। गाथा के पूर्वार्ध का अन्वय निम्नलिखित होगा—

सुलहाइ अप्पमुल्लाए पत्तियाइ सं कालं गमेसु।
(सुलभयाल्पमूल्यया पात्र्या स्वं कालं गमय)

'देउलवाडयपत्तं' का अर्थ राजभवन का पात्र (बर्तन) है। वाडय शब्द यहाँ वाटिका नहीं, भवन के अर्थ में प्रयुक्त है। वज्जालग्ग की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभूत प्रभाव है। बहुत सी गाथाओं में अपभ्रंश की विभक्तियों का निःसंकोच प्रयोग किया गया है। अतः हम विवेच्य गाथा को उसी प्रभाव-परिधि में रखते हैं। अपभ्रंश में प्रायः एक स्वर के स्थान पर दूसरा स्वर हो जाता है (स्वराणा स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे)। इस रीति से भवन वाचक संस्कृत वाटी शब्द प्राकृत में 'वाडी' और अपभ्रंश में वाड हो गया। पुन. स्वार्थिक क प्रत्यय (य) संयुक्त होने पर वही वाडय बन गया है। प्राकृतत्वात् लिंग व्यत्यय के परिणामस्वरूप भी 'वाडी' का 'वाड' होना संभव है। यद्यपि मेदिनी कोश में 'कुटी वास्तुनोः स्त्रियाम्' और हेमचन्द्रकृत अनेकार्थसंग्रह में 'वाटी वास्तौ गृहोद्यानकुट्योः' इत्यादि उल्लेखों के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि संस्कृत में स्त्रीलिंग वाटी शब्द ही भवनवाचक है, वाट शब्द नहीं। परन्तु ऐसी बात नहीं है, संस्कृत ग्रन्थकारों ने वाट शब्द का भी भवन के अर्थ में प्रयोग किया है—

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम्॥
—श्रीमद्भागवत महापुराण, १०।११।२०

गाथार्थ—सुलभ एवं अल्प मूल्यवाली थाली से (या पत्रिका = पत्तल से) अपना समय बिता दो। राजभवन में प्रयुक्त होने वाले पात्र (बर्तन) टूटने वाले और बहुत मूल्यवान् होते हैं।

थाली, पत्तल या पत्ता अपनी पत्नी का प्रतीक है और राजभवन का पात्र वेश्या का।

गाथा क्रमांक ५७६

मा जाणह मह सुहयं वेस्साहिययं समम्मणुल्लावं।
सेवाललित्तपत्थरसरिसं पडणेण जाणिहिसि ॥ ५७६ ॥

मा जानीत मम सुभगं वेश्याहृदयं समन्मनोल्लापम्
शैवाललिप्तप्रस्तरसदृश पतनेन ज्ञास्यसि

—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"यह मत सोचो (या विश्वास करो) कि विश्वासयुक्त अव्यक्त भाषणों से परिपूर्ण मेरा वेश्या-हृदय सुन्दर है। तुम अपने पतन से जानोगी कि यह उस प्रस्तर के समान है जो काई से ढंक चुका है।"

उपर्युक्त अर्थ संस्कृत टीका के आधार पर है और उसके अनुसार गाथा किसी वेश्या को सम्बोधित की गई है। यह अनुवाद किसी भी दशा में उचित एवं सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अर्थ करने पर हृदय का विशेषण 'समन्मनोल्लाप' (अव्यक्त कथनयुक्त) असंगत हो जाता है, क्योंकि वेश्याहृदय सूक्ष्मविचारों का अधिकरण है, मुखनिष्ठ स्थूल उल्लापों का नहीं। प्रो० पटवर्धन ने हृदय का अर्थ Heart लिखा है जो ठीक नहीं है। यहाँ उसका अर्थ छाती (Breast) है।

हृदयं मानसे वुक्कोरसोरपि नपुंसकम्। —मेदिनी

विवेच्य गाथा की शुद्ध छाया निम्नलिखित है—

मा जानीत मम सुखदं वेश्याहृदयं स्वमदनोल्लावम्।
शैवाललिप्तप्रस्तरसदृशं पतनेन ज्ञास्यसि ॥

'मम्मण' का अर्थ मदन (काम) है—मम्मणो मयणरेसा—

देशीनाममाला, ६।१४१

उत् उपसर्ग युक्त 'लाव' (लू + कर्तरि घञ्) का अर्थ है—उखाड़ने या काटने वाला। स्व शब्द आत्मीय वाचक है। 'स्वमदनोल्लावं' की व्याख्या यह है—स्वस्य स्वानुरक्तस्य जनस्य मदनोल्लावं काम—विकाराच्छेदकम्। प्रस्तुत गाथा में वेश्या के आलिंगन को ही जीवन का चरम-सौख्य समझने वाले किसी विलास-लोलुप तरुण को सचेत किया गया है।

गाथार्थ—स्वजनो (प्रेमियों) की काम-वासना का उच्छेद (उपशमन) करने वाली, वेश्या को छाती मुझे सुखद होगी—यह मत समझो। तुम अपने पतन से जानोगे कि वह शैवाल-लिप्त प्रस्तर के समान है।

गाथा क्रमांक ५७९

न हु कस्स वि देति धणं अन्नं देंतं पि तह निवारंति।
अत्था किं किविणत्था सत्थावत्था सुयंति व्व ॥ ५७९ ॥

न खलु कस्यापि ददति धनमन्यं ददतमपि तथा निवारयन्ति
अर्थाः किं कृपणस्था शास्त्रावस्था श्रयन्त इव

—रत्नदेवकृत संस्कृत छाया

श्री पटवर्धन ने उपयुक्त छाया को गोरखधंधा बताकर चतुर्थ चरण में यह परिवर्तन किया है—

स्वस्थावस्थाः स्वपन्तीव—और पूरी गाथा का अनुवाद यों किया है—

"वे स्वयं किसी को धन नहीं देते, देते हुये अन्य व्यक्ति को भी रोक देते हैं, तब क्या हम यह कह सकते है कि कृपणो के धन निश्चिन्त (अपने में स्थित) होकर सोते है।" विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर यह अनुवाद उचित नहीं प्रतीत होता। गाथा में 'व्व' (इव) या तो उपमा द्योतक हो सकता है या उत्प्रेक्षा द्योतक। प्रश्नवाचक किम् शब्द की उपस्थिति के कारण उसे उत्प्रेक्षा द्योतक मानना संभव नहीं है क्योंकि संभावना स्वरूपतः प्रश्नशून्य होती है। प्रश्न के आविर्भाव के साथ ही उत्कटैककोटिक सन्देहात्मक सभावन व्यापार (उत्प्रेक्षा का हेतु) निरस्त हो जाता है। 'किम्' को वितर्क-द्योतक मानने पर भी अर्थतः सशय की ही उपलब्धि होती है। इस प्रकार सभावना स्वयं संशय का विषय बन जाती है। अतः 'व्व' (इव) को उपमा-द्योतक मानना ही उचित है। मैं रत्नदेवकृत संस्कृत छाया को ही उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण समझता हूँ। श्री पटवर्धन उस अव्याख्यात छाया का अर्थ नही समझ सके। फलतः उन्हे दूसरी छाया गढनी पड़ी। रत्नदेवकृत संस्कृत छाया की व्याख्या इस प्रकार है—

शब्दार्थ—अत्था (अर्था) = १—धन

२—अभिधेय, प्रतिपाद्य विषय

सत्थावत्था (शास्त्रावस्थाः) = शास्त्रों में अवस्थित, यह पद अर्थ का विशेषण है।

किविणत्था (कृपणस्थाः) = कृपण में स्थित।

सुयंति (श्रूयन्ते) = सुने जाते हैं।

भावार्थ—कृपण किसी को भी धन नही देते और अन्य देते हुये व्यक्ति को रोक देते हैं। क्या उनके धन (कृपण में स्थित धन) शास्त्र में अवस्थित ज्ञान-तत्त्व (अर्थ = अभिधेय, प्रतिपाद्यतत्त्व) के समान सुने जाते हैं ?

आशय यह है कि शास्त्र में जिस ज्ञान तत्त्व का वर्णन होता है वह श्रुति का विषय है, चक्षु का नही। जैसे शास्त्र की दुरूह पदावली का अर्थ जब बताया जाता है तब सामान्य जन भी केवल सुनते हैं। उस परम तत्त्व का साक्षात् अनुभव करने की क्षमता सब में नही रहती है, उसी प्रकार दूसरों की चर्चा का विषय बनने के लिये ही कृपणों के पास धन रहता है। उपभोग न करने के कारण वह प्रत्यक्ष दिखाई नही पड़ता। उपर्युक्त अर्थ में 'व्व' को प्राकृतत्वात् 'सत्थावत्था' से अन्वित किया गया है। यदि कि किविणत्था। (किं कृपणस्थाः = कुत्सिते कृपणे स्थिता) को एक पद मान लें तो अर्थ का स्वरूप यह हो जायगा—

मानों कुत्सित कृपण में अवस्थित अर्थ (धन और अभिधेय या तत्त्व) शास्त्र में स्थित रहकर सुने जाते हैं।

उत्तरार्ध के इस अर्थ में 'व्व' से उत्प्रेक्षा प्रकट होती है। यदि हम 'व्व' को अवधारण[1] के अर्थ में ग्रहण करें तो पूर्वोक्त रत्नदेवकृत संस्कृत छाया के चतुर्थ चरण का किंचित् परिवर्तित स्वरूप यह हो जायगा—

शास्त्रावस्थाः श्रूयन्त एव।

तब उत्तरार्ध का यह अर्थ होगा—

---

१. पाइयसद्दमहण्णव में प्राकृत सर्वस्व के आधार पर 'व्व' को वा का रूप माना गया है। वा के अनेक अर्थों में अवधारण भी एक है। मेदिनी कोश में वा को उपमा वाचक माना गया है और यह भी बताया गया है कि यह शब्द केवल पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त होता है।

क्या कृपण में अवस्थित अर्थ (धन और अभिधेय या तत्त्व) शास्त्र में स्थित होकर केवल सुने जाते हैं।

इस अर्थ में न उपमा है और न उत्प्रेक्षा।

गाथा क्रमांक ५८५

देमि न कस्स वि जंपइ उद्दारजणस्स विविहरयणाइं।
चाएण विणा वि नरो पुणो वि लच्छीइ पम्मुक्को ॥ ५८५ ॥

ददामि न कस्यापि वदति उदारजनस्य विविधरत्नानि
त्यागेन विनापि नरः पुनरपि लक्ष्म्या प्रमुक्तः
—रत्नदेवकृत संस्कृत छाया

रत्नदेव ने 'उद्दार' का अर्थ उदार लिखा है। श्री पटवर्धन ने उत् + द्वार = उद्द्वार = अद्वार अर्थात् द्वारहीन या दरिद्र—यह अर्थ किया है। अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—"कृपण, 'गृहहीनों को विविध रत्न देता हूँ'—यह नहीं कहता है। परन्तु फिर भी बिना दिये मनुष्य धन द्वारा त्याग दिया जाता है।"

उपर्युक्त अनुवाद से कृपणता के अभिप्रेत चरमोत्कर्ष की अविकल अवगति नहीं होती है क्योंकि कार्पण्य का व्यंजक दानाभाव है, जल्पनाभाव नहीं। अर्थ-प्रोक्त जल्पन प्रतिषेध मौनदातृत्व का भी साधक हो सकता है, क्योंकि उच्चाशय दाता सत्पात्रों को प्राज्य-द्रव्य देकर भी मौन रहते हैं, ढिंढोरा नहीं पीटते हैं। यदि पूर्वार्ध-प्रक्रान्त जल्पन-प्रतिषेध मे विधेयत्व अभीष्ट होता तो उत्तरार्ध मे 'जल्पनेन विनापि' इत्यादि कहकर उसका अनुवाद किया जाता। 'त्यागेन विनापि'—इस विरोध की परिपूर्णता के लिये पूर्वार्ध में त्यागाभाव का प्रमुखतया प्रतिपादन उचित है। अन्यथा दोनो गाथार्धों में कोई सम्बन्ध नहीं रह जायेगा। गाथा का अर्थ यह है—कृपण कहता है—मैं किसी भी उदार (श्रेष्ठ = सत्पात्र) व्यक्ति को विविध रत्न नहीं देता हूँ। (परन्तु) दान के बिना भी मनुष्य को लक्ष्मी छोड़ देती है।

गाथा क्रमांक ५८७

सिरजाणुए निउत्तो उड्डो हत्थेण खणणकुसलेण।
कुद्दालेण य रहियं कह उड्डो आणए उययं ॥ ५८७ ॥

शिरोजानुके नियुक्तः खनको हस्तेन खननकुशलेन
कुद्दालेन च रहितं कथं खनक आनयत्युदकम्
—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

अंग्रेजी अनुवाद यों है—

"कूप खनक खोदने में पटु हाथ से, कैसे पानी ला सकता है, (या निकाल सकता है), यदि उसके हाथ में कुदाल नहीं है।"

यह अनुवाद दोषपूर्ण है। एक तो इसमें 'सिर जाणुए निउत्तो' का अर्थ बिल्कुल छोड़ दिया गया है, दूसरे नपुंसकलिंग 'रहियं' एवं पुंलिंग 'उड्डो' में विशेषणविशेष्य-भाव की स्थापना व्याकरण-विरुद्ध है। गाथा में 'रहियं' के स्थान पर 'रहियो' होने पर ही वह 'उड्डो' से अन्वित हो सकता है। अन्यथा च्युत-संस्कृति की प्रसक्ति होगी। 'रहियं' पद उययं का विशेषण है, उड्डो का नहीं। 'सिरजाणुए' में एकवद्भाव है। इस पद से उस खननभंगिमा का स्वाभाविक वर्णन किया गया है, जिसमें भूमि खोदते समय निकुंचित खनक के हाथ, शिर और जानुओं से जुड़ जाते है। 'आणए' का अर्थ आनयेत् करना उचित है, आनयति नहीं। नियुक्त का अर्थ है—जुड़ा हुआ (नि + युक्त)।

गाथार्थ—कुशल हाथों द्वारा शिर और जानुओं में जुड़ा हुआ कूप-खनक कुदाल से (भूमि में) अविद्यमान (रहित) जल कैसे लाये (कैसे निकाले) ?

गाथा क्रमांक ५९८

सच्चं चेय भुयंगी विसाहिया कण्ह तण्हहा होइ।
संते वि विणयतणए जीए घुम्माविओ तं सि ॥ ५९८ ॥

इस पद्य में प्रयुक्त 'तण्हहा' शब्द का अर्थ संस्कृत-टीका में नहीं दिया गया है। उसकी छाया 'तृष्णका' दी गई है। प्रो॰ पटवर्धन ने लिखा है कि संस्कृत तृष्णका प्राकृत मे 'तण्हआ' होगा, तण्हहा नहीं। संभव है, यह 'नन्नहा' (नान्यथा) का विकृत रूप हो (पृ० ५४६)।

'तण्हा' शब्द भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें हिन्दी के तद्धित प्रत्यय 'हा' का मूल उपलब्ध होता है। हिन्दी में यह मतुबादि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। लोक भाषा में इसका प्रचलन अपेक्षाकृत अधिक है। विभिन्न

१. द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य सेनाङ्गानाम्—अष्टाध्यायी

अर्थों में होने वाले, इस प्रत्यय के व्यापक प्रयोगों को अवधी के निम्नलिखित उदाहरणों से भली-भाँति समझ सकते हैं—

शील या स्वभाव—रिसिहा (क्रोधी स्वभाव वाला)
चौंकहा (चौकने के स्वभाव वाला)
लतहा (लात मारने की आदत वाला)
लल्चिहा (लालची स्वभाव वाला)
नैकट्य —घुरहा (घूर के निकट रहने वाला)
निवास —कलकतिहा (कलकत्ता में रहने वाला या कलकत्ता का निवासी)
पुरबहा (पूरब का निवासी)
उतरहा (उत्तर का निवासी)
प्रवृत्ति —टोटकहा (जादू-टोने में प्रवृत्ति वाला)
टोनहा (टोना करने वाला)
रुचि —गुरहा (गुड़ में रुचि रखने वाला)
भतहा (भात में रुचि रखने वाला)
नैपुण्य —ढोलिहा (ढोल बजाने मे निपुण)
ढेलहा (ढेला फेंकने वाला)
प्राचुर्य —पनिहा (जिसमें पानी अधिक है)
कंकरहा (जिसमें कंकण अधिक है)
नोनहा (जिसमें नमक अधिक है)
पण्य —कपड़हा (कपड़ा जिसका विक्रेय या पण्य है)
बरतनहा (बर्तन जिसका विक्रेय या पण्य है)
प्रहरण —लठिहा (लाठी जिसका प्रहरण या हथियार है)
तरवरिहा (तलवार जिसका प्रहरण है)
संस्करण—तेलहा (तेल से संस्कृत या तेल में बनी वस्तु)
नियोग —भितरिहा (भीतर नियुक्त)
रक्षण —घटहा (घाट का रक्षक)
तुल्यता —मुरदहा (मुरदे के समान, जैसे मुरदहा बैल)
संसृष्टि — दुधहा (दूध से संसृष्ट)

इस प्रत्यय का दर्शन अर्वाचीन प्राकृत व्याकरणों में नहीं होता। परन्तु इसका मूल संस्कृत में सुरक्षित है—

कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः—अष्टाध्यायी, ५।२।१३८
तुन्दिबलिवटेर्भः —अष्टाध्यायी, ५।२।१३८

उपर्युक्त सूत्रों में उल्लिखित भ प्रत्यय ही हिन्दी में हा हो गया है। संस्कृत तुन्दिभ से ही अवधी का तोनिहा शब्द बना है। पालि में भी इस प्रत्यय के अस्तित्व का पूर्ण पता है—

तुण्डयादीहि भो —मोग्गल्लान व्याकरण, ४।८१

यहाँ तुण्डिभ (चोंच वाला) सालिभ (शालि वाला) आदि शब्दों की निष्पत्ति बताई गई है। प्राकृत में तण्हा के अन्त्य स्वर का ह्रस्वादेश करने के पश्चात् हा प्रत्यय का विधान करने पर तण्हा शब्द बनेगा। संस्कृत में उसकी छाया तृष्णावती है। संस्कृत छाया में तृष्णका शब्द चिन्त्य है।

गाथा क्रमांक ६००

किसिओ सि कीस केसव किं न कओ धन्नसंगहो मूढ।
कत्तो मणपरिओसो विसाहियं भुंजमाणस्स ॥ ६०० ॥

कृशितोऽसि कस्मात् केशव किं न कृतो धन्यासंग्रहो (धान्यसंग्रहः) मूढ
कुतो मनःपरितोषो विशाखिका (विषाधिकं) भुञ्जानस्य
—श्रीपटवर्धनसम्मत संस्कृत छाया

अंग्रेजी अनुवाद यों है—

केशव, क्यों दुर्बल हो? अरे मूढ! क्यों तुमने धान्य-संग्रह नहीं किया? (श्लेष-द्वारा—क्यों तुमने सुन्दर रमणियों का संग्रह नहीं किया?) जो व्यक्ति हानिप्रद पदार्थ का भोजन करता है (जो वस्तु विषतुल्य हानिकर है) उसे कैसे मानसिक सन्तोष हो सकता है? (श्लेष-द्वारा—जो व्यक्ति विशाखा नामक गोपी के साथ संभोग करता है उसे कैसे मानसिक सन्तोष हो सकता है?)

टिप्पणी में लिखा गया है कि इस गाथा के पूर्वार्ध में प्रश्न और उत्तरार्ध में उसका उत्तर है। यह उल्लेख भ्रमजनित है। पूर्वार्ध में कृशता और धान्य-संग्रहाभाव का हेतु पूछा गया है और उत्तरार्ध में बताया गया है, मानसिक-तुष्ट्याभाव का हेतु विषाधिक भोजन, जो अपृष्ट-प्रतिवचन होने के कारण उन्मत्त प्रलापवत् है। जिजीविषा रहने पर किसी भी अनुन्मत्त मनस्तृप्तिकामी पुरुष का जान-बूझकर विषाधिक भोजन करना उपपत्ति-रहित एवं असम्भव है। भोजन की विषाधिकता मरण का हेतु है, मनस्तोषाभाव का नहीं। विष को

ग्राह्य एवं आपाततः तृप्तिकारक बनाने के लिये ही उसे भोजन या गुडादि में मिला दिया जाता है। वस्तुतः भोजन की अनास्वाद्यता या रूक्षता मनस्तोषाभाव का हेतु है। गाथा में उसी का उल्लेख अपेक्षित है। रत्नदेवसूरि ने भोजन-पक्ष में 'विसाहियं' की छाया 'विसाधितम्' की है (वि + साधितम् = अनिष्पन्न, अपरिपक्व या उचित रीति से न बनाया हुआ)। वही शुद्ध भी है क्योंकि कच्ची (अधपकी) रसोई विवशता को स्थिति मे भले ही ग्राह्य हो जाय, सन्तोषप्रद नही हो सकती है। सूक्ष्मदृष्टि से पर्यालोचन करने पर 'किसिओ' के अन्तराल से भी झांकते हुये श्लेष की झलक मिलती है—

किसिओ = १. कृषित = दुर्बल

२. कृष्ट = आकर्षित या खिचा हुआ।

प्रसंग—किसी उन्मत्त यौवनावल्लवी के अनुपम लावण्य पर विशाखा-प्रेमी कृष्ण को आकृष्ट होते देखकर उसकी (वल्लवी की) सहेली की भगिमा-पूर्ण उक्ति है।

अर्थ—कृष्ण, तुम दुर्बल क्यों हो ? अरे मूढ ! तुमने धान्य-संग्रह क्यो नही किया ? जो अपरिपक्व (कच्चा) भोजन करता है, उसके मन को सन्तोष कैसे मिल सकता है ?

शृङ्गार-पक्ष—कृष्ण, तुम आकृष्ट क्यों हो गये ? अरे मूढ ! तुमने सुन्दर रमणी का सम्यक् अधिग्रहण (सं = सम्यक्, ग्रह = अधिग्रहण या स्वीकार) क्यों नही किया ? जो विशाखा (एक गोपी) के साथ सभोग करता है, उसे सन्तोष कैसे मिल सकता है ?

अंग्रेजी टिप्पणी में लिखा है कि विषाधिकम् (विसाहियं) में विष का अर्थ जल भी हो सकता है परन्तु जलाधिक वस्तु मे पेयता का गुण आ जाता है, भोज्यता का नही। अतः वह भी अनुपयुक्त है।

पणय परुढाइ पेम्माइ —६०३वी गाथा का अन्तिम चरण

प्रो० पटवर्धन का आक्षेप है कि यहाँ पणय (प्रणय) और पेम्म (प्रेम) में पुनरुक्ति दोष है। यह आक्षेप सारहीन है। गाथा मे प्रणय का अर्थ विश्वास है, प्रेम नहीं—

प्रणयः प्रश्रये प्रेम्णि याञ्चाविस्रम्भयोरपि —मेदिनी

हम इस वर्णन को पुनरुक्तवदाभास मान सकते हैं। प्रणय-प्ररूढ (पणय-

परूढ) का अर्थ है—विश्वास से उत्पन्न । अथवा उसकी छाया 'प्रणत प्ररूढानि प्रेमाणि' करके यह अर्थ ले सकते हैं—

विनम्र लोगो के द्वारा उत्पन्न किये हुये प्रेम को ।

गाथा क्रमांक ६०४

सच्चं चिय चवइ जणो अमुणियपरमत्थ नंदगोवालो ।
थणजीवणो सि केसव आभीरो नत्थि संदेहो ॥ ६०४ ॥

सत्यमेव वदति जनोऽज्ञात परमार्थो नन्दगोपाल:
स्तन्यजीवनोऽसि केशवाभीरो नास्ति सन्देह.

—श्रीपटवर्धनसम्मत संस्कृत छाया

रत्नदेव ने इसकी व्याख्या नही की है। श्रीपटवर्धन ने 'अमुणिय परमत्थ' को 'अमुणियपरमत्थो' समझकर इस पद्य का निम्नलिखित अर्थ दिया है—

"लोग यह सत्य ही कहते है कि नन्दगोपाल (कृष्ण के पोषक पिता) मत्य को नही जानते है । अरे कृष्ण ! तुम माता को छाती का दूध पीने वाले अहीर (मूर्ख) हो—इसमें सन्देह नही है ।"

उपर्युक्त अर्थ के सम्बन्ध में उनका यह उल्लेख है—

This seems to be the sense. But the exact point of the taunt is obscure.

यहाँ उसकी युक्तिमत्ता का विवेचन अनावश्यक है । द्वितीय-पाद में अवस्थित 'अमुणियपरमत्थ' को 'अमुणियपरमत्थो' समझना केवल क्लिष्टकल्पना है । 'अमुणिय-परमत्थनंदगोवालो' एक ही समस्त पद है । उसकी व्याख्या यों होगी—न मुणियो णाओ परमो सेट्ठो अत्थो अणं पयोअणं वा जेण तारिसो नदस्स गोवालो गोरक्खओ कण्हो इच्चत्थो अर्थात् परम अर्थ को न जानने वाला, नन्द का चरवाहा या गोरक्षक । 'परमत्थ' और 'थणजीवणो' पदों में श्लेष है और उनका अर्थ निम्नलिखित है ।

परमत्थ (परमार्थ) = १. श्रेष्ठधन (परम = श्रेष्ठ, अर्थ = धन)
२. अन्तिम प्रयोजन अर्थात् मैथुन (परम = अन्तिम, अर्थ = प्रयोजन)

थण जीवण (स्तन्य जीवन) = १. स्तन्यं क्षीरमेव जीवनामाजीविका यस्य अर्थात् दूध ही जिसकी जीविका है, दुग्ध-विक्रेता ।

२. स्तन एव जीवनः प्राणप्रदो यस्य अर्थात् स्तन ही जिसे जिलाता है। अथवा स्तन एव जीवनं प्रियं जीवितं वा यस्य अर्थात् जिसे स्तन ही प्रिय हैं या स्तन ही जिसका जीवन है।

यह किसी ऐसी सुरतोत्कण्ठिता विदग्ध गोपिका की सोत्प्रासोक्ति है, जिसके पीनपयोधरों का उपमर्दन करके ही कृष्ण संतुष्ट रहते थे एवं एकान्त मे यथेष्ट अवसर उपलब्ध होने पर भी मैथुन के लिये कभी प्रयास नही करते थे।

अर्थ—केशव, लोग सत्य ही कहते हैं, उत्कृष्ट धन को न जानने वाले, तुम, नन्द के चरवाहे (गोपाल) एवं क्षीरजीवी (या दुग्ध-विक्रेता) अहीर (जाति-विशेष) हो—इसमें सन्देह नही है।

श्रृंगारपक्ष—केशव, लोग सत्य कहते है—अन्तिम प्रयोजन (अर्थात् सभोग) को न जानने वाले तुम, नन्द के चरवाहे एवं स्तन से जोवित रहने वाले (या स्तन-मर्दन को ही अति प्रिय समझने वाले) अहीर (मूर्ख) हो—इसमे सन्देह नही है।

गाथा क्रमांक ६०९

चंदाहयपडिबिंबाइ जाइ मुक्कट्टहासभीयाए।
गोरीइ माणविहडणघडंतदेहं हरं नमह ॥ ६०९ ॥
चन्द्राहतप्रतिबिम्बाया यस्या मुक्ताट्टहासभीतायाः
गौर्या मानविघटनघटमानदेहं हर नमत

—रत्नदेवकृत संस्कृत छाया

छायाकार ने व्याख्या नही दी है। अंग्रेजी टिप्पणी मे शब्दों का अर्थ देकर लिखा है कि इस पद्य का भाव स्पष्ट नही है अर्थ-काठिन्य के कारणों का वर्णन इन शब्दों में है—

१. The sense of this stanza remains obscure, because of the expression चंदाहयपडिबिंबाए।

२. The reason of Pārvatī's māna is not clear.

मेरे विचार से गौरी के मानहेतु और 'चंदाहयपडिबिंबाए' की दुर्बोधगम्यता के कारण गाथा में जो दुरूहता आ सकती है, उससे कही अधिक भयानक अर्थ-व्याघातकारी तत्त्व संस्कृत छाया में निविष्ट हो गया है। जिस पर श्रीपटवर्धन की दृष्टि ही नही पड़ी। चन्द्राहतप्रतिबिम्बायाः मुक्ताट्टहासभीतायाः यस्याः गौर्याः

मानविघटनघटमानदेहं हरं नमत—यह संस्कृत छाया वाक्य साकांक्ष है, क्योंकि यस्याः की आकांक्षा पूर्ण करने वाला कोई भी पद नहीं है। 'जिस गौरी का' इस वाक्यांश को सुनते ही 'किस गौरी का ?' यह प्रश्न निसर्गतः समुत्थित हो आता है। अतः उस प्रकान्त-प्रश्न का उत्तर बिना दिये अप्रकान्त हर को प्रणाम करने का उपदेश देने के कारण पूर्ववाक्यांश अनर्गल प्रलाप बन कर रह जाता है। 'जिस गौरी के मानविघटन में घटमानदेह हर को प्रणाम करो' यह वाक्य तब तक अपूर्ण एवं अशुद्ध है जब तक 'जिस' की आकांक्षा 'उस' शब्द के विनियोग द्वारा पूर्ण नहीं कर दी जाती।[1]

वस्तुतः उक्त संस्कृत छाया ही प्रस्तुत गाथा की दुरूहता का मूल निदान है। यदि उस अशुद्ध छाया को निम्नलिखित परिमार्जित स्वरूप दे दें तो साकांक्षत्व दोष की निवृत्ति हो जायगी और आर्थिक क्लिष्टता का भी निराकरण हो जायेगा—

चन्द्राधृतप्रतिबिम्बाया (चन्द्राहृतप्रतिबिम्बाया वा) जातिमुक्ताट्टहासभीतायाः गौर्या मानविघटनघटमानदेहं हरं नमत॥

गाथार्थ—चन्द्राधृतप्रतिबिम्बाया = चन्द्रेण आधृतं गृहीतं प्रतिबिम्बं यस्याः अथवा चन्द्रेण आहृतं प्रतिबिम्बं यस्याः अर्थात् चन्द्रमा ने जिसके प्रतिबिम्ब को धारण किया है।

जातिमुक्ताट्टहास भीताया = जातिरिव मालतीपुष्पमिव मुक्तस्त्यक्तो योऽट्टहासस्तस्माद् भीताया अर्थात् चमेली के पुष्प के समान विकीर्ण अट्टहास से डरी हुई।

अंग्रेजी अनुवादक ने प्रतिबिम्ब का अर्थ मुखमण्डल किया है, जो बिलकुल निराधार एवं कपोलकल्पित है।

प्रसंग—शिव के मुक्ताट्टहास से भीत पार्वती जब शरणार्थ उनके निकट पहुँची तब उन्हें पति के ललाटस्थ चन्द्र में अपनी प्रतिच्छवि दिखाई पड़ी। फिर तो उसे अपनी सपत्नी समझकर तुरन्त हो मानकर बैठी। प्रस्तुत गाथा में उन्हीं कोपकषायिताक्षी अम्बिका के अनुनय मे सलग्न शिव को प्रणाम करने का उपदेश है।

गाथार्थ—जो चमेली के पुष्प के समान (शिव के) उन्मुक्त शुभ्र अट्टहास

१. प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकांक्षः।

—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास

से भीत हो चुकी थी तथा जिनका प्रतिबिम्ब चन्द्रमा में पड रहा था, उन गौरी के मानापनयन में जिनका शरीर व्यापृत है, उन शिव को प्रणाम करो। शिव के ललाट पर स्थित कलामात्रावशेष शशिशकल में प्रकाश-पुञ्ज का स्फुरण न होने के कारण प्रतिबिम्बन क्रिया स्वाभाविक है।

गाथा क्रमांक ६१०

नमिऊण गोरिवयणस्स पल्लवं ललियकमलसरभमरं।
कय-रइ-मयरंद-कलं ललियमुहं तं हरं नमह॥ ६१०॥

नत्वा गौरीवदनस्य पल्लव ललितकमलसरोभ्रमरम्
कृतरतिमकरन्दकल ललितमुख तं हरं नमत॥

—रत्नदेवकृत अव्याख्यात छाया

अंग्रेजी टिप्पणी में लिखा गया है कि 'गौरी वयणस्स पल्लव' और 'कयरइ-मयरंदकलं'—इन दो वर्णनों की दुरूहता के कारण इस गाथा का अर्थ स्पष्ट नही है। टिप्पणी के अनुसार 'गोरी-वयणस्स' 'ललियकमलसरभमर' से अन्वित नही हो सकता और नमिऊण का भी सम्बन्ध स्पष्ट नही है। निम्नलिखित ढग से किया गया अंग्रेजी अनुवाद केवल शाब्दिक है—

"सुन्दर मुख वाले उन शिव को प्रणाम करो जो गौरी के मुखरूपी सरोवर में मँडराने वाले मधुप है।"

लेखक ने इस अनुवाद के सम्बन्ध में यह टिप्पणी दी है—

"The rendering given in the English translation is a desperate attempt to salvage some sense out of the stanza."

उपर्युक्त गाथा की दुरूहता का कारण संस्कृत छाया की अशुद्धि है। पूर्वार्ध की छाया इस प्रकार होनी चाहिये—

नत्वा गौरी वदनस्य पल्लवं ललितकमलसरभ्रमरम्।

'गौरीवदनस्य पल्लवम्' का अर्थ है—गौरी के मुख के पल्लव को अर्थात् अधरों को। सर का अर्थ है—जाने वाला (सरतीति सर:, सृ गतौ + अच्)। देशीनाममाला में कमल को मुख का पर्याय बताया गया है—

पिढरपडहेसु मुहहरिणेसु अ कमलो।—२।५४

यहाँ एक ही कमल में दो भिन्न अर्थों (मुख और पंकज) का अभेदारोप होने के कारण श्लेष मूलक रूपक है। अतः कमल का अर्थ है—मुख (कमल) रूपी कमल

(पकज)। कयरइमकरंदकलं' (कृतरतिमकरन्दकलम्) हर का विशेषण है। इसका अर्थ है—जिसने रतिरस की कला का अभ्यास किया है (कृता अभ्यस्ता रतिमकरन्दस्य रतिरसस्य कला निपुणता येन)। अब पूरी गाथा का भाव बिल्कुल स्पष्ट है। अर्थ—गौरी के अधरों को प्रणाम करके उन ललित मुख शिव को प्रणाम करो, जो लावण्य-युक्त मुखरूपी कमल के निकट जाने वाले (चुम्बनार्थ) भ्रमर है और जिन्होंने रति-रस की कला का अभ्यास किया है।

गाथा क्रमांक ६२८

जा इच्छा कावि मणोपियस्स तग्गय मण म्मि पुच्छामो।
ससय वहिल्लो सि तुमं जीविज्जइ अन्नहा कत्तो ॥ ६२८ ॥

येच्छा कापि मन प्रियस्य तद्गतं मनसि पृच्छामः।
शशक त्वरितोऽसि त्वं जीव्यतेऽन्यथा कुतः ॥

—रत्नदेवकृत संस्कृत छाया

निम्नलिखित अंग्रेजी अनुवाद बिल्कुल शाब्दिक है—

"जो हृदय को प्रिय है उसकी जो कुछ भी इच्छा होती है, हम उसे अपने मन में पूछ लेती है। अरे शशक, तुम बहुत शीघ्रगामी हो, अन्यथा तुम कैसे जीवित[1] रहते।"

इस अर्थ में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध परस्पर असम्बद्ध है और पद्य के तात्पर्य का भी पता नही है। अनुवादक ने 'तग्गयं' का अर्थ 'उस मन प्रिय के विषय में' या 'उस इच्छा के विषय में' (पृ० ५५९) लिखा है, जो ठीक नही जँचता है। 'तग्गय' और 'मणंमि'—दोनों को पृथक् नही, एक पद माना जा सकता है। 'तग्गय' को अकारण लुप्त विभक्ति घोषित करना ठीक नही है। गाथा में किसी ऐसी प्रोषित-पतिका का वर्णन है, जिसका मन अपने प्रिय के अनुध्यान में इतना तन्मय हो गया है कि उसे विरह की अनुभूति कभी असह्य नही हो सकी। जब देखती है तब प्राणेश्वर को मन-मन्दिर में उपस्थित पाती है। उनको समस्त आकांक्षाओं का उसे पता है। प्राणों के पूत-प्रकोष्ठ में प्रतिष्ठित प्रिय की प्रणयपूर्ण प्रतिच्छवि ही उसके जीवन का अमूल्य सम्बल है। अतः उसी के सहारे जी रही है। प्रणय की इस उत्कट तल्लीनता का मर्मस्पर्शी वर्णन कबीरदास के निम्नलिखित दोहे में दिखाई देता है—

---

१. वज्जालग्गं (अंग्रेजी संस्करण), पृ० ३६३ पर मूल अंग्रेजी देखिये।

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय विदेस।
तन में मन में नयन में, ताकूँ क्या संदेस॥

शब्दार्थ—तग्गयमणम्मि (तद्गतमनसि) = तेन प्रियेण गतं यातं तद्गतं तस्मिन् तद्गते मनसि, यत्र ध्यानमार्गेण प्रियः प्रविष्ट इत्याशयः। अर्थात् प्रिय के द्वारा गये हुए मन में या जहाँ ध्यान-मार्ग से प्रिय आते हैं, उस मन में। दूर से आकर मन में बस जाने वाले प्रिय का प्रतीक है शशक। शशक तीव्रगामी होता है।

२. त प्रिय गतं यातम् ('द्वितीया श्रिता-तीतपतितगतात्यस्त प्राप्तापन्नैः' के अनुसार समास) यह पद मन का विशेषण है। इस व्याख्या में 'तद्गतमनसि' का अर्थ है—प्रिय के पास गये हुये मन में। यहाँ द्रुतगामी मन ही शशक है।

पुच्छामो = पृच्छामः = पूछती है (अस्मदो द्वयोश्च—पा० सू०, १।२।५९ से वैकल्पिक बहुवचन)। 'पूछती हूँ' का ध्वनितार्थ है—पूर्ण करती हूँ क्योंकि अतिशय प्रिय व्यक्ति की इच्छाओं को पूछ कर कोई निश्चेष्ट नहीं रहता है।[1]

१अ. साहित्य में इस प्रकार के प्रयोग दुर्लभ नहीं है। रामचरितमानस की निम्नलिखित चौपाइयों में विभीषण के अभिषेक के लिये 'सिन्धु-नीर' माँगने का वर्णन है, मँगाने का नहीं, परन्तु उत्तरवर्ती वर्णन के आधार पर माँगना मँगाने में पर्यवसित हो गया है—

एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा, माँगा तुरत सिंधु कर नीरा।
जदपि तात तव इच्छा नाहीं, मोर दरस अमोघ जग माहीं।
अस कहि राम तिलक तेहि सारा, सुमन-वृष्टि नभ भई अपारा। —सुन्दरकाण्ड

ब. व्यवहार मे भी ऐसे प्रयोग प्रायः देखे जाते है, जैसे—
'मैं प्रतिवर्ष कवि सम्मेलन में श्यामनारायण पाण्डेय को बुलाता हूँ'—इस वाक्य का यह भी अर्थ है कि श्यामनारायण पाण्डेय मेरे कविसम्मेलन में आते हैं।

गाथार्थ—जब प्रिय मन में आते हैं (या जब मन प्रिय के निकट जाता है) तब उसी मन में उस की जो कुछ भी इच्छा रहती है, मैं पूछ लेती हूँ (ध्वनि—पूर्ण कर देती हूँ)। शशक! (हे प्रियतम या हे मन) तुम द्रुतगामी हो अन्यथा किस ढंग से जीवित रहा जाय? (अर्थात् विरह में जीवित रहने का यही ढग है। यदि तुम द्रुतगामी न होते और उतनी दूर से आकर मेरे मन में बस न जाते तो भला इस प्राणान्तक वियोग में जीवित रहने का अन्य कौन सा उपाय था?)

गाथा क्रमांक ६३४

संधुक्किज्जइ हियए परिमलआणंदियालिमालाहिं।
उल्लाहि वि दिसिमणिमंजरीहि लोयस्स मयणग्गी ॥ ६३४ ॥

सन्धुक्ष्यते हृदये परिमलानन्दितालिमालाभिः
आर्द्राभिरपि दिङ्मणिमञ्जरीभिर्लोकस्य मदनाग्निः

—रत्नदेवकृत अव्याख्यात संस्कृत छाया

'दिसिमणिमंजरी' (दिङ्मणिमञ्जरी) का अर्थ अस्पष्ट बताकर प्रस्तुत गाथा का जो अधूरा अनुवाद किया गया है, वह इस प्रकार है—

"लोगों के हृदय में कामाग्नि प्रज्ज्वलित कर दी गई है, फूलों के सौरभ से आनन्दित भ्रमरों की पंक्ति के द्वारा मानो आर्द्र.... ....। (पृ० ३६४)

'दिसि' सप्तम्यन्त संस्कृत दिशि शब्द का प्राकृत रूप है, जिसका प्रयोग जात्यालम्बनात्मक एकवचन में किया गया है। 'मणिमंजरी' लाक्षणिक प्रयोग है। इस प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा में मणि और मंजरी का तादात्म्य मंजरीनिष्ठ कान्तिशालित्वादि धर्मों का अभिव्यंजक है। इस शब्द का अर्थ है—मणियों के समान कान्ति वाली मंजरी (आम का बौर)। 'दिसिमणिमंजरी' इस संयुक्त पाठ के स्थान पर 'दिसि मणिमंजरी' यह असंयुक्त पाठ स्वीकार करने पर कोई काठिन्य नही रह जाता। संस्कृत छाया में 'दिङ्मणिमञ्जरी' के स्थान पर 'दिशि मणि-मञ्जरी' का निवेश करना चाहिये।

अर्थ—दिशाओं में परिजनों से अलिमालाओं को आनन्दित करने वाली (रस से) आर्द्र, मणितुल्य मजरियों से भी लोगों के हृदय में मदनाग्नि प्रदीप्त हो उठती है। 'उल्लाहि' पद विरोधाभास-जनित वैचित्र्य का व्यंजक होने के कारण व्यर्थ[1] नहीं है। 'परिमलानन्दितालिमालाभिः' 'मणिमञ्जरीभिः' का विशेषण है।

१. अंग्रेजी टिप्पणी में इस विशेषण की उपयोगिता को अस्पष्ट बताया गया है।
—वज्जालग्गं (अंग्रेजी संस्करण), पृ० ३६४

श्री पटवर्धन ने पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को स्वतन्त्र रखकर परिमल के लिये पुष्पों का आक्षेप किया है, जो ठीक नहीं है ।

गाथा क्रमांक ६३६

किं करइ तुरियतुरियं अलिउलघणवम्मलो य सहयारो ।
पहियाण विणासासंकिय व्व लच्छी वसंतस्स ॥ ६३६ ॥

किं करोति त्वरितत्वरितमलिकुलघनशब्दश्च सहकारः
पथिकानां विनाशाशङ्कितेव लक्ष्मीर्वसन्तस्य

—रत्नदेवकृत अव्याख्यात संस्कृत छाया

प्रो० पटवर्धन ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

"भ्रमरों के प्रचुर शब्द से युक्त आम्र जल्दी-जल्दी क्या कर रहा है ? ऐसा लगता है, वसन्त की देवी पथिकों के विनाश के प्रति सन्देहयुक्त है ।"

टिप्पणी में लिखा गया है कि "गाथा के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में कोई तर्क-पूर्ण सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है । क्रिया-विशेषण 'तुरिय-तुरियं' एवं प्रश्न 'किं करइ' की भी सार्थकता समझ में नहीं आती है । 'किं करइ सहयारो' यह प्रश्न अनुत्तरित रह गया है । उत्तरार्ध को किसी प्रकार भी उक्त प्रश्न का उत्तर नहीं कहा जा सकता । 'वम्मल' शब्द 'पाइयसद्दमहण्णव' में संकलित नहीं है । सम्भवतः वह मर्मर से निष्पन्न हुआ है ।"

उपर्युक्त उल्लेख अविचारित एवं निराधार है । 'किं करइ सहयारो' यह प्रश्नवाचक वाक्य ही नहीं है । यहाँ किम् शब्द निन्दार्थक है—

किं क्षेप-निन्दयोः प्रश्ने वितर्के .... । —अनेकार्थसंग्रह

'तुरिय-तुरियं' क्रियाविशेषण भी अपार्थक नहीं है । वह वसन्त श्री के आगमन से किंचित् पूर्व ही मधुकर-मण्डली-मण्डित रसाल-कुञ्ज में द्रुत गति से विजृंभमाण उद्दीपन सामर्थ्य का अभिव्यञ्जक है । 'सहयार' (सहकार) में एक शब्दाध्यवसान-मूलक रूपक है—

सहयारो = सहकार आम्र एवं सहकारः सहाय सहचरो वा अर्थात् आम्ररूपो सहायक । 'वसंतस्स लच्छी' Godess of spring (वसन्त की देवी) के अर्थ में नहीं है । उसका अभिप्राय वासन्ती सुषमा से है । 'वम्मल' कोलाहल वाचक देशी शब्द वमाल का अपभ्रंश प्रभावित रूप है । 'आसंकिया' का अर्थ यहाँ सन्देही (Apprehensive) नहीं, संभावित है (देखें—पाइयसद्दमहण्णव) । अब गाथा का अर्थ इस प्रकार करें—

भ्रमरों के प्रचुर कोलाहल से युक्त (वासन्ती सुषमा का) सहायक (या सहचर) आम्र, त्वरित-त्वरित क्या कर रहा है (अर्थात् निन्दनीय कार्य करने जा रहा है)। ऐसा लगता है, मानों पथिकों (विरहियों) के विनाश के लिये वासन्ती सुषमा संभावित है (अर्थात् वसन्त के आने की संभावना है) 'अलि उलघणवम्मल' पद में अतिशयोक्ति है।

गाथा क्रमांक ६४०

किंकरि करि म अजुत्तं जणेण जं बालओ त्ति भणिओ सि।
धवलत्तं देंतो कंटयाण साहाण मलिणत्तं ॥ ६४० ॥

किंकरि कुरु मायुक्तं जनेन यद्बालक इति भणितोऽसि
धवलत्वं ददानः कण्टकाना शाखाना मलिनत्वम्

इसकी व्याख्या न तो रत्नदेवसूरि ने की है और न प्रो० पटवर्धन ने ही। अंग्रेजी अनुवाद में इस गाथा का स्थान रिक्त छोड़कर पाद-टिप्पणी दी गई है कि भाव स्पष्ट नहीं है। अर्थ की जटिलता के कारणों का उल्लेख इस प्रकार है—

क— स्त्रीलिंग सम्बोधन 'किंकरि' का किसी भी दशा में पुंलिंग 'बालओ' 'भणिओ' और 'देंतो' के साथ अन्वय नहीं हो सकता।

ख—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के मध्य कोई तार्किक सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। किंकरि का अर्थ गृहसेविका लिखा गया है परन्तु उत्तरार्ध से सूचित होता है कि गाथा में किसी ऐसे वृक्ष को किंकरि शब्द से सम्बोधित किया गया है, जिसके काँटे श्वेत और शाखायें श्याम होती हैं। अतः उक्त अर्थ उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः यहाँ किंकरि का अर्थ कीकर (बबूल विशेष) है। 'बालओ' का अर्थ बालक प्रकरण-विरुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि इस विशेषण का प्रयोग न तो गृहसेविका के लिये उपयुक्त है और न कीकर के लिए ही। प्राकृत में 'बा' का अर्थ दो (द्वि) होता है। बालय शब्द बा और आलय के योग से बना है। उसका संस्कृत रूपान्तर द्वयालय (द्वयोरालयो द्वयालय.प्राकृतं बालओ) होगा। अर्थ है—दोनों का आलय अर्थात् आश्रय। यह गाथा किसी ऐसे आश्रयदाता के सन्दर्भ में कही गई है, जो अपने आश्रितों को समान दृष्टि से नहीं देखता था।

अर्थ— हे कीकर! कण्टकों को धवलता और शाखाओं को श्यामता (मलिनता) प्रदान करते हुये अनुचित (कार्य) मत करो क्योंकि तुम दोनों (कण्टकों और शाखाओं) के आश्रय (आलय) कहे गये हो।

गाथा क्रमांक ६४१

मा रज्ज सुहंजणए सोहंजणए य दिट्ठमत्तम्मि ।
भज्जिहिसिय साहसिया मा हसिया सव्वलोएण ।। ६४१ ।।

मा रज्य शुभजनके शोभाञ्जनके च दृष्टमात्रे ।
भङ्क्ष्यस इति साहसिका मा हसिता सर्वलोकेन ।।

—रत्नदेवसम्मत संस्कृत छाया

अंग्रेजी अनुवाद यों किया गया है—

"शुभजनक सहिजन को देखते ही अनुरक्त मत हो जाओ, तुम टूट जाओगी"—इस प्रकार साहसिक युवती लोगों के द्वारा हँसी गई ।

टिप्पणी मे गाथा के अर्थ की अस्पष्टता के साथ-साथ उपर्युक्त अंग्रेजी अनुवाद के प्रति असन्तोष प्रकट किया गया है । अतएव उसकी उपयुक्तता का विवेचन अनावश्यक है । गाथा के तृतीय पाद मे अवस्थित 'साहसिया' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'साहसिका' किया है परन्तु प्रथम एव द्वितीय पाद मे जो वर्णन आया है, उससे किसी महिला की साहसिकता नही प्रकट होती है । किसी प्रियदर्शन तरुण को देखते ही अनुरक्त हो जाना कठिन साहस नही, एक सरल एव स्वाभाविक व्यापार है । अतः उक्त अर्थ, प्रकरण के अनुकूल नही लगता है । 'साहसिया' संस्कृत शाखाश्रिता का अपभ्रंशरूप है, जिसमें पूर्वपद ह्रस्व हो गया है । इसका अर्थ है—शाखा पर आश्रित (साहं सिया = शाखा श्रिता) । रत्नदेव ने 'सुहंजणय' का अर्थ शुभजनक लिखा है परन्तु यह शब्द संस्कृत व्याकरणानुमोदित नही है । संस्कृत में खश् या खच् प्रत्यय उपस्थित होने पर सोपपद धातु में मुमागम का विधान है । इस गाथा से पता चलता है कि प्राकृत में ण्वुल् प्रत्यय के योग में भी मुमागम होने लगा था । वज्जालग्ग की निम्नलिखित गाथा में ऐसे कई शब्दों का एक साथ प्रयोग दिखाई देता है—

सुहियाण सुहंजणया दुक्खंजणया य दुक्खियजणस्स ।
एए सुहंजणया सोहंजणया वसंतस्स ।। ६४१ × ४ ।।

अतः वह अर्थ अग्राह्य तो नही है परन्तु यहाँ संस्कृत व्याकरण का भी अनुरोध स्वीकार कर लेने मे क्या क्षति है ? मेरे विचार से निम्नलिखित व्याख्या अधिक सस्कृत है—

सुहंजणय = सुभञ्जनक = सु + भञ्जन + स्वार्थिक क = सुष्ठु भञ्जनं भङ्गो यस्य अर्थात् सरलता से टूट जाने वाला ।

गाथा में अप्रस्तुतप्रशंसा पद्धति से किसी प्रियदर्शन परन्तु भंगुर-प्रणय तरुण का वर्णन है जिसे देखते ही दोषों पर ध्यान दिये बिना ही अनुरक्त हो जाने वाली तरुणी उपहासास्पद बन गई थी ।

अर्थ—"सरलता से टूट जाने वाले (या सुख उत्पन्न करने वाले = सुखं जनक) शोभाञ्जन (सहिजन) को देखते ही प्रसन्न (रज्ज) मत हो जाओ, टूट जाओगी" (गिरने के कारण) इस प्रकार शाखा पर आश्रित (डाल पर चढ़ी हुई) तरुणी सब लोगों के द्वारा हँसी गई ।

वसन्तागम में जब शोभाञ्जन की स्वभावतः भंगुर शाखायें पुष्प-प्रकारावनद्ध होकर झुक जाती हैं तब बहुत ही मनोरम लगती है । उस समय उन पर आरोहण करना बड़े साहस का कार्य है । किसी भी क्षण (शाखाओं के टूट जाने के कारण) आरोहक भूमि पर गिर सकता है और उसके हाथ-पैर टूट सकते हैं । अतः पुष्पभरा-क्रान्त वासन्त शोभाञ्जन पर चढ़ने वाली कोमल-कलेवरा कामिनी को साहसिका ही कहा जायगा । महिलाजन-सुलभ शालीनता और लज्जा का परित्याग करने के कारण उसका हास्यास्पद होना भी स्वाभाविक है ।

द्वितीयार्थ—"इस प्रियदर्शन एवं अस्थिर-प्रणय तरुण को देखने मात्र से अनुरक्त मत हो जाओ, निराश होना पड़ेगा" इस प्रकार वह प्रणयिनी लोगों द्वारा हँसी गई ।

यदि शोभाञ्जनक (सोहंजणय) पद को भी श्लिष्ट मान लें तो द्वितीय अर्थ यों होगा—

"सुख (सुहंजणय) और शोभा उत्पन्न करने वाले (शोभाञ्जक) युवक को देखने मात्र से प्रेम मत करो, अन्त में तुम्हें निराश होना पड़ेगा" इस प्रकार (कहकर) सब लोगों ने प्रियाश्रिता (साह = प्रिय, सिया = श्रिता) महिला का उपहास किया ।

इस व्याख्या में 'सोहंजणय' का अर्थ शोभोत्पादक किया गया है । देशी शब्द साह प्रिय वाचक है (दे० पाइयसद्दमहण्णव) साहसिया का अर्थ है प्रिय की आश्रिता अर्थात् प्रेमिका—साहं पियं सिया ।

गाथा क्रमांक ६४५

मूलाहितो साहाण निग्गमो होई समलरुक्खाणं ।
साहाहि मूलबंधो जेहि कओ ते तरू धन्ना ॥ ६४५ ॥

ग्रीष्म के प्रकरण में बरगद का वर्णन अप्रासंगिक नही है। गाथा में उन वट-वृक्षों की प्रशंसा की गई है जो निदाघ-तप्त श्रान्त पथिको को अपनी शीतल छाया में आश्रय देते हैं। टीकाकार रत्नदेव के अनुसार इसमे ग्रीष्माग्नि का वर्णन है, बरगद का नही। उनका आशय इस प्रकार है:—

ग्रीष्माग्नि ऐसा वृक्ष है जिसकी शाखायें अन्य वृक्षों के समान मूल से नही निकलती हैं, शाखाओं से ही जडे फूटती है। ग्रीष्माग्नि का प्राकट्य मूल (नीचे अर्थात् पृथ्वी) से नही होता है। शाखाओ (सूर्य की रश्मियों) से ही वह पनपती है।

गाथा क्रमांक ६५५

जाणिज्जइ न उ पियमप्पियं पि लोयाण तम्मि हेमंते ।
सुयणसमागम वग्गी णिच्चं णिच्च सुहावेइ ॥ ६५५ ॥

प्रो० पटवर्धन इसके पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध मे अपेक्षित तार्किक सम्बन्ध नही ढूंढ सके है। अर्थ इस प्रकार है—

उस हेमन्त में लोगों को प्रिय और अप्रिय का भी पता नही चलता (या प्रिय और अप्रिय भी नही जाना जाता)। आग सज्जनो के समागम के समान प्रतिदिन सुख देती है।

प्रस्तुत गाथा की दोनो पंक्तियो में समर्थ्य-समर्थक-भाव है। आग अन्य ऋतुओं में अप्रिय होती है। उसके निकट कोई बैठना नही चाहता है परन्तु हेमन्त में सब उसी से चिपके रहते हैं। अत. उस समय यह समझना कठिन हो जाता है कि लोगो को कौन सी वस्तु प्रिय है और कौन सी अप्रिय। "जाणिज्जइ न उ पियमप्पियंपि" का प्रकारान्तर से भी यही अर्थ समझा जा सकता है—

अप्रियमपि प्रियं भवतीति शेषः न तु ज्ञायते। अर्थात् अवाञ्छनीय वस्तु भी वाञ्छनीय बन जाती है, परन्तु पता नहीं चलता है।

गाथा क्रमांक ६५६

डज्झंतु सिसिर दियहा पियमप्पियं जणो वहइ ।
दहवयणस्स व हियए सीयायवणक्खओ जाओ ॥ ६५६ ॥

रत्नदेव ने इसकी व्याख्या नहीं की है। श्री पटवर्धन ने उत्तरार्ध का अर्थ न समझने के कारण उस अंश का अनुवाद नहीं किया है। पूर्वार्ध का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"शिशिर के दिन भस्म हो जायें। लोग प्रिय और अप्रिय का अनुभव करते हैं।" यह अर्थ कुछ अटपटा सा लगता है। एक तो 'वहइ' का सीधा अर्थ 'ढोना' है, 'अनुभव करना' नहीं, दूसरे शिशिर को अभिशाप देने का कारण भी इसमें स्पष्ट नहीं है। यदि प्रिय और अप्रिय की अनुभूति को उसका कारण मानें तो तुरन्त यह प्रश्न उठता है कि क्या अन्य ऋतुओं में प्रिय की ही अनुभूति होती है, अप्रिय की अनुभूति कभी होती ही नहीं है? इस द्वन्द्वात्मक जगत् में अभिशाप देने का अवसर तब आता है जब प्रिय से नितान्त वंचित मनुष्य अप्रिय का दुर्वह भार ढोते-ढोते थक कर बैठ जाता है।

मैं इस गाथा की व्याख्या के पूर्व कतिपय शब्दों के अर्थ दे देना आवश्यक समझता हूं—

पियं = प्रियाम्, पत्नी को

अप्पियं = अप्रियाम्, अनिष्ट, अवांछित, जो प्रिय नहीं है उसको।

वहइ = वहति, ढोता है।

दियहा = समय, दिवस शब्द यहाँ कालवाची है।

सीयायवणक्खय = शीतातपनक्षय, शीत से ताप (आतपन) या धूप का विनाश (शिशिर-पक्ष)।

सीयायवणक्खय = सीतायवनक्षत अथवा सीताकथनक्षत, सीता के वियोग का भय या सीता के वचनों की चोट (दशवदन-पक्ष)

संस्कृत में यु धातु का अर्थ संयोग और वियोग, दोनों होता है—

यु मिश्रणेऽमिश्रणे च।

—सिद्धान्तकौमुदी, अदादि-प्रकरण

इस धातु में ल्युट् प्रत्यय जोडने पर वियोगार्थक यवन शब्द निष्पन्न होता है। प्राकृत में कथ् धातु को 'वव' आदेश हो जाता है—

कथेवर्ज्जर-पज्जरोप्पाल-पिसुण-संघ-बोल्ल-चब-जम्प-सीस-साहाः

—है० श०, ८।४।२

इस 'चब' से ल्युट् प्रत्ययान्त चवण शब्द बनने पर जब सीता शब्द के साथ उसका समास होगा, तब भाषा की प्रकृति के अनुसार चकार लोप और य श्रुति होगी और सीयावयण (सीता का कथन) शब्द सिद्ध होगा।

खअ = १—क्षय, विनाश

२—क्षत, भय[1] और चोट या घाव

उपर्युक्त गाथा किसी धूर्त जार की उक्ति है। इसमे ग्राम्य जनों की निष्किञ्चनता का मार्मिक संकेत है। प्राचीन काल में गाँवो में इतनी दरिद्रता थी कि लोग हेमन्त और शिशिर मे शीतनिवारणार्थ अपेक्षित ओढने का जुगाड़ नही कर पाते थे[2]। परिवार के कई-कई व्यक्ति एक ही ओढने के नीचे पुआल में सिमिट कर हिमसिक्त रातों में आत्मरक्षा करते थे। गाथा में जिस निस्स्व एव अधम ग्रामीण युवक का वर्णन है, वह अपनी अप्रिय पत्नी का सान्निध्य बिल्कुल नही चाहता था। परन्तु शिशिर की विवशता के कारण उसे उसी पत्नी के साथ एक ही शय्या पर सोना पड़ता था। यही नही, शीत के कारण एक अवाञ्छित महिला के उष्ण अंगों का निबिड परिरम्भ भी करना पड़ता था। इस सारी विवशता का अपराधी आखिर शिशिर ही तो है। यदि निदाघ के दिन होते तो वह पत्नी का मुह न देखता। अतः शिशिर काल का भस्म हो जाना ही अच्छा है। मूल प्राकृत की संस्कृत छाया निम्नलिखित होगी—

दह्यन्ता शिशिरदिवसा प्रियामप्रिया जनो वहति।

दशवदनस्येव हृदये शीतातपनक्षयो (सीतायचनक्षतं सीताकथनक्षतं वा) जातः (जातम्)॥

उपमेय-पक्ष में श्लेषानुरोध से क्षतं को पुंलिंग रूप दे दिया गया है। लिंग-विपर्यय की यह प्रवृत्ति वज्जालग्ग की श्लिष्ट और अश्लिष्ट, दोनो प्रकार की गाथाओं में दिखाई देती है (देखिये, ११६, १३१, ६५७)।

अर्थ—शिशिर का समय भस्म हो जाय। (क्योंकि) लोग अवाञ्छित पत्नी को भी वहन करः हैं। जैसे रावण के हृदय में सीता के वियोग से भय उत्पन्न

१. देखिये, आप्टे का संस्कृत कोश

२. देखिये, गाथासप्तशती

हो गया था वैसे ही शीत से आतप (धूप या गर्मी) का विनाश हो गया है।

अथवा

शिशिर-काल भस्म हो जाय। (क्योंकि) वाञ्छित और अवाञ्छित, दोनों प्रकार की महिलाओं को वहन करना पड़ता है। जैसे, सीता के कटुवचनों से रावण के हृदय में चोट लग गई थी वैसे ही शीत से आतप का नाश हो गया है।

गाथा क्रमांक ६५७

अवघूयअलक्खणघूसराउ दीसंति फरुसलुक्खाओ।
उय सिसिरवायलइया अलक्खणा दीणपुरिस व्व ॥ ६५७ ॥

अवधूतालक्षणधूसरा दृश्यन्ते फरुसरूक्षाः
पश्य शिशिरवातगृहीता अलक्षणा दीन पुरुषा इव

—श्री पटवर्धन-स्वीकृत संस्कृत छाया

रत्नदेव के अनुसार 'अवघूय अलक्खणघूसराउ' की संस्कृत छाया 'अवधूत-लक्षणधूसरा.' है, जिसे उक्त पद का एकपक्षीय अर्थ कहा जा सकता है। टीका में इस गाथा की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है। दो एक शब्दों के अर्थ दे दिये गये हैं, जिससे काठिन्य कम होना तो दूर रहा, और अधिक बढ़ गया है। श्री पटवर्धन ने भी इसे दुरूह कह कर छोड़ दिया है। उनके अनुसार 'अवघूयअलक्खणघूसराउ' और 'फरुसलुक्खाओ' 'सिसिरवायलइया' के विशेषण हैं। 'अलक्खणा' 'दीणपुरिसा' का विशेषण है। साथ ही उन्होंने यह भी संकेत किया है कि 'अलक्खणा' शब्द श्लेष-द्वारा उपमान और उपमेय, दोनों से अन्वित है। रत्नदेव ने 'सिसिरवायलइया' का अर्थ 'शिशिरवातगृहीता' किया है परन्तु इस एक-पक्षीय अर्थ को स्वीकार कर लेने पर 'व' (इव) के माध्यम से उपमा का वर्णन करने वाली गाथा में कोई उपमेय ही नहीं रह जाता है। श्री पटवर्धन के द्वारा सुझाया हुआ अर्थ 'शिशिरवातलतिका' प्रसंगानुकूल न होने से ठीक नहीं जँचता है। वस्तुतः उक्त पद विशेष्य (उपमेय) का वाचक है परन्तु प्रकारान्तर से उसका उपयोग विशेषण के रूप में भी होने के कारण पद्य में किंचित् कूटत्व आ गया है। रत्नदेव सूरि का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया, इसी से उनकी संस्कृत छाया अधूरी रह गई। उपमेय और उपमान—दोनों पक्षों में उक्त पद की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

उपमेय-पक्ष—शिशिर-वान-लतिका

संस्कृत ओवै (शोषणे) धातु से निष्ठान्त वान शब्द निष्पन्न होता है। प्राकृत में निष्ठा के तकार को नकार न होने पर वाय रूप भी बनेगा। वाय का अर्थ है—शुष्क। हेमचन्द्र के अनुसार (म्लेर्वा-पव्वायौ, ४।१११८) म्लै धातु को प्राकृत में वा आदेश हो जाता है—उसका निष्ठान्त रूप वाय होगा। वररुचि ने भी वा क्रिया को म्लै से ही सम्बद्ध किया है—

म्लै वावाओ—प्राकृत-प्रकाश, ८।२१

महाकवि वाक्पतिराज ने इस क्रिया का शोषण के अर्थ में प्रयोग किया है—

जायं तारावइणो वायंतमुणालपाडलमऊहं।
बिंबं अबालजम्बूफल-भंग-पिसंग परिवेसं॥

—गउडवहो, ११६५

इस प्रकार सिसिरवायलइया (शिशिरवानलतिकाः) का अर्थ है—शिशिर से म्लान या शोषित लतिकायें—शिशिरेण वानाः शोषिता. वा लतिकाः।

उपमान पक्ष—शिशिरवात गृहीताः = शिशिर की हवाओं या ठंडी हवाओ से पीड़ित। गाथा में शिशिर-शोषित लतिकाओं की तुलना दीन पुरुषों से की गई है। कंपन, स्वरूपरहितत्व (अलक्षण) धूसरत्व, परुषत्व, रूक्षत्व और दुर्भगत्व ऐसे धर्म हैं जो दोनो में उपलब्ध होते हैं। परन्तु 'अवधूयअलक्खणधूसराउ' और 'फरुषलुक्खाओ' पदों का स्त्रीलिंग, उनका 'दीणपुरिसा' से अन्वय करने में बाधक है। अतः विशेषणों की उभयपक्षीय संगति के लिये स्त्रीलिंग शब्दों के व्याख्यान में लिंगविपर्यय करना पड़ेगा। यदि अर्थान्तर करते समय उक्त स्त्रीलिंग विशेषणों के अन्तिम उकार और ओकार को पृथक् कर दें तो वे स्वतः पुंलिंग हो जायेंगे। 'उ' अनुकम्पा या आश्चर्य का बोधक अव्यय है (देखिये, पाइयसद्दमहण्णव) और 'ओ' सूचना और पश्चात्ताप का। (ओ सूचनापश्चात्तापे —प्रा० व्या०, २।२०३)। अर्थानुरोध से सम्पूर्ण गाथा का अन्वय इस प्रकार है—

उय अवधूयअलक्खणधूसराउ फरुसलुक्खाओ सिसिरवायलइया[1] दीणपुरिसा व्व अलक्खणा दीसंति।

---

१. स्त्रीलिंग में जस् विभक्ति के स्थान पर उत् और ओत् का विधान वैकल्पिक है। अतः वायलइया रूप भी बनता है।

—प्राकृत व्याकरण, ८।३।२७

इस प्राकृतान्वय-वाक्य को संस्कृत में रूपान्तरित कर देने पर लिंग-विपर्यय की आवश्यकता बिल्कुल नही रहेगी—

अवधूतालक्षणधूसरा. पुरुषरूक्षा· शिशिरवानलतिकाः दीनपुरुषा इव अलक्षणाः दृश्यन्ते ।

इस प्रकार लतिका के सभी विशेषण दीनपुरुष के साथ निर्बाध-रूप से अन्वित हो जायेंगे ।

शब्दार्थ—अवधूम अलक्खणधूसराउ = १. अवधूतालक्षणधूसराः (लता-पक्ष)
२. अवधूतकलक्षणधूसराः (दीनपुरुष)

लता-पक्ष मे अवधूत का अर्थ है—प्रकम्पित और अलक्षण का अर्थ है—स्वरूप-रहितत्व अर्थात् अपने वास्तविक रूप (लक्षण) में न दिखाई देना । दीनपुरुष के पक्ष में अवधूतक (अवधूत+क) शब्द हो जायगा, जिसका अर्थ है—साधु विशेष ।[1] अवधूतक लक्षण का अर्थ है—अवधूतों के लक्षण वाला ।

अलक्खणा = अलक्षणा = श्रीहीन

गाथार्थ—देखो, प्रकम्पित, स्वरूपशून्य, धूसर, परुष और रूक्ष हो जाने वाली शिशिर शोषित लतिकायें, इस प्रकार श्रीहीन दिखाई देती हैं जैसे—शिशिर वात गृहीत (जाडे की हवा से पीडित) दरिद्र पुरुष कम्पित, स्वरूपशून्य, धूसर, परुष और रूक्ष होकर श्रीहीन दिखाई देते हैं (अथवा जैसे दरिद्र पुरुष अवधूतों के समान धूल-भरे, परुष, रूक्ष और श्रीहीन दिखाई देते हैं) ।

गाथा क्रमांक ६६२

संकुइयकंपिरंगो ससंकिरो दिन्नसयलपयमग्गो ।
पलियाण लज्जमाणो न गणेइ अइत्तए दिन्नं ॥ ६६२ ॥

संकुचित कम्पनशीलाङ्गः शङ्कनशीलो दत्त सकलपदमार्गः
पलितेभ्यो लज्जमानो न गणयति अतीते दत्तम्
—श्रीपटवर्धन-स्वीकृत संस्कृत छाया

रत्नदेव की संस्कृत छाया में चतुर्थचरण का पाठ इस प्रकार है—
न गणयत्यपि त्वया दत्तम् ।[2]

---

१. देखिये, श्रीमद्भागवत पचम स्कन्ध

२. मुझे यही छाया मान्य है ।

अंग्रेजी अनुवादक ने लिखा है—'दिन्नसयलपयमग्गो' में कदाचित् मग्ग शब्द का परनिपात हुआ है। अतः उसे 'मग्गदिन्नसयलपओ' (मार्गदत्तसकल पदः) समझना चाहिये। 'मार्गदत्तसकलपदः' का अर्थ इस प्रकार है—

"जो मार्ग में पूर्ण एवं समान पद रखता है।"

'अइत्तए दिन्नं' का भाव अस्पष्ट बताया गया है।[1] रत्नदेव ने इसके अर्थ पर किंचित् प्रकाश डालते हुए लिखा है—

अयि इति आमन्त्रणे दत्तमिति न गणयति।

श्रीपटवर्धन ने अपनी टिप्पणी में इस व्याख्यावाक्य का भाव अस्पष्ट बताया है। हम विवेच्य गाथा का व्याख्यान करने के पूर्व प्रासंगिक भूमिका को स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं। तरुण नायक जब अँधेरी रातों में चोरी-चोरी परकीया नायिका के घर में रमणार्थ जाया करता था, तब रहस्य-भेद के भय से सिकुड़ा-सिकुड़ा-सा रहता था। उसके अंग कभी-कभी भय से काँप उठते थे। प्रायः कुत्तों की शंका बनी रहती थी तथा सुगम एवं दुर्गम, सभी स्थानों पर पैर रखते हुए चलना पड़ता था। आज वह वृद्ध हो चुका है। श्वेत केशों को लजाता हुआ प्रिया के घर नहीं जाता है परन्तु तारुण्य के दिनों में प्रिया के उद्दाम-प्रणय ने जो कुछ सिखा दिया था, अब उन्हीं गुणों का अभ्यास कर रहा है, क्योंकि वृद्धता के कारण अंगों में सकोच (झुर्रियाँ) उत्पन्न हो गया है और वे काँपने भी लगे हैं (वृद्धता के कारण)। कुटुम्बियों के प्रति शंका रहने लगी है (ये मेरा धन ले लेना चाहते हैं, इत्यादि सोच कर) और मार्ग में सचल (लड़खड़ाते) पद रखता हुआ चलता है। कवि ने प्रणय और वार्धक्य के जिन अनुभावों की योजना की है, वे उभयत्र साधारण है।

शब्दार्थ—संकुइयकंपिरंगो (संकुचित कम्पनशीलाङ्गः) = १. भय वश सिकुड़े या झुके हुए तथा काँपते हुए अगों वाला (प्रणय-पक्ष)

२. वृद्धता जनित सकोच (झुर्रियाँ) युक्त काँपते हुए अंगों वाला (वार्धक्य-पक्ष)।

संकोच (सिकुड़ना) और कम्पन वृद्धता और भय दोनों कारणों से उत्पन्न होते हैं।

---

१. वज्जालग्गं (अंग्रेजी संस्करण), पृ० ५६८

ससंकिर (श्वशङ्कनशील:) = कुत्तों से शंका करने वाला (प्रणय-पक्ष) ।

ससंकिर (स्वशङ्कनशील) = कुटुम्बियों से शंका करने वाला
(स्व = अपने लोग, कुटुम्बी) ।

दिन्न सयल पयमग्गो = १. जो मार्ग में सचल (लड़खड़ाता) पैर रखता है·—दिन्नो सयलो सकंपो पयो चलणो जंमि सो दिन्नसयलपयो। दिन्नसलयपयो-मग्गो जस्स सो दिन्नसयलपयो, मग्गेसु दिन्ना सयला पया जेण वा (वृद्धता-पक्ष)।

२. सभी स्थानों पर मार्ग बनाने वाला या सजल स्थान पर भी मार्ग बनाने वाला—दिन्नो ठवियो सअलेसु सव्वेसु पएसु ठाणेसु मग्गो पहो जेण। दिन्नो ठविओ सयलेसु ससलिलेसु पएसु ठाणेसु मग्गो पहो जेण वा (प्रणय-पक्ष)।

गणेइ = अभ्यास करता है।[1]

अइ (अयि) = अरी

तए (त्वया) तेरे द्वारा (छन्दोऽनुरोध से त का द्वित्व हो गया है)। वृद्धा नायिका की सहेली उससे कह रही है कि अरी, देख, तेरा पुराना प्रणयी तेरे दिये हुये गुणों का अब भी अभ्यास कर रहा है।

गाथार्थ—(यौवन में उत्कट-प्रणयावेग से तेरे गृह में रमणार्थ आने पर) जो सिकुड़ा-सिकुड़ा सा रहता था एवं जिसके अंग भी कठिन परिस्थितियों में) काँप उठते थे, जो कुत्तों से डरता रहता था (कि कहीं भूँकने न लगें) तथा सभी (सुगम या दुर्गम) स्थानों पर मार्ग बनाया करता था (क्योंकि प्रणयी दुर्गम स्थानों में भी राह ढूंढ लेता है) वही (वृद्धावस्था में) श्वेत बालों से लजाता हुआ, तेरे दिये हुये (सिखाये हुये) गुणों का अभ्यास कर रहा है, क्योंकि अब अंगों में झुर्रियाँ (संकोच) पड़ गई है और वे काँपने लगे हैं, (उसे) अपने कुटुम्बियों से शंका होने लगी है तथा वह मार्ग में लड़खड़ाते हुए चरण रखता है।

गाथा क्रमांक ६६३

वम्मह भक्खण दिव्वोसहीइ अंगं च कुणइ जरराओ।
पेच्छह निट्ठुरहियओ एण्हि सेवेइ तं कामो ॥ ६६३ ॥

इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार दी गई है—

---

१. पाइयसद्दमहण्णव।

मन्मथभक्षण-दिव्यौषध्याङ्गं च करोति जराराजः ।
प्रेक्षध्वं निष्ठुरहृदय इदानीं तं सेवते कामः ।।

रत्नदेव ने इस गाथा की व्याख्या नही की है और प्रो० पटवर्धन ने भी इस का अनुवाद नही किया है। अंग्रेजी टिप्पणी में लिखा है कि 'वम्मह भक्खण-दिव्वोसही' तथा 'अंग' शब्दो के अर्थ स्पष्ट नही हैं।

प्रस्तुत गाथा की जटिलता का प्रमुख कारण उपर्युक्त संस्कृत छाया है। छाया को प्रांजल रूप देने के पूर्व कतिपय पदो का आर्थिक विवेचन आवश्यक है। 'वम्मह भक्खणदिव्वो' इस पद मे बहुव्रीहि है। यहाँ प्राकृत की प्रकृति के अनुसार दिव्व शब्द का पर-निपात हो गया है। समस्तपद का संस्कृत रूपान्तर 'मन्मथ-दिव्य भक्षण ' होगा। इसका अर्थ है-कामदेव ही जिसका सुन्दर भोजन है (मन्मथ एव दिव्यं भक्षण भोजनं यस्य)। इस पद मे निम्नलिखित समासान्तर भी संभव हैं—मन्मथस्य दिव्यः भक्षण (कर्तरि ल्युट्) भक्षक', अर्थात् कामदेव का दिव्य भक्षक। 'कुणइ' क्रिया का सम्बन्ध प्राकृत कुण (कृ का धात्वादेश) से नही है। यहाँ 'कुण' शब्द सस्कृत कूणधातु (कूण संकोचे) से निष्पन्न है। प्राकृत की प्रकृति और छन्द के अनुरोध ने 'कूण' को 'कुण' बना दिया है। 'कुणइ' का संस्कृत रूपान्तर कूणयति है। कूणयति का अर्थ है—संकुचित कर देता है या झुका देता है। तृतीय चरण निविष्ट 'निट्ठुर हियओ' पद 'जरराओ' का विशेषण है, चतुर्थ चरणस्थ 'कामो' का नही। 'जरराओ' में निम्नलिखित ढंग से श्लेष है—

जरराओ (ज्वरराज') = १. श्रेष्ठ ज्वर

२. जराराज अर्थात् वार्धक्यरूपी राजा

तं शब्द स्त्रीलिंग ताम का प्राकृतरूप है और द्वितीय चरण में अवस्थित 'सही' से अन्वित है। गाथा की संस्कृत छाया को यह रूप देना चाहिये—

मन्मथदिव्यभक्षणः सख्याः अङ्गं च कूणयति जराराज (ज्वर राजः)।
प्रेक्षध्वं निष्ठुरहृदय इदानी सेवते तां कामः ।।

प्रसंग—इस पद्य में काम विकार की अपरिहार्यता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। नायिका की अवस्था अब ढल चुकी है, फिर भी उसका मन कामवासना से मुक्त नही हो सका है। नायिका को सहेली किसी अन्य से उसकी इस प्रवृत्ति का वर्णन कर रही है।

अर्थ—देखो, काम ही जिसका दिव्य भोजन है (या जो काम का दिव्य भक्षक है) वह निष्ठुर हृदय वार्धक्यरूपी ज्वरराज सखी के अंग को सिकोड़ रहा है (उनमें झुर्रियाँ पड़ रही हैं या वे झुकते जा रहे हैं)। इस समय भी काम उसकी (सखी की) सेवा कर रहा है।

स्वामिभक्त सेवक वही होता है, जो गाढ़े दिन में भी काम आये। काम नायिका का इतना भक्त सेवक है कि वार्धक्य मे भी साथ नही छोड़ रहा है।

गाथा क्रमांक ६७३

अवहरइ जं न विहियं जं विहियं तं पुणो न नासेइ।
अइणिउणो नवरि विही सित्थं पि न वड्ढिउं देइ॥ ६७३॥

प्रो० पटवर्धन ने लिखा है कि इस गाथा का भाव स्पष्ट नही है।[1] रत्नदेव ने 'विहियं' का अर्थ 'कृतम्' लिखा है, जिसे आधार मानकर अंग्रेजी टिप्पणी में बहुत बड़ा ऊहापोह किया गया है। संस्कृत-टीका मे 'अवहरइ जं न विहियं' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

विधिर्यन्न कृतं तन्नापहरति अर्थात् जो नही किया गया है, उसका अपहरण विधि नही करता है। यह व्याख्या बिल्कुल निरर्थक है। श्री पटवर्धन ने भी 'विहियं' का अर्थ 'कृतम्' ही स्वीकार किया है। अतः उन्हें बहुत अधिक भटकना पड़ा है और अन्त में इस नितान्त सरल गाथा को भी दुरूह घोषित करना पड़ा।

यहाँ 'विहियं' का अर्थ है—पूर्व-निर्धारित। मनुष्य को अपने जीवन मे जो कुछ भी प्राप्य होता है, वह विधाता-द्वारा बहुत पहले से ही निर्धारित रहता है। उसमें किसी भी प्रकार न्यूनाधिक्य सम्भव नही है।

गाथार्थ—जो पूर्व-निर्धारित नही है उसे हर लेता है, (प्राप्त नही होने देता) जो निर्धारित है उसे नष्ट नही करता (सँजोये रहता है), भाग्य ही मनुष्यों को उनका प्राप्य देने मे अति निपुण है, एक कण भी बढ़ने नही देता।

गाथा क्रमांक ६८१

केसाण दंतणह ठक्कुराण वहुयाण वहुयणे तह य।
थणयाण ठाणचुक्काण मामि को आयरं कुणइ॥ ६८१॥

---

1. वज्जालग्गं (अंग्रेजी संस्करण), पृ० ५७०-७१।

श्रीपटवर्धन ने चतुर्थ चरणावस्थित 'बहुयणे' को 'वधूजने' समझकर तृतीय-चरणावस्थित 'थणयाण' से इस प्रकार अन्वित किया है—वहुयणे तह य थणयाण (वधूजने तथा च स्तनानाम्)। परन्तु यह क्लिष्ट-कल्पना उचित नही है। इस व्याख्या से गाथा में वधू शब्द की दो बार निरर्थक आवृत्ति होने पर पुनरुक्ति दोष होगा। वधूजने तथा च स्तनाना स्थानच्युताना क आदरं करोति—इस वाक्य का सीधा अर्थ है कि वधूजनों में स्थानच्युत स्तनों का कौन आदर करता है। प्रश्न यह है कि तरुणियों के उरोजो की उन्नति को महत्त्व और आदर तरुणियाँ (वधुये) देती है या तरुण ? भला तरुणियो के कामोद्दीपक उरोजों के स्थानच्युत हो जावे पर दूसरी वधूटियो का क्या जाता है, जो वे उनका आदर नही करेंगो। याद 'बहुयणे' की सप्तमी विभक्ति को षष्ठी के अर्थ में लें तो भी दुरारूढ़ कल्पना होगी। अतः 'बहुयणे' की उपर्युक्त व्याख्या ठीक नही है। यदि 'बहुयणे' का संस्कृत-रूपान्तर 'बहुजने' कर दे तो अर्थ-सौकर्य होगा, गाथा के सस्कृत रूपान्तरका अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—

स्थानच्युताना केशाना दन्तनखठक्कुराणा तथा च वधूकाना स्तनाना बहुजने क आदरं करोति। इस वाक्य में 'तथा च' को वधूकाना के पूर्व या पश्चात्—कही भी रख सकते हैं। पूर्व रखने पर उतने अंश का अर्थ होगा—'और उसी प्रकार वधुओ के स्थानच्युत स्तनों का आदर कौन करता है ?' पश्चात् रखने पर उसका अर्थ यों हो जायगा—स्थानच्युत वहुओं का और स्थानच्युत स्तनों का समादर कौन करता है ?

बहुयण = बहुजन = जनसमूह

गाथार्थ—सखि ! केश, दाँत, नख, ठाकुर (क्षत्रिय या ग्रामपति) और वधूटियो के स्तन जब स्थानच्युत हो जाते हैं, तब जनसमूह में उनका आदर कौन करता है ?

गाथा क्रमांक ६८३

गहियविमुक्का तेयं जणंति सामाइणो नरिंदाणं।
दंडो तह च्चिय ट्ठिय आमूलं हणइ टंकारो ॥ ६८३ ॥

गृहीतविमुक्तास्तेजो जनयन्ति सामाजिका नरेन्द्राणाम्
दण्डस्तथैव स्थित आमूलं हन्ति टणत्कारः

—श्री पटवर्धनकृत संस्कृत छाया

रत्नदेव ने इसकी व्याख्या नही की है। मूल में 'अणंति' के स्थान पर 'जिणंति' पाठ भी मिलता है। गाथा को अंग्रेजी में इस प्रकार अनूदित किया गया है—

"राज्य के लोग, जो पहले बन्दी बना लिये जाते है और फिर मुक्त कर दिये जाते है, राजाओं के प्रताप और महत्त्व को बढाते हैं। बाण जहाँ है वही रहता है, परन्तु धनुष की प्रत्यंचा की टंकार पूर्णतया मार डालने (या भयभीत करने) में समर्थ होती हैं।"

टिप्पणी में प्रमुख शब्दो के अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं—

दण्ड = १—**Physical Punishment, torture** अर्थात् शारीरिक दंड

२—**Arrow** अर्थात् बाण

परन्तु काण्ड के पर्याय दण्ड को भी बाणार्थक मान बैठना ठीक नही है। एक शब्द के अनेक पर्याय होते हैं, परन्तु उनके सभी अर्थ समान नही हो सकते हैं। साहित्य में कही भी दण्ड का प्रयोग बाण के अर्थ में दिखाई नही देता और न कोशों में ही उसका उल्लेख है।

गृहीत = **Captured** अर्थात् बन्दी

सामाइणो = समाजिन

यद्यपि 'सामाइणो' की छाया 'सामाजिका.' दी गई है तथापि अनुवादक ने उक्त शब्द का सम्बन्ध 'समाजिनः' से जोड़ते हुये लिखा है कि यहाँ सकार में दीर्घता (**Elongation**) आ गई है (पृ० ५७३)। सामाजिक या समाजी का अर्थ है—भद्रपुरुष या सभ्य व्यक्ति।

अब उपर्युक्त अर्थों का पर्यालोचन करने पर प्रश्न यह उठता है कि यदि सामाजिक का अर्थ भद्रपुरुष है तो उन्हें बन्दी क्यों बना लिया जाता है? क्या भद्र पुरुषों के साथ राजा ऐसा ही व्यवहार करते हैं? उक्त अंग्रेजी अनुवाद इतना विशृंखल है कि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया है। यदि गाथा की दोनों पंक्तियों में समर्थ्य-समर्थक-भाव मानें तो उत्तराध के द्वारा पूर्वार्ध का समर्थन संभव नही दिखाई देता है।

प्रस्तुत गाथा 'ठाण वज्जा' में संकलित है। अंग्रेजी अनुवाद से लगता है जैसे यह अपने शीर्षक से बहुत दूर हट गई है। कदाचित् इसीलिये अनुवादक ने इसे **'Out of Place'** कहा है (भूमिका पृ० १०)।

अब हम इस गाथा के वास्तविक अर्थ पर विचार करेंगे। इसमें यह बताया गया है कि जो राजा साम, दान और भेद—इन तीनों उपायों को उचित समय और स्थान पर कभी ग्रहण करते हैं और कभी छोड़ देते हैं, उनके प्रभाव की वृद्धि होती है और प्रायः दण्ड की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। मूल में स्थित 'मामाइणो' का संस्कृत रूपान्तर 'सामादयः' है, 'सामाजिकाः' या 'समाजिनः' नहीं। 'सामादयः' का अर्थ है—साम, दान और भेद संज्ञक उपायत्रय। दण्ड और टंकार शब्दों में श्लेष है—

दंड = १. उपाय विशेष (दण्डनीति)
 २. धनुर्दण्ड
टंकार = १. ज्या-शब्द
 २. ओज,[1] तेज

गाथार्थ—(अनुकूल अवसर और उचित स्थान पर) ग्रहण किये और छोड दिये गये सामादि उपाय राजाओ के प्रभाव को उत्पन्न करने हैं। दण्ड तो उसी प्रकार स्थित रह जाता है (अर्थात् उसका कभी उपयोग ही नहीं होता है)। तेज ही शत्रु को आमूल (जड समेत) नष्ट कर देता है। जैसे धनुर्दण्ड अपने स्थान पर ही रहता है परन्तु उसकी टंकार (ज्या-शब्द) ही शत्रुओ को मूल समेत मार डालती है (अर्थात् पीडित करती है।)

हन् को गत्यर्थक मानकर निम्नलिखित अर्थ भी संभव है—

धनुर्दण्ड उसी प्रकार स्थित रहता है, उसकी टंकार ही शत्रु के निकट (मूल = निकट, देखिये मेदिनी कोश) तक पहुँच जाती है। श्लेषानुरोध से हन् के इस अर्थ मे अप्रयुक्तत्व दोष नहीं है—

अप्रयुक्तनिहतार्थौ श्लेषादावदुष्टौ।

—काव्य प्रकाश, सप्तमोल्लास

'जिणति' पाठ स्वीकार करने पर पूर्वार्ध का यह अर्थ होगा—

(उचित समय पर) ग्रहण किये गये और छोड दिये गये सामादि उपाय राजाओं (प्रतिपक्षियों) का तेज जीत लेते हैं।

---

१. महाकवि वाक्पतिराजने इस शब्द का इसी अर्थ में इस प्रकार प्रयोग किया है—

विणय गुणो दंडाडंबरो य मंडंति जह णरिंदस्स।
तह टंकारो महुरत्तण य वायं पसाहेंति ॥ —गउडवहो, ६७

गाथा क्रमांक ६९३

मुत्ताहलं व पहुणो गुणिणो किं करइ वेहरहियस्स ।
जत्थ न पविसइ सूई जत्थ गुणा बाहिर च्चेय ॥ ६९३ ॥

मुक्ताफलमिव प्रभोर्गुणिन किं करोति वेधरहितस्य
यत्र न प्रविशति सूची तत्र गुणा बहिरेव

—रत्नदेव-सम्मत संस्कृत छाया

अंग्रेजी टिप्पणी में 'मुत्ताहलं' को षष्ठ्यन्त रूप देकर और कर्ता का बाहर से आक्षेप कर, पूर्वार्ध का अन्वय इस प्रकार किया गया है—

"मुक्ताफलस्य ईव वेधरहितस्य प्रभोः गुणिनोऽपि पुरुषः किं करोति ।"

रत्नदेव ने कर्ता का बाहर से आक्षेप नहीं किया है। वे 'करइ' क्रिया को बहुवचन मानते हैं। 'गुणिनः' 'प्रभोः' का विशेषण नहीं अपितु 'करइ' क्रिया का प्रथमान्त कर्ता है—

"वेधरहितस्य प्रभोः गुणिन किं कुर्वन्ति । यथा मुक्ताफलस्य वेधरहितस्य ।"

—संस्कृत टीका

हम 'गुणिणो' को 'पहुणो' का विशेषण मानकर कर्ता के रूप में सेवक का आक्षेप करना अधिक समीचीन समझते हैं। 'करइ' क्रिया कुर्यात् या करोतु के अर्थ में है। उत्तरार्ध में सूई (सूची) शब्द श्लिष्ट है, जिसका दूसरा अर्थ बताने में असमर्थता व्यक्त करते हुए श्रीपटवर्धन ने लिखा है—

"It is not clear in what sense the word सूई is intended by the author in the case of the प्रभु" अर्थात् प्रभु के पक्ष में लेखक को सूची का कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है।

'सूई' (सूची) शब्द का दूसरा अर्थ अनुक्रमणिका या तालिका (फिहरिस्त) है। अन्य पदों के अर्थ इस प्रकार हैं—

गुण = १. अच्छाई
२. सूत्र, तागा

वेह (वेध) = १. छिद्र
२. संपर्क, अनुस्मरण या ज्ञान

(देखिये, पाइयसद्दमहण्णव)

गाथा में यह बताया गया है कि जैसे मुक्ता में सूत्र के प्रवेश के लिये छिद्र के साथ-साथ सूई का प्रवेश आवश्यक है (क्योंकि सूई की सहायता से ही सूत मुक्ता के भीतर प्रवेश करता है), वैसे ही संपर्क-शून्य प्रभु का अन्तरंग बनने के लिये गुणवान् जनों की तालिका में सेवक का नाम अंकित होना भी अनिवार्य है।

गाथार्थ—सेवक छिद्ररहित मुक्ताहल के समान उस गुणवान् प्रभु का क्या करे (अर्थात् उसकी कौन-सी सेवा करे) जो उसके (सेवक के) गुणों को भूल गया है (या जानता ही नही है या जिस पर कोई प्रभाव ही नही पडता है)। जहाँ सूई का प्रवेश नही होता वहाँ (अर्थात् छिद्ररहित मुक्ताहल में) सूत्र (गुण) बाहर ही रह जाते है।

अन्य अर्थ—जहाँ तालिका (फिहरिस्त) का प्रवेश नही हो पाता (अर्थात् तालिका सामने नही लाई जाती है। वहाँ गुण (अच्छाइयाँ) बाहर ही रह जाते हे (अर्थात् उपेक्षित रह जाते है)।

गाथा क्रमांक ६९५

ता निग्गुण च्चिय वरं पहुणवलंभेण जाण परिओसो।
गुणिणो गुणाणुरूवं फलमलहंता किलिस्संति ॥ ६९५ ॥

श्री पटवर्धन ने लिखा हैं कि निग्गुण शब्द 'णिग्गुत्तणे (निर्गुणत्व) के अर्थ में है। उनका यह मत ठीक नही है। यहाँ 'निग्गुण च्चेय' का अर्थ 'निर्गुणा एव' है। 'पहुणवलंभेण' का अर्थ उन्होंने यह दिया है—"जिन्होंने नया स्वामी निश्चित किया है।" (पृ० ५७६)

मैं समझता हूँ, यहाँ इस शब्द का अर्थ है—प्रभु से होने वाला नया लाभ। जो सेवक गुणहीन होते है उन्हें जब स्वामी प्रसन्न होकर कुछ देता है, तब वह कृपोपजीविनी उपलब्धि उनके लिये सर्वथा नई होती है क्योंकि प्रायः गुणहीन होने के कारण उन्हें पुरस्कृत होने का अवसर मिलता ही नही है। अतः वे बेचारे यत्किंचित् लाभ से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। गुणीजनों की स्थिति विपरीत है। वे तो तभी सन्तुष्ट होते हैं जब गुणों की गरिमा के अनुकूल कोई पारितोषिक प्राप्त होता है। प्राय. गुणों के अनुरूप पारिश्रमिक मिल नही पाता है। अतएव गुणीजन जीवन में अधिकतर असन्तोष-जनित क्लेश से पीडित रहते हैं।

श्री पटवर्धन ने लिखा है—"इस गाथा के पूर्वार्ध का भाव अस्पष्ट रह गया है और उत्तरार्ध से उसकी तर्कसम्मत संगति नहीं बैठती।" यदि गाथा को उप-

र्युक्त सन्दर्भ के आलोक में रख दें तो अर्थ में कोई विसंगति नहीं रहेगी।

गाथार्थ—वो निर्गुण (गुणहीनजन) ही श्रेष्ठ है जो प्रभु से नई उपलब्धि होने पर सन्तुष्ट हो जाते हैं। गुणीजन गुणों के अनुरूप फल (पारितोषिक आदि लाभ) न पाते हुए क्लेश उठाते हैं।

गाथा क्रमांक ६९९

किं तेण जाइएण वि पुरिसे पयपूरणे वि असमत्थें।
जेण न जसेण भरियं सरिव्व भुवणंतरं सयलं॥ ६९९॥

किं तेन जातेनापि पुरुषेण पदपूरणेऽप्यसमर्थेन
येन न यशसा भृतं सरिद्वद् भुवनान्तरं सकलम्

—रत्नदेव-सम्मत संस्कृत-छाया

रत्नदेव की संस्कृत छाया के आधार पर श्री पटवर्धन ने इसका यों अनुवाद किया है—

"जो पुरुष उच्चपद को पूर्ण करने में भी असमर्थ है, जिसने सरिता के समान सम्पूर्ण जगत् को यश से भर नहीं दिया उसके जन्म लेने से भी क्या लाभ ?" इस अनुवाद को ठीक नहीं कहा जा सकता है। 'पयपूरणे वि' इस कथन में 'वि' (अपि) के द्वारा 'पयपूरण' (पदपूरण) को किस तुच्छता की सूचना दी गई है, वह उच्चपद में बिल्कुल नहीं है। प्रायः चाटुकारिता, परिस्थिति-विशेष या अन्य आकस्मिक कारणों से अयोग्य व्यक्ति भी उच्च पदों पर पहुँच जाते हैं और सुयोग्य व्यक्ति खड़े ताकते रह जाते हैं। अतः जब उच्चपद पर पहुँचना केवल अपने अधीन नहीं है तब उसके अभाव में किसी पुरुष के जन्म की व्यर्थता का प्रतिपादन करना अनुचित है। यदि हीरे को राजमुकुट में स्थान नहीं मिला तो उसका क्या दोष है ? दोष तो उस अभागे राजा का है जो उस बहुमूल्य हीरे को पहचान नहीं सका।

श्री पटवर्धन ने लिखा है—"पयपूरणे" को अपभ्रंश की शैली में करण कारक एकवचन का रूप मानकर निम्नलिखित रीति से उसे उपमान सरित् से भी संबद्ध किया जा सकता है—

यथा सरिता पयःपूरणेन(= पूरेण) सकलं भुवनान्तरं भ्रियते (= व्याप्रियते) तथा येन पुरुषेण पदपूरणे असमर्थेन सकल भुवनान्तरं यशसा न भृतं (= व्याप्तम्), तेन पुरुषेण जातेनापि किम् (पृ० ५७७)।

परन्तु यह क्लिष्ट कल्पना है। यहाँ सीधे-सादे शब्दों में यशःकृत् भुवनान्तर-भरण की सरित्कृद्-भुवनान्तर-भरण से उपमा दी गई है। 'पय' (पद) का अर्थ है—श्लोक का एक चरण। गाथा में काव्य-रचना का महत्त्व और उससे मिलने वाले यश का वर्णन है। चतुर्थ = चरणनिविष्ट भुवणंतर पद में श्लेष है। उसकी व्याख्या निम्नलिखित है—

भुवणंतरं (भुवनान्तरम्) = सम्पूर्ण जगत्

भुवणंतरं (भूवनान्तरम्) = भुवः पृथिव्या वनाना च अन्तरं मध्यभागम्। अर्थात् पृथ्वी और वनो के मध्य-भाग को। श्लेषानुरोधवश भू का भु हो जाना प्राकृत की प्रकृति के विरुद्ध नही है। अपभ्रंश मे स्वरो के स्थान पर अन्य स्वर प्रायः हो जाते है। प्राकृत मे भी छन्दोऽनुरोध से गुरु को लघु और लघु को गुरु हो जाता है।[1]

चतुर्थ चरण की संस्कृत छाया में श्लेष की सूचना के लिये 'भूवनान्तरम्' का भी निवेश आवश्यक है। तभी संस्कृत-छाया पाठ से सरित्पक्षीय समीचीन अर्थ की स्पष्ट अवगति संभव होगी। सरित्पक्ष में भी भुवनान्तर का अर्थ सम्पूर्ण जगत् समझने की भूल नही करनी चाहिये क्योंकि बडी से बडी सरिता भी सम्पूर्ण जगत् को प्लावित करने में समर्थ नही है। अतिशयोक्ति उपमेय के पक्ष में होती है, उपमान के पक्ष में नही।

गाथार्थ—श्लोक का एक चरण भी पूर्ण करने में असमर्थ उस पुरुष के जन्म लेने से क्या लाभ है जिसने जगत् के विभिन्न भागों को इस प्रकार यश से नही भर दिया जिस प्रकार सरिता पृथ्वी और वनों के मध्य भाग को (प्लावन से) भर देती है।

गाथा क्रमांक ७०१

किं तेण आइएण व किं वा पसयच्छि तेण व गएण।
जस्स कए रणरणयं नयरे न घराघरं होइ॥ ७०१॥

१. गुरुलाघवंवशात्।
—प्राकृतानुशासन, १७।१६

इस गाथा का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"उसके जन्म लेने से क्या ? अथवा उसके मर जाने से ही क्या ? जिसके लिये नगर में घर-घर शोक न हो।" (मूल का अनुवाद) प्रो० पटवर्धन ने मूल में स्थित आइय (आगत) का अर्थ उत्पन्न (born) और गय (गत) का अर्थ मृत (dead) तथा रणरणय का अर्थ शोक (sorrow) किया है। प्रथम दो शब्दों के अर्थ लाक्षणिक हैं। लक्षणा का आश्रय लेना उसी दशा में उचित है, जब मुख्यमार्ग बाधित हो। यहाँ जब मुख्यार्थ से ही काम चल सकता है तब दूर जाने की क्या आवश्यकता है ? यदि उक्त लाक्षणिक अर्थ मान भी लें तो अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है। उन्होंने 'रणरणय' का अर्थ शोक किया है। मृत्यु हो जाने पर शोक होना स्वाभाविक है। परन्तु किसी का जन्म होने पर शोक की बात समझ में नहीं आती। यदि कहें कि शोक केवल मरण के लिये है तो गाथा में वैशिष्ट्यहीन जन्म की चर्चा क्यों की गई ? यदि 'जिसके लिये' को आगमन और गमन के बजाय उस व्यक्ति विशेष से अन्वित करें तो भी (जिस व्यक्ति के लिये नगर के घर-घर में शोक न हो) यह अर्थ नितान्त अमांगलिक बन जाता है। यदि शोक के स्थान पर उत्सुकता अर्थ करें तो अमांगलिकता नहीं रहेगी। इस सीधी-सी गाथा का वास्तविक तात्पर्य तो यह है कि जिसके आने पर लोग प्रसन्न न हों और जाने पर दुःखी न हों, उसके आने और जाने से क्या लाभ है ? कवि ने यहाँ कुशलता पूर्वक एक ही शब्द से हर्ष और उद्वेग—दोनों अर्थों को प्रकट कर दिया है। 'रणरणक' अनेकार्थक शब्द है। वह निःश्वास, उद्वेग—औत्सुक्य और अधृति का बोधक है तथा आगमन के पक्ष में औत्सुक्य (हर्ष जनित) और गमन के पक्ष में उद्वेग का अर्थ दे रहा है। मैंने हिन्दी अनुवाद मे उक्त शब्द का अर्थ अधीरता (अधृति) दिया है क्योंकि किसी प्रियदर्शन सज्जन के आगमन पर उसे देखने के लिये जैसी अधीरता प्राणियों में देखी जाती है, वैसी ही उसके चले जाने पर भी होती है।

गाथा क्रमांक ७०२

उड्ढं वच्चंति अहो वयंति मूलंकुर व्व भुवणम्मि।
विज्जाहियए कत्तो कुलाहि पुरिसा समुप्पन्ना॥ ७०२॥

गाथा का मूलपाठ अशुद्ध है। संग्रहकार ने इसे वाक्पतिराजकृत गउडवहो से संकलित किया है। वहाँ इसका पाठ इस प्रकार है—

वच्चंति अहो उड्ढं अइंति मूलंकुरव्व पुहईए ।
बीआहि व एक्कसो कुलाहि पुरिसा समुप्पण्णा ।। ७२२ ।।

गाथा क्रमांक ७१२

अप्पं परं न याणसि नूणं सउणो सि लच्छिपरियरिओ ।
उज्जल-समुहो पेच्छह ता वयणं पि हु न ठावेइ।। ७१२।।

आत्मान परं न जानासि नूनं सगुणोऽसि लक्ष्मीपरिचरित ।
उज्ज्वलसम्मुख प्रेक्षध्वं तद्वदनमपि खलु न स्थापयति ।।

—श्री पटवर्धनस्वीकृत सस्कृत छाया

प्रस्तुत गाथा का विकृत पाठ प्रत्येक व्याख्याकार के समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित कर देता है जहाँ पूर्वार्ध में 'याणसि' और 'असि' क्रियायें मध्यम पुरुष एक वचन की है वही उत्तरार्ध में प्रथम पुरुष एकवचन की क्रिया 'पेक्खइ' भी विद्यमान है। यदि कमल को सम्बोधित मानते है तो पुरुषान्तर की क्रिया 'ठावेइ' से उसका अन्वय ही नही होता है। यदि 'उज्जलसमुहो' को उत्तरार्ध का कर्ता मानें तो कठिनाई यह उपस्थित होती है कि मध्यम पुरुष बहुवचन की क्रिया पेच्छह' को किससे सम्बद्ध करें। इन समस्त अव्यवस्थाओं के निराकरण के लिये संस्कृत-टीकाकारो ने पुरुषव्यत्यय-द्वारा 'ठावेइ' को 'स्थापयसि' मानकर व्याख्या करने का प्रयत्न किया है परन्तु वे 'पेच्छह' का अर्थ 'पश्यत' लिखकर उससे सम्बन्धित जटिलता का कोई समाधान नही कर सके। संस्कृत-टीका में प्रमुख पदो के अर्थ इस प्रकार दिये गये है—

अप्पापरं न याणसि = आत्मानं परं च न जनीषे ।
सउणो = सपुण्य·
लच्छिपरियरिओ = लक्ष्म्या परिकरित·
ठावेइ = स्थापयसि
पेक्खह = पश्यत
उज्जलसमुहो = उज्ज्वलसमूह:

श्री पटवर्धन ने 'सउण' का अर्थ 'सगुण' और 'उज्जलसमुहो' का अर्थ 'उज्ज्वलसंमुख.' लिखकर यह अधूरा अनुवाद किया है—

"तुम न तो अपने को और न दूसरे को ही जानते हो। निश्चय ही तुम सद्गुणयुक्त (पक्षान्तर में सद्गुणों से युक्त) हो और लक्ष्मी से सेवित हो।"

इस अनुवाद के सम्बन्ध में यह पाद-टिप्पणी दी गई है—

The sense of the second half of the gatha is obscure.

उपर्युक्त अनुवाद से लगता है, जैसे गाथा में कमल की प्रशंसा की गई हो जबकि प्रकरण के अनुसार उसकी निन्दा होनी चाहिये। अतः उक्त अधूरे अनुवाद को भी सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है।

प्रस्तुत गाथा में प्रकरणतः कमलनिन्दा वर्णित है। एतदर्थ कवि ने श्लिष्ट पदों का प्रयोग किया है। पूर्ववर्ती टीकाकारों ने श्लेष पर ध्यान नहीं दिया, जिससे उनको व्याख्यायें कमल-प्रशंसा परक बन गईं। उल्लू मूर्खता का प्रतीक होने के कारण निन्दा का पात्र है। यहाँ तुल्य विशेषणों द्वारा कमल और उल्लू (उलूक) को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। यदि चाहें तो कमला के निवास कमल को धनिकों का प्रतीक भी मान सकते है। इस सन्दर्भ में एक बात पर और ध्यान देना है। गाथा में कमल शब्द का प्रयोग कहो भी नही है। कमल निन्दा-प्रकरण में संकलित होने के कारण ही इसको कमल से सम्बद्ध किया गया है। अर्थसौकर्य की दृष्टि से विवेच्य गाथा को इस प्रकार पढना होगा।

अप्पा परं न याणसि नूण सउणो सि लच्छिपरियरिओ।
उज्वल समुहो पेच्छ ह ता वयणं न हु ठावेइ ॥

छाया—आप्यात् (आत्मनः) परं न जानासि नूनं सगुणोऽसि (शकुनोऽसि) लक्ष्मीपरिचरितः (लक्ष्मीपरिकरितः)।

उज्ज्वलसमूह (उज्ज्वलसम्मुखः) प्रेक्षस्व ह तावदयनं (तद्वदनं) न स्थापयति

शब्दार्थ—अप्पा[1] (आप्यात्[2]) = जल-विकार (कर्दम-तरंग-भंगादि)

---

१. इसेरादोद्वृय—प्राकृत-प्रकाश, ५।६

२ पाणिनीय व्याकरण अप् शब्द में विकारार्थक मयट् प्रत्यय का विधान करता है परन्तु श्री हर्ष ने कई स्थलो पर आप्य (अम्मय के अर्थ में) का प्रयोग किया है। निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

तस्यां मनोबन्ध विमोचनस्य कृतस्य तत्कालमिव प्रचेताः।
पाशं दधानः करबद्धवासं विभुर्बभावाप्यमवाप्य देहम् ॥-नैषध, १४।६७

टीकाकार मल्लिनाथ ने आप्य शब्द की सिद्धि के लिये चान्द्र व्याकरण का सूत्र 'आप्याञ्च' उद्धृत किया है। अमर कोश में इस शब्द का उल्लेख यों है—

आप्यमम्मयम्।

अप्पा (आत्मनः) = अपने से

परं = अधिक भिन्न

सउण (सगुण) = १. तन्तु-सहित या गुण-सहित

२. शकुन = पक्षी

लच्छिपरियरिय = १. लक्ष्मीपरिचरितः = लक्ष्मी से सेवित,

२. लक्ष्मीपरिकरित = लक्ष्मी-द्वारा परिकर बनाया गया।

उज्जलसमुह = १. उज्ज्वल समूहः = जिसका समूह उज्ज्वल है, २. उज्ज्वल-सम्मुख = सूर्य के सम्मुख (उद्गच्छति जलं येनासौ उज्जलः सूर्यस्तस्य सम्मुख), ३. जिसका अपना मुख उज्ज्वल है (उज्ज्वलं स्व मुखं यस्य)।

हु = निश्चयार्थक या पादपूर्ति-प्रयोजक अव्यय।

ताव = १. तावत् = तो, २. वचनम्

वयणं = १. वदनम् = मुँह, २. वचनम्

ठावेइ = १. रक्षा करती है। २. स्थिर करता है।

'तावयणं' की अन्य व्याख्या इस प्रकार सम्भव है—

ता = लक्ष्मी (पाइयसद्दमहण्णव)

व = वा = और, ही (पाइयसद्दमहण्णव)

वाव्ययोत्खाता-दावदातः १।६७, इस हैम सूत्र से ह्रस्वत्व।

अयणं = घर

'तावयणं न हु ठावेइ' अर्थात् लक्ष्मी ही अपने घर (अयण = गृह) को स्थापित नही करती (रक्षित नहीं रखती)।

गाथार्थ—(हे कमल) तुम जल विकार से अधिक (या अन्य) नही जानते हो, निश्चय ही तुम्हारा समूह उज्ज्वल है, तन्तुसहित (या गुण-सहित) हो तथा लक्ष्मी से सेवित हो। हः देखो तो (वह लक्ष्मी) घर (कमल) को भी नही सुरक्षित रखती है (अर्थात् उसे भी श्री हीन करके अन्त में चली जाती है या तुषारादि से उसकी रक्षा नहीं करती है)।

द्वितीयार्थ—तुम अपने से अन्य को नही जानते हो, निश्चय ही लक्ष्मी-द्वारा परिकरीकृत (वाहन बनाये गये) पक्षी (अर्थात् उलूक पुराणों के अनुसार लक्ष्मी का वाहन उल्लू है) हो। अरे ! तुम सूर्य के सम्मुख होकर देखो तो, वह (सूर्य) तुम्हारे मुख को भी स्थिर नही होने देता है (उल्लू सूर्य को देखने में असमर्थ होता है)।

कमल शब्द का प्रयोग न होने के कारण यदि धनिक-निन्दा के सन्दर्भ में निम्नलिखित अर्थ ग्रहण करें तो भी कोई क्षति नही है—

(हे धनिक) तुम अपने से अन्य को नही जानते हो, (अर्थात् अपने आगे किसी को भी सौभाग्यशाली नही समझते), निश्चय ही तुम लक्ष्मी से सेवित और गुणवान् हो। परन्तु अरे ! देखो तो, उज्ज्वल जनों का (पूतचरित मनुष्यों का) समूह (तुम से) वचन भी नही स्थापित करता है (अर्थात् बात भी नही करता है)।

द्वितीय अर्थ पूर्ववत् ही होगा।

गाथा क्रमांक ७१३

लच्छीए परिगहिया उड्ढमुहा जइ न हुंति ता पेच्छ।
जेहिं चिय उड्ढविया तं चिय नालं न पेच्छंति ॥ ७१३ ॥

पता नही क्यों इसे भी अस्पष्ट घोषित कर दिया गया है। इस सुन्दर और सरल पद्य में कवि ने यह बताया है कि जिन पर लक्ष्मी की कृपा हो जाती है, उनकी दृष्टि ऊँची हो जाती है। वे उन लोगो की ओर कभी नही देखते हैं जिनके त्याग, बलिदान और श्रम के बूते पर आज भी जीवित हैं। इस मार्मिक तथ्य की अभिव्यक्ति के लिये कमल को प्रतीक-रूप में चुना गया है। परम्परानुसार कमल लक्ष्मी का आवास है। वह जब विकसित होता है तब उसका मुख ऊपर ही रहता है, कभी भी नालों की दिशा में नही मुड़ता है। कदाचित् वह भूल जाता है कि वे ही नाल (मृणाल) हैं जिन्होंने कभी कलुषित पंक से ऊपर उठा कर मुझे पंकज से सुरभित कमल (जल की शोभा बढाने वाला) बनाने का कार्य किया है और आज भी आकण्ठ जल में निमग्न रह कर कण्टकित शरीर से अहरह इस अनुत्तम सुषमा समृद्धि और विभूति का असहनीय भार ढो रहे हैं।

गाथार्थ—लक्ष्मी के द्वारा गृहीत (लक्ष्मी के कृपा-पात्र) व्यक्ति यदि ऊर्ध्वमुख (ऊपर की ओर मुँह या दृष्टि रखने वाले) नहीं हो जाते तो देखो, भला कमलों को जिन्होंने ऊपर उठाया है, उन नालों को ही वे न देखते।

इस वर्णन से कमल का निम्नस्तर से ऊपर उठना और उन्नति के क्षणों में भी नालों पर अवलम्बित रहना व्यंजित होता है। जिससे निम्नस्तर से उठने वाले और ऊपर पहुँच जाने पर भी दूसरों के कन्धों पर टिक कर समृद्धि का उपभोग करने वाले उन अभिमानी श्रीमन्तों का परिचय मिलता है जो अपने सहायकों को बिल्कुल भूल जाते हैं।

गाथा क्रमांक ७१७

सरसाण सूरपरिसंठियाण कमलाण कीस उवयारो।
उक्खयमूला सुक्खंतपंकया कह न संठविया ॥ ७१७ ॥

सरसाना सूर्यपरिसंस्थिताना कमलाना कीदृगुपकार.
उत्खातमूलानि शुष्यत्पङ्कानि कथं न संस्थापितानि

—रत्नदेवस्वीकृत संस्कृत छाया

श्री पटवर्धन ने इस गाथा को अस्पष्ट घोषित कर अनूदित नहीं किया है। रत्नदेव-कृत संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है :—

"सरसाना सूरपरिसंस्थिताना कमलाना कीदृगुपकार:। जानामि यदि सूर्य उत्खातमूलानि शुष्यत्पङ्कानि संस्थापयति।"

यह व्याख्या इतनी संक्षिप्त है कि श्री पटवर्धन जैसे विद्वान् भी इसका मर्म नहीं समझ सके। टीका के 'जानामि यदि' में ही सम्पूर्ण अर्थ निहित है। उसका भाव इस प्रकार है :—

कमल सदैव सूर्य पर अवलम्बित रहते हैं। सूर्य के उदय और अस्त के साथ उनका भी उन्मीलन और निमीलन होता है। साहित्यिक भाषा में यों भी कह सकते हैं कि वे सूर्य को देखते ही प्रसन्न हो जाते हैं और न देखने पर तुरन्त म्लान हो जाते हैं। सूर्य (सूर) भी तो आखिर सूर शूर) ही ठहरा। उसे इतना महत्त्व देना अनुचित भी नहीं है। परन्तु कमल भले ही सूर्य पर लट्टू होते हों, सूर्य कमलों का कौन सा उपकार कर देता है, यह समझ में नहीं आता। जब तक बेचारे जल में रहते हैं तभी तक सूर्य की किरणें उन्हें विकसित करती हैं। जब सरोवर का जल शुष्क हो जाता है या उनकी जड़ें उखाड़ दी

जाता है, उस समय वह सूर (सूर्यरूपी शूर) कहाँ रहता है ? विपत्ति के दारुण क्षणों में उसकी सूरता (सूर्यता या शूरता) कमलों के किस काम आती है ? कवि के व्यंजक शब्दों के अनुसार हम सूर (सूर्य) को तभी शूर (वीर) समझें जब वह जल सूख जाने पर अथवा जड़ से उखाड़ दिये जाने पर भी कमलो का कोई उपकार (या उपचार) कर सके। परन्तु वह करता क्या है ? उलटे अपनी तप्त किरणों से उन्हें सुखा डालता है। यही है उसका आश्रितरक्षण !

शब्दार्थ—सरस = १. जल से युक्त (रस = जल); २. प्रेम से युक्त (रस = प्रेम)।

सूरपरिसंठ्ठिय = सूर्य (सूर) रूपी शूर (सूर) के सम्मुख स्थित या सूर्य रूपी शूर के आश्रित।

संठविया = स्थापित किया अर्थात् पुनः उसी स्थान पर लगा दिया।

गाथार्थ—जल से युक्त (जल में रहने वाले) और सूर (सूर्य रूपी शूर) के आश्रित (सामने स्थित) कमलों का कैसा हित ? (अर्थात् सूर्य से उनका कौन सा स्वार्थ सिद्ध होता है ?) जिनकी जड़ें उखाड़ दी गई हैं और जिनका पंक शुष्क हो गया है उनको (सूर्य ने) फिर से क्यो नही लगा दिया (या वे पुनः क्यों नही स्थापित (प्ररूढ) हो गये ?)।

इस गाथा में यह मार्मिक तथ्य संकेतित है कि मनुष्य जिस परिधि में जन्म लेता है और जो उपादान उसके विकास के पोषक होते हैं, उच्च पद पर पहुँचने पर वह उनकी उपेक्षा करने लगता है। वह अपने निकट के निम्नस्तरीय सहायकों से विमुख होकर बहुत दूर किसी अभिजात वर्ग से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। परन्तु जब वे आधारभूत प्रमुख तत्त्व नही रहते तब उसकी रक्षा नहीं हो पाती है। कमल पंक में जन्म लेता है, मूल (जड़) के ठोस आधार पर खड़ा होता है और सरोवर की शीतल जलराशि उसे संजीवनी शक्ति प्रदान करती है। परन्तु मकरन्द, सौरभ, सौन्दर्य, सुकुमारता और श्री का आगार बनने पर अपने उन पार्श्वचरों की उपेक्षा कर दूर आकाशवासी सूर्य का भरोसा करने लगता है।

गाथा क्रमांक ७३०

उत्तमकुलेसु जम्मं तुह चंदण तरुवराण मज्झंमि।

७३०वीं गाथा का पूर्वार्ध

उत्तमकुलेषु जन्म तव चन्दन तरुवराणा मध्ये ।

—रत्नदेव-कृत संस्कृत छाया

श्रीपटवर्धन ने रत्नदेव-कृत संस्कृत छाया को शुद्ध मानकर लिखा है कि 'उत्तमकुलेसुजम्म' यह एक भद्दा प्रयोग है। इसके स्थान पर 'उत्तमकुलंमि' होना चाहिए था। परन्तु यह बहुवचन गाथा के अशुद्ध पाठ के कारण है। शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

उत्तमकुले सुजम्मं (अर्थात् उत्तम कुल में सुन्दर जन्म)

गाथा क्रमांक ७३५

भूमीगुणेण वडपायवस्स जइ तुंगिमा इहं होइ।
तह वि हु फलाण रिद्धी होसइ बीयाणुसारेण ॥ ७३५ ॥

भूमिगुणेन वटपादपस्य यदि तुङ्गत्वमिह लोके
तथापि खलु फलानामृद्धिर्भविष्यति बीजानुसारेण

—रत्नदेव-कृत संस्कृत छाया

इस पर रत्नदेव की यह व्याख्या है—

यद्यपि भूमिगुणेन वटवृक्षो ह्रस्वः संजातस्तथापि फलप्राचुर्यं तथा भविष्यति येन सर्वेऽपि प्राणिनः सुखिनाः भविष्यन्ति। अर्थात् यद्यपि भूमि के गुणों से वटवृक्ष का आकार छोटा हो गया है फिर भी फलों की इतनी अधिकता होगी कि सभी प्राणी सुखी हो जायँगे।

उपर्युक्त व्याख्या ठीक नहीं है क्योंकि एक तो तुङ्गत्व का अर्थ ह्रस्वत्व नहीं होता है और दूसरे वटवृक्ष के आकार की लघुता का कारण भूमि का दुर्गुण है, गुण नहीं। भूमि के गुणों को पाकर तो उसकी ऊँचाई आकाश चूमने लगती है। वटवृक्ष कितना ही विशाल क्यों न हो जाय, उसके नन्हें-नन्हें असंख्य फलों से सभी प्राणी कभी सुखी नहीं हो सकते, कुछ स्वल्पाहारी छोटे फलभक्षी पक्षी अवश्य सुखी हो जाते हैं। श्रीपटवर्धन ने यह अर्थ किया है—

"यद्यपि वटवृक्ष की ऊँचाई, मिट्टी की विलक्षण विशेषता का परिणाम हो सकती है तथापि फलों की प्रचुरता बीज की विशेषता के अनुसार होगी।"

व्याख्यात्मक टिप्पणी में गाथा की आलोचना इन शब्दों में की गई है—

"मिट्टी और बीज, दोनो सम्मिलित रूप से वृक्ष के आकार और फलप्राचुर्य के हेतु हैं। गाथोक्त प्रकार से उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता।"[१]

यदि अंग्रेजी अनुवाद को प्रमाण मान लें तो उपर्युक्त टिप्पणी में कुछ भी अनौचित्य नहीं है। परन्तु प्राकृत-गाथा का तात्पर्य कुछ दूसरा ही है।

गाथा में समासोक्ति पद्धति से श्लिष्ट विशेषणों द्वारा प्रस्तुत वट वृक्ष पर अप्रस्तुत सिंहासनारूढ अकुलीन राजा के व्यवहारों का आरोपण किया गया है।

शब्दार्थ—भूमि = १. मिट्टी या पृथ्वी
२. स्थान

भूमिर्वसुन्धरायां स्यात स्थानमात्रेऽपि च स्त्रियाम्। —मेदिनी

रिद्धी (ऋद्धि) = वृद्धि, बड़ा होना
बीय (बीज) = १. बीज
२. वीर्य
जइ (यदा) = जब (पाइयसद्दमहण्णव)

'फलाण रिद्धी' का अन्य अर्थ इस प्रकार भी कर सकते है :—

फलाण + अरिद्धी (फलानामनर्द्धिः) = १. फलों की अवृद्धि, २. लाभ अथवा महत्कार्यों का न होना।

फलं हेतुकृते जातीफले फलकसस्ययोः।
त्रिफलायां च कक्कोले शस्त्राग्रे व्युष्टिलाभयोः॥

—अनेकार्थसंग्रह

गाथार्थ—यहाँ भूमि के गुण से (पक्षान्तर में स्थान या पद के गुण से) जब वटवृक्ष में ऊँचाई होती है (पक्षान्तर में महत्त्व आ जाता है) तब भी फलों (पक्षान्तर में लाभ या कार्य) की लघुता, बीज (पक्षान्तर में वीर्य) के अनुसार होगी।

यह राजाश्रय से निराश किसी क्षुब्ध सेवक की उक्ति है। आशय यह है—वट वृक्ष का आकार उर्वर भूमि में विशाल एवं अनुर्वर भूमि में क्षुद्र हो जाता है

१. Both the soil and the seed should be jointly responsible for the stature of the tree and abundance of its fruit. They cannot be separated as done in this stanza.

—वज्जालग्गं (अंग्रेजी संस्करण), अंग्रेजी टिप्पणी, पृ० ५८८

परन्तु मिट्टी के प्रभाव से बहुत बड़ी ऊँचाई प्राप्त कर लेने पर भी उसके फल अपने नन्हें से बीज के अनुसार बहुत ही छोटे होते हैं। इसी प्रकार जब कोई दरिद्र एवं अकुलीन पुरुष उच्चस्थान (राजसिंहासन) पर पहुँच जाता है, तब स्थान के प्रभाव से उसमें महत्ता तो आ जाती है परन्तु याचकों या सेवकों को मिलने वाला लाभ, उसके दरिद्र पिता के वीर्य के अनुरूप बहुत स्वल्प होता है। अथवा उसके कार्य पिता के वीर्य के अनुरूप ही होते हैं।

गाथा क्रमांक ७३९

मउलंतस्स य मुक्का तुज्झ पलासा पलास सउणेहिं।
जेण महुमाससमए नियवयणं झत्ति सामलियं ॥ ७३९ ॥

मुकुलयतश्च मुक्तास्तव पलाशा पलाश शकुनैः
येन मधुमाससमये निजवदनं झटिति श्यामलितम्

—रत्नदेव-कृत संस्कृत छाया

संस्कृत-टीका के आधार पर इसका जो अंग्रेजी अनुवाद किया गया है, उसका हिन्दी रूपान्तर निम्नलिखित है—

"हे पलाश वृक्ष, जब तुम खिल रहे थे तभी तुम्हारे पत्ते पक्षियों के द्वारा छोड़ दिये गये क्योंकि वसन्त के दिनों में तुमने अपना मुँह काला कर दिया है।"

व्याख्यात्मक टिप्पणी में 'सउण' और 'पलासा' के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं, जिनका उपयोग अनुवाद में नहीं किया गया है :—

सउण = १—पक्षी २—सगुण

पलासा = १—पत्ते २—फलाशा

'पलासा' को 'फलाशा' मान बैठना केवल असत्कल्पना है। वृक्ष या वृक्ष के फलों को पक्षी छोड़ दें—यह तो ठीक है परन्तु पत्तों से उनका क्या अनुराग है? विशेष सम्बन्ध या प्रीति के अभाव में त्याग का कोई अर्थ नहीं है। 'पलासा' (पलाश-पत्र) का लाक्षणिक अर्थ पलाशवृक्ष हो नहीं सकता है। क्योंकि निर्दोष लक्षणा के लिए रूढ़ि या प्रयोजन में से एक का होना आवश्यक है[1]।

---

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथप्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥

—काव्यप्रकाश, द्वितीय समुल्लास

यहाँ न तो रूढि है और न प्रयोजन। अतः लक्षणा का आश्रय लेना ठीक नहीं। मुँह का काला होना, पक्षियों के पलाश को छोड देने का हेतु नहीं है। मूलपाठ के अनुसार मोचन-क्रिया ही मुँह काला होने का हेतु है।

शब्दार्थ—पलास = १—किंशुक-वृक्ष
२—राक्षस (पलं मासम् अश्नातीति पलाशः)
पलासा = १—पत्ते
२—मास की आशा
सउणेहिमुक्का = १—(स्व + गुण = सगुण) अपने गुणो के द्वारा छोड दिये गये।
२—(शकुनैः) पक्षियों (चील्ह, कौए आदि) के द्वारा छोड दी गई
मधुमास = १—वसन्त २—मधु और मास
(मासादेर्वा, प्रा० व्या० १।२९ से अनुनासिक लोप)

संस्कृत छाया का परिवर्तित रूप यह होगा—

मुकुलयश्च मुक्तास्तव पलाशा' पलाश स्वगुणैः (शकुनैः)।
येन मधुमाससमये (मधुमाससमये) निजवदनं झटिति श्यामलितम् ॥

प्रस्तुत गाथा में किसी ऐसे उन्नतिशील स्वामी का वर्णन है जिसने चिरकाल से सेवारत भक्त सेवको के गुणों की उपेक्षा कर दी है।

अर्थ—हे पलाश, जब तुम मुकुलित हो रहे थे तभी तुम्हारे पत्ते अपने गुणों के द्वारा छोड़ दिये गये (अर्थात् पतझड़ से उत्पन्न होने वाली विवर्णता के कारण गुणहीन हो गये) जिससे वसन्त के दिनों में तुमने अपना मुह काला कर लिया है।

उपर्युक्त अर्थ के साथ शब्दशक्ति के प्रभाव से निम्नलिखित अर्थ भी व्यक्त होता है जिसमें उपेक्षित सेवक के हृदय का अपरिमित आक्रोश प्रतिबिम्बित है—

अरे राक्षस ! जब तुम मोटे हो रहे थे तभी पक्षियों (चील्हो, कौओं आदि) ने तुम्हारे मांस की आशा छोड दी थी (जो सबसे अधम होता है उसका मास चील्ह और कौए भी नही खाते), जिससे इस मदिरा[1] और मास के समय (अर्थात् जब उक्त पदार्थों का सेवन किया जाता है) में तुमने अपना मुह काला कर लिया (अर्थात् समाज मे मुह दिखाने योग्य नही रह गये)।

---

१. मधु शब्द का अर्थ मदिरा है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि पलाशमुकुल का वर्ण श्याम होता है।

गाथा क्रमांक ७४१

दट्ठूण किंसुया साहा तं बालाइ कीस वेलविओ।
अहवा न तुज्झ दोसो को न हु छलिओ पलासेहिं ॥ ७४१ ॥

दृष्ट्वा किंशुक शाखास्त्वं बालया कस्माद् वञ्चितः
अथवा न तव दोषः को न खलु च्छलितः पलाशैः

श्रीपटवर्धन ने इस गाथा की जटिलता का उल्लेख किया है (पृ० ५८९)। उनका अंग्रेजी अनुवाद केवल शाब्दिक है और उपर्युक्त संस्कृत छाया पर अवलम्बित है। उक्त अनुवाद का हिन्दी-रूप इस प्रकार है—

"हे किंशुक (पलाश)! तुम्हारी शाखा को देखकर तरुणी ने तुम्हे क्यो ठग लिया ? अथवा तुम्हारा दोष नही है, पलाशो (राक्षसों और पलाश-वृक्षों) ने किसे नही छला।"

तरुणी का पलाश-वृक्ष को ठगना समझ में नही आता है। रत्नदेव-कृत व्याख्या इस प्रकार है—

दृष्ट्वा हा इति खेदे। त्वं बालया किमिति प्रतारितः। अथवा न तव दोष. को नाम न च्छलित. पलाशैः।

परन्तु इस टीका का अभिप्राय स्पष्ट नही है।

विवेच्य गाथा की व्याख्या के पूर्व कुछ पदों के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है। 'किंसुया' लुप्तविभक्तिक द्वितीयान्त पद है जो 'किंसुय' (किंशुकं) का अर्थ देता है। स्यादौ दीर्घह्रस्वौ—इस हैम सूत्र से अन्त्यवर्ण दीर्घ हो गया है। 'साहा' लुप्तविभक्तिक तृतीयान्त पद है और 'साहाइ' (शाखया) के अर्थ में है। इस प्रकार तृतीया का लोप वज्जालग्ग की अनेक गाथाओं में दिखाई देता है (देखिये, ३७३, ४९० और ७२६वी गाथायें, जहाँ गयवईए के लिये गयवइ, कज्जलेण के लिये कज्जल और सगमासाए के लिये संगमासा का प्रयोग है।) 'तंबालाइ'—यह असंयुक्त नही, संयुक्तपद है। तंब (ताम्र = लाल) में मतु-अर्थक आल[1] प्रत्यय जोड़ने पर स्त्रीलिंग में तंबाला शब्द बनेगा जो विभक्ति

१. आल्विल्लोल्लालवन्तेन्ता मतुपः

—प्राकृतप्रकाश, ४।२५

जुड़ने पर तृतीया में 'तंबालाइ' हो जायगा। इसका अर्थ है—रक्तवर्ण वाली। पूर्वार्ध की छाया यो करनी होगी :—

दृष्ट्वा किंशुकं शाखया ताम्रवत्या कस्माद् वञ्चितः।

गाथार्थ—(तुम) पलाश-पुष्प (किंशुक) को देखकर रक्तवर्ण वाली शाखा (पुष्पों के कारण पलाश की शाखायें लाल हो जाती हैं) के द्वारा कैसे ठग लिये गये। अथवा तुम्हारा दोष नहीं है, पलाशों (राक्षसों और वृक्षों) ने किसे नहीं छला ?

इस अर्थ में कोष्ठकनिविष्ट सर्वनाम 'तुम' शुक का संकेत करता है। गाथा के 'किंसुया' पद में मुद्रालंकार के द्वारा सूच्यर्थ सुया (शुक) की सूचना मिलती है। अथवा उक्त संस्कृत छाया को यह रूप दें—

दृष्ट्वा किंशुकाशा, हा त्वं बालया कस्माद् वञ्चितः।

रक्तवर्ण किंशुक-मंडित पलाशद्रुम का अद्भुत सौन्दर्य देखकर कोई फलाशी शुक उसकी मनोहर शाखा पर जा बैठा। यह देख संवेदनशील कवि के कोमल कंठ से सहानुभूति का स्वर फूट पड़ा है। पूर्वार्ध का अन्वय वाक्य निम्नलिखित है—

हे शुक किं दृष्ट्वा आशा ? (अस्तीति शेषः) त्वं बालया (स्त्रीत्वान्मायाविन्या तया आशारूपया) कस्माद् वञ्चितः।

गाथार्थ—हे शुक ! क्या देखकर आशा हो गई है ? (अथवा देखकर क्यों आशा हो गई) अरे ! तुम उस आशा-तरुणी के द्वारा क्यों ठग लिये गये ? अथवा तुम्हारा दोष नहीं है, पलाशों ने किसे नहीं छला है ?

पलाशवृक्ष के पुष्प अति लुभावने होते हैं परन्तु उसका फल निःसार एवं अखाद्य होता है।

गाथा क्रमांक ७६२

रयणायर त्ति नामं वहंत ता उवहि किं न सुसिओ सि।
मज्झे न जाणवत्ती अत्थत्थी जं गया पारे॥ ७६२॥

रत्नदेव ने इसकी निम्नलिखित संस्कृत छाया की है—

रत्नाकर इति नाम वहंस्तद् उदधे किं न शुष्कोऽसि।
मध्ये न यानवर्तिनोऽर्थार्थिनो यद् गताः पारे॥

श्री पटवर्धन ने 'जाणवत्ती' की वैकल्पिक छाया 'यानीपात्रिणः' का उल्लेख करते हुये उत्तरार्ध का यह अन्वय किया है—

"जं अत्थत्थी जाणवत्ती पारे न गया।"

पूरी गाथा का अंग्रेजी अनुवाद यो है—

"अरे समुद्र रत्नाकर नाम धारण करते हुए तुम पूर्वकाल में ही शुष्क क्यों नही हो गये क्योंकि तुम्हारे ऊपर से यात्रा करने वाले धनेच्छु पति-वणिक् दूसरे तट पर नही पहुँच सके (अर्थात् दुर्घटना ग्रस्त होकर मर गये)।"

इस अर्थ पर यह टिप्पणी दी गई है:—

"यह किसी प्रकार भी स्पष्ट नही है कि पोतवाही व्यापारियो को आकस्मिक दुर्घटना का उत्तरदायी समुद्र का रत्नाकरत्व क्यों है।"

उपर्युक्त शका का समाधान करना आवश्यक नही है क्योकि अंग्रेजी अनुवाद ही दोषपूर्ण है।

हम 'मज्झे न' को संयुक्तपद (तृतीयान्त मज्झेन) मानते है। अत. उत्तरार्ध की सस्कृत छाया यो होगी:—

मज्झेन जाणवत्ती अत्थत्थिणो ज गया पारे।
(मध्येन यानपात्रिणोऽर्थार्थिनो यद् गताः पारे)

समुद्र का नाम रत्नाकर है। गाथा उसके रत्नाकरत्व का उपहास करती हुई कहती है—

अरे रत्नाकर नामधारी समुद्र ! तुम सूख क्यों नही गये क्योंकि धन लोलुप पोतवाही वणिक् तुम्हारे मध्य से होकर उस पार चले गये। तात्पर्य यह है कि समुद्र की उस रत्नाकरता को धिक्कार है, जिसका धनलोलुप सायंत्रिकों की भी दृष्टि में कुछ मूल्य है।

यदि होता तो वे समुद्र के मध्य मे ही रत्नों की कामना से ठहर जाते, उस पार कभी न जाते। गाथा की शब्दावली में विलक्षण व्यंजकता है। निगूढ व्यंजना-व्यापार को समझे बिना इसकी व्याख्या असंभव है। 'रयणायर' से समुद्र की अनन्तनिधि, 'नामं वहंत' से उसका अदातृत्व एव कार्पण्य, 'मज्झेन' से रिक्तता एवं सेवन वैफल्य, 'अत्थत्थिणो' से उपाधि = वैतथ्य, 'गया पारे' से याचक वृन्द-कृत उपेक्षा और 'जाणवत्तिणो' से सायत्रिक निहलोभातिशयता व्यंजित होती है।

गाथा क्रमांक ७८७

हिययट्ठिओ वि सुहवो तह वि हु नयणाण होइ दुप्पेच्छो।
पेच्छह विहिणा न कया मह हियए जालयगवक्खा ॥ ७८७ ॥

रत्नदेव ने समानार्थक 'जालय' (जालक) और 'गवक्ख' (गवाक्ष) शब्दों के सह-प्रयोग से सम्भावित पुनरुक्ति की आशका का मार्जन इन शब्दों में किया है—

विरहिणी प्रलापत्वात् न शब्दपौनरुक्त्यम् अर्थात् एक ही अर्थ में जालक और गवाक्ष शब्दो का प्रयोग होने पर भी पुनरुक्ति नही है, क्योंकि यह एक विरहिणी-प्रलाप है। श्री पटवर्धन ने भी पृष्ठ ६२ पर इस कथन को प्रमाण के रूप मे उद्धृत कर गाथा मे पुनरुक्ति दोष स्वीकार किया है। मैं समझता हूँ, पुनरुक्ति की आशका ही यहाँ व्यर्थ है। दोनों शब्दो मे एक विशेषण है, दूसरा विशेष्य। अनेकार्थक जालय (जाल + स्वार्थिक क) शब्द का अर्थ झरोखा नही, जाली है। 'जालय-गवक्खा' का अर्थ है—जालीदार झरोखा।

गाथा क्रमांक ७८९

माणविहूणं रुंदीइ छोडयं सिलघोयगयछायं।
जं वसणं न सुहावइ मुय दूरं नम्मयाडे तं ॥ ७८९ ॥

इसकी छाया 'विस्तारेण त्यक्तम्' ठीक नही है। अंग्रेजी में 'छोडय' को छोडिय के अर्थ में प्रयुक्त बताया गया है, परन्तु प्राकृत 'छोडय' शब्द का अर्थ है—छोटा। 'रुंदीइ छोडयं' का संस्कृत अनुवाद 'विस्तारे लघु' है। 'रुंदीइ' तृतीयान्त नही, सप्तम्यन्तपद है।

अतिरिक्त गाथाएँ

३१ × ७—अइचंपियं विणस्सइ दंतच्छेएण होइ विच्छायं।
ढलहलयं चिय मुच्चइ पाइयकव्वं च पेम्मं च ॥ १ ॥

संस्कृत टीका में प्राकृतपदों के संस्कृतरूप मात्र दिये गये हैं। अंग्रेजी अनुवाद केवल शाब्दिक है—

"प्राकृत-काव्य और प्रेम बहुत दबाये जाने पर नष्ट हो जाते हैं। दाँत से काटने पर वे अपने सौन्दर्य को खो देते हैं। इस लिये दोनों को सुकुमार बताया गया है।"

उपर्युक्त अनुवाद मूल प्राकृत की 'मुच्चइ' क्रिया का अर्थ 'उच्यते' समझ कर किया गया है और नितान्त अशुद्ध है। इसमें प्रणय और प्राकृत-काव्य की समानताओं को भी स्पष्ट नही किया गया है। गाथा का अभिप्राय यह है—

जब बहुत कसकर प्रगाढ आलिंगन किया जाता है या जब किसी प्रकार का अधिक दबाव डाला जाता है और जब प्रेमिका को दाँतों से काट लेता है (चुम्बन के समय), तब प्रणय का सौन्दर्य (माधुर्य) समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई अनाड़ी गला दबाकर गाने लगता है या गायक के दाँत खंडित रहते है (टूटे रहते है), तब प्राकृत-काव्य श्रीहीन हो जाता है। वास्तव मे प्राकृत-काव्य और प्रेम दोनों को खुला छोड़ दिया जाता है (तभी आनन्द आता है)।

शब्दार्थ—चंपियं = दबाया गया। प्रणयपक्ष में आलिंगनातिरेक और काव्यपक्ष में गला दबा कर गाना अभिप्रेत है।

दंतच्छेय = प्रणयपक्ष में दाँतों से काटना और काव्यपक्ष मे दाँतों का टूटना।

मुच्चइ = मुच्यते, छोड़ दिया जाता है।

ढलहलय = उन्मुक्त (खुला, ढीला)

७२ × २—अद्दिट्ठे रणरणओ दिट्ठे ईसा अदिट्ठए माणो।
दूरं गए वि दुक्खं पिए जणे सहि सुहं कत्तो ॥ २ ॥

अदृष्टे रणरणको दृष्ट ईर्ष्या अदृष्टे मानः
दूरं गतेऽपि दुःखं प्रिये जने सखि सुखं कुतः
—परम्परागत संस्कृत छाया

श्री पटवर्धनकृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"प्रेमी को न देखने पर अशान्ति, देखने पर ईर्ष्या, न देखने पर मान (?) और दूर चले जाने पर दुःख होता है। सखि ! प्रियजन से सुख कहाँ मिलता है ?"

यहाँ 'अद्दिट्ठे' और 'अदिट्ठए'—इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ देकर अनुवादक ने एक सरस गाथा को पुनरुक्ति-दोष-दूषित कर दिया है। वस्तुतः गाथा में पुनरुक्ति नहीं है। हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के विभिन्न भेदों का परस्पर व्यत्यय संभव है[1]। एक प्राकृत के लक्षण दूसरी प्राकृत में भी पाये जा सकते हैं।

---

१. व्यत्ययश्च—प्राकृत व्याकरण, ४।४४७।

यहाँ महाराष्ट्री में शौरसेनी की विशेषता आ गई है। 'अदिट्ठए' का अर्थ है—अति इष्ट या अधिक प्रिय (अति + इष्ट + क)। शौरसेनी की प्रकृति के अनुसार अति के त का द हो जाने[1] के अनन्तर पूर्व स्वर का लोप हो गया है। इस दृष्टि से संस्कृत छाया के द्वितीय पाद का परिमार्जित पाठ यह है—

अतीष्टके मानः।

गाथार्थ—प्रिय के न देखने पर औत्सुक्य, देखने पर ईर्ष्या, उनसे अधिक प्रेम होने पर मान और दूर चले जाने पर दुःख होता है। सखि! प्रियजन से सुख कहाँ मिलता है?

९० × ६—कज्जं एव्व पमाणं कह व तुलग्गेण कज्जइत्ताणं।
जइ तं अवहेरिज्जइ पच्छा उण दुल्लहं होइ॥ ३॥

कार्यमेव प्रमाणं कथं वा तुलाग्रेण कार्यकर्तृणाम्
यदि तदवहेल्यते पश्चात् पुनर्दुर्लभं भवति

इसकी टीका यों की गई है —

कार्यकर्तृणां पुरुषाणां कथं वा कार्यमेतत् यत् तुलावत् प्रमाणं कार्यकृत्सु आस्थीयते। नो वा। यदि तत् कार्यं अवहेरिज्जइ अवहेल्यते पश्चात् तत् कार्यं दुर्लभं भवति। अर्थात् कार्य करने वाले पुरुषों का कार्य तुला के समान कर्मठ पुरुषों में प्रमाण स्वरूप कैसे हो सकता है? अथवा नहीं। यदि उसकी उपेक्षा होती है तो पुनः वह कार्य दुर्लभ हो जाता है (नहीं हो पाता है)। टीकाकार ने 'तुलग्ग' को संस्कृत तुला से सम्बद्ध किया है। परन्तु वह देशी शब्द है, जिसका अर्थ है—काकतालीय न्याय[2] (संयोग से होना)।

निम्नलिखित अंग्रेजी अनुवाद संस्कृत-टीका से तो सर्वथा भिन्न ही है, मूल प्राकृत गाथा की पदावली से भी बहुत दूर है—

"जो लोग किसी महत्कार्य को पूर्ण करने में लगे हैं, उनके लिये एक प्रारब्ध कार्य का (दृढ़ता एवं निश्चयपूर्वक) करना, बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। दैविक एवं सांयोगिक-व्यापार कैसे काम आ सकते हैं? यदि उपेक्षा हुई (प्रारंभ में) तो

---

१. अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ—प्राकृत-प्रकाश, १२।३।

२. तुलग्गं कागतालीए—देशीनाममाला, ५।१५।

आगे चलकर उसका पूर्ण होना कठिन हो जाता है।[1]"

प्राकृत गाथा का सीधा और सरल अर्थ यह है—

कार्य ही प्रमाण कैसे हो सकता है ? जो लोग काकतालीय न्याय से (संयोग से) किसी कार्य में सफल हो जाते हैं, वे यदि उस अवसर (संयोग या यदृच्छ) की उपेक्षा कर दे तो फिर कभी भी वह कार्य नहीं कर सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि संयोगवश तुच्छ व्यक्ति भी असाध्य एवं कठिन कार्य कर डालता है, अतः कार्य की पूर्णता को ही योग्यता या सामर्थ्य का प्रमाण नहीं मान सकते। कार्य की पूर्णता, योग्यता ही नहीं, कभी-कभी यदृच्छा पर भी निर्भर रहती है। संयोगवश किसी कठिन कार्य को कर डालने वाले व्यक्ति जब उक्त अवसर की अवहेलना कर देते है, तब फिर कभी भी उसे नहीं कर पाते।

संस्कृत-टीकाकार ने मूल में 'तं' को 'कज्जं' से अन्वित किया है परन्तु यह अन्विति पूर्वार्ध में प्रतिपादित तथ्य के अनुकूल नहीं है।

९० × १२—बुद्धी सच्चं मित्तं चरंत नो महाकव्वं।
पुव्वं सव्वं पि सुहं पच्छा दुक्खेण निव्वहइ ॥ ४ ॥

बुद्धि सत्यं मित्रं····(?) नो महाकाव्यम्
पूर्वं सर्वमपि सुखं पश्चाद् दुःखेन निर्वहति
—उपलब्ध अपूर्ण छाया

यह गाथा छन्द की दृष्टि से अशुद्ध है। संस्कृत टीका ने 'सुगमा' कह कर इसकी व्याख्या ही नहीं की है। उपर्युक्त अधूरी छाया पर अवलम्बित अधूरा अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"बुद्धि, सत्य, मैत्री······· महाकाव्य—ये सब प्रारम्भ में सरल होते है, परन्तु पश्चात् इनका निर्वाह कठिन हो जाता है।"

---

१. Discharging (with determination and tenacity) a work undertaken is the most important thing in the case of those who are engaged in accomplishing great tasks. How possibly can random and casual efforts (तुलग्गेण) avail ? If it is ignored (neglected) (in the beginning) later on it becomes difficult to accomplish.

—पृ० ३९१-३९२।

गाथा में 'चरंत नो' पद का ठीक-ठीक अर्थ नहीं किया जा सका है। मेरे विचार से यहाँ 'चरत' 'उपचरंत' के अर्थ में प्रयुक्त है। प्राकृत में 'चर' का प्रयोग सेवा करने के अर्थ में भी होता है।[1] 'नो' संस्कृत ना (नृ = नर) का प्राकृत-रूप है। प्राकृत-ग्रन्थों में इसे देखा जा सकता है।[2] बाहुलकात् 'नो' और 'णो' का अभेद स्वीकार कर 'चरंत नो' का निम्नलिखित अर्थ कर सकते हैं:—

चरंत = सेवा करता हुआ।

नो (णो) = नर

दोनों शब्दों का समास में 'चरंत नो' रूप हो जायगा। तब उसका अर्थ होगा—सेवा करता हुआ नर या सेवक। इस दृष्टि से गाथा की आर्थिक क्षति इस प्रकार दूर की जा सकती है —

बुद्धि, सत्य, मैत्री, सेवारत सेवक और महाकाव्य—ये सभी आरम्भ में सरल होते हैं, परन्तु पश्चात् इनका निर्वाह करना कठिन हो जाता है।

आशय यह है कि बुद्धि-वैभव, सत्य, मैत्री तथा महाकाव्य की रचना के समान सेवारत सेवक का कार्य भी आरम्भ में सरल होता है, परन्तु अन्त तक उसका निर्वाह कर ले जाना एक दुःखद प्रक्रिया है।

१६१ × १—अप्पत्थियं न लब्भइ पत्थिज्जंतो वि कुप्पसि नरिंद।
हद्धी कहं सहिज्जइ कयंतवसहिं गए संते॥ ५॥

अप्रार्थितं न लभ्यते प्रार्थ्यमानोऽपि कुप्यसि नरेन्द्र।
हा धिक् कथं सहिष्यते कृतान्तवसतिं गते मति॥

श्री पटवर्धन ने शाब्दिक अनुवाद देकर लिखा है कि इसका भाव स्पष्ट नहीं है। प्रस्तुत पद्य अहरह सेवारत किसी अभाव-ग्रस्त राज-सेवक की उक्ति है, जिसका

१. पाइयसद्दमहण्णव

२. इस सन्दर्भ में भद्रसूरि-कृत निम्नलिखित गाथाएँ द्रष्टव्य हैं—

णो वावारा भावंमि अण्णहा खंमि चेव उवलद्धी।
पावइ वेदस्स सदा तहेव अत्था परिण्णाणं॥ १२५३॥
णो वावारे सद्दो सुब्बइ जं तेण वण्णदंब्वाइं।
तेण परिणामिताइं णिच्चाणिच्चो तओ स भवे॥ १२५६॥
—धर्मसंग्रहणी

कृपण स्वामी कठोर श्रम का उचित मूल्य नहीं देता था। प्रायः उदार स्वामी बिना माँगे ही सेवकों का देय चुका देते हैं। यदि कभी किसी कारणवश विलम्ब हो जाता है और सेवक को माँगना पड़ता है तो वे उन्हें मुँह-माँगा धन दे डालते हैं। जो इतने अधिक उदार नहीं होते वे बिना माँगे तो कुछ भी नहीं देते परन्तु माँगने पर सेवा का उचित मूल्य चुका देने में नहीं हिचकते। तृतीय कोटि उन कृपणों की है जो बिना माँगे टका भी नहीं देते और माँगने पर आँखें भी लाल कर लेते हैं। ऐसे स्वामियों के आश्रित सेवकों के मनोरथों का अन्त हो जाता है, क्योंकि प्राप्ति का तीसरा उपाय ही नहीं है। प्रस्तुत पद्य में 'कयंत' (कृतान्त) शब्द साभिप्राय है। वह केवल यम वाचक नहीं है, निम्नलिखित अर्थ का भी व्यंजक है :—

कयंत (कृतान्त) = कृतोऽन्तः (मनोरथाना येन, कृतोऽन्तः पराकाष्ठा येन। अर्थात् जिसने (मनोरथों का) अन्त कर दिया है या जिसने पराकाष्ठा कर दी है (कृपणता की)।

'कयंत वसहिं गए संते' का एक अर्थ है—यमराज के घर जाने पर। दूसरा अर्थ इस प्रकार है—

जिसने मनोरथों का अन्त कर दिया है या जिसने कृपणता की पराकाष्ठा कर दी है, उसके घर जाने पर।

सेवक ने क्रोधी राजा के समक्ष यह अप्रिय गाथा पढ़ी होगी—यह संभव नहीं है। उसने एकान्त में भावातिरेक की दशा मे मनोगत स्वामी को सम्बोधित कर अपना आक्रोश प्रकट किया होगा। गाथा को किसी निर्भीक याचक की उक्ति भी मान सकते हैं।

अर्थ—हे नरेन्द्र! बिना माँगे मिलता नहीं और माँगने पर तुम क्रुद्ध हो जाते हो। हाय धिक्कार है, जब यमराज के घर जाओगे तब (वहाँ की यातना) कैसे सहोगे।

अन्यार्थ—धिक्कार है, जिसने अन्त कर दिया (अर्थात् अति कर दी) है उस (आश्रयदाता, या कृपण नरेश) के घर जाने पर (अर्थात् सेवाकार्यरत होने पर) मैं (यह अभावजनित क्लेश या अप्राप्ति रूप अपमान) कैसे सहूँ।

यहाँ कृतान्त में अध्यवसान है। कभी भी दान न करने वाले मनुष्य को यम-लोक में नाना यातनायें दी जाती हैं। अतः याचक की उक्ति सार्थक है। सेवक

की उक्ति भी इसलिये सार्थक है कि जब अपना ही द्रव्य दूसरे को दान-रूप में न देने पर यमलोक में भयंकर परिणाम भुगतने पड़ते हैं तब भला अपने सेवकों का अर्जित धन हजम कर जाने वाला नराधम यमयातना से कैसे मुक्त हो सकता है ?

१९९ × २—दंतुल्लिहणं सव्वंगमज्जणं हत्थचल्लणायासं ।
पोढगइंदाण मयं पुणो वि जइ णम्मया सहइ ॥ ६ ॥

संस्कृत टीकाकार ने इसका रूपान्तर इस प्रकार किया है :—

दन्तोल्लिखनं सर्वाङ्गमज्जनं हस्तचालनायासम् ।
प्रौढ गजेन्द्राणां मदं पुनरपि यदि नर्मदा सहते ॥

अंग्रेजी अनुवाद यों है—

यह नर्मदा ही है जो प्रौढ गजेन्द्रों की प्रमत्तता की स्थिति में दाँतों से तटों का खोदना, सम्पूर्ण शरीर को जल में डुबो देना और सूँड-संचालन का आयास (कष्ट) सहन कर लेती है ।"

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उपर्युक्त अर्थ कुछ अधूरा-सा लगता है । गाथा केवल गजेन्द्रों की जल-क्रीडा का वर्णन कर वहीं विश्रान्त नहीं हो जाती है । वह शब्द-शक्ति के प्रभाव से शृङ्गारिक व्यापार की भी अभिव्यंजना करती है । टीकाकारों का ध्यान निगूढ़ ध्वनि तत्त्व की ओर गया हो नहीं, इसी से वे स्थूल अर्थ देकर मौन हो गये । श्लिष्ट पदों के अर्थ ये हैं :—

दंतुल्लिहणं (दन्तोल्लेखनम्) = १—दाँतों से तटों का खोदना या गिराना ।
२—दन्तक्षत (प्रणय-पक्ष)

सव्वंगमज्जणं (सर्वाङ्गमज्जनम्) = १—सम्पूर्ण अंग (शरीर) को डुबो देना ।
२—सर्वस्याङ्गस्य लिङ्गस्य मज्जनं भगे प्रवेशः अर्थात् सम्पूर्ण लिंग का भग में प्रवेश (प्रणय-पक्ष) ।

हत्थचल्लणायासं (हस्तचालनायासम्) = १—शुण्डाघात का कष्ट ।
२—कुचादि पर हाथ चलाने का कष्ट । (प्रणय-पक्ष)

पोढगइंदाण (प्रौढ गजेन्द्राणाम्) = १—प्रौढ गजराजों का ।
२—गजराजों के समान प्रौढ़ पुरुष (प्रौढा गजेन्द्रा इव) (प्रणय-पक्ष)

मयं (मदम्) = १—मत्तता
२—वीर्य (प्रणय-पक्ष)

मदो रेतस्यहङ्कारे मद्ये हर्षे भदानयोः ।
कस्तूरिकाया क्षैब्ये च मदी कृषकवस्तुनि ।।
—अनेकार्थसंग्रह, २।२३४

णम्मया (नर्मदा) = १—नर्मदा नदी
२—रति-केलि[1] प्रदान करने वाली सुन्दरी (नर्म-रतिकेलिं ददातीति नर्मदा)

गाथा का प्रथम अर्थ अंग्रेजी अनुवाद में दिया जा चुका है, द्वितीय अर्थ इस प्रकार है—

(कपोलादि पर) दाँतों से होने वाला क्षत, सम्पूर्ण लिंग का भग में प्रविष्ट हो जाना, (कुचादि पर) हाथ चलाने से उत्पन्न आयास और गजराजो के समान प्रौढ पुरुषों का वीर्य (या रमणोन्माद)—यह सब तो केलि प्रदान करने वाली सुन्दरी (नर्मदा) सह लेती है ।

१९९×४—सरला मुहे न जीहा थोवो हत्थो मउब्भडा दिट्ठी ।
रे रयणकोडिगव्विर गइंद न हु सेवणिज्जो सि ।। ७ ।।

सरला मुखे न जिह्वा स्तोको हस्तो मदोद्भटा दृष्टिः
रे रत्नकोटिगर्विन् गजेन्द्र न खलु सेवनीयोऽसि
—संस्कृतटीका स्वीकृत छाया

श्रीपटवर्धन ने 'थोव' को 'ठोर' माना है और 'रयणकोडिगव्विर' का अर्थ 'रदनकोटिगर्विन्' किया है। अंग्रेजी अनुवाद यों है—

"तुम्हारे मुह में सीधी जिह्वा नही है (मुड़ी है), तुम्हारा सूँड़ विशाल है (या मोटा है), तुम्हारी दृष्टि मद से भयानक है, हे गजराज ! तुम अपने दाँतों के तीक्ष्णाग्र पर गर्व करते हो, इन दोषों के कारण तुम सेवनीय नही हो ।"

---

१. गीतगोविन्द, १२।२

संस्कृत-टीकाकार ने 'रयणकोडिगव्विर' की व्याख्या 'रत्नकोटिगर्विन्' की है। शेष पदों का अर्थ अंग्रेजी अनुवाद के ही समान है। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों व्याख्यायें अपूर्ण हैं। प्रस्तुत गाथा समान विशेषणों-द्वारा गजराज की असेव्यता के साथ-साथ किसी धनी राजा की असेव्यता का भी वर्णन करती है। हम इस वर्णन को समासोक्ति की सज्ञा नहीं दे सकते, विशेष्य 'गइंद' भी श्लिष्ट है—

गइंद (गजेन्द्र, गवेन्द्र) = १—गजेन्द्र

२—गो + इन्द्र (गवेन्द्र) अर्थात् राजा

अवादेश के पश्चात् प्राकृत नियमानुसार पूर्णस्वर और वकार का लोप हो जाने पर 'गइंद' शब्द निष्पन्न होगा। गो शब्द पृथ्वी-वाचक है, अतः 'गइंद' का अर्थ है—राजा। अथवा संस्कृत गवेन्द्र शब्द से सीधे ह्रस्वादेश (ह्रस्वः संयोगे), वकारलोप तथा अनुस्वार करने पर 'गइंद' सिद्ध हो गया। 'ठोव' को 'ठोर' मानने की आवश्यकता नहीं है। हाथी का सूंड कुंभ के निकट स्थूल होता है परन्तु उसका निचला भाग, जिससे वह कार्य करता है सम्पूर्ण संहनन की अपेक्षा बहुत छोटा एवं पतला होता है। अन्य श्लिष्ट शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

सरला मुहे न जीहा = १—तुम्हारे मुँह में सीधी जिह्वा नहीं है[1] (गजपक्ष)
२—तुम्हारे मुँह से सीधी बात नहीं निकलती है। (नृपपक्ष)

हत्थ = १—सूंड (गजपक्ष)
२—हाथ (नृपपक्ष)

मद = १—हाथी के मस्तक से क्षरित होने वाला जल (गजपक्ष)
२—गर्व

रयणकोडिगव्विर = १—रदनकोटिगर्विन्, दाँतों के अग्रभाग से गर्वित (गजपक्ष)
२—रत्नकोटिगर्विन्, कोश में स्थित रत्नों की श्रेणियों या कोटि संख्या से गर्वित (नृपपक्ष)

---

१. सोऽपूर्वो रसना विपर्यय विधिस्तत् कर्णयोश्चापलं,
दृष्टिः सा मद विस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे यद्वारणोऽद्याप्यसौ,
अन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः॥ —काव्यप्रकाश, ७

न सेवणिज्जो सि = १—न चढने योग्य हो (गज-पक्ष)
२—सेवा न करने योग्य हो (नृप-पक्ष)

गाथार्थ—(गज-पक्ष) मुह में सीधी जिह्वा नही है, सूंड़ स्वल्पाकृति है, दृष्टि मद से भयानक हो गई है, अरे दाँतो की कोरो पर गर्वशील गजेन्द्र, तुम आरोहणयोग्य नही हो।

(नृप-पक्ष) सीधे मुह बात नही करते हो, हाथ छोटा है (और छोटे हाथ से थोडा दान ही संभव है), दृष्टि गर्व से भयानक बन गई है, अरे करोड़ों रत्नों पर गर्वित (या रत्नो की श्रेणियो पर गर्वित) नरेन्द्र ! तुम सेवा करने योग्य नही हो (क्योकि धनी होने पर भी तुम्हारी सेवा करके कोई कुछ पा नही सकता)।

१९९ × ५—कुंजर मइंद दंसणविमुक्कपुक्कारमय पसंगेण।
न हु नवरि तए अप्पा वि सो वि लहुयत्तणं पत्तो ॥ ८ ॥

कुञ्जर मृगेन्द्रदर्शनविमुक्तपूत्कारमदप्रसगेन।
न खलु केवलं त्वया आत्मापि सोऽपि लघुत्वं नीत.

—उपलब्ध संस्कृत छाया

संस्कृत टीका में 'पत्तो' की छाया 'प्रापित' दी गई है, 'प्राप्तः' होना चाहिये। नीतः भावार्थ है, छाया नही। उत्तरार्ध का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"तुमने अपने आप को घटा कर बहुत निम्न स्तर पर पहुँचा दिया है।"

उपर्युक्त अनुवाद अशुद्ध है। उसमे 'नवरि' (केवल) और 'सोवि' (सोऽपि) पदों की उपेक्षा कर दी गई है। गाथा का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—

अरे कुञ्जर, जब मृगेन्द्र को देखते ही मद छोड़ कर चीत्कार करने लगे तब तुमने अपनी श्रेष्ठ आत्मा को ही नही, उस दुर्धर्ष आक्रामक सिंह को भी लघु बना दिया।

'आत्मापि' से गजेन्द्र की श्रेष्ठता और 'सोऽपि' से आक्रामक सिंह की दुर्धर्षता के साथ-साथ यह ध्वनित होता है कि ऐसे हीनसत्त्व शत्रु पर शौर्य प्रदर्शनकारी सिंह भी कलंकित हो गया।

२१४ × १—ओ सुयइ विल्लरव्विल्ललुलियधम्मिल्लकुंतलकलावो।
अन्नत्थ वच्च वाणिय अम्हं मुत्ताहलं कत्तो ॥ ९ ॥

अहो स्वपिति·······लुलितघम्मिल्लकुन्तलकलापः
अन्यत्र व्रज वणिग् अस्माकं मुक्ताफलं कुतः

—उपलब्ध संस्कृत छाया

इसकी संस्कृत छाया खण्डित है। 'विल्लर' और 'व्विल्ल' का अर्थ अस्पष्ट बताया गया है। संस्कृत-टीका में 'विल्लर' का अर्थ 'विरल' लिखा गया है, जो बिल्कुल ठीक है। संस्कृत विरल प्राकृत मे 'विल्लर' के रूप में अवश्य प्रचलित रहा होगा। इसका प्रमाण अवधी का बहु प्रचलित शब्द 'बिडर' है, जिसने विरल से बिरल (वर्ण विपर्ययद्वारा) और 'बिलर' से डलयरलयोरभेदात् 'बिडर' का रूप धारण कर लिया है। 'विल्लर' वर्ण-विपर्यय एवं लकार-द्वित्व की स्थिति में विरल का अपभ्रंश रूप है। 'विल्ल' देशी शब्द है। इसका अर्थ हेमचन्द्र ने इस प्रकार दिया है—

विल्लमच्छे विलसिए —देशीनाममाला, ७।८८

(विल्ल स्वच्छ और विलसित के अर्थ में है)

इस दृष्टि से संस्कृत छाया का स्वरूप यह होगा—

ओ स्वपिति विरलाच्छलुलितघम्मिल्ल कुन्तल कलाप. ।
अन्यत्र व्रज वणिग् अस्माक मुक्ताफलं कुतः ॥

शब्दार्थ—लुलिय = प्रसृत, विकीर्ण
घम्मिल्ल = केशपाश या जूड़ा
कुन्तलकलाव = केशों का गुच्छा
विल्लरव्विल्ल = १—विल्लर + अविल्ल (समास में व का द्वित्व और सन्धि होने पर रेफस्थ अकार का लोप) किंचित् मलिन ।
२—किंचित् स्वच्छ (विल्लर + विल्ल)
ओ = सूचना का द्योतक ।

गाथा में जिस तरुण व्याध का वर्णन है, वह प्रारंभिक जीवन में दुर्धर्ष वीर एवं उत्साही आखेटक के रूप में प्रसिद्ध था। परन्तु अब नवोढा के प्रणयपाश में बँध कर इतना विषयी हो चुका है कि जीविका के लिये भी गजराजों का वध नहीं करता। तब भी दूर-दूर के वणिक् हाथी-दाँत, मुक्ताफल और व्याघ्रकृत्ति खरीदने उसके द्वार पर पहुचते रहते हैं। विदग्ध व्याध-माता पुत्र की अकर्मण्यता और विलासिता की सूचना जिन शब्दों में दे रही है, उनसे ऐसा लगता है जैसे

वह हिंसा छोड़कर धार्मिक बन गया है। इस सन्दर्भ को ध्यान में रख कर गाथा के पूर्वार्ध की निम्नलिखित वैकल्पिक छाया भी करनी होगी :—

ओ स्वपिति विरलानच्छलुलिताधार्मिक कुन्तलकलापः।

प्राकृत 'अधम्म' (अधर्म) शब्द में मतुवर्थक इल्ल प्रत्यय जोड़ने पर 'अधम्मिल्ल' शब्द बनता है। सन्धि में 'लुलिय' के अन्त्य अकार का लोप हो जाने पर 'लुलियधम्मिल्ल' हो जायगा। अर्थ होगा—अधर्मवान् या अधार्मिक। यहाँ 'कुतलकलाव' का अर्थ भी भिन्न हो जायगा—

कुतल = प्रास

कलाव (कलाप) = तूणीर या बाण।

'ओ' पश्चात्ताप का द्योतक है।

समास—(धार्मिक-पक्ष) लुलिया इतस्ततः विकीर्णाः विरलाश्चिल्ला किञ्चिन्मलिना अधम्मिल्ला अधर्मवन्तः (हिंसासाधनत्वात्) कुन्ताः प्रासाः कलावा (कलापाः) तूणीरा या जस्स।

(शृंगार-पक्ष)—विरले कोमले (विलक्षणे वा) स्वच्छे च धम्मिल्ले केशपाशे लुलितो विकीर्णो मिलितो वा कुन्तलानां केशाना कलापः समूहो यस्य।

मूल में लुलिय का पूर्व निपात हो गया है।

गाथार्थ—(धार्मिक-पक्ष) ओः जिसके किंचित् अस्वच्छ (प्रयोगाभाव से) पापपूर्ण (अधम्मिल्ल) प्रास और तूणीर इधर-उधर अस्तव्यस्त पड़े हैं, वह मेरा पुत्र सो रहा है। वणिक् अन्यत्र जाओ, मेरे पास मुक्ताफल कहाँ? यहाँ अधर्मवान् शस्त्रसमुदाय का अस्तव्यस्त पड़ा रहना—यह सूचित करता है कि आखेटक की उनमें अब रुचि नहीं है। शस्त्रों के प्रति उपेक्षाभाव उसकी धार्मिकता की अभिव्यक्ति करता है। शृंगार-पक्ष—ओः मेरा पुत्र सो रहा है। उसके बालों की लटें प्रिया के कोमल एवं स्वच्छ केश-पाश में मिश्रित हो गई हैं। वणिक् अन्यत्र जाओ, हमारे पास मुक्ताफल कहाँ!

उपर्युक्त अर्थों में एक वाच्य है, दूसरा व्यंग्य।

२१४ × ५—अच्छउ ता करिवहणं तुह तणुओ धणुहरं समुल्लिहइ।
थोर-थिरथणहराणं किं अम्ह माहप्पं ॥ १० ॥

आस्तां तावत् करिवधनं तव तनुजो धनुर्हरं समुल्लिखति
स्थूलस्थिरस्तनभराणां किमस्माकं माहात्म्यम्
—उपलब्ध संस्कृत छाया

उपर्युक्त छाया में 'धनुर्हरम्' के स्थान पर 'धनुर्भरम्' होना चाहिये। इस स्थल पर श्रीपटवर्धन यथार्थ से किंचित् दूर हट गये हैं। अतएव उन्हें इस सरस एवं सरल गाथा को भी अस्पष्ट कहना पड़ा। उनकी व्याख्या यों है—

गजों को मारना तो दूर रहा, तुम्हारा पुत्र धनुर्दण्ड (Bow staff) को छीलकर हल्का कर रहा है। नही तो हमारे स्थूल, सुदृढ एवं भारी स्तनों का क्या महत्त्व है (शक्ति है)।

विवेच्य गाथा व्यंग्य प्रधान शैली मे लिखी गई है। इसमें सन्निहित ध्वनि तत्त्व को समझने के लिये प्रकरण पर दृष्टि रखनी पड़ेगी।

वनवासी बलवान् व्याध प्रतिदिन गुरुभार धनुष को अनायास हाथ में लेकर आखेट के लिये जाया करता था। जब से घर में चन्द्रमुखी नवोढा पत्नी आ गई तब से वह इतना कामुक हो गया है कि अगों की सारी शक्ति ही समाप्त हो गई है। जिस भारी धनुष को वह कभी पुष्पवत् उठा लेता था, आज उसी को हाथ में लेने पर साँसें फूलने लगती हैं। अतः भार कम करने के लिये उसका दण्ड छील कर हल्का कर रहा है। कामुक व्याध का यह व्यापार देखकर उसकी प्रिया सास से कहती है :—

हे सास ! हाथियों को मारना तो दूर रहा, तुम्हारा पुत्र भारी धनुष के भार को (धनुर्भर) छील कर हल्का कर रहा है। हमारे पीन एवं सुदृढ़ पयोधरो की क्या महत्ता रह गई ? तात्पर्य यह है कि हमारे इन पयोधरों का महत्त्व तो तब था जब वह विषय-सेवन के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में रुचि ही न लेता। अभी तो वह आखेट करने की बात भी कभी-कभी सोचता है और उसके लिये भारी धनुष को हल्का करने का प्रयत्न करता है। धिक्कार है, ऐसे विफल स्तनो को जो अपने आकर्षण से प्रणयी को एकनिष्ठ भी नही बना सके।

अथवा तुम्हारा पुत्र विषय-सेवन-जनित दुर्बलता के कारण भारी धनुर्दण्ड को छील रहा है, यह क्या हमारा माहात्म्य है ? अरे ! यह तो हमारे पुष्ट पयोधरो का प्रभाव है (अर्थात् हमारे पीनोन्नत पयोधरों के आकर्षणवश विषयी होकर आज इस स्थिति पर पहुँच गया है कि पुराने भारी धनुष को उठाने की शक्ति नहीं रह गई है। हे सास ! मैं निरपराध हूँ। (अपराधी ये दुष्ट पयोधर हैं) ।

अथवा उत्तरार्द्ध का अर्थ यों करें :—

यह हमारे पीन पयोधरों का महत्त्व है क्या ? (अर्थात् उन्ही का महत्त्व है) ।

२८४ × ६–वंकं ताण न कीरइ किं कज्जं जस्स ते वि याणंति ।
सब्भावेण य छेया पुत्ति देव व्व घेप्पंति ॥ ११ ॥

वक्रं तेषा न क्रियते किं कार्यं यस्य तेऽपि जानन्ति
सद्भावेन च च्छेका· पुत्रि देवा इव गृह्यन्ते

संस्कृत टीका 'न' को 'जानन्ति' क्रिया से सम्बद्ध करती है :—

हे पुत्रि, च्छेका ये ते न जानन्ति ।

जिससे गाथा के अन्तराल तक पहुँचने के लिये कोई भी रन्ध्र नही मिलता । श्री पटवर्धन ने 'किं कज्जं जस्स ते वि जाणंति' का निम्नलिखित अर्थ दिया है :—

"वे यह जान लेते हैं कि एक मनुष्य का क्या कार्य है ।"

परन्तु उक्त प्राकृत-वाक्य का सीधा और सरल अर्थ यह है :—

जिसका क्या कार्य है, वे भो जानते है ।

यहाँ 'जस्स' के लिये 'तस्स' की आकांक्षा स्वाभाविक है। गाथा में कही भी 'तस्स' पद नही है। समुच्चयार्थक 'वि' से समुच्चित 'ते' किसी अन्य की भी अपेक्षा रखता है, परन्तु उसके साथ अन्य को समुच्चीयमान पद दिखाई नही देता। इन विसंगतियों के कारण द्वितीय चरण नितान्त अव्यवस्थित एवं अनर्गल प्रलाप-सा प्रतीत होता है। अत. व्यवस्था के लिये उक्त अंश का पाठ एवं उसकी छाया इस प्रकार होगी—

किंकज्जं जस्स ते वियाणंति

(कैङ्कर्यं यस्य ते विजानन्ति)

अर्थात् जिसकी किंकरता (सेवा या अनन्याश्रयता) होती है (उसे), विशेषतः जानते हैं। उपर्युक्त पाठ में 'वि' 'जाणंति' क्रिया का उपसर्ग है। 'किं' और 'कज्जं' पृथक् नही, एक पद बन गये हैं। अब गाथा का अर्थ स्वतः स्पष्ट है—

अर्थ—उन (छेकों) से वक्र व्यवहार नहीं किया जा सकता। वे जिसकी (उनके प्रति) सेवा होती है, उसे विशेषतः जानते है। बेटी, छेक देवताओं के समान सच्चे प्रेम से ही वशीभूत होते हैं।

तात्पर्य यह है कि विदग्ध-जन सच्ची सेवा को पहचानते हैं और छल-कपट से वशीभूत नहीं होते हैं।

३०० × ६—गाढयरचुंबणुप्फुसियबहलणीलंजणाइ रेहंति।
बप्फभिंतरपसरियगलंतबाहाहि अच्छीइं ॥ १२ ॥

गाढतरचुम्बनप्रोञ्छितबहलनीलाञ्जने शोभेते
बाष्पाभ्यन्तरप्रसृतगलत्……… …(?) अक्षिणी

—उपलब्ध खंडित संस्कृत छाया

प्रस्तुत गाथा का ठीक-ठीक सस्कृत रूपान्तर न तो संस्कृत टीकाकार कर सके हैं और न श्री पटवर्धन ही। श्री पटवर्धन ने मूल गाथा में निम्नलिखित संशोधन का सुझाव देकर 'बप्फ' शब्द को अस्पष्ट कहा है—

Read गलंतबाहाइ for गलंतबाहाहि

The sense of बप्फ is obscure.

न तो उक्त संशोधन ही आवश्यक है और न 'बप्फ' शब्द का अर्थ ही अस्पष्ट है। संभवतः अश्रुपर्याय 'बप्फ और 'बाहु' की एक साथ उपस्थिति होने के कारण अंग्रेजी अनुवादक को दोनों में एक की अस्पष्टार्थता का आभास हुआ होगा। परन्तु गाथा में 'बप्फ' के साथ 'बाहु' का नहीं, 'बाहा' (बाधा) का प्रयोग है। बाहा का अर्थ है—बाधा या अवरोध। इस दृष्टि से गाथा का संस्कृत रूपान्तर यों होगा—

गाढतरचुम्बनप्रोञ्छितबहलनीलाञ्जने शोभेते।
बाष्पाभ्यन्तरप्रसृतगलद्बाधाभिः अक्षिणी ॥

अपराधी नायक मानवती नायिका का मानापनयन कर रहा था। वह बार-बार विरोध करती जा रही थी। अन्त में उसने बलपूर्वक चुम्बन कर लिया। इससे आँखों से कज्जल-मिश्रित अश्रुओं की तरल धारा फूट पड़ी और मान-जनित सारा अवरोध तुरन्त विगलित हो गया। उसगार्थ का अन्वय इस प्रकार है—

अक्षिणी बाष्पाभ्यन्तर प्रसृत गलद्बाधाभिः शोभेते।

(अक्षिणी नयने बाष्पाम्यन्तरे प्रसृताभिः गलन्तीभिश्च बाधाभिः शोभेते अर्थात् अश्रुओं के प्रवाह के भीतर बढी हुई और पिघलती हुई बाधाओं के द्वारा आँखें सुन्दर लगती हैं)

गाथार्थ—प्रगाढ चुम्बन से जिनका घना कृष्ण काजल प्रोञ्छित हो चुका है, वे आँखें अश्रुधारा के भीतर विवर्धमान विरोधों (बाधाओं) के विगलित हो जाने के कारण सुन्दर लगती है ।

३१२ × २—सो तण्हाइयपहियव्व दूमिओ तीइ दिट्ठमेत्तेहिं ।
पथ पवाकलसेहि व थणेहि उम्मंथियमुहेहि ॥ १३ ॥

स तृषितपथिक इव दूनस्तस्या दृष्टमात्राभ्याम् ।
पथि-प्रपाकलशाभ्यामिव स्तनाभ्यां दग्धमुखाभ्याम् ॥

—उपलब्ध संस्कृत छाया

इस गाथा का अर्थ इस प्रकार दिया गया है:—

"वह उसके कृष्णमुख पयोधरो को देखते ही ऐसे दु:खी हो गया जैसे कोई तृषित बटोही मार्गस्थ पानीय-शाला में दग्धमुख कलशो को देख कर दु:खी हो जाता है ।"

संस्कृत-टीका में 'उम्मंथिय' का संस्कृत-रूपान्तर 'उन्मथित' दिया गया है और 'दिट्ठमेत्तेहिं' (दृष्टमात्रैः) की व्याख्या उपमान-पक्ष में इस प्रकार की गई है—

दृष्टा स्तोका मात्रा पानीयलक्षणा येषु ते दृष्टमात्राः । तैर्दृष्टमात्रै. । उन्मथित का अर्थ टीका में नही लिखा है । संस्कृतटीकानुसार गाथा का यह अर्थ होना चाहिये.—

वह (युवक) उसके उन्मथित-(?)-मुख पयोधरों को देखते ही दु:खी हो गया, जैसे कोई तृषित पथिक मार्गस्थ पानीयशाला (प्याऊ) के उन कलशों को देखकर दु:खी हो जाता है जिनके जल की थोड़ी मात्रा देख ली गई है ।

यदि उन्मथित का भी अर्थ दिया गया होता तो उपर्युक्त व्याख्या में कोई कमी ही नहीं थी । श्री पटवर्धन ने संस्कृतटीका के 'पथि प्रपाकलशैः' इस व्याख्या-वचन में अवस्थित पथि शब्द को समस्त-पद के रूप में छाया में निविष्ट कर दिया है, जो उचित नहीं है । समास-गत पथ शब्द में सप्तमी निरर्थक है । गाथा का अंग्रेजी अनुवाद, जिसका भावार्थ ऊपर दिया गया है, नितान्त

असंगत है। कृष्णमुख पयोधरों को देखते ही किसी भी मनचले युवक के मन में स्वभावतः आनन्द ही होता है, दुःख नहीं। विलास-प्रिय नवयुवक का संगमोत्कण्ठा से दुःखी होना भी संभव है, परन्तु तृषित-पथिक का, पानीयशाला के कलशों को देखकर, दुःखी होना समझ में नहीं आता है। उसे तो आनन्द-विभोर हो जाना चाहिये था। कलशों की दग्धमुखता में दुःख उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। संस्कृतटीका के अनुसार तृषित पथिक के दुःख का कारण पानी की स्वल्प मात्रा है, जिससे तृषा-निवृत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

प्राकृत शब्द 'ओमंथिय' ओकार की ह्रस्वता के कारण 'उम्मंथिय' (अव + मस्तिक) हो गया है। 'ओमंथिय' का अर्थ है—अधोमुख या नत।[1] लटकते हुए (अधोमुख) पयोधरों को देखकर विलास-प्रिय तरुण ही नहीं दुःखी होते हैं, पानीयशाला के औंधे कलशों को देखकर तृषित बटोही भी व्यथित हो उठते हैं। गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा—

वह (तरुण) उस (महिला) के नतमुख (लटकते हुए) पयोधरों को देखते ही दुःखी हो गया, जैसे कोई तृषित पथिक पानीयशाला के उन घड़ों को देखकर दुःखी हो उठता है, जिनके भीतर पानी की थोड़ी मात्रा देख ली गई है।

३१२ × ११—ठाणयरेहिं एहिं अहोमुहेहिं अणवरयपोढेहिं।
सिहिणेहि नरिंदेहि व किं किज्जइ पयविमुक्केहिं ॥ १४ ॥

स्थानकराभ्यामाभ्यामधोमुखाभ्यामनवरतप्रौढाभ्याम्
स्तनाभ्यां नरेन्द्राभ्यामिव किं क्रियते पदविमुक्ताभ्याम्

—उपलब्ध संस्कृत छाया

इसमें पयोधरों और राजाओं का औपम्य वर्णित है। वर्णन श्लिष्ट है परन्तु संस्कृत-टीका प्राकृत शब्दों का संस्कृत रूपान्तर देकर ही मौन हो गई है। केवल 'पयविमुक्क' की व्याख्या इन शब्दों में की गई है—

पदविमुक्ताभ्यां स्थानच्युताभ्याम्।

अंग्रेजी अनुवाद का भावार्थ इस प्रकार है—

"जो अपने स्थान से च्युत हो चुके हैं, जो पूर्वकाल में अपनी स्थिति (Position) बनाने में समर्थ थे, जिन्होंने (परिपुष्टता के कारण) अपना

१. पाइयसद्दमहण्णव

मुह झुका लिया है, जो पहले निरन्तर प्रवर्धमान थे वे स्तन, उन स्थानभ्रष्ट राजाओं के समान क्या कर सकते हैं, जो पहले अपना उच्च स्थान बनाने में समर्थ थे, जिन्होंने अपना मुह (विनम्रता के कारण) झुका लिया था और जो पूर्वकाल में निरन्तर (शक्ति के क्षेत्र में) प्रवर्धमान थे।"

उपर्युक्त अनुवाद चमत्कारशून्य है। उसमें श्लेष का निर्वाह भी नहीं हो सका है। प्राकृत गाथा की छाया इस प्रकार होनी चाहिये :—

स्थानचरैरेतैरधोमुखैरनवरतप्रौढैः।
स्तनैर्नरेन्द्रैरिव किं क्रियते पयोविमुक्तैः (पदविमुक्तैः) ॥

शब्दार्थ—स्थानचर = १ स्थान से चलित (चर = चंचल, चलायमान)
= २ (थाणचर)—स्थानम् उपशान्ति स्थैर्यं वा चरतीति स्थानचरः, शान्त हो जाने वाले या उद्यमहीन हो जाने वाले। अथवा स्थाने स्वराज्ये चरति भ्राम्यति निरुद्देश्यः स्थानचरः, अपने राज्य में निरुद्देश्य भटकने वाले।

अधोमुख = १—जिनका मुख (वय परिणति के कारण) नीचे की ओर हो गया है।
= २—जिनका मुँह लज्जा से नीचा हो गया है।

अनवरत प्रौढ = १—जो पुराने (तारुण्य में होने वाले) संभोगों के कारण परिपक्वता को प्राप्त हो चुके हैं (अनवेन अनूतनेन तारुण्यकालकृतेन रतेन संभोगेन प्रौढैः परिणतिं गतैरिति)।
२—निरन्तर वृद्ध

पयोविमुक्तैः = दुग्धहीन
पदविमुक्तैः = पदच्युत, जिन्होंने अपना राज्य खो दिया है।

गाथार्थ—जो स्थान से चलित हो चुके हैं, जो प्रथमावस्था के संभोग से परिणत हो चुके हैं, जिनका मुँह नीचे हो गया है, वे दुग्धहीन स्तन, उन पदच्युत एवं निरन्तर वृद्ध राजाओं के समान क्या कर सकते हैं, जो (निराश एवं अनुत्साह से) उद्यमरहित हो चुके हैं और जिनका मुँह (लज्जा से) नीचा हो गया है।

३१८ × ६ बालालावण्णणिही नवल्लवल्लिव्व माउलिंगस्स।
चिंचिव्व दूरपक्का करेइ लालाउयं हिययं ॥ १५ ॥

बालालावण्यनिधिर्नवीनवल्लीव मातुलिङ्गस्य
बिम्बेव दूरपक्वा करोति लालाकुलं हृदयम्
—उपलब्ध संस्कृत छाया

उपर्युक्त संस्कृत छाया में 'लालाकुलम्' के स्थान पर 'लालायुतम्' होना चाहिये।

३४९×६ अव्वो जाणामि अहं पेम्मं च हवेइ लोयमज्झम्मि।
थिरआसाए रइयं न पोडियं नवरि दिव्वेण ॥ १६ ॥

अहो जानाम्यहं प्रेम च भवति लोकमध्ये
स्थिराशया रचितं न पीडितं केवलं दैवेन
—उपलब्ध संस्कृत छाया

श्री पटवर्धन ने इसका यह अनुवाद किया है :—

"अहो, मैं जानती हूँ कि कैसे इस जगत् में प्रेम सुदृढ आशा के द्वारा रचित होता है परन्तु कैसे यह भाग्य से पीड़ित है ?"

उपर्युक्त अनुवाद सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि अनुवादक पूर्वार्ध या उत्तरार्ध के किसी वाक्य से 'न' का अन्वय नहीं कर सके हैं। यह किसी ऐसी निराश प्रेमिका की मर्मभेदिनी उक्ति है, जिसने कभी बड़ी ही आशा से प्रणय का सूत्रपात किया था।

गाथार्थ—हाय मैं जानती थी कि जगत् में प्रेम सुदृढ आशा से रचित होता है, वह केवल भाग्य से पीडित (भाग्याधीन या भाग्य से बाधित) नहीं होता। (परन्तु खेद है, प्रेम केवल भाग्य के ही अधीन होता है)

इस अर्थ में 'न' को अन्तिम चरण से सम्बद्ध किया गया है। उसे द्वितीय चरण से संयुक्त करके यह अर्थ ले सकते हैं :—

मैं जानती हूँ कि संसार में प्रेम सुदृढ आशा से रचित नहीं होता। वह केवल भाग्य के अधीन रहता है।

अथवा यह अर्थ करें :—

अहो, संसार में प्रेम सुदृढ आशा से निर्मित होता है—यह तो मैं जानती थी परन्तु वह केवल भाग्य से पीडित होता है (भाग्य ही उसमें बाधक बनता है)—यह नहीं जानती थी।

'जाणामि' का भूतकालिक अर्थ हेमचन्द्र के 'व्यत्ययश्च', ४।४४७—इस सूत्र से समर्थित है। इस अर्थ में जानामि क्रिया को प्रमुखता दी गई है। अथवा इसका निम्नलिखित अर्थ समझें :—

अहो, संसार में प्रेम सुदृढ आशा से निर्मित नही होता है और भाग्य से पीडित होता है—इसे मैं जानती थी (या जानती हूँ)।

इस प्रकार 'न' निषेध और 'जानाति' क्रिया के अन्वय-भेद से विवेच्य गाथा के कई अर्थ संभव है।

३४९ × १० सो को वि न दीसइ सामलंगि जो घडइ विघडियं पेम्मं।
घडकप्परं च भग्गं न एइ तेहिं चिय सलेहिं ॥ १७॥

स कोऽपि न दृश्यते श्यामलाङ्गि यो घटयति विघटित प्रेम
घटकर्परं च भग्न नैति तैरेव ··· ···· ···· (?)

—उपलब्ध अपूर्ण छाया

संस्कृत छाया का चतुर्थ चरण खण्डित है। 'सलेहिं' पद को छोड दिया गया है। संस्कृत टीका के अनुसार 'सलेहिं' की छाया का अनुवाद 'संचैः' होना चाहिये। श्री पटवर्धन 'संचैः' का अर्थ नही समझ सके। उन्होंने टीका के इस पद को प्रश्नांकित किया है। इस शब्द का अर्थ है—साँचा। 'सल' शब्द देशी प्रतीत होता है, परन्तु देशीनाममाला आदि कोशों में संगृहीत नहीं है। उसके अर्थ का आधार केवल निम्नलिखित टीका है :—

तैरेव सलैः संचैः न एति नागच्छति।

गाथार्थ—अयि श्यामलांगि, ऐसा कोई भी नही दिखाई देता जो टूटे प्रेम को जोड़ सके। फूटा घड़ा उन्हीं साँचों में नही आता (अर्थात् उसका आकार पूर्ववत् नही हो सकता या साँचे में पुनः उसी रूप में नही बनाया जा सकता)।

३९७ × २—हारेण मामि कुसुमच्छडायलुप्पन्नचिह्निणा दड्ढो।
वम्मीसणो न मन्नइ उलूविओ तेण मं डहइ ॥ १८॥

हारेण सखि कुसुमच्छटातलोत्पन्नवह्निना दग्धः
वर्मेषणो न मन्यते विध्यापितः तेन मा दहति

—उपलब्ध संस्कृत छाया

गाथा और संस्कृत टीका के सम्बन्ध में यह पाद टिप्पणी है :—

The sense of the Gatha and that of the commentary are obscure.

संस्कृत-टीका के निम्नलिखित वाक्य से गाथा के अर्थ पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता :—

य. शीतवीर्येण दग्धो भवति स शीतत्वे च उपशमनं प्राप्नोति ।

क्योंकि पूर्वार्ध-वर्णित वह्नि में शीतवीर्यता की कल्पना लोकविरुद्ध है ।

श्री पटवर्धन ने गाथा का यह अर्थ किया है :—

"सखि, मैं समझती हूँ, पुष्प-समूह के नीचे से उठी (उत्पन्न) आग के द्वारा जला हुआ कामदेव (बर्मेषण) बुझा नहीं, तभी तो मुझे सतत जला रहा है ।"

उपर्युक्त अर्थ अपूर्ण है । इसमें 'हारेण' पद को बिल्कुल छोड दिया गया है । 'कुसुमच्छडायलुप्पन्नचिक्किणा' 'हारेण' का विशेषण है । अर्थ में उसे विशेषणवत् ही रखना होगा । गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा :—

सखि, जिसके पुष्प-समूह के नीचे से अग्नि उत्पन्न हो गई थी, उस हार के द्वारा दग्ध होकर कामदेव, मैं समझती हूँ, बुझा नहीं । तभी तो मुझे जला रहा है ।

यह वर्णन किसी वियोगिनी का है । उस बेचारी को शीतल पुष्पहार भी दाहक प्रतीत हो रहा था । अतः वह सोचती थी कि पुष्पहार की इस असह्य ज्वाला से हृदय में अवस्थित उत्पीडक कामदेव अवश्य जलकर राख हो जायगा और मेरी यह विरह-व्यथा दूर हो जायगी । परन्तु मनोरथ अपूर्ण ही रह गया । काष्ठ अग्नि में दग्ध हो जाने पर भी तब तक लोगों को जलाता रहता है जब तक उसका अंगार बुझकर राख नहीं हो जाता । इसी प्रकार यद्यपि कामदेव स्वयं जल तो गया है परन्तु अभी जलते हुये अंगार के रूप में है, बुझा नहीं है । अतः विरहिणी को जला रहा है । पुष्पहार की दाहकता का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन है ।

४२१ × १—अहवा तुज्झ न दोसो तस्स उ रूवस्स हियकिलेसस्स ।
अज्जावि न प्पसोयइ ईसायंति व्व गिरितणया ॥ १९ ॥

अथवा तव न दोषस्तस्य तु रूपस्य हितक्लेशस्य
अद्यापि न प्रसीदति ईर्ष्यायमाणेव गिरितनया

मानवती गिरिजा को मनाकर निराश लौटी दूती की उक्ति है। श्री पटवर्धन ने पादटिप्पणी में लिखा है कि टीका-सहित गाथा का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

अंग्रेजी अनुवाद यों है—

"यह तुम्हारा दोष नहीं है। यह सौन्दर्य का दोष है जो कष्ट को जन्म देता है। ईर्ष्या करती हुई पार्वती प्रसन्न नहीं हो रही है।"

संस्कृत-टीका में 'हितक्लेशस्य' की व्याख्या इन शब्दों में की गई है—

हितः क्लेशो यस्य असौ हितक्लेश, तस्य हितक्लेशस्य।

टीका का आशय यह है—अनेक अनुनय-विनय के पश्चात् भी पार्वती का मान नहीं टूट रहा है, इसका कारण उनका वह अपरिमित सौन्दर्य है, जिसे क्लेश भोगना और भोगाना ही प्रिय है। यदि वे कुरूप होतीं तो किस बूते पर इतना कठोर मान करतीं। सुन्दरी का मान शोभा देता है, असुन्दरी का नहीं। सौन्दर्य गर्व का कारण है और गर्व मान का। इस प्रकार मानिनी के लिये विरह-जनित क्लेश अनिवार्य है। अतः 'हितक्लेश'—यह सौन्दर्य का विशेषण सार्थक है। अथवा 'हिय किलेसस्स' की छाया 'हृतक्लेशस्य' है। व्याख्या इस प्रकार करें—

हृतो दूरीकृतः क्लेशः प्रणयोत्कण्ठाजनितसन्तापः येन। अर्थात् जिसने प्रणयोत्कण्ठा से उत्पन्न कष्ट को दूर कर दिया था। इस आलोक में गाथा का अर्थ यह होगा—

हे शिव ! ईर्ष्या करती हुई पार्वती, जो अब तक प्रसन्न नहीं हो रही है, यह आपका दोष नहीं है। यह तो उस सौन्दर्य का दोष है, जिसने (कभी संयोगावस्था में) आपके प्रणयोत्कण्ठाजनित सन्ताप को हर लिया था। पार्वती के मान न छोड़ने का कारण अनन्त लावण्य और शिव के सतत अनुनय का कारण हृतक्लेशत्व है। 'हिय किलेस' का अन्य अर्थ इस प्रकार भी कर सकते हैं—

हितः स्थापितः क्लेशो यस्मिन्।

४५४ × २—सातम्मि हियय दुल्लहम्मि माणुसे अलियसंगमासाए।
हरिणव्व मूढ मयतण्हियाइ दूरं हरिज्जिहिसि ॥ २० ॥

साते हृदय दुर्लभे मनुष्ये अलीकसंगमाशया
हरिण इव मूढ मृगतृष्णिकया दूरं हरिष्यसे

इसकी संस्कृत-टीका नितान्त अव्यवस्थित है। लेखक ने एकबार 'माणुसे' का अर्थ 'मनुष्यभवे' लिखा है और दूसरी बार 'मनुष्य'। 'अलीकसंगमासायो' को 'अलीकसंगमाशाः' समझ कर उसकी व्याख्या मनुष्य के विशेषण के रूप में की है, जो व्याकरण-विरुद्ध है। अंग्रेजी अनुवाद यों है—

"हे मूढ हृदय, दुर्लभ-जन के संगम की मिथ्या आशा से तुम उसी प्रकार दूर तक ले जाये जाओगे जैसे कोई हरिण मृगतृष्णा-द्वारा दूर तक भटकाया जाता है।"

इस अनुवाद मे 'माणुसे' और 'सातम्मि' पद उपेक्षित रह गये हैं। गाथा का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—

अरे मूढ मन! मानुष-सुख (मानुष = मनुष्य, सात = सुख) दुर्लभ हो जाने पर तू उसी प्रकार मिथ्या संगमाशा के द्वारा दूर तक भरमाया जायगा जैसे हरिण मृग-मरीचिका के द्वारा दूर तक दौड़ाया जाता है।

४९६ × ८—बहले तमंधयारे रमियपमुक्काण सासुसुण्हाणं।
समयं चिय अब्भिडिया दोण्हं पि सरद्दहे हत्था ॥ २१ ॥

बहले तमोऽन्धकारे रमितप्रमुक्तयोः श्वश्रूस्नुषयोः
सममेव सगतौ (मिलितौ) द्वयोरपि····(?) हस्तौ

—उपलब्ध संस्कृत छाया

सस्कृत-टीका के अनुसार गाथा का सस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

बहलेतमोऽन्धकारे रमित प्रमुक्तयोः श्वाससोष्णयोः।
समकालमेवावलम्बितौ द्वाभ्यामपि सारद्रहे हस्तौ ॥

सम्पादक ने टीका के 'श्वाससोष्णयो' और 'सारद्रहे' पदों के आगे प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं। अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"घने अन्धकार के मध्य में सास और बहू—दोनो ने अपने उपपतियों के साथ जलाशय मे गुप्तरूप से रमण किया और मुक्त होकर जब तैरती हुई तट की ओर लौटीं तब उनके हाथ संयोग से परस्पर छू गये (मिल गये)।"

जल-पूर्ण जलाशय के मध्य रमण करना अस्वाभाविक व्यापार है। अभिसारिकाओं का संकेत-स्थल जलशून्य जलाशय में हो संभव है। निशीथ की निस्तब्धता में रमण एवं आप्लवन से जलाशय की प्रशान्त जलराशि का विलुब्ध

होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में उन पुश्चलियों के दुष्कृत्य में गोपनीयता कहाँ रह गई ? आप्लवन से आलोडित, कल-कल-छल-छल करते जलाशय में यदि उनके हाथ परस्पर छू गये तो उसे संयोग कैसे कहा जा सकता है। अन्धकार में कोई भी आप्लवनकारी जलरव से सतर्क होकर रहस्य की रक्षा के लिये अपनी गति की दिशा बदल सकता है। अतः उक्त अर्थ नितान्त असंगत है। संस्कृत टीका 'सरद्दह' को 'सारद्रह' मानती है और श्री पटवर्धन उसे water reservoir लिखते हैं। सार शब्द जलवाचक है—

सारं तु द्रविणन्याय वारिषु।
—अनेकार्थसंग्रह

अतः 'सर' को 'सार' मानकर व्याख्या करना बहुत उचित नहीं है। स्वरूप से जल प्रत्यायक द्रह (सरोवर) के साथ उसका प्रयोग निरर्थक[1] है। मूल में 'सासुसुण्हाणं' पद विशेष महत्त्व का है। संस्कृत-टीकाकार ने उसका अर्थ 'श्वास-सोष्णयो' लिखकर यद्यपि ठीक दिशा का संकेत किया है परन्तु 'दोण्हं' की व्याख्या 'द्वाभ्याम्' पाठकों को पुनः निविड अन्धकार में भटकने के लिये अकेला छोड देती है। मेरे विचार से 'सासुसुण्हाणं' का संस्कृतरूपान्तर 'श्वासमोष्णयो.' की अपेक्षा साश्रुसोष्णयोः करना अधिक प्रासंगिक है। हेमचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण के लुमयरवशषसां शषसां दीर्घः १।४३—इस सूत्र से रेफ का लोप हो जाने पर पूर्वस्थित स्वर दीर्घ हो जायगा और साश्रु शब्द (जिसे मस्सु होना चाहिये) सासु का रूप धारण कर लेगा। 'सासु' का अर्थ है—आँसुओं के सहित (अश्रुभिः सहितः)। 'सोण्ह' का अर्थ है—गर्मी से युक्त (उण्हेण तावेण सहिया सुण्हा) 'सासुसोण्ह' शब्द अध्यवसान के द्वारा अर्थ-युगल का अवबोधक है, अतः श्री पटवर्धन के द्वारा स्वीकृत अर्थ भी संग्रहणीय है। मूल प्राकृत की संस्कृत छाया इस प्रकार होनी चाहिये—

बहुले तमोऽन्धकारे रमितप्रमुक्तयोः श्वश्रूस्नुषयोः (साश्रुसोष्णयोः)।
सममेव संगतौ द्वयोरपि शारदद्रहे (सारद्रहे) हस्तौ ॥

प्रमुख पदों के अर्थ इस प्रकार हैं—

रमियपमुक्काण = रमितप्रमुक्तयोः = रमिता युक्ता प्रमुक्ता परित्यक्ता च तयोः रमित प्रमुक्तयोः।

---

१. सार शब्द को सरोवर की जलशून्यता का व्यावर्तक मान लेने पर वह सार्थक है।

सासुसुण्हाणं = श्वश्रूस्नुषयोः = सास और बहू के ।
सासुसुण्हाणं = साश्रुसोष्मयोः = आँसु से युक्त और उष्णता से युक्त रहने वाली (सास और बहू) के ।
सरद्दह = १—शरद्ग्रह = शरत्कालीन सरोवर ।
२—सारद्रह = जलयुक्त सरोवर ।

अब्भिडिया = छू गये या मिले । संस्कृतटीका के अनुसार लटकाया या डाला । विवेच्य गाथा में सास और पुत्रवधू के प्रच्छन्न स्वैराचार का व्यंग्यपूर्ण शैली में चित्रण किया गया है । दोनों एक दूसरे से छिपकर अँधेरी रात में अपने-अपने अनुरागियों के निकट अभिसार करती हैं । एक संभोग से कृतार्थ हो जाती है और दूसरी को परिश्रम ही हाथ लगता है, उसका उपपति बिना रमण किये ही छोड़ देता है । एक रमण से उत्पन्न उष्णता की शान्ति के लिये सरोवर में हाथ डालती है तो दूसरी आँसुओं भरा मुँह धोने के लिये । संयोग से अँधेरी रात में दोनों स्वैरिणियों के हाथ परस्पर छू जाते हैं । गाथा में छन्द के अनुरोध से यथा-संख्य भाव नहीं है ।

अर्थ—निबिड अन्धकार में जिसके साथ रमण किया गया था और जिसको (बिना रमण किये ही) छोड़ दिया गया था (मुक्त) उन आँसुओं से युक्त और (रमण-जनित) उष्णता युक्त सास और बहू—दोनों के हाथ शरत्सरोवर (या जलमय सरोवर) में परस्पर एक साथ टकरा गये (छू गये, या डाले गये) ।

यदि 'सासुसुण्हाणं' में श्लेष न स्वीकार करें, केवल 'श्वाससोष्णयोः' के अर्थ में ही सीमित रहने दें तो गाथा का अर्थ इस प्रकार हो जाएगा :—

दो अज्ञात अभिसारिकाओं में से एक ने तो रमण किया और दूसरी जार के द्वारा बिना रमण किये ही मुक्त कर दी गई । अतः एक रतिश्रम-जनित दीर्घश्वास से उष्णता का अनुभव कर रही थी तो दूसरी अपमान से जनित रोष की स्थिति में लम्बी साँस लेती हुई प्रतप्त हो रही थी । अतः दोनों अंगताप की निवृत्ति के लिये शरत्सरोवर में चुपके-चुपके गईं और अन्धेरे में दोनों के हाथ एक साथ टकरा गये (या दोनों ने हाथ मिलाये) ।

संस्कृत टीकासम्मत अर्थ का समर्थन यदि करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं—

अँधेरी रात में गुप्तरूप से दो अज्ञात अभिसारिकायें अपने-अपने उपपतियों के निकट पहुँचीं और रति-क्रिया से मुक्त होकर जब लौटीं तब उनके अंग सुरता-

यास-जनित प्रश्वास से प्रतप्त हो रहे थे। संयोग से गात्र-प्रक्षालनार्थ एक साथ शरत्सरोवर पर पहुँचने पर दोनों ने हाथ मिलाये (अपनी सफलता की प्रसन्नता में) अथवा संयोग से अँधेरे में उन दोनों ने एक दूसरे को हाथ का सहारा दिया।

५०७ × १—सीसेण कह न कीरइ निउंबणं मामि तस्स गणयस्स।
असमत्तसुक्कसंकमणवेयणा जेण मह मुणिया ॥ २२ ॥

शीर्षेण कथं न क्रियते निकुबन(?)सखि तस्य गणकस्य।
असमाप्तशुक्रसंक्रमणवेदना येन मम ज्ञाता ॥

—उपलब्ध संस्कृत छाया

संस्कृत-टीका में 'निउंबणं' की छाया 'निकुबनम्' की गई है। श्री पटवर्धन ने उसके स्थान पर 'निचुम्बनम्' शब्द रख कर पूर्वार्ध का यह अर्थ किया है :—

"हे सखि ! उस गणक के चरणों का स्पर्श (चुम्बन) अपने शिर से क्यों न करें।"

इस अर्थ में स्पर्शन क्रिया (चुम्बन) के कर्म के रूप में चरणों का बाहर से आक्षेप करना पड़ता है। अतः 'सीसेण' में सप्तम्यर्थक तृतीया मान कर यह अर्थ करना अधिक सरल एवं समीचीन है:—

हे सखि ! उस गणक का मस्तक क्यों न चूम लें।

इस अर्थ में चूमना क्रिया मस्तक से सीधे अन्वित हो जाती है।

५५९ × २—करफंसमलणचुंबणपीलणणिहणाइ हरिसवयणेहिं।
अत्ता मायंदणिहीण किंपि कुमरीउ सिक्खवइ ॥ २३ ॥

कर स्पर्शमर्दनचुम्बनपीडन निहननानि हर्षवचनैः।
आर्या माकन्दनिधीन् किमपि कुमारीः शिक्षयति ॥

—उपलब्ध संस्कृत छाया

संस्कृत-टीकाकार ने कूटत्व के कारण इसकी व्याख्या नहीं की है :—

अस्याः गाथायाः टीका न कृतास्ति। कूटत्वात्।

श्री पटवर्धन-कृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है :—

"प्रौढा स्त्री मुस्कान के साथ तरुणियों को हाथ पकड़ने (प्रेमी का), लिपटने, चूमने, दबाने और थपथपाने की क्रियाओं की शिक्षा देती है, जो माधुर्य एवं आकर्षण की निधि है।"

अर्थ के अन्त में 'मायंदणिहीण' को कोष्ठक के भीतर प्रश्न-चिन्ह से इस

प्रकार अंकित किया गया है :—

(मायंदणिहीण ?)

उपर्युक्त अंग्रेजी अनुवाद और संस्कृत-छाया-दोनों दोष-पूर्ण हैं। 'माकन्द-निधीन्' का प्राकृत रूपान्तर 'मायंदणिहीण' नही, 'मायंदणिहिणो' होगा।[1] अन्त्यव्यंजनलोप प्राकृत की प्रमुख विशेषता है। अतः अन्त्यहल् का 'ण' के रूप में परिणत होकर शेष रह जाना किसी भी दशा में व्याकरण-सम्मत नहीं है। यही नही, 'मायंदणिहीण' और 'किं पि' का सह-प्रयोग भी संस्कृत-छाया को प्रमाण मानने पर अर्थावरोधक बन जाता है। उक्त शब्द स्पष्टतः षष्ठ्यन्त है। उसका संस्कृत रूपान्तर है—माकन्दनिधीनाम्। संस्कृत छाया में 'माकन्दनिधीन्' के स्थान पर 'माकन्दनिधीनाम्' होना चाहिये।

वेश्यायें धनी पुरुषों से बड़ा कुटिल व्यवहार करती हैं। इस दृष्टि से देखें तो आम का फल खाने वाले व्यक्ति से उनका बहुत अधिक साम्य है। कुट्टिनी-सिक्खा में संगृहीत इस प्राकृत गाथा में आम के फलों को अप्रस्तुत के रूप में रख कर वेश्याओं की धूर्तता का अत्यन्त बिम्बग्राही चित्र अंकित किया गया है। आम खानेवाला व्यक्ति हाथ से आम का स्पर्श करता है, उसे चूसने योग्य बनाने के लिये खूब मलता है (दबाता या मसलता है), खाते समय बार-बार मुँह से चूमता है एवं अन्त में निचोड़ कर फेंक देता है। बिल्कुल यही प्रक्रिया वेश्याओं की भी है। वे वेश्यागामी का हाथ पकड़ती हैं, रति के समय शय्या पर उपमर्दन करती हैं, चूमती हैं, धन निचोड़ती हैं और अन्त में छोड़ देती हैं।

शब्दार्थ—निहृण (विहनन) = फेंक देना, छोड़ देना[2]। प्राकृत में 'हुण' का हणण (हनन) के अर्थ में भी प्रयोग होता है।[3]

मायंदणिहीण (माकन्दनिधीनाम्) = १— लक्ष्मी के सुदृढ़ भंडार अर्थात् धनियों का (माया लक्ष्म्या· कन्दा दृढ़ा निधयः) देशीनाममाला के अनुसार कन्द शब्द दृढ और मत्त का अवबोधक है :—

कन्दो दढमत्तेसु—२।५१

---

१. ह्दुतोः खसोणो—प्राकृत-प्रकाश, ५।१४

२. पाइयसद्दमहण्णव और आप्टे-कृत संस्कृत शब्द-कोश।

३. कारावियाः य निरया, जमेण वेयरणिमाइया बहवे।
हण-दहण-पयण-मारण-छिंदण-भिज्जंतकम्मन्ता ॥

—विमलसूरि-कृत पउमचरिय

२—आम के भण्डारों या समूहों का
(माकन्द = आम) यहां षष्ठी चतुर्थी के
अर्थ में है ।

यदि अपर-पक्ष मे मायंदणिहीण की संस्कृत छाया 'माचन्द्रनिधीनाम्' स्वीकार कर लें तो अर्थ इस प्रकार हो जायगा—

माचन्द्रनिधीनाम् = माया. लक्ष्म्या. चन्द्राः काम्या आह्लादका वा निधयस्तेषाम् ।
लक्ष्मी के काम्य या आह्लादक निधियों अर्थात् धनिकों का ।

चन्द्रोऽम्बुकाम्ययोः ।

—अनेकार्थसंग्रह

अर्थ—वेश्यामाता आम के समूहों के लिये (पक्षान्तर में धनियों के लिये) कुमारियों को कुछ सिखा रही है जैसे—करस्पर्श, मर्दन चुम्बन, निष्पीडन, (निचोड़ना) और निह्नन (फेंक देना या छोड़ देना) ।

६२४ × ३—कस्स कएण किसोयरि वरणयरं वहसि उत्तमंगेणं ।
कण्णेणकण्णवहणं वाणरसंखं च हत्थेण ।। २४ ।।

कस्य कृते कृशोदरि वरनगरं (वर्णकरं) वहसि उत्तमाङ्गेन
कर्णेन कर्णवहनं वानरसंख्यं च हस्तेन

—उपलब्ध संस्कृत छाया

संस्कृत-टीका में 'वरणयरं' के दो अर्थ दिये गये हैं—श्रेष्ठ नगर और वर्णकर (चित्रवल्लरी मण्डन) । 'कण्णवहण' और 'वाणरसंखं' की छाया क्रमशः 'कर्णवहनम्' और 'वानरसंख्यम्' तो दी गई है, परन्तु उन शब्दों के अर्थ नहीं लिखे गये हैं । अन्त में 'कस्यकृते' का उत्तर 'पत्युःकृते' लिख कर पद्य को अस्पष्ट ही छोड़ दिया गया है । श्री पटवर्धन-कृत शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार है :—

"हे कृशोदरि, तुम किसके लिये मस्तक पर विशाल नगर, कानों पर कर्ण की हत्या और हाथों पर बन्दरों की संख्या ढो रही हो ।"

उन्मत्त प्रलापवत् प्रतीत होने वाले इस अर्थ से प्रहेलिका का आशय स्पष्ट नहीं होता है ।

'वरणयर के समान 'कण्णवहण' के भी दो अर्थ हैं । इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार है :—

कण्णवहणं = १—कर्णवहनम् । २—कर्णवधनम् । वह् धातु में ल्युट् प्रत्यय

जोड़ने पर वहन और घञ् प्रत्यय जोड़ने पर वाह शब्द बनते हैं। दोनों समानार्थक हैं। वाह (प्रवाह) का प्रसिद्ध पर्याय पूर है। प्रहेलिकाकार ने अर्थ-भ्रम उत्पन्न करने के लिये पूर के स्थान पर वहन का प्रयोग किया है। इस प्रकार कर्णवहन का अर्थ है—कर्णपूर (कर्णाभरण, कनफूल)। कर्णवधन शब्द कर्ण की हत्या के अर्थ में है।

संस्कृतटीका मे 'वाणरसंखं' की छाया 'वानरसंख्यम्' दी गई है, जो अशुद्ध है। उसे वानरसंख्याम् होना चाहिए। इस शब्द का सीधा अर्थ है—वानरों की संख्या। परन्तु प्रहेलिका के मर्म तक पहुँचने के लिये अन्य अर्थ की भी पहचान आवश्यक है। इसके लिये प्रस्तुत पद की निम्नलिखित रीति से व्याख्या करनी होगी—

वाणरसखं = वानरसख्याम् = (वानरस्य संख्या संज्ञाम्) वानर का नाम अर्थात् वालिपुत्र अगद (रामायण का पात्र विशेष)। अंगद एक हस्ताभरण का भी नाम है। इस पद में बहुव्रीहि मानकर भी हम यही अर्थ ले सकते हैं। वानरेषु संख्या गणना यस्यासौ वानरसंख्यः। वानरों में जिसकी गणना है अर्थात् वालिपुत्र अंगद। यह अर्थ अभिप्रेत होने पर छाया में 'वानरसंख्यम्' का निवेश करना पड़ेगा। प्रथम अर्थ में संख्या शब्द अर्थभ्रम उत्पन्न करने के लिये आख्या (संज्ञा) के अर्थ में प्रयुक्त[1] है। अर्थानुरोध से संस्कृतछाया का पूर्वार्ध यो हो जायगा—

कर्णेन कर्णवधम (कर्णवहन) वानरसंख्या (वानरसंख्यं) च हस्तेन। प्रहेलिका का शाब्दिक अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। निगूढ़ अर्थ इस प्रकार है—

हे कृशोदरि ! तुम किसके लिये मस्तक पर चित्रवल्लरी, कानों में कर्णफूल (कर्णपूर) और हाथों में अगद धारण करती हो ? उत्तर—पति के लिये।

चित्रवल्लरी एक रचना विशेष का नाम है। महिलायें इसके द्वारा मुखमण्डल को अलंकृत कर सौन्दर्य-वृद्धि करती थीं। मूल में वर्णकर शब्द (वर्णं करोतीति वर्णकरः) स्वरभक्ति के कारण 'वरणयर' रूप में परिणत हो गया है।

---

१. सो च पुग्गलो·······परिसुद्धाजीवो त्वेव सङ्खं गच्छति

—मिलिन्दपञ्ह, पृ० २२७, बंबई विश्वविद्यालय संस्करण

यस्मिं समये खीरं होति, नेव तस्मि समये दधीति सङ्खं गच्छति, न नवनीतं ति सङ्खं गच्छति, न सप्पीति सङ्खं गच्छति, न सप्पिमण्डो ति सङ्खं गच्छति, खीरं त्वेव तस्मि समये सङ्खं गच्छति। —दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त

६३७ × १—लंकालएण रत्तंबरवेसिण दिन्नपुप्फयाणेण ।
दहवयणेणेव कयं सीयाहरणं पलासेण ॥ २५ ॥

लङ्कालयेन रक्ताम्बरवेषिणा दत्तपुष्पयानेन
दशवदनेनेव कृतं शीताहरणं (सीताहरणं) पलाशेन

संस्कृतटीकाकार ने 'लंकालएण' में च्युताक्षरा मानकर व्याख्या की है। च्युताक्षरा और दत्ताक्षरा—प्रहेलिका के भेद हैं। एक में अर्थ करते समय च्युत (अविद्यमान) अक्षर जोड़ दिया जाता है और दूसरे में दत्त (अधिक रहने वाला) अक्षर छोड़ दिया जाता है।[1] पलाश-पक्ष में अर्थ करते समय च्युताक्षर अ को जोडकर 'लंकालएण' को 'अलंकालएण' बनाना पड़ेगा।

टीकाकार ने शब्दों के अर्थ इस प्रकार दिये हैं—

लंकालएण = १—अलंकालकेन = अत्यधिक काले किसलय वाले (पलाश-पक्ष)
२—लंका में रहने वाले।

रत्तंबरवेसिणा = १—रक्ताम्बरवेशिना = लाल आकाश के समान वेश वाले। (पलाश-पक्ष)
२—लाल वस्त्र का वेश धारण करने वाले। (रावण-पक्ष)

दिन्नपुप्फयान = १—दत्तपुष्पयान = जिसने पुष्प का यान दिया है उस पलाश ने। (पलाश-पक्ष)
२—जिसने पुष्पक विमान दिया है (रावण-पक्ष)

इस प्रकार गाथा का यह अर्थ होगा—

अत्यधिक कृष्ण किसलय वाले (पुष्पों के कारण), लाल आकाश के समान वेश वाले और पुष्पयान (?) प्रदान करने वाले पलाश ने शीत (ऋतु) का आहरण (हरण) कर लिया है, ठीक वैसे ही, जैसे लंका में रहने वाले, लाल वस्त्र का वेश धारण करने वाले और (सीता को) पुष्पकयान प्रदान करने वाले (अर्थात् सीता को पुष्पक विमान पर बैठा लेने वाले) मांसभक्षी रावण ने सीता का हरण कर लिया था।

यद्यपि द्वितीय पक्ष में 'दत्तपुप्फयाण' का अर्थ सन्तोषजनक नहीं है और 'लंकालएण' का अर्थ भी कुछ ठीक नहीं लगता, क्योंकि पुष्पोद्गम के पूर्व पलाश-पत्र प्रायः झड़ जाते हैं एवं उनका रंग भी काला नहीं होता है तथापि टीकाकार की मौलिकता श्लाघ्य है। टीकाकार की सुझाई दिशा से सोचने पर मुझे कुछ दूसरा ही अर्थ भासित हो रहा है—

१. साहित्यदर्पण, दशम परिच्छेद

शब्दार्थ—लंकालएण = अलंकालकेन = १—अत्यधिक भौरों वाले
(अलं = अत्यधिक, कालय = भौरा)[1]
२—अति धूर्त (रावण) के द्वारा (कालय[2] = धूर्त)
च्युताक्षरा न मानने पर यह व्याख्या होगी—
लंकालएण = लङ्कालयेन = १—शाखा पर आश्रित (लंका = शाखा, आलय = आश्रय)
२—लंका में जिसका घर है (रावण)
रत्तंबरवेसिणा = रक्ताम्बरवेशिना = १—लाल वस्त्रों का वेश धारण करने वाले (पुष्पोपचय के कारण पलाश-वृक्ष रक्त वर्ण हो जाता है)
२—अनुरक्त एव आकाश में प्रवेश (वेश = प्रवेश) करने वाले (आकाशचारी) रावण के द्वारा (रक्तश्चासौ अम्बर-वेशी, अम्बरमाकाशं विशति प्रविशतीति अम्बरवेशी)।
दत्तपुप्फयानेन = १—दत्तपुष्पदानेन = जिसने पुष्प प्रदान किये हैं।
२—दत्तपुष्पयानेन = जिसने पुष्पक नामक विमान प्रदान किया है अर्थात् पुष्पक विमान पर बैठा लिया है।
पलास = पलाश = १—पलाश नामक वृक्ष
२—मांसभक्षी राक्षस

अर्थ—अत्यधिक भौरों वाले (या शाखा पर रहने वाले) लाल वस्त्र के समान वेश धारण करने वाले (रक्तपुष्पयुक्त) और पुष्प प्रदान करने वाले पलाश ने शीत (ऋतु) का हर प्रकार से हरण (आहरण) कर लिया है।

द्वितीयार्थ—अतिधूर्त (या लंकावासी) अनुरक्त और आकाशचारी तथा (सीता को) पुष्पकविमान प्रदान करने वाले (अर्थात् पुष्पकविमान पर बैठा लेने वाले) मांसभक्षी रावण ने सीता का हरण कर लिया।

६४१ × ३—सच्चं चेव पलासो असइ पलं विरहियाण महुमासे।
तिसिं अवक्खमाणो जलइ व्व छुहाइ सव्वंगं॥ २६॥

१. पाइयसद्दमहण्णव
२. देशीनाममाला, २।२८

सत्यं चैव पलाशोऽश्नाति पलं विरहिणां मधुमासे
तृप्तिम् अव्रजन् ज्वलयतीव सुधया सर्वाङ्गम्

—श्रीपटवर्धनसम्मत छाया

संस्कृत-टीकाकार ने 'जलइ व्व' को 'जलमिव' समझकर व्याख्या की है :—

"किमिव । जलमिव । यथा क्षुधादीप्तसर्वाङ्गो जलात् तृप्तिं न प्राप्नोति, तथा अयं मधुमासो विरहिणां पलम् अश्नन् सन् तृप्तिं न व्रजति ।"

अर्थात् किसके समान ? जल के समान । जैसे क्षुधा से प्रदीप्त अंगों वाला व्यक्ति जल से तृप्त नहीं होता उसी प्रकार वसन्त वियोगियों का मांस खाता हुआ तृप्त नहीं होता है ।

पता नहीं उपर्युक्त अर्थ किस व्याकरण से समर्थित है । यदि 'अव्रजन्' को मधुमास का विशेषण मानते हैं तो 'क्षुधया (क्षुधाया वा) जलमिव तृप्तिम् अव्रजन् मधुमास'—यह वाक्य बनेगा । परन्तु 'मधुमासे' की सप्तमी इसमें बाधक है । फिर इस वाक्य का कर्ता तो पलाश है, न कि मधुमास ।

अंग्रेजी अनुवाद यों है :—

"सचमुच वसन्त में पलाश विरहियों का मांस खा जाता है और पकाये हुये चूने के द्वारा उनका शरीर जलता रहता है । वह सन्तुष्ट नहीं होता है ।

उपर्युक्त अनुवाद में 'व्व' का कहीं उपयोग ही नहीं किया गया है । साथ ही चूने से (छुहा = सुधा = चूना) सर्वांग को जलाना समझ में नहीं आता । मूल में 'जलइ' क्रिया है । उसका रूपान्तर 'ज्वलति' होगा, 'ज्वलयति' नहीं । अतः छाया में 'ज्वलति' होना चाहिये ।

गाथा का सीधा-सा अर्थ यह है—

सचमुच वसन्त में पलाश (राक्षस और वृक्ष) विरहियों का मांस खाता है और तृप्त न होने के कारण मानों उसका सर्वांग भूख से जलता रहता है (तभी तो अंगार के समान रक्तवर्ण दिखाई देता है) ।

अथवा—सचमुच वसन्त में तृप्त न होता हुआ पलाश (वृक्ष और राक्षस) विरहियों का मांस खाता है । (उसका) सर्वांग मानों क्षुधा से जलता है ।

इस प्रकार अव्याख्यात एवं प्रमादवश अन्यथा व्याख्यात गाथाओं के अर्थोद्धार का कार्य पूर्ण हो गया और साथ ही सरस गाथाओं के सम्बन्ध में उठाई गई आपत्तियों और शंकाओं का मार्जन भी कर दिया गया । आशा है, सुधीजन मेरे इस प्रयास का सहृदयता और सहानुभूति के साथ मूल्यांकन करेंगे ।

गाथानुक्रमणिका

अति० – अतिरिक्त गाथाएँ (पाण्डुलिपि 'स' में उपलब्ध तथा परिशिष्ट 'क' में पृ० २७४ से ३४१ तक)। * यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि वह अतिरिक्त गाथा किस गाथा क्रमांक के बाद है और किस क्रम पर है।

× = इस चिह्न से चिह्नित गाथाएँ परिशिष्ट 'ख' में विशद रूप से विवेचित हैं।

पृ० = पृष्ठ (वालासिलोयवज्जा के अन्तर्गत पृ० ३४० पर विवेचित गाथाएँ)।